फसलों के कवक रोग व उनकी रोकथाम

(FUNGAL DISEASES OF CROPS PLANTS AND THEIR CONTROL)

लेखक :

डॉ. रघुवीर प्रसाद

डॉ. गोपाललाल खण्डेलवाल

डॉ. जयन्ती प्रसाद जैन



राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

जयपुर

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ-निर्माण योजना के अन्तर्गत एवं वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग के सहयोग से प्रकाशित ।

प्रथम संस्करण : 1986

भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य से
उपलब्ध कराये गए कागज पर मुद्रित ।

मूल्य : 40.00

प्रकाशक :
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
ए–26/2, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर
जयपुर–302 004

मुद्रक :
[illegible] अरुण प्रिन्टर्स, जयपुर
[illegible] प्रिन्टर्स
[illegible], शान्तिपथ, तिलक नगर, जयपुर

प्राक्कथन

राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी अपनी स्थापना के 16 वर्ष पूरे करके 15 जुलाई, 1985 को 17वें वर्ष में प्रवेश कर चुकी है। इस अवधि में विश्व साहित्य के विभिन्न विषयों के उत्कृष्ट ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद तथा विश्वविद्यालय के शैक्षणिक स्तर के मौलिक ग्रंथों को हिन्दी में प्रकाशित कर अकादमी ने हिन्दी-जगत के शिक्षकों, छात्रों एवं अन्य पाठकों की सेवा करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और इस प्रकार विश्वविद्यालय स्तर पर हिन्दी में शिक्षण के मार्ग को सुगम बनाया है।

अकादमी की नीति हिन्दी में ऐसे ग्रंथों का प्रकाशन करने की रही है जो विश्वविद्यालय के स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों के अनुकूल हों। विश्वविद्यालय स्तर के ऐसे उत्कृष्ट मानक ग्रंथ जो उपयोगी होते हुए भी पुस्तक प्रकाशन की व्यावसायिकता की दौड़ में अपना समुचित स्थान नहीं पा सकते हों और ऐसे ग्रंथ भी जो अंग्रेजी की प्रतियोगिता के सामने टिक नहीं पाते हों, अकादमी प्रकाशित करती है। इस प्रकार अकादमी ज्ञान-विज्ञान के हर विषय में उन दुर्लभ मानक ग्रंथों को प्रकाशित करती रही है और करेगी जिनको पाकर हिन्दी के पाठक लाभान्वित ही नहीं गौरवान्वित भी हो सकें। हमें यह कहते हुए हर्ष होता है कि अकादमी ने 325 से भी अधिक ऐसे दुर्लभ और महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का प्रकाशन किया है जिनमें से एकाधिक केन्द्र, राज्यों के बोर्डों एवं अन्य संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत किये गये हैं तथा अनेक विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा अनुशंसित।

राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी को अपने स्थापना-काल से ही भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय से प्रेरणा और सहयोग प्राप्त होता रहा है तथा राजस्थान सरकार ने इसके पल्लवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, अतः अकादमी अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में उक्त सरकारों की भूमिका के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती है।

प्रस्तुत पुस्तक "फसलों के कवक रोग व उनकी रोकथाम" कृषि विज्ञान के छात्रों और कृषिकर्म में रत व्यक्तियों के लाभार्थ तैयार की गई है। इसमें उक्त विषय की प्रामाणिक जानकारी समाविष्ट हुई है। हमें यह पाण्डुलिपि वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, दिल्ली से प्राप्त हुई है। हम एतदर्थ आयोग को धन्यवाद देते हैं। इसके लेखकों सर्व श्री डॉ. रघुवीर प्रसाद, डॉ. गोपाल लाल खण्डेलवाल एवं डॉ. जयन्ती प्रसाद जैन, विषय सम्पादक डॉ. ए. पी. मिश्रा, एमेरिटस वैज्ञानिक, राजेन्द्र कृषि विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर, बिहार के प्रति प्रदत्त सहयोग हेतु हम आभार प्रकट करते हैं।

इस पुस्तक के उत्तरार्द्ध का प्रकाशन डॉ० एस. पी. सहगल, वरिष्ठ पोध व्याधिविज्ञ, कृषि विभाग, दुर्गापुरा, जयपुर के समर्थ निर्देशन में हुआ है और उनके अमूल्य सुझावों से यह समृद्ध भी हुई है, अतः हम उनके बहुत कृतज्ञ हैं।

हीरालाल देवपुरा
अध्यक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
एवं शिक्षामन्त्री, राजस्थान सरकार, जयपुर

डॉ. राघव प्रकाश
निदेशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

प्रस्तावना

हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं को स्नातक एवं स्नातकोत्तर स्तर पर शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाने के लिए आवश्यक है कि इन भाषाओं में उच्चकोटि के अधिकाधिक मानक ग्रंथ तैयार किये जाएँ। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये भारत सरकार ने एक योजना बनाई, जिसका कार्यान्वयन वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग को सौंपा गया। तदनुसार आयोग मे अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के मानक ग्रन्थों का अनुवाद तथा मौलिक ग्रन्थ निर्माण किया जा रहा है। भारत सरकार ने यह काम राज्य सरकारों, विश्वविद्यालयों और निजी प्रकाशकों की सहायता से 1962–63 में प्रारम्भ किया था। सन् 1967 में अखिल भारतीय कुलपति सम्मेलन में यह निश्चय किया गया कि भारतीय भाषाओं को स्नातक स्तर पर शिक्षा और परीक्षा का माध्यम यथाशीघ्र बना देना चाहिए। तद्नुसार शिक्षा मन्त्रालय ने माध्यम-परिवर्तन के लिये अपेक्षित सामग्री तैयार करने के लिये ग्रन्थ-निर्माण का एक बृहद् कार्यक्रम बनाया। इसके लिए चौथी पंचवर्षीय योजना में अठारह करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया। इसके अन्तर्गत देश के प्रत्येक राज्य को अपनी प्रादेशिक भाषा में पुस्तकें तैयार करने के लिए एक-एक करोड़ रुपये देने की व्यवस्था की गई। इसी क्रम में भारत सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से सन 1969–70 में हिन्दी-भाषी राज्यों में स्वायत्तशासी हिन्दी ग्रन्थ अकादमियों की स्थापना हुई।

इस कार्यक्रम के अन्तर्गत विज्ञान, मानविकी और समाजविज्ञान के महत्त्व-पूर्ण विषयों की पाण्डुलिपियों के निर्माण तथा प्रकाशन का भार विभिन्न हिन्दी ग्रन्थ अकादमियों को सौंपा गया। तीन केन्द्रीय विषयों—इंजीनियरी, आयुर्विज्ञान तथा कृषि की पुस्तकों की पाण्डुलिपियों के निर्माण का कार्य वैज्ञानिक तथा तक-नीकी शब्दावली आयोग के तत्वावधान में हो रहा है और इनका प्रकाशन विभिन्न हिन्दी ग्रन्थ अकादमियों के माध्यम से कराया जा रहा है। देश की सभी शिक्षा संस्थाओं में प्रयुक्त होने वाली पारिभाषिक शब्दावली में एकरूपता लाने की दृष्टि से अनूदित और मौलिक साहित्य में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत शब्दावली का ही प्रयोग किया जा रहा है।

इस प्रकार हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाओं मे विज्ञान, समाजविज्ञान एवं मानविकी के लगभग सभी विषयों में स्नातक-स्तर तक की पाठ्य पुस्तकों के अभाव की पूर्ति की जा चुकी है।

हमारे देश की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था ही नहीं उसकी संस्कृति भी कृषि पर आधारित है। अतः यह आवश्यक है कि विद्यार्थियों को अपनी भाषा में कृषि-विज्ञान के स्नातक स्तर के मानक ग्रन्थ उपलब्ध कराए जायें ताकि उन्हें कृषि विज्ञान का अद्यतन ज्ञान प्राप्त हो सके। तद्नुसार आयोग ने देश के वरिष्ठ कृषि विशेषज्ञों की सहायता से लगभग 17 हजार शब्दों का एक बृहद् पारिभाषिक शब्द-संग्रह (कृषि विज्ञान) सन् 1978 में प्रकाशित किया। शब्दावली का निर्माण करते हुए इस बात का विशेष ध्यान रखा गया कि यह अधिकाधिक सर्वसम्मत और सार्वदेशिक हो ताकि यह देश के सभी क्षेत्रों में आसानी से समझी और अपनाई जा सके।

हिन्दी राज्यों के कृषि विश्वविद्यालयों में स्नातक स्तर के लिए हिन्दी पुस्तकें उपलब्ध कराने का कार्य भी साथ-साथ चलता रहा है। परिणामस्वरूप पाठ्य-पुस्तकों के अभाव की काफी पूर्ति हो गई है, परन्तु इस दिशा में अभी बहुत कुछ किया जाना है।

प्रस्तुत पुस्तक 'फसलों के कवक रोग व उनकी रोकथाम' (Fungal Diseases of Crops And Their Control)—डॉ. रघुवीर प्रसाद, रिटायर्ड अध्यक्ष, पादपरोग विज्ञान, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर, डॉ. गोपाल लाल खण्डेलवाल एवं डॉ. जयन्ती प्रसाद जैन, विषय विशेषज्ञ (पादप संरक्षण), विस्तार निदेशालय, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर द्वारा तैयार की गई है। इसका पुनरीक्षण डॉ. ए. पी. मिश्रा, एमरिटस वैज्ञानिक, राजेन्द्र कृषि विश्वविद्यालय, ढोली, मुजफ्फरपुर, बिहार ने किया है। विद्वान लेखकों तथा पुनरीक्षक के अथक परिश्रम के कारण ही यह कार्य सम्पन्न हो पाया है, जिसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। आशा है, यह पुस्तक पादपरोग विज्ञान से सम्बन्धित पाठ्य पुस्तकों के अभाव को पूरा करेगी तथा विशेषज्ञ, प्राध्यापक और छात्र इससे लाभान्वित होंगे।

मलिक मोहम्मद

अध्यक्ष

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

(शिक्षा तथा संस्कृति मन्त्रालय)

भारत सरकार, नई दिल्ली

भूमिका

"फसलों के कवक रोग व उनकी रोकथाम" नामक पुस्तक पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। यह पुस्तक हिन्दी भाषा में इस विषय पर मानक ग्रन्थों के अभाव को पूरा करेगी ऐसी हमारी मान्यता है। इस पुस्तक की रचना हिन्दी भाषी क्षेत्रों के विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम व स्नातकोत्तर के विद्यार्थियों की आवश्यकता को देखते हुए किया गया है। पुस्तक की सुबोध व सरल भाषा अध्यायों में आवश्यकतानुसार चित्रों का समावेश तथा पादप रोगों का आधुनिकतम विस्तृत वर्णन पाठकों को उपयोगी सिद्ध होगा। पुस्तक में रोगों के वर्णन में भारतीय वैज्ञानिकों द्वारा किए गए महत्वपूर्ण अनुसंधान कार्य को अंकित करने की चेष्टा की गयी है। पुस्तक लेखन में भारत सरकार के केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय (वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग) द्वारा स्वीकृत हिन्दी शब्दों का ही प्रयोग किया गया है। पुस्तक प्रकाशन के लिए लेखकगण राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के आभारी हैं।

आशा है पाठक इस पुस्तक को उपयोगी पायेंगे तथा हिन्दी-भाषी क्षेत्रों के स्नातक व स्नातकोत्तर के विद्यार्थी व शिक्षकगण इसको पाठ्यक्रम के रूप में स्वीकार करेंगे। पुस्तक लिखने में हमारा सतत् प्रयास रहा है कि ये अपने आप मे परिपूर्ण हो फिर भी कमियाँ रह जाना स्वाभाविक है। मुद्रण मे अशुद्धियाँ भी रही हैं। पाठकगण से हम अपेक्षा करते हैं कि पुस्तक की कमियों व अन्य सुझावों से हमें अवगत करायेंगे जिससे आगामी संस्करण में इनकी पुनरावृत्ति न हो।

—लेखकगण

विषय-सूची

1

पादप रोग

(Plant Diseases)

प्राणियों की भांति पौधो मे भी अनेक प्रकार के रोग पाये जाते हैं। बुवाई से लेकर कटाई तक और गहाई से लेकर उपभोग तक फसलो को रोगो से निरन्तर खतरा बना रहता है। जब से मनुष्य ने खेती करना प्रारम्भ किया है, उसी समय से उसे फसलों को नष्ट करने वाले तत्त्वों एवं पौधों के रोगों से उग्र तथा सतत संघर्ष करना पड रहा है। महामारियों द्वारा किस प्रकार फसलो का विनाश हुआ, इसका विवरण वेदो, बाइबिल तथा हिब्रू ग्रीक व रोमन के प्राचीन ग्रंथ, लेखो में पाया गया है। ईसा से लगभग 4000 वर्ष पूर्व भी धर्म-ग्रंथो में ऐसे संकेत मिलते हैं, जब रोम के निवासी अपने देवता रोबिगस को खुश करने के लिये बसन्त के महीने मे श्वेत लम्बे चोगे पहन कर वार्षिक उत्सव धूम-धाम से मनाते थे, और पीले कुत्ते की बलि देते थे। इस आयोजन का उद्देश्य किट्ट नामक विनाशकारी रोग के प्रकोप से गेहूँ के खेतों को बचाना था।

वनस्पति विज्ञान की वह शाखा जिसके अन्तर्गत पौधों के विभिन्न रोगो का अध्ययन किया जाता है; पादप रोग-विज्ञान कहते है। पादप रोग-विज्ञान पौधों के स्वास्थ्य और उनकी उत्पादकता से सम्बन्धित विज्ञान है। फाइटोपैथोलोजी शब्द ग्रीक शब्दों फाइटोन (पाधा), पैथोस (रोग) एवं लोगस (अध्ययन) तीन यूनानी शब्दों के मेल से बना है।

पौधों के रोगों के बारे में अलग-अलग परिभाषाएँ दी हैं। पादप रोग बहुत सी जैविक घटनाओं के समान हैं, जिनका सीमाबद्ध करना या परिभाषा देना कठिन है, फिर भी कल्पना की जा सकती है। पादप रोग, रोग की वे अवस्था हैं जिसमें पौधे अपने साधारण रूप से भिन्न दिखाई दें, या आकारिकी में किसी प्रकार का परिवर्तन हो। दूसरे शब्दो में पौधों मे दैहिक क्रियात्मक परिवर्तन हो या किसी भाग मे उत्पन्न आकारिकी वक्रता हो। सामान्य या स्वस्थ पौधों और असामान्य या रोगी पौधो के बीच कोई निश्चित भेदक रेखा नही है।

(2) हार्सफाल और डायमण्ड (1959) के अनुसार जब शरीर मे कोई अंग ठीक ढंग से काम नही कर रहा हो तब हम समझते है कि यह बीमार है, अत. रोग सतत उत्तेजना से उत्पन्न ठीक ढंग से कार्य नही करने वाली प्रक्रिया है। इस प्रकार रोग एक प्रकार की विकृतिजनक प्रक्रिया है।

(3) जॉन चार्ल्स वाकर (1969) ने अपनी पुस्तक पादप रोग विज्ञान मे इस प्रकार परिभाषा दी है "रोगी पौधे वे होते है जिनके शरीर विषयक और आकार सम्बन्धी विकास मे इतना परिवर्तन हो जाता है कि उन पर ऐसे प्रभावो के लक्षण उत्पन्न हो जाते है।"

फ्रीमैन ने अपनी पुस्तक मीनेसोटा प्लांट डीज़ीजेज मे रोग की परिभाषा इस प्रकार दी है—जब जीवन की अनुकूल अवस्था में किसी कारण गम्भीर रूप से बाधा डाली जाती है, जिसके फलस्वरूप पौधे के किसी एक विशेष भाग अथवा सम्पूर्ण पौधे के जीवन पर आपत्ति आ जाती है, उसे रोग मानते हैं।

हील्ड (Heald, 1933) ने अपनी पुस्तक मेनुअल आफ प्लांट डीजीजेज मे रोग की परिभाषा इस प्रकार दी है "सामान्य रूप से कोई भी भिन्नता जो पौधे के शरीर की क्रियाओं या रचनात्मक परिवर्तन मे बाधा पैदा करे तथा उनके विकास को रोकने मे पर्याप्त हो, वे पौधे में असमान्य रचनाओं के बनने या सम्पूर्ण पौधे की अथवा उसके किसी भाग की प्रापक्व मृत्यु के कारण होती है।"

इस प्रकार रोगों मे सामान्य दैहिक क्रियाओं मे किसी प्रकार का परिवर्तन या बाधा उत्पन्न होती है, अथवा उनका सामान्य आकारिकी में किसी प्रकार का परिवर्तन होता है, या पौधो के सामान्य विकास, उत्पादन की दर तथा किस्म के घट जाने को रोग कहते हैं।

पादप रोगो के इतिहास मे आलू का विलम्बित अंगमारी, गेहूँ का किट्ट, गन्ने का लाल विगलन, ताड़ की कलियो का गलन, धान का ब्लास्ट आदि रोगों का उल्लेख मिलता है। 1845 मे आयरलैण्ड में आलू विलम्बित अंगमारी रोग के कारण भीषण अकाल पड़ा। कुछ ही वर्ष के बाद 1880 मे श्रीलंका मे कॉफी का किट्ट महामारी के रूप मे उत्पन्न हुआ। फ्रांस मे 1872 मे अंगूर के मृदुरोमिल रोग ने काफी नुकसान पहुँचाया। हमारे देश में भी पौधो के रोग के कई ऐसे उदाहरण हैं, जिनसे आर्थिक संकट पैदा हो गया। 1938-48 में गन्ने के लाल विगलन या सड़न रोग ने उत्तर प्रदेश मे गन्ने की उपज मे भारी कमी ला दी, फलतः बहुत सी चीनी मिलें बन्द करनी पड़ी। 1942-43 में बंगाल में अकाल धान के हेल्मिंथोस्पोरियम अंगमारी के कारण पड़ा। सन् 1946-47 में गेहूँ का किट्ट उत्तर प्रदेश तथा दक्षिण भारत में, 1957 में बिहार में अकाल का सूचक बन कर आया। डॉ. प्रसादा (1957) के अनुसार हमारे देश को हर वर्ष इस रोग के कारण 40 करोड़ रुपये से भी अधिक का नुकसान उठाना पड़ा है। उपज के साथ पादप रोग तो इतने विषैले

होते हैं कि इनसे मनुष्यो व जानवरों की भी मृत्यु हो जाती है, जैसे बाजरे का अरगट ।

ईसा से लगभग 4,000 वर्ष पूर्व से लेकर आज तक पादप रोगों द्वारा मानव जाति की तबाही के अनेक उदाहरण मिलते हैं । थियोफ्रेस्टस ने रोगों की रोकथाम के कई उपाय निकाले जिसके बाद ही फफूंद या कवक विज्ञान का इतिहास प्रारम्भ हुआ । 1675 मे डच विज्ञानी लीवेन हाक ने सर्वप्रथम सूक्ष्मदर्शी यन्त्र को जीवाणुओं के अध्ययन के कार्य मे लिया । थियोफ्रेस्टस का विचार था कि रोग स्वतः उत्पन्न होते है, परन्तु बाद में फ्रेसस रेडी, लुई पास्चर एव उनके साथियों ने स्वजननवाद के सिद्धात को रद्दकर दिया, और कीटाणुवाद को मान्यता प्रदान की । प्लेन्सीज (1705-1786) ने बताया कि हर एक रोग उत्पन्न करने के लिए एक विशेष जीवाणु होता है, जिसका हवा के द्वारा एक जगह से दूसरे जगह सचारण होता है । इटली के वनस्पतिज्ञ माइकेली (1679-1737) ने निम्न एवं उच्च दोनो ही प्रकार की फफूंदियो का अध्ययन किया एव एक बहुमूल्य "नोवा प्लेन्टेरम जेनरा" नामक ग्रथ की रचना की जिसमे इन्होंने बहुत सी प्रजाति, आकारिकी एव उनके प्रजनन के बारे मे जानकारी दी । यह कवक अपने ही बीजाणुओ द्वारा उत्पन्न होती है, से सहमत थे । 1755 मे टिलेट के मतानुसार गेहूँ का बन्ट एक ससंगर्ज रोग है तथा इसकी रोकथाम बीजोपचार द्वारा की जा सकती है ।

पादप रोग विज्ञान की नियोजित रूप-रेखा 19वी शताब्दी के प्रारम्भ से शुरू हुई । लीनियस द्वारा दी गई पौधो की द्विनाम पद्धति फफूंदियो के नामाकरण के भी प्रयोग मे लायी गयी । परसून (1801) एव फ्राइज (1821) ने वर्गीकरण के ऊपर कई शोध-पत्र भी प्रकाशित किये । परसून ने साइनोपसिस मेथोडिका फगोरम तथा फ्राइज ने सिस्टेमा माइकोलोजिकम नामक पुस्तकें लिखी । दोनों ही वैज्ञानिकों ने किट्ट एव कड फफूंद को रोग का कारण न मानकर रोगी पौधो का पदार्थ माना है । प्रीवोस्ट (1807) ने गेहूँ के बट रोग का विधिवत् अध्ययन किया । उन्होने सर्वप्रथम यह बताया कि बन्ट रोग एक कवक द्वारा उत्पन्न होता है । उन्होंने बट के बीजाणु, उनका बनना एवं उनके अकुरण के बारे मे अध्ययन किया तथा कापर सल्फेट से बीजोपचार द्वारा इस रोग की रोकथाम की । प्रीवोस्ट के विचारों को स्वतः जननवाद में विश्वास करने वाले वैज्ञानिको ने मान्यता नही दी । उन्होने एक बहुमूल्य ग्रंथ "मिमोइर ऑन दी इमीडिएट काज आफ बन्ट एण्ड स्मट आफ व्हीट एण्ड आफ सेवरल अदर डिजीजेज आफ प्लान्ट्स एण्ड आन प्रिवेन्टिव्ज आफ बन्ट" नाम से प्रकाशित की । एहरनबर्ग ने सबसे पहले कवक की लैंगिकता का अध्ययन किया । ट्रोग (1837) के मतानुसार कवक के बीजाणुओं का विकीरण हवा द्वारा होता है । तदुपरान्त फ्रांस के वनस्पतिज्ञ लुइस रीने तथा चार्ल्स टुलेन ने सूक्ष्मदर्शी की सहायता से कई कवको की खोज की ।

इसके बाद पादप रोग विज्ञान का पूर्ण–आधुनिककाल आरम्भ हुआ। आलू के पछेता या विलंबित अंगमारी रोग पर विशेष ध्यान दिया गया। 1845 मे आयरलेन्ड में यह रोग आलू की फसल पर महामारी के रूप मे आया जिसके कारण अकाल का सामना करना पड़ा। इस विनाशकारी बीमारी का अध्ययन किया गया। जिनमें स्पीरसनाइडर, बरकले (1846), मोरेन (1845), वार्न मारटीयस (1842) तथा डी. वेरी (1831- 1888) प्रमुख थे।

डी. बेरी ने आलू के विलंबित अंगभारी रोग का अध्ययन करने के बाद यह बताया कि यह रोग फाइटोफथोरा इन्फेस्टंस नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। इस फफूंद के बीजाणु का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से अकुरण एव संक्रमण का तरीका भी बताया। इन्होने किट्ट एवं कड रोग उत्पन्न करने वाली कवक को रोग का कारण न मानकर रोग का प्रभाव या परिणाम बताया। 1885 मे गेहूँ के किट्ट रोग का जीवन चक्र पूरा किया तथा गेहूँ के किट्ट रोग का एकान्तर पोषक बरबेरिस मालूम किया। 1888 मे राई के किट्ट का भी जीवन चक्र पूरा किया। मृदुरोमिल आसिता, आर्द्रभारी या आई पतन एव सब्जियो को सड़ाने वाली कवक स्क्लेरोटीनिया स्क्लेरोटिओरम के जीवन चक्र एव संक्रमण का भी विस्तृत रूप से अध्ययन किया गया। डी. बेरी इस निष्कर्ष पर भी पहुंचे की परजीवी प्रकिण्व पैदा करते हैं, जो पौधों की ऊतियों को नष्ट कर देते हैं, और वहाँ से कवक अपना भोजन प्राप्त करती है।

डी. वेरी ने कई बहुमूल्य पुस्तकों की रचना भी की। 1866 में "मोरफोलोजी एण्ड फिजीयोलोजी आफ फन्जाई लिचेन एण्ड मिक्सोमाइसिटीज" तथा 1884 मे दूसरी पुस्तक "कम्परेटिव मारफोलोजी एण्ड बायलोजी आफ फन्जाई, माइसिटोजोआ एण्ड बेक्टीरिया" के नाम से प्रकाशित की। डी वेरी को कवकों के विशद् अध्ययन के कारण कवक विज्ञान का पिता मानते हैं। इनके मुख्य शिष्यों ने भी काफी श्रेष्ठ कार्य किये जिनमें कुछ निम्न हैं।

वोरोनिन (1838–1903) रसियन शिष्य थे। जिन्होने सूरजमुखी के किट्ट एवं काइट्रिड्स (Chytrids) का विशद् अध्ययन किया। पातगोभी के मुग्दर मूल रोग पर विस्तृत अध्ययन कर इसका रोग कारक प्लाज्मोडियोफोरा ब्रेसीकी (Plasmodiophora brassicae) बताया। फलों को सडाने वाली कवकों पर भी विस्तृत अध्ययन किया।

ब्रेफील्ड (1839–1925) जर्मन शिष्य थे जिन्होने सर्वप्रथम विशुद्ध संवर्ध (pure culture technique) विधि के बारे मे बताया तथा अनेक प्रकार की कवकों के जीवन चक्र का भी अध्ययन किया। कड रोग के संक्रमण की विधि भी बतायी। धान्य के कंड रोग के विशद् अध्ययन के कारण वह कंड रोगो की खोजो मे अद्वितीय माने जाते हैं।

मिलार्डेट (1832–1885) फ्रांसीसी शिष्य थे, जिन्होने 1882 मे अंगूर के मृदुरोमिल रोग की रोकथाम नीले थोथे व चूने के घोल द्वारा की। सन् 1885 मे बोर्डो मिश्रण बनाने की विधि दी। फार्लो (1844–1899) अमेरीकन शिष्य थे, जिन्होने परजीवी कवको पर विस्तृत अध्ययन किया। वार्ड(1854-1906) इंगलेन्ड के शिष्य थे जिन्होंने काफी किट्ट पर गहरा अध्ययन किया।

जुलियस गोयेफ कुहन् (1825–1910) ने पहली पाठ्य पुस्तक "दी डिजीजेज आफ वेजीटेबल क्रॉप्स देयर काजेज एण्ड कन्ट्रोल"(The Diseases of Vegetable Crops, their Causes and Control) प्रकाशित की। सर्वप्रथम कुहन ने बंट रोग के कवक की गेहूं के पौधों में प्रवेश करने की विधि बतायी एव गेहूं की बालो से क्लेमाइडोबीजाणु बनने तक की अवस्थाओं का विस्तृत अध्ययन किया। कुहन के पश्चात् विल्कोम (Wilkomm) ने 1866 मे वृक्षो के रोगो पर तथा हेलियर ने 1868 मे खेती की जाने वाली पौधो की बीमारियों पर पुस्तक लिखी। 1883 मे सेकार्डो ने साइलोज फगोरम नामक पुस्तक की रचना की, जिसके 25 भाग हैं, जो सारे ससार मे कवको के विवरण जानने के काम आते है।

19वी शताब्दी मे इन वैज्ञानिकों के अलावा हार्टिग (1839–1901), फ्रेन्क (1839–1900), रोस्ट्रप (1838–1907), एवं क्लेब (Klebs, 1857–1918) ने जर्मनी में फफूंदियों का काफी गहन अध्ययन किया।

20 वी शताब्दी मे आनुवंशिकी की ओर काफी कार्य हुआ। बिफन (1905–1912) और ओरटोन (1900,1909) ने गेहूं के किट्ट कपास, तरबूज, लोबिया के म्लानि या मुरझान आदि रोगो की रोकथाम हेतु रोधी किस्मे बतायी। बुलर (1874–1944) ने इंगलेण्ड एवं कनाडा मे तथा लिओनिन (Leonian, 1888–1945) ने अमेरिका में पादप रोग विज्ञान के उत्थान हेतु सराहनीय कार्य किया। 1894–1896 मे स्वीडन वैज्ञानिक एरिक्सन ने कवक जाति में परिवर्तनशीलता (Variability) की खोज की। स्टेकमैन ने 1918 मे किट्ट के फफूद मे काफी विशिष्टिता का गहन अध्ययन कर बताया कि इन प्रजातियो की निरन्तर उत्पत्ति के कारण फफूंदियो की रोगजनन क्षमता में परिवर्तन होते रहते हैं। फ्लोर (1955) के मतानुसार पौध का प्रभाव्यपन रोगजन तथा पौधो के गुणसूत्रो की सगति पर निर्भर है, *तथा जीन टू जीन परिकल्पना के बारे में बताया जिसमे रोग रोधक अथवा* रोग प्रभाव्य जीन के लिए उसके रोग कारक के शरीर में प्रतिमान तीव्रता तथा अतीव्रता के जीव होने चाहिए।

लिन्क एवं वाकर (1933) ने कोलटोट्राइकम सिरसीनेन्स (Colletotrichum circinans) से प्रतिरोधी प्याज की शल्क (scales) मे प्रोटोकैचुइक अम्ल एव कैटाकोल रंग द्रव्य की उपस्थिति बतायी। फरकाज किरेली, पोरजर, उरीतानी एवं वाड ने भी रोगों के होने में पेक्टिक एवं सेल्यूलोटिक प्रक्रिण्वों का महत्व बताया। मुलर ने 1958 में फाइटोएलक्जीन के बारे में जानकारी दी।

फफूंदनाशी अनुसंधान में सिसलर कोक्स, ल्युडविग तथा ल्यूकने ने उसके प्रक्रिया की क्रियाविधि (mechanism of action) पर गहन अध्ययन किया। कार्बनिक पारावर्गी रसायनो की खोज 1912 मे रीहम (Rheim) ने तथा 1934 मे टिसडेल एवं विलयम ने डाइथियोकार्बिमिक एसिड का फफूंदनाशी मे महत्त्व बताया। डू पोन्ट कम्पनी मे ये यौगिक बनाये जाते हैं, इनमे कुछ घातित्व यौगिक जैसे जिन्क, मैगनीज, सोडियम आदि के लवणों को फफूंदनाशी के रूप मे प्रयोग किया जाता है। 1929 मे सर्वप्रथम डॉ. अलेक्जेन्डर फ्लेमिंग ने पेनीसिलिन की खोज पेनीसीलियम नोटेटम फफूंद से की। विनडिम्ग एवं इमरसन (Weinding and Emerson, 1936) ने ट्राइकोडर्मा विरीडी (Trichoderma Viride) से ग्लाइटोक्सीन प्रतिजैविक पदार्थ की उत्पत्ति की जो नीबू के बीजाकुर को आर्द्र गलन से बचाती है। ग्लाइटोक्सीन, पेटूलियन ग्रीसीयोफलनीन एवं आरियोफन्जीन मुख्यत: फफूंदियो की रोकथाम हेतु काम आते हैं। मिसाटों (1969) ने चावल के ब्लास्ट रोग की रोकथाम ब्लास्टीसीडिन से की।

भारत मे पादप रोगविज्ञान की नीव बटलर ने डाली। सर्वप्रथम भारत में कवक (मसरूम) का अध्ययन कीर्तिकर (1885) ने किया। बटलर ने विभिन्न प्रकार की फसलो मे लगने वाले रोगों पर अध्ययन कर रोकथाम की विधि पर प्रकाश डाला। अरहर एव कपास के म्लानि, गन्ने के लाल विगलन तथा धाव एव आलू के रोगो पर विस्तृत अध्ययन किया। सन् 1918 मे एक पुस्तक "फंजाई एण्ड डिर्जाजेज इन प्लान्ट" भी प्रकाशित की। मेकराय, मेलोवाय एव पेडविक ने भी भारतीय कवकों का विस्तृत अध्ययन किया। पौधो के भिन्न-भिन्न रोगो पर रोकथाम की विधियाँ डॉ. मृदुंकर ने दी। डॉ. मुदुंकर द्वारा सम्पादित किट्ट तथा कड रोग का कार्य काफी महत्त्व का है। एक पुस्तक फन्जाई एण्ड प्लान्ट डीजिजेज (1949) तथा कई मोनोग्राफ जैसे अस्टीलाजिनेल्स आफ इण्डिया, जेनस आफ रस्ट तथा कई बुलेटिन-सप्लीमेन्ट टू फन्जाई आफ इण्डिया आदि लिखी। डॉ. मेहता ने धान्य के किट्टो पर विशद् अध्ययन कर यह बताया कि यहाँ बरबेरिस झाड़ियो का काले किट्ट के जीवन चक्र मे कोई महत्त्व नही है। किट्ट रोगों पर दो मोनोग्राफ भी लिखे है, जो आज भी उच्च कोटि के माने जाते है। प्रो दस्तूर ने मुख्य रूप से फाइटोफथोरा की जातियो पर अध्ययन किया जो आज भी उल्लेखनीय माना जाता है। कपास की म्लानि, रूक्ष या श्यामवर्ण निमेटोस्पोरा, पान का जड़ गलन, केलेका प्रापक्व सडन रोग पर आपने मुख्य रूप से कार्य किया। वासुदेवा ने परजीविता कार्यकी, प्रति-जीविता तथा विषाणुओ से होने वाले रोगो पर महत्त्वपूर्ण खोज की। दास गुप्ता ने फफूंदियों के प्रवलन (saltation) तथा उनकी पोषणिक आवश्यकता पर अध्ययन किया। बागची ने प्रतिजैविक पदार्थ जैसे हेमाइसिन, आरियोफन्जीन एन्टीबायोटिक 226, एन्टीमोईबिन आदि की खोज की। महत्त्वपूर्ण उपयोगी मोनोग्राफ जैसे

यूरिडिनेल्स ऑफ दी वर्ल्ड, अस्टीलाजीनेल्स ऑफ इण्डिया, सर्कोस्पोरी, फाइमोडर्मा, सिफलोस्पोरियम आदि प्रकाशित कर पादप रोग विज्ञान के विशद् अध्ययन पर महत्वपूर्ण कार्य किया। 20 नये वंश तथा 300 नई फफूंदियां महत्त्वपूर्ण है। चोना ने गन्ने के लाल विगलन रोग पर कार्य किया। डॉ. प्रसादा ने गेहूँ के किट्ट बाजरे का पिरीकुलेरिया तथा पत्ती धब्बा रोगों पर, रामाकृष्णन ने पीथियम, फाइटोफथोरा, कालेटोट्राइकम एवं किट्ट फफूंद से उत्पन्न होने वाले रोगों का कार्य विशेष उल्लेखनीय है।

डॉ. प्रसाद ने जीरे के भंगमारी, म्लानि, राम के श्यामवर्ण तथा धनिये, अरहर, अरण्डी के म्लानि रोगो पर उल्लेखनीय कार्य किया। डॉ. मेहता (पी. आर.) ने रोगों की रोकथाम में काफी कार्य किया। डॉ. सदासिवन ने म्लानि रोग पर उल्लेखनीय कार्य किया तथा फ्यूजेरियम वंश से उत्पन्न जीव विष एव भूमि परजीविता पर मुख्य रूप से अनुसंधान किया। डॉ. रंगास्वामी ने फफूंदियो एव जीवाणु से उत्पन्न होने वाले रोगों के अलावा कई प्रतिजैविक पदार्थों की खोज की। कई नये जीवाणुओं की जातियों का वर्णन भी किया। लूथरा एवं उनके सहयोगियो ने सौर उपचार का आविष्कार कर गेहूँ के श्लथ कंड रोग की रोकथाम की।

डॉ. सिन्हा ने बाजरे एवं चने के किट्ट, चने का एस्कोकाइटा, फ्यूजेरियम एवं स्कलेरोशियम द्वारा उत्पन्न म्लानि रोग तथा ग्वार के जड़ विगलन रोग पर विस्तृत अध्ययन किया। डॉ. टण्डन ने फफूंदियो की कायिकी पर विस्तार से अध्ययन किया तथा भण्डार में लगने वाले रोगों पर विशद् अध्ययन किया।

डॉ. राय चोधरी ने विषाणुओ एवं फफूंदियों से होने वाले रोगो पर विस्तृत अध्ययन किया। डॉ. आर. के. सक्सेना ने मुख्य रूप से बाह्य नाभिक कोशिका पर कार्य किया, जिसमे फफूंद के माइटोकोन्ड्रिया भी सम्मलित थे। भूयन फफूंदियो पर भी काफी गहन अध्ययन किया।

डॉ. नरीशमैन का "फाइटोपथोरा एरीका" फफूंद की लैंगिकता का कार्य भी विशेष महत्व का है। एक मोनोग्राफ "फाइलोडी आफ मैसूर" के नाम से भी लिखा। डॉ. सक्सेना के राइजक्टोनिया वंश का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पादप रोग उत्पन्न करने वाली फफूंदियों की परजीविता एवं मृतोपजीवी प्रतिजीवन तथा राइजक्टोनिया वंश की फफूंदियों के वर्गीकरण, कोशिका अध्ययन, परजीविता तथा उनके नियन्त्रण पर उन्होंने काफी विशदकार्य किया। डॉ. श्रीवास्तव का धान के जीवाणुज भंगमारी रोग का कार्य काफी महत्त्व का है। दास गुप्ता (1958) ने भारतीय कवक एवं पादप विज्ञान के इतिहास का अध्ययन (review) किया।

अभी तक 30,000 पौधो के रोगो का वर्णन किया जा चुका है, जिनमे भारत में अनुमानत: 5000 रोग पाये जाते हैं।

पौध रोगों का वर्गीकरण—रोगो का वर्गीकरण निम्न प्रकार कर सकते हैं :—

(1) पोषक के आधार पर—रोगों का वर्गीकरण पोषक के आधार पर किया जाता है, जैसे धान्य फसलों के रोग, चारागाह तथा चारे के रोग, सब्जियों के रोग, फलों के रोग आदि।

(2) लक्षणों के आधार पर—पोषक के चिह्नों एवं लक्षणों के आधार पर भी रोगो का वर्गीकरण कर सकते हैं, जैसे म्लानि कंड, किट्ट आदि।

(3) रोगाणु के चिर जीवन के आधार पर—बीजोढ, वातोढ़ तथा मृदोढ या मृदुढ़ रोग आदि।

(4) संक्रमण के आधार पर—सक्रमण के आधार पर भी वर्गीकरण कर सकते हैं, जैसे स्थानिक सक्रमण एव सर्वदेह संक्रमण।

(5) प्राप्ति स्थान एव घटना के अनुसार :—

(अ) स्थानिक रोग—जो रोग किसी विशेप क्षेत्र मे प्रतिवर्ष साधारण अथवा भीषण रूप मे उपस्थित रहते है, स्थानिक कहलाते है। गेहूँ का ध्वज पंजाब के मैदानी भागों मे तथा नीबू का केकर एशियाई देशो में हर वर्ष दिखायी देता है। इसमे रोग के व्याधिजन भूमि मे रोगी पौधो के सड़े-गले भागों अथवा जगली पोषक पर विश्रामी रचनाओ द्वारा विपरीत परिस्थितियो मे सुरक्षित रहते हैं।

(ब) विकीर्ण अथवा यदाकदा रोग—अनिश्चित समय के अन्तर से तथा दूर-दूर स्थानो पर जो रोग पाये जाते हैं, उन्हें यदा-कदा रोग कहते हैं।

(स) व्यापक रोग—वह रोग जो कभी-कभी लेकिन बहुत अधिक क्षेत्रों में भीषण रूप से उत्पन्न होते हैं, महामारी अथवा व्याप्त रोग कहते हैं। इस प्रकार के रोग के उत्पन्न होने के लिए निम्न तीन बातो का होना आवश्यक है :

(क) रोग उत्पन्न करने वाला व्याधिजन संक्रमण की अवस्था मे हो।

(ख) सुग्राही पोषक अवस्था मे हो।

(ग) पर्यावरण परिस्थितियो के अनुकूल हो।

(6) मुख्य रोगजन के अनुसार :—

(क) सजीव रोगजम, (ख) निर्जीव व्याधिजन, (ग) विषाणु।

इस पुस्तक में पोषक पौधो के आधार पर रोगो का वर्गीकरण किया है :

(1) धान्य फसलों के रोग (Cereal diseases) गेहूँ, जौ, धान, मक्का, जई।

(2) चीना या मिलेट फसलों के रोग (Millet diseases) बाजरा, ज्वार, कांगनी।

(3) दालो के रोग (Pulse dsseases) मूंग, उड़द, अरहर, चवला, चना, मसूर।

(4) तिलहन के रोग (*Oilseed diseases*) मूंगफली, सरसों, अलसी, तिल, अरन्डी, सोयाबीन, सूरजमुखी ।

(5) मसाले वाली फसलो के रोग (Spice diseases) जीरा, हल्दी, धनिया, मिर्च ।

(6) रेशे वाली फसलों के रोग (Fibre diseases) कपास, जूट, ।

(7) रोपण फसलों के रोग (Plantation diseases) गन्ना, तम्बाकू, कॉफी, चाय ।



2

धान्य फसलों के रोग

(क गेहूँ के रोग।
(ख) जौ के रोग।
(ग) धान की फसल के रोग।
(घ) मक्का के रोग।
(ङ) जई की फसल के रोग।

(क) गेहूं के रोग

(Wheat Disease)

गेहूं खाद्यान्न की एक महत्त्वपूर्ण फसल है। इसकी खेती पंजाब हरियाणा, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान तथा बिहार में प्रमुख रूप से की जाती है। मैदानी इलाकों के अलावा 10,000 फीट की ऊंचाई वाले स्थानों पर भी इसकी खेती होती है। गेहूं मैदानी इलाकों में अक्टूबर के मध्य से नवम्बर के अन्त तक तथा नीलगिरी एवं पलनी क्षेत्रो में वर्ष में दो बार अप्रेल से जून तथा अगस्त से सितम्बर तक बोयी जाती है। गेहूं की फसल पर कई प्रकार के रोगो का प्रकोप होता है, जिनके फलस्वरूप फसल का लगभग 10-15 प्रतिशत भाग नष्ट हो जाता है। अधिक उपज वाली जातियों में देशी जातियों की अपेक्षाकृत प्रायः रोगों द्वारा अधिक नुकसान पाया गया है।

डा. पाल (1964) ने "भारत मे गेहूं के उत्पादन मे उन्नति" (Wheat improvement in India) नामक लेख मे बताया है कि गेहूं की फसल पर 15 प्रकार के रोग लगते है जिनमे से 9 बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। सन् 1964 के बाद में और भी कई नये रोग मालुम हुए हैं। उन्होने लेख मे यह भी स्पष्ट रूप से बताया है कि गेहूं के उन्नति मे कोई कारक भी इतना जरूरी नहीं है जितना कि पौधो को रोगो से बचाना। गेहूं की फसल पर फफूंद से फैलने वाले रोग मुख्य-मुख्य इस प्रकार है–

(1) जड़ गलन (Root rot)
(2) मृदुरोमिल आसिता (Downy mildew)
(3) चूर्णिल आसिता (Powdery mildew)
(4) किट्ट या रतुआ (Rust)
 (क) तने का काला किट्ट (Black stem rust)
 (ख) भूरा किट्ट (Brown rust)
 (ग) पीला किट्ट (Yellow rust)
(5) श्लथ कन्ड या छिदरा कन्ड (Loose smut)
(6) पात कन्ड (Flag smut)
(7) पहाड़ी बंट या बटुआ (Hill bunt)

(8) पत्ती अंगमारी या धब्बा (Leaf blight or spot)
(9) हेल्मिंथोस्पोरियोज (Helminthosporiosa)
(10) सेप्टोरिया पत्ती दाग एवं तुष निपत्र दाग (Septoria leaf blotch and glume blotch)
(11) राइजक्टोनिया गलन (Rhizoctonia rot)

जड़ गलन
(Root rots)

गेहूं का यह रोग प्राय: उन सभी क्षेत्रों में पाया जाता है जहां गेहूं की खेती की जाती है। बोली (Bolley) के अनुसार (1909) जड़ गलन रोग कई प्रकार की फफूंदियों के भूमि में उपस्थित रहने से उत्पन्न होता है। मुख्य रूप से जड़ गलन रोग व उनको उत्पन्न करने वाली फफूंदियां इस प्रकार है—

रोग कारक जीव

1. सर्वनाशी रोग (Take all)
   ओफिओबोलस ग्रेमिनिस (Ophiobolus graminis)
2. सर्कोस्पोरा जड़ गलन (Cercospora root rot)
   सर्कोस्पोरा हरपोट्राइकोइड्स (Cercospora herpotrichoides)
3. पीथियम जड़ गलन (Pythium root rot)
   पीथियम ग्रेमीनोकोलम (Pythium graminicolum)
4. फ्यूजेरियम जड़ गलन (Fusaruim root rot)
   फ्यूजेरियम ग्रेमीनेरियम (Fusaruim graminareum)
5. राइजक्टोनिया जड़ गलन (Rhizctonia root rot)
   राइजक्टोनिया सोलेनाई (Rhizctonia solani)
6. हेल्मिंथोस्पोरियम जड़ गलन (Helmintho sporium root rot)
   है. सेटाइवम (H. sativum)

भारत में जड़ गलन रोग मुख्य रूप से पीथियम, राइजक्टोनिया एवम् हेल्मिंथोस्पोरियम से उत्पन्न होता है। सर्वनाशी रोग का प्रकोप अमेरिका, यूरोप तथा आस्ट्रेलिया में मुख्य रूप से देखा गया है तथा फसल में 60 प्रतिशत तक का नुकसान हो सकता है। परन्तु हमारे यहां इसका प्रकोप नहीं देखा गया है।

पीथियम जड़ गलन

लक्षण :

पौधे की सतह के पास वाले भाग पर फफूंद आक्रमण कर उसे रोग ग्रसित कर देती है जिसके कारण तना सीधा खड़ा नहीं रह पाता है और बीजांकुर गिर

जाता है। बीज पत्रों का पीला पडना, अंकुरों का गलना व मुरझा कर मरना तथा पौधों के तनो पर जमीन के पास तथा मुख्य जड़ के आसपास काले-भूरे रंग की परत का जमना इस रोग के मुख्य लक्षण हैं। रोग ग्रसित पौधों की पत्तियां पीली पडने लगती हैं। सबसे पहले नीचे की पत्तिया प्रभावित होती है तथा हरा रंग खत्म होने लगता है। सर्वप्रथम जड़ गलन के लक्षण उत्पन्न होते हैं तथा बाद मे पद गलन के। जडों के रोग तथा महीन जडें इससे प्रभावित होकर ही बाद मे द्वितीयक एवम् तृतीयक जड़ें ग्रसित होती हैं। उग्रावस्था मे सम्पूर्ण जडे सड जाती है तथा फफूंद के बीजाणुधानी एवं निषिक्ताड उन जडो मे आसानी से देखे जा सकते हैं। शर्मा एव जैन (1967) ने बताया कि इससे 50 प्रतिशत तक नुकसान हवेली (haveli) विधि से खेती करने पर हो सकता है जिसमे बरसात के मौसम में पानी को एकत्र करके गेहू की खेती बिना प्रारम्भिक जुताई के की जाती है।

यह रोग पीथियम ग्रेमीनीकोलम (Pythium graminicolum) फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है। इसके अलावा ग्रेमिनी कुल के पौधों पर और भी कई पीथियम की जातियों का आक्रमण होता है वह इस प्रकार है—

1. पीथियम एरीनोमोनेस P. arrhenomones Drechst.
2. पीथियम ट्रेडिक्रिसेन्स P. tradicrescens Venterpool.
3. पीथियम एरिस्टोस्पोरियम P. arr'stosporium Venterpool.
4. पीथियम वोल्यूटम P. Volutum Venterpool and Tius Colt.

हेतुकी एवम् जीवनचक्र—

कवकजाल पटहीन, अखण्डकोशिक तथा रंगहीन होता है। अलैंगिक जनन बीजाणुधानी के द्वारा तथा लैंगिक जनन निषिक्ताड द्वारा होता है। इसके बीजाणु भूमि मे रोग ग्रसित पौधों के अवशेषो में चिर जीवित रहते हैं तथा जैसे ही अनुकूल अवस्था मिलती है, फसल को सक्रमित कर देते है। सबसे अधिक जड़ गलन का प्रकोप 25 से 30° सें. तापक्रम पर होता है तथा 15 से 20° सें. पर जड़ें भूरी सी हो जाती हैं। परन्तु मुलायम (soft) नही हो पातीं। अधिक नम जमीन का प्रयोग इस रोग की बढावार के लिए सुग्राही है।

रोकथाम (Control)—

1. रोग ग्रसित पौधो के अवशेषो को एकत्र कर नष्ट कर देना चाहिए।
2. खेत में जल निकास का अच्छा प्रबन्ध हो।
3. ऐसा फसल चक्र अपनायें जिसमे खाद्यान्न के अलावा और भी फसलें शामिल हैं।
4. शर्मा एवम् जैन (1967) ने बताया कि बोर्डो मिश्रण, जिराम, फरबाम एवं थिराम के सूखे मिश्रण से भूमि उपचार द्वारा इस रोग की

रोकथाम की जा सकती है। डायथेन-जेड-78 एवं पी. सी. एन. बी. से उपचार अच्छा नही पाया गया।

5. केप्टान, थिराम या सेरेसन (0.2 प्रतिशत) से बीजो का उपचार करें तथा अधिक नत्रजन का प्रयोग इसके लिए सुग्राही है।

6. उचित मात्रा मे सतुलित(balanced)खादों का प्रयोग करना चाहिए।

मृदुरोमिल
(Downy Mildew)

भारतवर्ष मे सर्वप्रथम गेहूँ की मृदुरोमिल फफूँद स्कलेरोफथोरा मेक्रोस्पोरा (Sclerophthora macrospora Sacc Therium) का विवरण शाह एवं नरशिमहन (Shaw and Narasimhan) ने 1968 मे किया तथा उसके बाद पंजाब एवं हरियाणा के कई जिलों मे अधिक उपज देने वाली किस्मों पर सामान्य से अधिक मात्रा मे इस रोग का प्रकोप पाया गया। गेहूँ के अलावा इस फफूँद का प्रकोप मक्का, ज्वार, जई तथा जो की फसल पर भी होता है।

लक्षण (Symptoms) :—जड़ो को छोड़कर पौधे के सभी भाग इस रोग से प्रभावित होते हैं; परन्तु पत्तियों पर इसके लक्षण अच्छी प्रकार दृष्टिगोचर होते है। रोग ग्रसित पौधे सीधे, पीले, हरे तथा कुछ बोने दिखाई देते हैं। तथा उनमे बहुत अधिक दोजी या प्ररोहण (Tillers) बाहर निकल आते हैं। कुछ संक्रमित दोजी भूरे होकर मर जाते हैं। पत्तियो पर संकीर्ण, क्लोरोटिक क्षतस्थल बन जाते हैं तथा पत्तियाँ चर्म जैसी पट्टक श्रेणी, पीली हरी, तुड़ी मुड़ी हुयी कीलक सतही की सी दिखाई देती हैं। अधिकतर संक्रमित पौधों मे बाली नहीं बन पाती है और बनती भी है तो वह तुड़ मुड़ (Distorted) सी जाती है। दाने बिल्कुल हल्के तथा सिकुड़े हुए बनते हैं।

जिन रातो मे ओस अधिक पड़ती है उन दिनों प्रातःकाल पत्ती के निचली सतह पर इस फफूँद की सफेद सी चूर्ण जैसी वृद्धि आसानी से देखी जा सकती है। भूरे बड़े निविस्ताड़ मिजोफिल ऊतको, पत्ती के फलक (Blade) की नाड़ियों के बीच तथा पर्णछद पर प्रायः मौजूद रहते हैं जिसके आधार पर इस रोग की आसानी से पहचान की जा सकती है। पुष्पक्रम (Inflorescence) प्रगुणन के कारण पत्ती जैसी रचना मे परिवर्तित हो जाते हैं।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life Cycle)—यह रोग स्कलेरोफथोरा मेक्रोस्पोरा (Sclerophthora macrospora Sacc Therium) नामक फफूँद द्वारा उत्पन्न होता है जो कि अनिवार्य परजीवी है। प्रकृति में लैंगिक तथा अलैंगिक दोनों ही अवस्था देखी जा सकती हैं। अलैंगिक अवस्था अर्धरात्रि के समय आसानी से देखी जा सकती है। *अलैंगिक बीजाणु (अण्ड बीजाणु) झुण्ड में* हल्के भूरे तथा सूक्ष्मदर्शी मे हल्के पीले, 60 माइक्रोन व्यास के गोलाकार चिकना (Smooth) भित्ति के होते हैं। इनका अंकुरण पेपीलेट (Papillate) बीजाणु-

धानी (Sporangia) द्वारा होता है जिसमें चल बीजाणु होते है। चल बीजाणु पत्तियो मे रन्ध्रो द्वारा प्रवेश कर संक्रमण कर देते हैं।

वार्षिक आवर्तन (Annual recurrence)—यह रोग मुख्यत: मृदुढ़ (Soil borne) हैं। अण्डबीजाणु भूमि मे रोग ग्रसित पौधो के मलबे मे बहुत समय तक जीवित रहते हैं तथा अनुकूल अवस्था मिलने पर पौधो पर संक्रमण कर देते हैं। द्वितीयक संक्रमण चल बीजाणु द्वारा होता है।

रोकथाम (Control):—

1. रोग ग्रसित पौधो के मलबे को एकत्र कर नष्ट कर देना चाहिए।
2. रोग प्रतिरोधी किस्मे बोनी चाहिये। एस. 358, के. डब्लू. जी. 175 प्रतिरोधकता समावेश करने के काम में लायी जा सकती हैं।
3. इसके अलावा भूमि मे जल निकास का अच्छा साधन होना चाहिये तथा फसल चक्र अपनायें।

नोट—विस्तृत अध्ययन के लिए मक्का के रोग वाले अध्याय मे मक्का का क्रेजी टॉप पढे।

गेहू का चूर्णिल आसिता या चूर्णी फफूंद अथवा बुकनी रोग (Powdery Mildew of Wheat)

प्राय: इस रोग का प्रकोप उन स्थानो पर अधिक होता है जहाँ फसल बोने के समय अधिक नमी रहती है। उत्तर प्रदेश के तराई क्षेत्रो में तथा बिहार के कुछ भागों में यह रोग बहुत फैलता है। पहाड़ी इलाकों में इसका प्रकोप मैदानी भागो की अपेक्षा अधिक देखा गया है। गेहूँ के अलावा अन्य धान्य की फसलें भी इस रोग से प्रभावित होती हैं। इस फफूंद की विशिष्ट (Specialised) प्रजातियाँ जई (Oat), जौ (Barley), राई (Rye) तथा कई प्रकार की घासें जैसे एग्रोपायरोन (Agropyron) ब्रोमस डेक्टीलिस, (Bromus dactylis) पोआ एलीमस आदि पर भी आक्रमण करती है। राजस्थान के जोधपुर जिले मे भी इस रोग का प्रकोप देखा गया है। परन्तु यह रोग यदाकदा (Sporadically) ही मैदानी क्षेत्रो मे दिखाई देता है (मेहता, 1929; आर्या एवं सीमावत, 1953)। जोशी (1969) ने बताया कि यह रोग उत्तरी भारत मे गेहूँ उगाये जाने वाले स्थानो पर भीषण रूप से आता है। उग्रावस्था में, जैसा कि 1932 में कनाडा मे प्राय: 80% तक फसल इससे नष्ट हो गई थी तथा दाने भी आधे भरे हुए उत्पन्न हुये।

लक्षण (Symptoms) —सर्व प्रथम इस रोग के लक्षण पौधे की पत्तियों पर दिखाई देते हैं। इसका आक्रमण जैसे ही पहली पत्ती बाहर निकलती है तब से दिखाई देने लगते है। पत्तियो की ऊपरी सतह इस रोग के कारण अधिक प्रभावित होती है। प्रारम्भ मे पत्तियो की ऊपरी सतह पर सफेद तथा भूरे रंग की

फफूँद दिखाई पडती है। पहले इस फफूँद के धब्बे छोटी रंगहीन चित्तियों के रूप में बनते हैं परन्तु अन्त में पत्तियों की सतह पर सफेद सा चूर्ण समूह फैल जाता है। कभी कभी बीजांकुर भी संक्रमित हो जाते हैं परन्तु अधिकतर पत्तियाँ ही प्रभावित होती हैं। इसका प्रकोप फलक के अधोस्तर (Epidermis of blades), पर्णछद (Leaf sheath) तथा पुष्पनिपत्र (Floral bracts) पर देखा गया है। चूर्णी समूह जो इन ग्रसित भागों पर बनता है वह इस फफूँद का कवकजाल तथा कोनिडियोफोर होता है। धीरे धीरे नीचे की पत्तियाँ भी प्रभावित होने लगती हैं। बाद में सफेद सा चूर्ण थोडा भूरा सा हो जाता है तथा इन धब्बों के बीच में काले काले से बिन्दु (Dot) दिखाई देते हैं जो कि इस फफूँद की लैंगिक अवस्था होती है।

ग्रसित पौधो की बढावार रुक जाती है, पौधे बौने रह जाते है तथा उनमें पत्तियाँ भी कम लगती है तथा जो लगती हैं वह भी क्लोरोफिल नष्ट होने के कारण सिकुडी हुई टेढी मेढी आकार की हो जाती हैं।

एलन एवं गोडार्ड (Allen and Goddard, 1938) एलन (1942) एवं ट्रेलीसेस व ट्रेलीसेस (Trelease एवं Trelease 1929) ने बताया कि इस फफूँद के कारण गेहूँ के पौधे के उपापचयन (Metabolism) पर भी बहुत असर पड़ता है। अधिकतर कार्बोहाइड्रेट प्रदाय का नाइट्रोजन से कम अनुपात होने पर इसका प्रकोप बहुत अधिक देखा गया है। जडो की बढावार तथा दाने का आकार भी कम हो जाता है। बालियो में दूध पडते समय दाने सूखने और सिकुडने लगते हैं क्योंकि वाष्पोत्सर्जन (Transpiration) तथा श्वसन (Respiration) क्रिया अधिक होने लगती है तथा प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया धीमी पड़ जाती है। ग्रसित पौधो में दाने आधे भरे हुए तथा सिकुड़े उत्पन्न होते हैं।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life Cycle)—यह रोग एरीसाइफी ग्रेमिनिस ट्रिटिसाई (Erysiphe graminis tritici) नामक फफूँद द्वारा उत्पन्न होता है जो कि एक अनिवार्य परजीवी है। कवकजाल रंगहीन, शाखायुक्त, पट्टीय, पर-रोही होता है। कवकसूत्र में एक नाभिकी छोटी कोशा होती है जो पत्ती की सतह से आसंगांगो द्वारा चिपकी रहती है। आसंगांग में एक नुकीली खूटी के समान रचना निकलती है जो अधोस्तर कोशिका को भेदकर भीतर प्रवेश करती है तथा फूलकर चूषांग (haustoria) बनाती है।

अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है। कोनिडिया छोटी या लम्बी रंगहीन शाखाहीन कवकसूत्र पर उत्पन्न होते हैं। इस कवकसूत्र को कोनिडियोफोर कहते हैं जो पत्ती की सतह से समकोण बनाते हुए बहुत सी वायव्य (Aerial) शाखायें बनाते हैं। कोनिडियोफोर का आधार कुछ फूला हुआ होता है तथा ऊपर की ओर बेलनाकार होता है। प्रत्येक कोनोडियोफोर तलाभिसारी श्रंखला (Basepetal

succession) में कोनिडिया की चेन मे फटते है। तलाभिसारी श्रंखला के अनुसार सबसे ऊपर वाला कोनिडियम बड़ा और सबसे पुराना होता है तथा परिपक्व होने के बाद शीघ्र अलग हो जाता है। श्रंखला मे लगभग 10 से 20 कोनिडिया बनते हैं। ये अण्डाकार या दीर्घवर्तीय, रंगहीन एक नाभिक 25–30×8–10 माइक्रोन के होते है। इन कोनिडिया का विकीर्णन हवा, पानी, कीड़ो आदि के द्वारा होता है तथा अनुकूल परिस्थितियां होने पर एक से अधिक अंकुरनाल द्वारा अंकुरित होते हैं।

पोषक के उगने के मौसम के अन्त मे सफेद चूर्ण के स्थान पर भूरी या काली सी पिण्ड दिखाई देती है जो कि क्लीस्टोथीसिया के बनने के चिन्ह है। लैंगिक अंग सोमेटिक कवकसूत्र के पास से पार्श्व छोटी शाखाओ से उत्पन्न होते है। एन्थीरीडियल शाखा कुछ बेलनाकार आकृति की तथा एस्कोगोनियल शाखा कम या अधिक गोलाकार होती है। क्लीस्टोथीसियम गोल 160–195×120–130 माइक्रोन के आकार की काली चमकीली अशतः कवकजाल से ढकी होती है। इनकी भित्ति बहुभुजी कोशिकाओ से बनी होती है तथा इसके कवक तन्तु के समान बहुत से उपांग दिखाई देते है। उपाग अल्परूप (Rudimentry) छोटे तथा फीके भूरे (Pale brown) होते हैं। पहाड़ी क्षेत्रो मे हमारे यहां यह अवस्था सबसे पहले मेहता ने तथा बाद मे जोधपुर के पास आर्या एवं गीमावत ने बतायी। प्रत्येक क्लीस्टोथीसियम उचित वातावरण मिलने पर बीच से अनुप्रस्थ तल मे दो आधे भागो मे फट जाते है तथा 9 से 30 बेलनाकार से अन्डाकार, 40–60×25 माइक्रोन के ऐस्कस बाहर आ जाते हैं। ऐस्कस के विकास के साथ वर्धी कवकसूत्र लैंगिक अंगों के चारो ओर उगता है। विशेष रूप से ऐस्कस 2 से 3 मोटी कोशा भित्तियो से घिरा रहता है जिसे पेरीडियम कहते हैं। ऐस्कस के फटने के बाद 4 से 8 तक दीर्घवर्तीय रंगहीन, एक कोशिक ऐस्कोबीजाणु बाहर आ जाते है जिनका अंकुरण जनित नलिका द्वारा होता है।

वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार (Annual recurrence and spread)—

प्राथमिक संक्रमण या तो ऐस्कोबीजाणु या कोनिडिया द्वारा होता है। भूमि में फसल के कटे हुए मलवे या घास आदि मे क्लीस्टोथीसियम जीवित रहते हैं। जैसे ही अनुकूल अवस्था मिलती है ऐस्कोबीजाणु भूमि से उड़कर स्वस्थ भागों पर संक्रमण करते है। भूमि मे 13 वर्ष तक क्लीस्टोथीसियम जीवित रह सकते हैं। मेहता (1930) तथा आर्या एवं गीमावत (1953) ने बताया कि हमारे यहां अगर ऐस्कस तथा ऐस्कोबीजाणु बन भी जाते तो अंकुरित नहीं हो सकते। मेहता (1930) ने बताया कि रोग का वार्षिक आवर्तन कोनिडिया द्वारा होता है। ये हवा द्वारा पहाडों से उडकर मैदानी फसलों को संक्रमित करने में सहायक होते हैं। एक बार जब पौधा ग्रसित हो जाता है तो द्वितीयक संक्रमण फिर इन पर बने हुए कोनिडिया

द्वारा होता रहता है। ये ज्यादा समय तक जीवित नही रहते है। इनका अंकुरण जनित नालिका द्वारा होता है जिस पर कि आसंगांग (Appressorium) बनते है। आसंगांग के बीच में एक नुकीली खूंटी सी निकलकर अधोस्तर कोशिका को भेद कर प्रचूषांग बनाती है इस प्रकार पोषक परजीवी मे आपसी सम्बन्ध हो जाता है।

आर्या एवं गीमावत (1953) ने बताया कि राजस्थान मे माउन्ट आबू से इस कोनिडिया का विकीर्णन होता है और पास वाले क्षेत्र जोधपुर मे इसी कारण प्रकोप देखा गया है।

पूर्व वृतिक कारक (Predisposing Factors)—

कोनिडिया का अंकुरण 3 से 31° से. पर देखा गया है तथा अनुकूलतम तापमान 17° सें. है (Yarwood etal, 1954) चेरविक (Cherewick, 1944) ने अनुकूलतम तापमान इससे भी कम बताया। कोनिडिया बनने के लिए 12° सें अनुकूलतम तापमान तथा अधिक गर्मी को यह सहन नही कर सकते है। कवकजाल के लिए अनुकूलतम तापमान 20° सें. है। ऐस्कोबीजाणु के अंकुरित होने के लिए सबसे उपयुक्त तापमान 16–20° सें., विकीरण के लिए न्यूनतम तापमान 10° सें. अनुकूलतम तापमान 16-20° सें. तथा अधिकतम तापमान 24° सें. है। सक्रमण तथा रोग की बढावार के लिए अनुकूलतम तापमान 20° सें. है (Luttrell and Dickson, 1954) जबकि लास्ट (Last, 1954) ने बताया कि 20° सें. के बजाय 14° सें. पर पौधे अधिक प्रभावित होते हैं।

100% आपेक्षिक आर्द्रता एवं 15 से 20° सें. तापमान कोनिडिया के अंकुरण के लिए अनुकूलतम अवस्थाएं हैं। 95% या उससे अधिक आपेक्षिक आर्द्रता कोनिडिया के अंकुरण के लिए होनी चाहिए परन्तु चेरविक (1944) के मतानुसार 0% आर्द्रता पर भी कोनिडिया का अंकुरण हो सकता है, इसके साथ यह भी बताया कि पानी के छिड़काव से रोग का प्रभाव कम हो जाता है।

फफूंद की वृद्धि के लिए प्रकाश का होना जरूरी है। इसके अलावा रोग का प्रकोप नाइट्रोजन युक्त खादो के देने से बढता है (Last, 1954) फास्फोरस एवं पोटाश देने से प्रकोप कम होता है।

कायिकी विशिष्टीकरण (Physiologic Specialisation)—

सर्वप्रथम कायिकी रूप (Formal) के अस्तित्व के बारे मे मार्चल (Marchal, 1902) ने बताया तथा उसने पोषक के आधार पर 7 रूप (Forms) बताये- एरीसाइफी ग्रमिनिस कायिकी रूप ट्रिटिसाई, होर्डी, एवेनी, सिकेलिस, पोई, एग्रोपायरी आदि। सालमन (1900) ने यूरोप तथा रीड़ (1905) ने अमेरिका में इस फफूंद मे और भी अधिक विशिष्टीकरण बताया।

सर्वप्रथम एरीसाइफी ग्रमिनिस ट्रिटिसाई में मेन्स (Mains, 1933) ने विभेदक पोषक (Differential host)—एक्समिनिस्टर (Axministes) घोले

(Chule) ऑरोन (Auron) तथा नोरका (Norka) के आधार पर 2 कायिकी प्रजातियाँ बतायीं। हमारे यहाँ कायिकी प्रजातियो पर अधिक कार्य नही हुआ है, परन्तु प्रभु ने 1959 मे 2 प्रजातियों के होने के संकेत दिये। प्रभु एवं प्रसाद (1963) के अनुसार उत्तरी पहाडी इलाकों का प्रभेद दक्षिणी इलाकों से भिन्न है।

रोकथाम (Control)

1. रोगग्रसित पौधों को एकत्र कर नष्ट कर देना चाहिए।
2. बारीक गन्धक के चूर्ण का 15 किलो प्रति एकड की दर से भुरकाव करना चाहिए। यारवुड (Yarwood, 1945) ने इस रोग की रोकथाम के लिए पोटेशियम या सोडियम सल्फाइड (1% घोल पानी मे) या कॉपर सल्फेट (0.05%) घोल पानी मे बनाकर उसमें 0.03% ग्लिसराइल एल्किल रेसीन मिलाकर छिड़काव करने का सुझाव दिया। ग्लिसराइल एल्किल रेसीन चिपचिपाहट के लिए मिलाया गया। परन्तु आजकल बाजार मे गन्धक तथा अन्य चीजों से बनी कार्बनिक दवाइयाँ उपलब्ध है जिनके छिडकाव से आसानी से रोकथाम की जा सकती है। कोसान (0 1%), केराथेन (0 05%), थायोविट (0.2%) आदि का मानव चलित फुहारे से 800 लिटर प्रति हैक्टर घोल बनाकर छिडकाव करना लाभप्रद रहता है। पाठक एवं जोशी (1972) ने इस रोग की रोकथाम के लिए 11 फफूंदनाशी दवाएँ प्रयोग मे ली जिनमें बिनोमायल 0.1% सबसे प्रभावशील रही तथा छिड़कने के 30 दिन बाद भी रोग का प्रसार नहीं पाया गया। इसके बाद केरायेन 0.1% अच्छी रही तथा दोनों से ही पादप विषालु के लक्षण उत्पन्न नही हुए। कोसान 0.2%, मोरीस्टान (0.1%) थायोविट (0.2%) एवं डिकर (0.2%) से कुछ लक्षण प्रतीत हुए परन्तु प्लान्टावेक्स 0.1%, केप्टान 0.2%, गन्धक (20 कि./हैक्टर) एव विस डायथेन 0.2% अच्छे नही रहे। सूर्यनारायण एवं अन्य (1972) के अनुसार ईथीरीमोल (ethirimol), एवं डाईमिथीरीमोल (Dimethirimol) को 0.1% एवं 0.01% क्रमशः मिट्टी मे मिलाने पर इस रोग का प्रसर नहीं पाया गया तथा ये यौगिक इस सान्द्रता पर पादप विषालु भी नही पाये गये। परन्तु जब इन यौगिको को पत्तियों पर छिड़का गया तो प्रभावशील नही रहे।

(3) रोग प्रतिरोधी किस्में बोयें—एन. पी. 710, 718, के. 53, ई. 750 एव सी. 591 सामान्य प्रतिरोधी (Moderately resitant) हैं। सूर्यनारायण एव अन्य (1971) के अनुसार बीजांकुर प्रयोग में शरबती सोनारा, सोनारा 64 एव छोटी सेरमा इससे प्रतिरोधी हैं तथा S. 227, P.V. 18, कल्याण सोना, सोनालिका

(S.308), लेरमा रोजो, लालबहादुर (EA 222-1), सफेद लेरमा, (S. 307), एस. 305 तथा आगरा लोकल इससे प्रभाव्य है तथा पनजामो 62 मध्य में हैं। परन्तु शरबती सोनारा, सोनारा 64 एव छोटी लेरमा जो बीजांकुर अवस्था मे प्रतिरोधी पायी गयी उनमे से केवल शरबती सोनारा ही प्रतिरोधी प्रौढ (adult) अवस्था पायी गयी तथा दोनो प्रतिरोधी एवं प्रभाव्य के मध्य रही। शर्मा एव अन्य (1979) के अनुसार बीजांकुर एव प्रौढ़ दोनो ही अवस्था मे वरनास, खापली, थ्यू (Thew), एन.पी. 200, टी. डी. डब्ल्यू. 1656, डब्ल्यू 1656, पी. 156 एव सी.सी. 422 इस रोग से प्रतिरोधी हैं।

गेहूँ का किट्ट
WHEAT RUST

गेहूं की फसल का यह सबसे भयानक रोग है। इस रोग को हरदा, रतुआ, रोली एवं गेरुई के नामो से भी जाना जाता है। प्राचीनकाल से ही समस्त विश्व मे इस रोग का प्रकोप गेहूँ की फसल पर होता रहा है, एव अब भी यह रोग उन सभी स्थानों पर पाया जाता है जहां गेहूँ की खेती की जाती है। ग्रहणशील किस्मो मे इस रोग से भारी क्षति होती है। रोग के व्यापक होने पर सम्पूर्ण फसल नष्ट हो जाती है। प्राचीन समय मे रोमन लोग यह मानते थे कि फसलो मे यह रोग देवताओं के कारण होता है अत. वे लोग 25 अप्रेल को रोबिगोलियो नामक त्योहार अपने भगवान रोबिगस को प्रसन्न करने हेतु मनाते थे। गेहूँ के अन्य रोगो की अपेक्षाकृत इस रोग से हानि बहुत अधिक होती है। सम्पूर्ण विश्व मे इस रोग के कारण 1 8 करोड़ टन गेहूँ की हानि प्रतिवर्ष आंकी गयी है। हमारे यहां पर सामान्य वर्षों में 4 करोड के नुकसान से लेकर महामारी वाले वर्षों मे 40 करोड़ रुपये से भी अधिक का नुकसान देखा गया है। जिस प्रकार लोहे मे जंग लग जाती है, उसी प्रकार गेहूँ के विभिन्न भागो पर भी यह रोग लग जाता हैं।

बटलर एवं हायमेन (1906) के अनुसार 4 करोड़ रुपये की हानि तथा मेहता (1942) के अनुसार 6 करोड रुपये की हानि प्रतिवर्ष इस रोग के फलस्वरूप उस समय के मूल्य के अनुसार होती है। यद्यपि पैदावार के वास्तविक नुकसान का अनुमान नही लगाया गया है, परन्तु फिर भी प्रयोगशाला मे किये गये परीक्षणो से यह ज्ञात हुआ है कि किट्ट रोग के सामान्य प्रकोप से देशी गेहूँ की उपज मे 14.2% की कमी हो जाती है। उग्रावस्था में 60 से 70% की हानि भी देखी गयी है। डॉ. रघुबीर प्रसाद (1966) ने बताया कि इस रोग के कारण 40 करोड रुपये प्रतिवर्ष का नुकसान हमारे देश को उठाना पड़ता है।

सन् 1946-47 मे यह रोग उत्तर प्रदेश तथा दक्षिण भारत मे अकाल का सूचक बन कर आया जिसके कारण गेहूँ की उपज में काफी कमी आ गयी जिसे पूरा करने के लिए गेहूँ विदेशों से मंगाना पड़ा। गेहूँ के इस भयानक रोग ने मध्य प्रदेश

में खाने की कमी ही नहीं बल्कि बोने के लिए बीजों की कमी ला दी। सन् 1957 में बिहार में इस रोग का आक्रमण हुआ तो पैदावार इतनी कम हो गयी कि जिस खेत में नौ मन अनाज पैदा होता था उसमें आधा मन पैदा हुआ और वह भी इतना खराब कि जानवर भी न खा सकें। इस प्रकार इस रोग ने जन बहुल जगत का बहुत अधिक धान्य सफाचट किया जिससे देश की अर्थव्यवस्था को भारी धक्का पहुँचा है।

गेहूं की फसल पर तीन प्रकार के किट्ट रोगों का आक्रमण होता है जिन्हे काला, पीला अथवा धारीदार एवं भूरे किट्टों के नाम से जाना जाता है। हमारे यहाँ पर तीनों ही प्रकार के किट्ट पाये जाते हैं। ये तीनों पौधो पर अपनी आकृति के आधार पर पहचाने जा सकते हैं :—

गेहूँ की फसल में लगने वाले विभिन्न प्रकार के किट्ट रोग :—

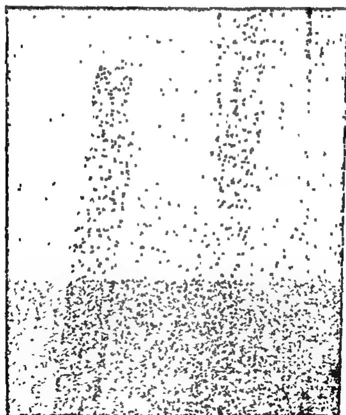
किट्ट का नाम Name of rust (	रोग कारक जीव (व्याधिजन) (Causal organism) पुराना नाम (Old name)	 नया नाम (New name)
1. तने का काला किट्ट	पक्सिनिआ ग्रेमिनिस	पक्सिनिआ ग्रेमिनिस ट्रिटिसाई
Black stem rust	Puccinia graminis	P. graminis Var tritici
2. भूरा किट्ट Orange or leaf rust	पक्सिनिआ ग्लूमैरम P. glumarum	पक्सिनिआ रिकोन्डिटा P. recondita Rob-er Darm
3. पीला या धारी दार किट्ट	पक्सिनिआ रुबिगो-वेरा या पक्सिनिआ ट्रिटिसिना	पक्सिनिआ स्ट्राइफार्मिस
Yellow or Stripe rust	P. rubigo vere or P. triticina	P. strciformisn west

पीले तथा भूरे किट्ट से गेहूं की फसल को अत्यधिक क्षति होती है। तने का काला किट्ट देरी से उत्पन्न होने के कारण फसल को कम नुकसान पहुँचाता है। पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा बिहार मे साधारणतः तीनों ही प्रकार के किट्ट पाये जाते है तथा प्रतिवर्ष मौसम के अनुसार कोई न कोई विशेष रूप धारण कर लेते हैं। दक्षिण भारत तथा मध्य प्रदेश मे काले किट्ट का तथा नीलगिरी एवं पलनी [illegible] की पहाड़ियां पर पीले किट्ट का प्रभाव अधिक देखा गया है।

गेहूँ का काला किट्ट
(Black rust)

समस्त विश्व मे जहाँ भी गेहू की खेती की जाती है वहाँ पर यह रोग देखा गया है। गेहू के काला किट्ट का प्रकोप अन्य दोनो प्रकार के किट्टो के बाद शुरू होता है। उत्तरी भारत मे इस रोग का प्रकोप फरवरी-मार्च मे होता है, जब कि फसल लगभग पक चुकती है, अतः रोग के फलस्वरूप अधिक हानि नही हो पाती है। किन्तु दक्षिण भारत मे यह फसल का महान शत्रु है क्योंकि रोग नवम्बर के महीने से ही दिखाई पड़ना शुरू हो जाता है।

लक्षण (Symptoms)—रोग के लक्षण सर्व प्रथम तने, पत्तियो तथा पत्तियों के आवरण पर लम्बे, भूरे रंग के स्फोट (pustule) के रूप मे दिखाई देते हैं। स्फोट अधिकतर तने के ऊपर ही दिखाई देते है, अतः इसको तने का किट्ट रोग



2 (क) 1 गेहूँ का काला किट्ट

कहते हैं (चित्र 2·1)। प्रारम्भिक अवस्था में स्फोट बहुत छोटे (1/4)" आकार के

होते हैं जो धीरे-धीरे बड़े तथा एक-दूसरे से मिले हुए प्रतीत होते हैं। भूरे रंग के स्फोट इस फफूंद के यूरिडो स्फोट कहलाते है। आरम्भ में स्फोट एक महीन झिल्ली से ढ़के रहते है, परन्तु जैसे जैसे इनका परिमाण बढता है, झिल्ली फट जाती है तथा यूरिडोबीजाणु बाहर निकल आते है। एक यूरिडी स्फोट मे असंख्य यूरिडोबीजाणु बनते हैं। आगे चलकर ये यूरिडोस्फोट टीलिया (telia) बनाते हैं जिससे स्फोट का रंग काला हो जाता है। रोग की व्यापक अवस्था मे पौधे ग्रसित दिखाई पड़ते हैं तथा उनमे बालियाँ ठीक से नही आती है। बालियों मे दाने सिकुड़ कर हलके हो जाते है। उग्रावस्था मे तो दाने इतने हल्के उत्पन्न होते हैं कि गहाई के समय कुट्टी (chaff) के साथ वह भी उड़ जाते है। भूसा भूरा तथा सूखकर भगूर (brittle) हो जाता है। व्यापक अवस्था मे पौधो का आकार भी घट जाता है। जडो को छोड़कर पौधे के सभी भागों पर रोग के लक्षण दिखाई दे सकते है।

किट्ट से प्रभावित पौधो को पानी की आवश्यकता अधिक पड़ती है। वाष्पोत्सर्जन (Transpiration) एवं श्वसन (respiration) क्रियाएँ बढ़ जाती है तथा प्रकाश सश्लेषण (Photo synthesis) क्रिया धीमी पड़ जाती है (सर्बोस्की एव शाह, 1956) इसी कारण दाने सिकुडे हुए एवं हल्के उत्पन्न होते हैं। ग्रसित पौधो मे सम्पूर्ण प्रोटीन नत्रजन, घुलनशील नत्रजन तथा घुलनशील नत्रजन से अघुलनशील नत्रजन का अनुपात बढ़ जाता है। डॉ. प्रसाद ने 1967 मे बताया कि एमिनो एसिड एव प्रोटीन का संश्लेषण स्वयं फफूंद द्वारा हो सकता है।

यदि सिकुडा बीज (shrivelled seed) जो किट्ट रोग से प्रभावित पौधों से हो उसको बीज के रूप में काम मे लाया जाये तो उससे पौधा कमजोर तथा देरी से उगता है, तथा साथ ही जडें भी छोटी-छोटी आती है। पौधा कम वजन का तथा हेल्मिथोस्पोरियम जड गलन रोग से भो बहुत कम प्रतिरोधी होता है।

बरबेरिस के ऊपर इस फफूंद की दो अवस्थाएँ पिक्नीडियल एवं इसीडियल पायी जाती है। सर्व प्रथम पत्तियों की उपरी सतह पर छोटे गोल पीले रंग के एक से अधिक धब्बे दिखाई देते हैं धब्बे धीरे-धीरे बढ़ते हैं तथा उनका परिमाण 2 से 5 मि मि. हो जाता है। धब्बों के चारों तरफ चमकदार-सा क्षेत्र बन जाता है। परिपक्व अवस्था में अपशल्क (exudate) बनाती है जिससे कि कीड़े आकर्षित हो जाते हैं। इन पिक्निडिया के नीचे पत्तियों की सतह पर छोटे-कप जैसी आकृति पैदा होती है जो ईसीडियल (aecidial) अवस्था कहलाती है। इस प्रकार पिक्निडिओबीजाणु मे से पीले नारंगी रग के तन्तु निकल कर आपस में गुथ कर ईसीडियम को आधक बनाते हैं।

हेतुकी एवं जीवन चक्र
(Etiology and Life cycle)

यह रोग पक्सिनिआ ग्रेमिनिस ट्रिटिसाई (Puccinia grominis tritici)

(Eriks and Henn) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। सर्व प्रथम परसून (1797) ने बताया कि काला किट्ट रोग एक कवक द्वारा उत्पन्न होता है जिसका नाम इसीडीयम बरबेरिडिस है। यह एक बहुरूपी (poly morphic) कवक है जिसके सम्पूर्ण जीवन चक्र में कई प्रकार के बीजाणु बनते हैं जैसे—पीकिनडिया, इसीडिया, यूरिडिया, हेल्यूटो एवं बेसीडियो बीजाणु आदि। यह फफूंद बहुरूपी के साथ-साथ भिन्नाश्रयी (heteroecious) भी है अर्थात् इस रोग के बीजाणु की प्रथम दो अवस्थाएँ बरबेरिस की झाड़ी पर तथा बाद की दो अवस्थाएँ गेहूं की फसल पर पायी जाती हैं। इस प्रकार बरबेरिस इस फफूंद का एकान्तर पोषक (alternate host) है। पहले यह समझा



चित्र 2 (क) 2 पक्सिनिया ग्रैमिनिस फफूंद का जीवनचक्र

जाता था कि बरबेरिस के ऊपर इसीडियम बरबेरिडिस (परसून) नामक फफूंद का

आक्रमण होता है तथा गेहूं के ऊपर यूरिडो फ्रूयमेन्टाई (Uredo frumenti) (Solderby) का आक्रमण होता है। इस प्रकार दोनों फफूंदिया अलग-अलग समझी जाती थी। टूलेन ने 1854 में यह सिद्ध किया कि यूरेडियल एवं टीलीयल अवस्था में आनुवंशिक सम्बन्ध (genetic relationship) है तथा डी वेरी ने (1864–65) अपने गोरन्वित अनुसंधानों द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि काले किट्ट में भिन्न जालिकता (hetero thalism) पायी जाती है तथा बरबेरिस एकान्तर पोषक है। अन्तिम अवस्था मे टेल्यूटोबीजाणु के अंकुरण के पश्चात बेसीडियोबीजाणु उत्पन्न होते हैं जो गेहूं से बरबेरिस झाड़ पर जाते हैं (चित्र 2.2)।

फफूंद—पक्सिनिया ग्रेमिनिस ट्रिटिसाई एरिक्सन एवं हेन समानार्थक (Synonyms) :—

1. पक्सिनिया ग्रेमिनिस Puccinia graminis Pers. 1794.
2. लाइकोपरडोन पोक्युलिफोर्मी Lycoperdon poculiforme Jac 8.
3. लाइकोपरडोन लिनेरी L. lineare Schrank, 1789
4. यूरिडो लाइनेरिस Vredo linearis Pers ae other
5. यूरिडो ग्रेमिनीस V. graminis Eriks al Henn
6. पक्सिनिया लाइनिएरिस P. linearis Roehl
7 पक्सिनिया एग्रोपायरी P. agropyri Otth
8 एरीसाइफी लाइनेरिस Erysiphe linearis Wallr
9. सियोमा लाइनेरी Caeoma lineare Schlecht

कवकजाल (Myceluım)—

कवकजाल पटयुक्त, शाखायुक्त, अन्तर्कोशीय तथा द्विकेन्द्रक होता है गोलाकार प्रचूषांग कोषाओं में पाये जाते हैं।

पिक्निडियल अवस्था (Pycnidial stage)

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि यह फफूंद भिन्नाश्रयी है अर्थात् बेसीडियोबीजाणु का प्राथमिक एवं द्वितीयक संक्रमण गेहूं पर नहीं हो पाता है तथा ये केवल बरबेरिस या महोनिया की पत्तियों पर ही अंकुरित होते हैं यदि इनका यह पोषक (host) नही हो तो ये मर जाते है। बरबेरिस मुख्यतः इस किट्ट से प्रभाव्य है। अंकुरण के समय इन बीजाणुओ से एक नली निकलती है जिसे जनिता नलिका कहते हैं। यह पत्तियो की ऊतक मे प्रवेश करके कवकजाल बनाता है। कवकजाल की कोशायें एक नाभिकीय (monokaryotic) होती हैं। ये कवकजाल कई स्थानों पर अधोस्तर (epidermis) के ऊपर व नीचे एकत्रित होकर घना जाल बना देते हैं। इनमे ऊपरी अधोस्तर के घने जाल को प्राइमोडियम ऑफ स्पर्मोगोनियम तथा नीचे अधोस्तर मे जाल को प्राइमोडियम ऑफ ईसीडियम कहते हैं। लगभग 7 दिन

में पत्ती के ऊपरी सतह पर भूरे पीले स्फोट दिखाई देते है जो कि इस फफूंद का पिक्निडियल अवस्था मे होता है।

यदि इसे उर्ध्वाधर (Verticle) काटकर अध्ययन करें तो यह फ्लास्क की आकृति के दिखाई देती है, जिसका आधारी भाग (basal part) स्यूडोपेरेन्काइमेट्स उतकों का बना होता है। इसमे पेराफाइसेज (paraphyses) होते हैं तथा पिक्निओस्पोर रगहीन, अण्डाकार, जजीर मे बनते हैं। ये पिक्निओस्पोर आकार में अन्य प्रकार के बनने वाले बीजाणुओं में सबसे छोटे होते हैं। स्पर्मेशिया संख्या में बहुत अधिक बनते हैं जिससे फ्लास्क के मुख पर एक छिद्र बन जाता है। इस छिद्र द्वारा कुछ स्पर्मोगोनिल सूत्र (Spermogonial hyphal) बाहरी सतह पर निकल जाते हैं जिनको रिसेप्टिव सूत्र (receptive hyphal) कहते हैं। क्रेजी (1927–39) में सर्व प्रथम स्परमेशिया या संग्राहक कवकतन्तु के विकेन्द्रिक होने मे महत्त्व बताया। ये पिक्निडिया या तो + अथवा – प्रभेद के होते हैं। जब दो भिन्न पिक्निडिया के संग्राहक कवकसूत्र (flexuous hyphal) आपस में मिल जाते हैं तो युग्मप्टिकरण हो जाता है जिनका केन्द्रिक व्यवहार द्विगुणित (deploid) होता है। इन स्पर्मेशिया से एक प्रकार का मधु निकलता है। जब कोई कीट एक स्पर्मोगिनिया से दूसरे स्पर्मोगिनिया पर जाता है एक प्रभेद के स्पर्मेशिया दूसरे प्रभेद के रिसेप्टिव कवकसूत्र (receptive hyphal) पर पहुंच जाता है तथा पिक्निओस्पोर एव संग्राहक कवकसूत्र के बीच की दीवार समाप्त हो जाती है तथा स्पर्मोशिया का न्यूक्लियस साइटोप्लाजम मे पहुंच जाता है जहां पर सायुग्मन होता है, जिनका केन्द्रिक व्यवहार द्विगुणित (deploid) होता है। युग्माप्टिकरण होने पर पत्तियों के निचली सतह पर ईसीडियम (aecidium) बनते हैं।

ईसीडियल अवस्था (Accidial stage)

ईसीडियल अवस्था पत्तियों की निचली सतह पर स्पर्मेगोनियम के नीचे पायी जाती है। पत्ती के निचली सतह पर पिक्निडिओबीजाणु बनाने वाले कवकजाल मे से पीले नारंगी रंग के कवक तन्तु निकल कर आपस मे गुथ कर ईसीडियम का आधक (aecidial primorduim) बनाते हैं। युग्माप्टिकरण क्रिया के पश्चात् ईसीडियम का आधक ईसीडियम में बदल जाता है। ईसीडियल कप तब ही बनते हैं जब विपरीत प्रभेद के स्पर्मेशिया ईसीडियल प्राइमोंडियम की आधार कोशिकाओं तक पहुंच जाते हैं तथा सायुग्मन से आधार कोशिकाएँ द्विकेन्द्रिक हो जाती हैं। द्विकेन्द्रिक आधार कोशिकाएँ अधोस्तर की ओर बढ़कर कुछ लम्बी हो जाती हैं। इनका अनुप्रस्थ विभाजन होकर एक अग्रक कोशा (api cal cells) बनाती हैं। आधार कोशिका में इस प्रकार कई बार विभाजन होता रहता है। ईसीडियम की सबसे भीतरी परत मोनोकेरियोटिक कवकजाल की बनी होती है जो उप अधिस्तर (sub hymeneum) कहलाती है। इसके ऊपर वाली सतह द्विकेन्द्रिक या डाइकेरियोटिक बीजाणुधरों की

होती है जो अधोस्तर कहलाती है । ईसीयल (aecial) धब्बे उभरे हुए, पीले भूरे एवं उथलीट्यूब के (shallow tube) कप की आकृति के बनते है । ईसीडियम कप पर छोटे से वृन्त (stalk) पर ईसीडियोबीजाणु तलाभिसारी श्रृखला मे बनते है । ईसीडियोबीजाणु उपवर्तुल (sub globose) से षटकोणी (hexagonal) हल्के भूरे पीले रंग के चिक्कण (smootn) बनते हैं जिनका अंकुरण रंगहीन जनित नालिका द्वारा होता है तथा व्यास 16 से 28 माइक्रोन होता है । ईसीडियोबीजाणु की दीवार कण्टिक (echinulate) होती हैं तथा भित्ति मे छः जनित छिद्र (germ pores) पाये जाते हैं । इनका विकीर्णन हवा द्वारा होता है । ये बीजाणु अकुरनाल द्वारा गेहू की पत्तियो को संक्रमित करते हैं, जिसके फलस्वरूप डाइकेरियोटिक अन्तराकोशिक कवकजाल बनता है जिनसे यूरिडोबीजाणु (Vredio spore) बनते हैं ।

यूरिडियल अवस्था (Uredial Stage)

यूरिडोबीजाणु द्विकेन्द्रिक कवकजाल (binucleate) पर बनते है और एक विशिष्ट रचना यूरेडियम मे एक कतार में होते है । यूरिडो पुंज (Uredo sori) बहुत बड़े और लम्बे होते हैं । यूरिडिया दीर्घवत् (oblong) से गोलाकार (circular) भूरे लाल से चेस्टनट भूरे (Chestnut brown) रंग के असख्य बीजाणु के मौजूद होने से धूलीय हो जाते हैं । यूरिडोबीजाणु छोटे एवं सीधे वृन्तयुक्त, दीर्घवत अण्डाकार, एक कोशिय द्विकेन्द्रिक, 15–30×17–20 माइक्रोन के कण्टिकायुक्त होते हैं । भित्ती मोटी होती है तथा दो स्तरो की बनी होती है, इसमे बाहरी परत एक्सीन (exine) काँटेदार (spiny) एव भीतरी परत इन्टीन (intine) रंगहीन होती है । बाह्य भित्ति मे 4 जनित छिद्र होते हैं जो मध्यतलीय रहते हैं । बीजाणु एक कोशीय होते हैं । कोशा के भीतर साइटोप्लाज्म तेल ग्लोब्यूल्स तथा दो नाभिक डाइकेरियोटिक (द्विकोशिक) होते हैं । यूरिडोबीजाणु जनित नालिका द्वारा नमी की उपस्थिति मे अंकुरित हो जाते हैं जो पोषक के ऊतक में पर्णरन्ध्र के द्वारा प्रवेश करते हैं । 5–6 दिन बाद मे फिर से यूरिडोबीजाणु बन आते है तथा यह क्रम चलता रहता है ।

टेल्यूटो अवस्था (Teleuto stage)—यूरिडोबीजाणु से टेल्यूटोबीजाणु तुरंत एक साथ नहीं बनते हैं, परिवर्तन धीरे धीरे होता है तथा कुछ समय तक युरिडियम मे यूरिडोबीजाणु तथा टेल्यूटोबीजाणु दोनो ही बनते हैं एवं फिर धीरे-धीरे यूरिडोबीजाणु कम हो जाते हैं, तथा सम्पूर्ण यूरीडियम टेल्यूटोबीजाणु से भर जाता हैं । टेल्यूटोबीजाणु फसल की परिपक्व अवस्था के समय बनते है । टेलिया नग्न (naked) दीर्घवत् (oblong) से अनुरेख (linear) गहरे भूरे से काले रंग के अधोस्तर के फटने (rupture) के साथ साथ अधिकतर किनारों (margin) पर दिखाई देते हैं । टेल्यूटोबीजाणु काले तथा सोराई भी बाहर से काली दिखाई देती है इसीलिए काला किट्ट (black rust) नाम दिया गया है । टेल्यूटोबीजाणु की रचना

यूरिडोबीजाणु से बिल्कुल भिन्न होती है, प्रत्येक बीजाणु की एक द्विकोशीय रचना होती है-। टेल्यूटोबीजाणु आग्रही वृत्त (Persistant) पर बनते हैं। ये बीजाणु यूरिडोबीजाणु से अधिक वृन्त पर मजबूती से लगे रहते हैं तथा दोनों कोशिकाओं के बीच में होते हैं। ये मोटी भित्ति वाले तकुरूप (spindle) के समान, सूत्राकार (filiform) से मुद्गराक (clavate) आकृति के पट के पास कुछ सिकुड़े हुए, सिरा मोटा एव गोल या कुछ नुकीला चिकना (smooth) एव चेस्टनट रंग के दो परतो के बने होते है। बाह्य कवक (exine) कवच मोटी काटेदार जबकि भीतरी परत कोमल होती है। प्रत्येक कोशिका मे एक जनित्र छिद्र होता है। परिवर्धन की प्रारम्भिक अवस्था मे टेल्यूटोबीजाणु की दोनों कोशिकाओं मे दो दो केन्द्रिक होते है लेकिन जैसे जैसे बीजाणु परिपक्वता की ओर अग्रसर होते हैं, दोनों कोशिकाओं में मौजूद केन्द्रको के जोड़े सायुज्य हो जाते हैं और उनमे से एक एक द्विगुणित केन्द्रक बन जाता है।

ये बीजाणु कुछ समय के विश्राम (rest) के बाद चार कोशिका प्रकवक (four celled promycelium) द्वारा अकुरित होते हैं जिनमे पार्श्विक (laterally) बीजाण्वी (Sporidia) महीन स्टेरिगमेटा के ऊपर बनते है। अकुरण के समय प्रकवक कोपा से एक छोटी अंगुलकार रचना बनती है जिन्हें बीजाणुसूत्र कहते हैं। टेल्यूटोबीजाणु यूरिडोबीजाणु की अपेक्षा प्रतिकूल परिस्थितियो का सामना करने मे अधिक समर्थ होते हैं।

बेसीडियल अवस्था (Basidial Stage)

बीजाणुसूत्र पर एक गोल बीजाण्वी बनती है। प्रत्येक बीजाण्वी या बेसिडियो बीजाणु एक केन्द्रक होता है जो अलग अलग प्रभेद के होते हैं। बेसिडियोबीजाणु बीजाणुसूत्र से टूटकर अलग-अलग हो जाते है तथा जल की उपस्थिति मे बरबेरिस की झाडियो पर अकुरित होते हैं। इस प्रकार इनका जीवन चक्र चलता रहता है।

पोषक एवं परजीवी सम्बन्ध (Host parasite relation ship)

जब यूरिडोबीजाणु पोषक की सतह पर आते हैं तो परजीवी का पोषक से आपसी सम्बन्ध बन जाता है चाहे पोषक अनुकूल (Congenial) है या नही। यदि तापक्रम एवं आर्द्रता आदि पर्यावरण कारक अनुकूल हो तो यूरिडोबीजाणु [redacted] प्रकुरण हो जाता है। परन्तु इस अकुरण से यह नही समझ लेना चाहिये कि सक्रमण (infection) हो गया है क्योंकि दूसरे अनैच्छिक पोषक पर भी जनित्र नलिका बढ़ती रहती है तथा कई बार तो आमगाम (Appressolium) पोषक मे प्रवेश किये बिना ही बन जाते हैं परन्तु उनमे किसी भी प्रकार का कार्बनिक सम्बन्ध (Organic relationship) नही बन पाता है। स्वयं अवरोध एवं उत्तेजक बीजाणु के स्राव से भी पैदा होते है जिसके फलस्वरूप पोषक की अनुपस्थिति मे बीजाणु का अंकुरण एव जनित्र नलिका की बढ़वार रुक जाती है (एलन 1955, 1957 भौमिक एव प्रसादा

1963 एवं प्रसादा एवं राय 1965) । यूरिडोबीजाणु का अंकुरण एवं जनित्र नलिका की बढ़ावार पानी की बूंद अथवा जल की उपस्थिति मे बीजाणु के भीतर एक साथ (Stored) खाद्य पदार्थ मुख्यतः लाइपिड की सहायता से होता है तथा उसका कोई भी सम्बन्ध किण्वभोज (Substrate) से नहीं रहता है (Gottleib and Caltrider, 1962) । यूरिडोबीजाणु अंकुरित होने पर जनित्र छिद्र से अंकुरनाल द्वारा अंकुरित होते हैं । अंकुरित होने पर अंकुरनाल का एक सिरा फूलकर आसंगांग बनाता है। जब रन्ध्र छिद्र (*Stomatal pore*) के ऊपर आसगांग बन जाते है तो बीजाणु के पदार्थ जैसे न्यूक्लिग्राई, वसीय पदार्थ, रंगद्रव्य, कार्बोहाइड्रेट्, प्रोटीन, कार्बनिक अम्ल आदि यूरिडोबीजाणु से इसमें आ जाते है तथा उसको एक खाली गोला जैसा छोड देते हैं । एक ही स्ट्रोमा पर 2 या 2 से अधिक आसगाग एक दूसरे के ऊपर हो सकते हैं, दो आसंगांग मिलकर एक भी बना लेते है (एलन, 1926-27) । इन आसगाग मे से एक नली जैसी रचना निकलती है जो स्टोमा या रन्धों मे प्रवेश करके वेसीकल बनाती है । एक ही अधोरन्ध्री गुहा (sub stomatal cavity) मे दो वेसीकल मिलकर एक बनती है। आसगांग मे से साइटोप्लाज्म, प्रवाह (flow) होकर अधोरन्ध्री गुहा में चला जाता है तथा आसंगांग खाली शक्ति पाता (collapse) हो जाता है । इसके बाद वेसीकल से संक्रमण कवकतन्तु निकलते हैं जो द्विकेन्द्रिक कवकजाल बनाते हैं । इन कवक तन्तुओ से प्रचूषाग निकलते है । प्रचूषांग पोषक के भीतर घुसते हैं तथा खाना चूसते रहते हैं । इस प्रकार संक्रमण हो जाता है । विद्युदणु सूक्ष्मदर्शी से यह भी पता चला है कि किट्ट के प्रचूषाग सम्पूटिका सहित (en capsulaltias) से घिरे रहते हैं । सक्रमण होने पर ये द्विकेन्द्रिक कवकजाल बनाते हैं । यह द्विकेन्द्रिक जाल एक बार फिर यूरिडोबीजाणु की दूसरी नई फसलें तैयार करते हैं । इस प्रकार ये यूरिडोबीजाणु हवा द्वारा उड़कर बडी तेजी से रोग फैलाने में सहायक होते है ।

टेल्यूटोबीजाणु उसी द्विकेन्द्रिक कवकजाल पर या अलग से बनते हैं परन्तु एक साथ नही बन पाते है। लम्बे समय के शिशिरातिचार के होने से बनते है । इनके अंकुरण होने पर जनित छिद्र मे प्रकवक (promy celuim) बाहर निकलती है । प्रकवक कोया से अंकुरण के समय एक छोटी अंगुलीकार रचना बनाती है जिन्हें बीजाणुसूत्र कहते है । इन अंगुलीकार रचनाओ पर इसके गोल बीजाण्वी बनते है । प्रत्येक बीजाण्वी या वेसिडियोबीजाणु एक केन्द्रिक होता है जो अलग अलग प्रभेद के होते हैं । वेसिडियोबीजाणु बीजाणुसूत्र मे टूटकर अलग अलग हो जाते हैं तथा जल की उपस्थिति में बरबेरिस की झाड़ियों पर अंकुरित होते हैं ।

बरबेरिस की पत्तियों पर वेसिडियोबीजाणु द्वारा संक्रमण तन्तु द्वारा क्यूटिकल (Cuticle) के प्रवेश से होता है । प्रतिरोधकता क्यूटिकल (Cuticle) की मोटाई पर निर्भर करती है (Melander and Cragie, 1972) । बरबेरिस बलमेरिस जाति इस किट्ट से बहुत अधिक प्रभाव्य है क्योंकि क्यूटिक्ल (Cuticle) बहुत पतली होती है ।

बीजाणुओं के अंकुरण के बाद तथा संक्रमण तन्तु के रन्ध्र छिद्र मे प्रवेश करने के समय सफल अन्त:क्रमण पर प्रकाश की गति का बहुत अधिक असर पड़ता है।

अन्त:क्रमण के समय तथा शुरू की अवस्था में अन्धेरे मे किट्ट के लक्षणों में कमी आ जाती है। शार्प (Sharp) एवं अन्य (1958) ने बताया कि आसगाग की वृद्धि एवं अंकुरण के लिए अनुकूलतम तापमान 60 से 70°F एवं प्रदीप्ति (illumination) 300Fc से कम होना चाहिए 500Fc से अधिक प्रदीप्ति एवं 850F से अधिक तापमान अधोरन्ध्रीगुहा की वृद्धि को बढाता है। केवल 55% आसगाग अधोरन्ध्रीगुहा बनाते है। 67% मे सफल संक्रमण होता है।

मार्शल वार्ड (1902) ने जनित नलिका पोषक मे प्रवेश को अन्त क्रमण तथा बाद की कोशिकाओं (tissues) में वृद्धि को संक्रमण बताया। इस प्रकार कवक तन्तु से पहली कोशिका द्वारा प्रचूषाग बने, तथा जिसके द्वारा पोषक से सम्बन्ध स्थापित हो तब ही हम कह सकते है कि संक्रमण हो गया है।

प्रतिरोधी किस्मों में इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित नही हो पाता है कि किस सीमा तक यह सम्बन्ध हो पाया है या नही, उस आधार पर हम एक किस्म को अलग रूप मे विभाजित करते हैं जैसे प्रतिरक्षक (Immune)। इसमे पत्ती बिल्कुल स्वस्थ होती है तथा किसी भी प्रकार के संक्रमण के चिन्ह दिखाई नही देते हैं। इस प्रकार की किस्मो मे या तो फफूंद अंदर प्रवेश नही कर पाती है या कवकजाल का पोषक के अन्दर बिना घाव (injury) किये बिना ही विच्छेद हो जाता है। कई प्रतिरोधी किस्मो मे संक्रमण होने पर प्रथम कोशिका (Cell) नष्ट हो जाती है परन्तु किट्ट फफूद की कवकजाल शीघ्र ही मर जाती है, फलतः पौधो मे स्फोट बड़े बड़े बनते हैं जो धीरे धीरे पीले से घिरे रहते है। इन दोनो के बीच मे और भी अवस्थायें होती है जिसके आधार पर स्टेकमन तथा उनके साथियो ने पोषक एव परजीव के सम्बन्ध (host parasite relationship) को 0, 1, 2, 3, 4 एव 5 भागो मे विभाजित किया।

संक्रमण का रूप (Infection type)

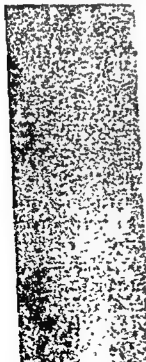
0. प्रतिरक्षक (Immune)--किसी भी प्रकार के स्फोट नही बनते हैं, परन्तु बहुत छोटे मरे हुए पोषक के उत्तक (fleck) मौजूद रहते हैं।
1. अति प्रतिरोधी (Very resistant) किट्ट के स्फोट बहुत छोटे बनते हैं। जो मरे हुए भाग से घिरे हुए रहते हैं।
2. साधारण प्रतिरोधी (Moderately resistant) स्फोट छोटे से बड़े अधिकतर पोषक उत्तक के हरे द्वीप मे अतिक्षयी या हरिमताहीनयुक्त पत्रामण्डल से घिरे हुए रहते हैं।
3. साधारण ग्राह्य (Modrately Suscaptable) स्फोट मध्यम आकृति के अधिकतर अलग अलग तथा थोड़ी सी हरिमता से मिले हुए होते हैं।

4. अति प्रभाव्य (very suscapta ble) स्फोट बड़े तथा एक दूसरे से मिले हुए, किसी भी प्रकार के मरे हुए उत्तक नहीं तथा कुछ पीले से घिरे हुए रहते है।

5. विषमरूप (Hetero genous) ऊपर बतायी गयी सभी जातियों से मिश्रित संक्रमण रूप 0, 1, 2 प्रतिरोधी के रूप मे तथा 3 एवं 4 *प्रभाव्य के रूप मे रखी गयी है।*

पीला अथवा धारीदार किट्ट
(Yellow or stripe rust)

सबसे पहले पौधो पर इस किट्ट का ही असर दिखाई देता है। यह रोग काले तने के किट्ट मे अधिक हानिकारक है क्योंकि रोग दाना बनने से पहले ही लग जाता है। इस किट्ट के यूरिडोबीजाणु पीले रंग के होते है। इसे धारीदार किट्ट भी कहते है। दक्षिण भारत की अपेक्षा उत्तरी भारत में इस रोग का प्रकोप अधिक होता हैं। पंजाब, देहली, उत्तर प्रदेश एवं राजस्थान के इलाको मे इस रोग से अधिक हानि देखी गयी है। ठंडे पहाड़ी क्षेत्रों के अतिरिक्त मध्य और दक्षिण भारत में भी इसका प्रकोप नही होता है।


2(क)3 गेहूँ का पीला किट्ट

लक्षण (Symptoms)—

मुख्यतः इस रोग के स्फोट पत्तियो पर पाये जाते हैं, परन्तु रोग की व्यापक दशा मे पत्तियों के आवरण, तने एवं बालियो पर भी दृष्टिगोचर होते है। पत्तियों की ऊपरी एवं निचली दोनो सतहों पर हल्के पीले रंग के गोल स्फोट पंक्तियों में देखे जा सकते हैं। ये स्फोट पत्तियों पर धारियों के रूप मे दिखाई देते है (चित्र 2.3)। रोग के बढ़ने पर स्फोटो की ये कतारें साफ-साफ नही दिखाई देती। पत्तियो के जिस स्थान पर ये स्फोट पाये जाते हैं वहाँ का हरा रंग धुंधला हो जाता है तथा लम्बी रेखायें सी बन जाती हैं। यूरिडोपुंज पीले चूर्ण के रूप मे बिखर जाते है। प्रभावित पत्तियाँ शीघ्र पक कर झुक जाती हैं। रोगी पौधों की बालो मे लगे हुए दाने हल्के और सिकुड़े हुए होते हैं। अत्यधिक प्रकोप हो जाने पर रोगी पौधों की पत्तियाँ सूख कर गिर जाती हैं।

यूरिडोस्फोट बनने के बाद टेल्यूटोस्फोट बनते हैं यह मन्द काले रंग के होते है जो अधोस्तर की निचली सतह पर पंक्तियों मे बनते है। ये टेल्यूटोस्फोट काफी समय तक अधोस्तर से ढ़के रहते हैं तथा अधोस्तर के द्वारा फट नहीं पाते हैं।

इस किट्ट का प्रकोप अधिक ठंड, बदली और नमी वाले मौसम मे बहुत ही संक्रामक रहता है। रोग ग्रसित पौधों मे पानी की आवश्यकता अधिक पड़ती है। वाष्पोत्सर्जन एवं श्वसन क्रियाएँ बढ़ जाती हैं, तथा प्रकाश सश्लेषण की क्रिया धीमी पड जाती है। रोग ग्रस्त पौधों की जडो का बढाव कम हो जाता है। बालियो मे दाने भी सिकुड़ कर हल्के हो जाते है तथा रोग ग्रस्त बीजो की क्षमता भी कम हो जाती है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle) :—यह रोग पक्सिनिया स्ट्राइफर्मिस (P. Strii formis West) फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है।

समानार्थक :—

1. पक्सिनिया ग्लूमैरम P. glumarum (Schm) Eriks and Henn
2. यूरिडो ग्लूमैरम U. glumarum Schm.
3. ट्राइकोबेसिस ग्लूमैरम Trichobasis glumarum Lev
4. पक्सिनिया ट्रिटिसाई P. tritici Oerst
5. पक्सिनिया नेगलेक्टा P. neglecta West

इस फफूंद का कवकजाल भी पटयुक्त, शाखायुक्त, अन्तःकोषीय तथा द्विकेन्द्रिक होता है।

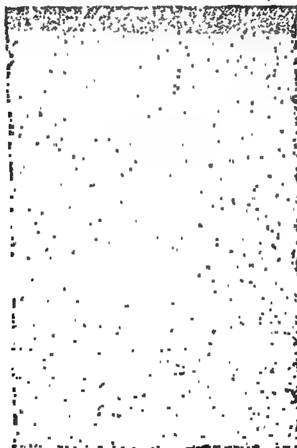
पिक्निडियल एव ईसीडियल अवस्था का अभी पता नही चला है। यूरिडोबीजाणु अण्डाकार, पीले रंग के, द्विकेन्द्रिक एक कोशिक 23–35×20–35 माईक्रोन चौड़े होते हैं। यूरिडोबीजाणु की दीवार रगहीन तथा बहुत कम कन्टिकायुक्त तथा 6 से 16 जनित छिद्र (germ pores) होते हैं। जनित छिद्र इधर उधर बिखरे रहते हैं। यूरिडोबीजाणु का अंकुरण जनित नालिका द्वारा होता है। अंकुरित होने पर अंकुरनाल का एक सिरा फूलकर आसंगांग बनाता है। आसंगांग से एक नली जैसी रचना निकलती है जो स्टोमा या रन्ध्रो से प्रवेश करके वेसीकल बनाती है। इसके बाद वेसीकल से संक्रमण कवकतंतु उत्पन्न होते है जो द्विकेन्द्रिक कवकजाल बनाते हैं। ये द्विकेन्द्रिक कवकजाल एक बार फिर यूरिडोबीजाणु की नई फसल तैयार करते हैं। ये यूरिडोबीजाणु हवा द्वारा उड़कर बड़ी तेजी से रोग फैलाने में सहायक होते हैं।

फसल के मौसम के अन्तिम समय टेल्यूटोबीजाणु बनते हैं। ये बीजाणु गहरे बरुई तथा कुछ काले दीर्घवृत से स्फानाकार सिरे पर चिपटे दो कोशिका वाले होते है। इनका आकार 35–63×12 माइक्रोन व्यास का होता है। इन बीजाणुओं

के सिरे काले किट्ट की अपेक्षा कम नुकीले एवं मोटे होते है। बीजाणु पोषक के अधोस्तर से बहुत समय तक ढके रहते हैं जो ससूत्रों (Sterile paraphyses) के द्वारा छोटे उपखण्डो मे विभक्त रहते है। ये बीजाणु परिपक्व होते है एक साथ अंकुरित हो जाते है। अंकुरण के समय प्रकवक बाहर निकलती है, जिसमें से एक छोटी अंगुलकार रचना बनती है जिन पर एक बीजाणवी बनता है। इन का किसी भी ज्ञात पोषक पर सक्रमण नही पाया गया, फलतः पिक्निडियल एव ईसीडियल अवस्था का अभी पता नही चल पाया है। इस प्रकार इस फफूंद के एकान्तर पोषक का अभी तक मालूम नही है।

भूरा अथवा नारंगी किट्ट
Orange or Brown rust

इस किट्ट को काले किट्ट एव पीले किट्ट के मध्य रखा गया है। नवम्बर के अन्तिम सप्ताह के बाद से इस रोग का प्रकोप देखा गया है यह किट्ट पर्ण किट्ट



2(क)4 अ, गेहूँ का भूरा किट्ट

(Leaf rust) के नाम से भी जाना जाता है। जहाँ पर भी हमारे यहाँ गेहूँ की खेती होती है वहाँ पर इस रोग का प्रकोप देखा गया है। अधिक प्रकोप उत्तरी एवं पूर्वी भारत में होता है।

लक्षण (Symptoms) :—इस किट्ट का प्रभाव पत्तियों पर अधिक होता है जिसके कारण ही इसको पर्ण किट्ट भी कहते हैं। पत्तियों पर चमकीले नारंगी रंग के गोल वृत्ताकार स्फोट पंक्तियों में न होकर पत्तियों की सतह पर बिखरे रहते हैं (चित्र 2.4)। स्फोटों का आकार पीले किट्ट के यूरेडिया जैसा होता है। जिस स्थान पर यूरेडिया बनते हैं वहाँ का हरा रंग हल्का पड़ जाता है। जब यूरेडिया पुराने हो जाते हैं तो पीले किट्ट के स्फोटों से नही पहचाने जा सकते हैं केवल इन्हे पत्तियों की सतह पर बिखरे देखकर ही पहचाना जा सकता है। यूरिडोस्फोट अधोस्तर से ढके रहते हैं, परन्तु शीघ्र ही अनुलम्ब दरार द्वारा फटकर यूरिडोबीजाणु वायुमण्डल में बिखर जाते हैं। अनुलम्ब दरार के समय अधोस्तर उनके चारों ओर एक झालर के रूप में रह जाती है।

कुछ समय तो टेल्यूटोबीजाणु नही बनते हैं परन्तु जब बनते है तो वह पीले किट्ट की भाँति ही होते हैं। ये छोटे काले रंग के अधोस्तर से ढके रहते हैं। डॉ. प्रसादा के अनुसार एन. पी. 114 पर टेल्यूटोबीजाणु अधिकता में बनते हैं।

काले एवं पीले किट्ट की भाँति पौधों को पानी की आवश्यकता अधिक पड़ती है, वाष्पोत्सर्जन एवं श्वसन क्रियाएँ बढ़ जाती हैं। पौधों की जड़ों का बढ़ाव कम हो जाता है। उग्रावस्था में तो दाने हल्के तथा भूसा भी सूखकर भंगुर हो जाता है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र—

यह रोग पक्सिनिया रिकोन्डिटा (P. rocondita Robex. Desm) फफूँद द्वारा उत्पन्न होता है।

समानार्थक—

1. पक्सिनिया रूबीगो-वेरा ट्रिटिसाई P. rubigo vera tritici (Eriks) carleton
2. यूरिडो रूबिगो-वेरा U. rubigo-vera D. C.
3. पक्सिनिया रूबिगो-वेरा P. rubigo-vera (D. C) Wint
4. पक्सिनिया ट्रिटिसिना P. triticina Eriks

अन्य किट्ट की भाँति यह किट्ट भी भिन्नाश्रयी एवं बहुरूपी है। इस फफूँद का एकान्तर पोषक थेलिक्ट्रम (Thaeic'rum) है।

इस फफूँद का कवकजाल भी पटयुक्त, शाखायुक्त अन्तर्कोशीय एवं द्विकेन्द्रिक होता है। *विभिन्नियम एवं ईसोपियम* अवस्था थेलिक्ट्रम की जातियों पर पायी जाती है। थेलिक्ट्रम पोलिगैमम तथा अन्य दूसरी 11 किस्में इससे प्रभाव्य पायी

गयी हैं। परन्तु यह एकान्तर पोषक मैदानी इलाको में नही पाया जाता है तथा पहाड़ो पर ईसीडियल अवस्था अधिकतर नहीं पायी जाती है।

यूरिडोबीजाणु काले किट्ट की अपेक्षाकृत छोटे परन्तु पीले किट्ट से बड़े होते है। बीजाणु भूरे से नारंगी गोलाकार 16 से 28 माइक्रोन व्यास के होते हैं। तथा 7 से 10 जनित छिद्र पाये जाते है जो मध्यतलीय नही होते है। इन बीजाणुओ की भित्ति महीन, नारंगी रंग की कण्टिका युक्त होती है। यूरिडोबीजाणु का अंकुरण एक से अधिक जनित नलिका द्वारा होता है। अंकुरण होने पर काले एवं पीले किट्ट की भांति अंकुरित होने पर अंकुरनाल का एक सिरा फूलकर आसंगांग बनाता है। इस आसगांग में से एक नली जैसी रचना निकलती है जो पूर्ण रन्ध्रो मे प्रवेश करके वेसीकल बनाती है। वेसीकल से संक्रमण कवकतन्तु बाहर निकलते हे जो द्विकेन्द्रिक कवकजाल बनाते है। इन कवकतन्तुओ से प्रचूषाग निकलते हैं जिससे पोषक एवं परजीवी में आपसी सम्बन्ध हो जाता है।

वार्षिक आवर्तन (Annual recerrene)—यह एक भिन्नाश्रयी किट्ट है जिसके जीवन चक्र को पूरा करने के लिए दो पोषक की आवश्यकता होती है। काले किट्ट मे बरबेरिस तथा भूरे किट्ट मे थेलिक्ट्रम पर गेहूं की अनुपस्थिति मे फफूंद जीवित रहती है परन्तु भारत के मैदानों में ये पोषक अज्ञात है तथा ये केवल पहाड़ों पर ही सीमित हैं। पहाडों पर भी इन एकान्तर पोषक की जातिया जो इस किट्ट से प्रभाव्य (suscaptable) है वह नही पायी जाती है। पीले किट्ट के एकान्तर पोषक का अभी तक पता नहीं चला है। भारत के मैदानों में गेहूं को मध्य अक्टूबर नवम्बर के अन्त तक बोया जाता है तथा अप्रेल मई में काटा जाता है। अन्वेषणों के आधार पर यह देखा गया है कि किट्ट का प्रभाव प्रतिकूल अवस्थाएँ होते हुए भी फसल बोने के दो तीन माह पश्चात दिखाई देता है। अतः इस तथ्य से यह तो स्पष्ट है कि मैदानो में किट्ट के संक्रमण के लिए कोई स्थानीय साधन नही है। इसके वार्षिक आवर्तन पर विस्तृत रूप से डा. मेहता ने कार्य किया। डा. मेहता (1923, 29, 40) ने बताया कि हमारे यहां पर बरबेरिस एवं थेलिक्ट्रम का कोई विशेष महत्व नही है। तथा वह निम्न नतीजो पर पहुंचे।

1. हमारे देश मे एकान्तर पोषक का कोई महत्व नही है क्योंकि जिन बरबेरिस एवं थेलिक्ट्रम की जातियो पर इनका सक्रमण होता है वह हमारे यहां नही पायी जाती है। बरबेरिस वलगेरिस जाति इससे प्रभाव्य है परन्तु हमारे यहा पर शिमला की पहाड़ियो पर बरबेरिस लाइसियम (B. lycium) एवं ब. कोरिआरिआ (B. Coriaria) पायी जाती है जो कि बहुत कम प्रभाव्य है। थेलिक्ट्रम जावानिकम (Thallictrum Javanicum) का प्रयोगशाला मे कृत्रिम रूप से सक्रमण देखा गया है।

2. किट्ट के यूरिडो एवं टेल्यूटोबीजाणु गर्मी की कड़ी धूप के कारण मर जाते हैं। अत. यह तो स्पष्ट है कि मैदानो मे किट्ट के संक्रमण के लिए कोई स्थानीय साधन नही है। डा. मेहता ने सर्दी एवं गर्मी में 7000' की ऊँचाई पर ये बीजाणु शिमला में देखे।
3 बरबेरिस एव थेलिक्ट्रम की प्रभाव्य जातियों मे भी संक्रमण केवल उसी समय हो सकता है जबकि पत्तियां छोटी हो। पहाड़ी क्षेत्रों में पत्तियां बसन्त के प्रारम्भ मे आती हैं और यह भी मान लियां जाये कि वह जो भी कुछ जीवित पदार्थ मौजूद है उससे संक्रमित हो तब भी मैदानी इलाकों मे अप्रेल से पहले इसका प्रकोप नही देखा जा सकता एवं जब तक फसल पक जाती है। परन्तु काले किट्ट का प्रकोप कई जगहों पर फरवरी के महीने मे भी देखा गया है जो कि 2-3 माह पूर्व है।
4. अभी तक यह तथ्य भी स्पष्ट नही है कि ईसीडिया बरबेरिस एंव थेलिक्ट्रम की जातियो पर पहाडो मे मिलती हैं उनका गेहूँ के किट्ट से कोई सम्बन्ध है। प्रसाद (1947, 48 बी.) ने बताया कि बरबेरिस की ईसीडियल अवस्था (ईसीडियम बरबेरीडिस) का एग्रोपायरोन (Agropyron) किट्ट से (पक्सिनिया ग्रेमिनिस एग्रोपायरी) तथा थेलिक्ट्रम का पक्सिनिया परसिसटेन्स से सम्बन्ध है।
5. हमारे यहा पर कायिकी प्रजातिया भी इतनी अधिक नही है जिससे यह माना जाये यह एकान्तरपोषक पर कृत (functional) है।
6. 3000' की ऊँचाई पर पहाडो मे डा. मेहता ने कई बार किट्ट को नवम्बर एव दिसम्बर मे देखा तथा यह भी बताया कि पहाडो पर मैदानी इलाको से पहले प्रकोप होता है। उन्होने आगरा मे पतग तथा गुब्बारों द्वारा यूरिडोबीजाणु पकड़े तथा स्लाइड पर लेकर किट्ट को देखा।
7. मार्च से मई के महीने मे जलवायु थोड़ा सूखा सा होता है तथा यह भी मान लिया जाये कि टेल्यूटोबीजाणु जीवित हो तो भी उनका आसानी से अंकुरण नहीं हो पाता।
8. कायिकी प्रजातिया पहाडी एवं मैदानी इलाको मे लगभग समान होती हैं।

डा. मेहता बाद मे इस सारांश पर पहुँचे कि यह किट्ट अपनी यूरोडियल अवस्था मे फसल कटने के बाद पहाड़ों पर उपस्थित हरे ठूठ, अाकुरों तथा स्वयं उगे गेहूँ के पौधो तथा जगली घासो पर उपस्थित रहती हैं। इस पर उपस्थित यूरिडोबीजाणु ही पहाडो से हवा द्वारा उड़कर नई फसल को रोग ग्रसित कर देते हैं। सबसे पहले पहाड़ियों के पास वाले स्थानों पर संक्रमण होता है तथा बाद मे दूर वालों पर। जब एक बार यूरिडोबीजाणु से संक्रमण हो जाता है तो 5-7 दिन मे इसकी नयी

फसल उत्पन्न हो जाती है तथा दूसरे स्थानो पर हवा मे उडकर पहुँच जाते हैं तथा संक्रमण करके रोग को तेजी से फैला देते है। इस प्रकार डा मेहता (1923,29, 40) तथा उनके साथियो ने यह स्पष्ट कर दिया कि यह किट्ट युरिडियम अवस्था मे देश के विभिन्न पहाडी भागो जैसे—हिमालय एवं नीलगिरी और पलनी पर्वत श्रेणियो आदि पर ग्रीष्मातिचार करते हैं। नीलगिरी और पलनी पर्वत श्रेणियो पर वर्ष की दोनों फसलों के वर्ष भर साथ रहने के कारण यूरिडोबीजाणु द्वारा एक फसल से दूसरी फसल के संक्रमण का क्रम चलता रहता है। इन पर्वत श्रेणियो मे गेहूँ की फसल अप्रेल से जून तथा दूसरी सितम्बर से नवम्बर में ली जाती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि किट्ट के फैलाने का साधन पहाड़ी भाग है जहां से प्रति वर्ष किट्ट की पुनरावृत्ति या वार्षिक आवर्तन मैदानी इलाको में हर साल होता रहता है।

पीले किट्ट का भी वार्षिक आवर्तन काले किट्ट की तरह ही होता है। इसके बीजाणु भी मैदानी इलाको मे तेज गर्मी के कारण मर जाते है और यह 6000' से नीचे ग्रीष्मातिचार नही कर सकते है जबकि काला किट्ट गर्मी के दिनो मे 3000' से नीचे वाले स्थानों पर ही जीवित रहता है। इसके एकान्तर पोषक का अभी पता नही चला है।

भूरे किट्ट मे भी काले किट्ट की भांति एकान्तर पोषक का महत्व नही है। ये किट्ट भी 3200' से नीचे वाले स्थानों पर यूरिडोबीजाणु की अवस्था मे जीवित रह सकती हैं। इनका वार्षिक आवर्तन भी काले किट्ट की भांति ही होता है। 7600' से ऊँची पहाडी क्षेत्रों का तापमान इसके यूरिडोबीजाणु के लिए अच्छा नही है।

भारतवर्ष मे अक्टूबर से मार्च के महीने तक चलने वाली हवाओ का विवरण रामनाथम और रामकृष्णन (1939) तथा कर्मचन्द मेहता ने दिया। उनके अनुसार सर्दियो के मौसम में ऊपरी हवाएँ दिन के समय उत्तर से दक्षिण तथा दक्षिण से उत्तर की ओर बहती हैं। किट्टो के मुख्य प्रन्त.क्रम (inoculum) उत्तरी तथा दक्षिणी पर्वत श्रेणियों मे उपस्थित हैं। इसी कारण जो स्थान पर्वत श्रेणियो के निकट होते है उनमे रोग पहले शुरू हो जाता है और जो स्थान पहाड़ो से दूर होते है वहां देर से शुरू होता है। इस किट्ट के यूरिडोबीजाणुओं को जीवित रहने के लिये अधिक गरम मौसम की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि ठडे देशो मे शिशिरातिचार (Over winter) नही कर सकते हैं। लेकिन इसके साथ साथ युरिडोबीजाणु उच्च ताप को भी सहन नही कर सकते हैं क्योंकि ऐसा देखा गया है कि जब हमारे यहाँ ताप 110°F पहुँच जाता है तो ये बीजाणु जीवित नहीं रह सकते है। इसीलिए ये बीजाणु न तो अधिक ठण्ड ही सह सकते हैं न अधिक गर्मी ही। इसके अंकुरण के लिए नमी की जरूरत होती है। इस प्रकार इन बीजाणुओं का फैलाव निम्न बातो पर निर्भर करता है।

1. मैदानों का पहाड़ों के नजदीक या समीप होना।

2. हवा की दिशा एवं उसकी गति।

3. फफूंद की उद्भवन अवधि जो कि पहाड़ी गेहूँ पर होता है।

4 यूरिडोबीजाणु पैदा होने के समय तापक्रम एवं नमी।

5 यूरिडोबीजाणु के पैदा होने का समय तादाद।

6 प्रकाश, पौधे की उम्र व उसकी जाति एवं भूमि तथा वायुमण्डलीय वातावरण जबकि बीजाणु मैदान मे पहुँचते हैं।

कायिकी प्रजातियां—

आकारिकीय जातियो मे रूपांतरो (entities) की उपस्थिति जो रचना द्वारा शीघ्र न पहचानने योग्य हो, परन्तु क्रियात्मक रूप (Pysiologic form) में एक दूसरे से भिन्न हो, जिसमे रोग जन्यता (Pathogenicity) भी शामिल है उन्हें कायिकी प्रजातियां कहते हैं। इन्हे परजीवी प्रभेद तथा कायिकी रूपतायें भी कहा जाता है। सर्वप्रथम कायिकी प्रजातियो के अस्तित्व के बारे मे स्टेकमेन एवं पेमीजल (Stakman and Piemeisel) ने 1917 मे बताया। हर वर्ष किट्ट रोग मे अनेक नई प्रजातियां उत्पन्न हो रही हैं। स्टेकमेन तथा हेसर (1957) के अनुसार विश्व मे इसकी 250 से भी अधिक प्रजातियाँ मौजूद हैं। कायिकी प्रजातियो का मालूम पड़ने से पहले एरीकसन (Erik son) सोरर (Sorauer) तथा कार्लिटन (Carleton) ने बताया कि किट्ट से प्रतिरोधी किस्में दूसरे पर्यावरण (enviornment) मे प्रभावहीन हो जाती है। इसका कारण जलवायु तथा पोषक के रचक (Constituent) मे अन्तर होना है। परन्तु बाद मे जब कायिकी प्रजातियों का पता चला तो यह विचार निराधार सिद्ध हो गये। इस प्रकार गेहूँ की एक किस्म यदि किट्ट के कुछ प्रजातियो से मुक्त हो सकती है तो कुछ जातियों को सहन कर सकती हैं।

हमारे यहां सर्वप्रथम कायिकी प्रजातियो का अध्ययन डा. मेहता ने किया। 1932 मे उन्होंने काले किट्ट की प्रजातियो पर कार्य शुरू किया तथा 40 तक प्रजातियां जैसे 15, 21, 24, 40, 42 एव 75 पायी गयीं। स्टेकमेन एव लेवाईन (Stakman and Levine, 1927) ने इन प्रजातियो को पहचानने के लिए 12 गेहूँ की विभेदक पोषक (differential host) चुने। जिनमे संक्रमण के आधार पर विभिन्न प्रजातियों को जाना जा सकता है। यह इस प्रकार हैं—

गेहूँ की जातियां	किस्म	नम्बर
1. ट्रीटीकम कॉम्पेक्टम	लिटिलक्लब	
T. Compectum	Little club	CI 4066
1. ट्रीटीकम बलगेर	मारक्विस	
Triticum Vulgare	Marquis	CI 3641

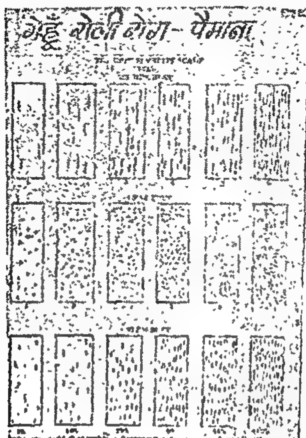
3. ट्रीटीकम वलगेर Triticum Vulgare	रिलीएन्स Reliance	CI 7370
4. ,, ,,	कोटा Kota	CI 5878
5. ट्रीटीकम ड्यूरम T durum	अरनाटका Arnautka	CI 1493
6. ,, ,,	मिन्डम Mindum	CI 5296
7. ,, ,,	स्पेलमर Spellmer	CI 6239
8. ,, .	कुबानका Kubanka	CI 2094
9 ,, ,,	एकमी Acme	CI 5284
10. ट्रीटीकम मोनोकोकम T. monococcum	एन्कर्ण Einkorn	CI 2433
11. ट्रीटीकम डिकोकम T. Dicoccum	वरनाल Varnal	CI 3686
12. ट्रीटीकम ड़िकोकम T. Dicoccum	खापली Khapli	CI 4013

इन 12 प्रजातियों पर संक्रमण के अनुसार प्रतिरक्षक, प्रतिरोधी, साधारण रोधी, साधारण प्रभाव्य, प्रति प्रभाव्य तथा विषम रूप के आधार पर विभिन्न प्रजातिया मानी जाती है (चित्र 2·5)।

गेसनर एवं हेसेब्राक (Gassner and Hassebrauk, 1934) ने विभिन्न वर्णनार्थक संकेत (descriptive symbols) भी दिये हैं जैसे—

(,) अहिरमतायुक्त chlorosis	—बहुत कम यूरिडोनिया
(;) कमजोर अहिरम Weak chlorosis	—छोटे संवर्धक स्फोट small isolated pustule
(–) प्रतिक्षयी Necrosis	—उपसामान्य स्फोट subnormal pustule
(I) कमजोर प्रतिक्षयी Weak necrosis	—सामान्य स्फोट normal pustule
(R) प्रतिरोधी Resistant	—अधिक आक्रमन strong attack

(S) प्रभाव्य Sus captable —बहुत अधिक आक्रमण
Very strong attack



चित्र 2(क)5 गेहूँ के किट्ट रोगों का पैमाना

ये प्रजातियां संकरण (Hybridization), हेटरोकेरियोसिस (Hetero-karyosis, Helson et. al., 1955), उत्परिवर्तन (Mutation Johnson and Hew'on, 1946). पेरासेक्सुअल्टी (P. rasexuality) आदि के कारण उत्पन्न होती है। कायिकी प्रजातियों को फिर सूक्ष्म विभाजनों में विभक्त किया गया जिसे जीव प्रारूप (Bio tipe) कहते हैं।

काले किट्ट में संकरण से मुख्यतः नई प्रजातियां उत्पन्न होती है परन्तु हमारे यहां नई प्रजातियां उत्पन्न होने का मुख्य साधन नहीं है, क्योंकि एकान्तर पोषक का कोई महत्व नहीं है तथा जिन बरबेरिस की झाड़ियां इससे प्रभाव्य हैं वह नहीं पायी जाती है (मेहता 1940)।

आधुनिक अनुसंधानों से यह पता चला है कि नाभिकीय (nuclear reassortment) एवं कायिक (Samatic) परिवर्तन भी आनुवंशिक विभिन्नता (genetic diversity) में बहुत महत्व रखते हैं। 1955 में नेलसन, विलकोक्सन तथा क्रिस्टेनशन ने सर्वप्रथम यह बताया कि काले किट्ट की नई जातियां तथा जीव प्रारूप (biotype) भी उत्पन्न हो जाते हैं जब दो ज्ञात प्रजातियों को मिलाकर बीजाकुंर पर संक्रमण किया जाये। इसके बाद कई अन्य वैज्ञानिकों ने भी इसका समर्थन किया (Wilson, 1957 b; Bridg on, 1959; Ellingbor, 1961)।

वकाली एवं कोल्डवेल (Vakali and Coldwell, 1957) ने भूरे किट्ट की ज्ञात प्रजातियों को मिलाकर नई प्रजाति संवधित (Isolate) की।

जोनसन एवं न्यूटन (1946) ने बताया कि नई जातियां उत्पन्न होने में उत्परिवर्तन (mutation) का भी बहुत महत्व है। शर्मा एवं प्रसाद (1961) ने प्रजाति 14 एवं 15 काले किट्ट की, 107 भूरे किट्ट में उत्परिवर्तन (mutation) होना बताया। 15-6 एवं 194 पक्सीनिया ग्रेमिनिस से क्रमशः मिश्रा एवं लेलो (1955) तथा जोशी एवं कोंक (1955) ने रंग उत्परिवर्तन (Colour mutation) भी बताया। नेलसन तथा अन्य (Nelson et. al.; 1955) ने काले किट्ट की 38 तथा 56 प्रजाति मिश्रण से एक तीव्र हेटरोकेरियोन (Virulent hetereokaryon) का वर्णन किया।

मेहता ने 1935 तक काले किट्ट की 6 (15, 21, 24, 40, 42, 75), भूरे किट्ट की 5 (10, 20, 63, 106, 107, 108) तथा पीले किट्ट की 5 (13, 19, 20, 31 ए) प्रजातियो की खोज तथा 1940 तक काले किट्ट की एक और प्रजाति 34 तथा पीले किट्ट की 5 (डी. ई. एफ. जी. एच.) प्रजातियों को और मालुम किया।

समय-समय पर हमारे यहां बाद में वैज्ञानिकों ने तीनों प्रकार के किट्ट की अन्य प्रजातियों को मालुम किया तथा 1965 तक इन प्रजातियों की संख्या इस प्रकार रही। काला किट्ट–20, भूरा किट्ट–18, एवं पीला किट्ट–12।

भूरे किट्ट की प्रजातियों का अस्तित्व सर्वप्रथम मेन्स एवं जेक्सन (Mains and Jackson, 1926) ने बताया। उन्होंने गेहूँ की 11 किस्मों पर अध्ययन कर 12 प्रजातियों का संवर्धन (Isolation) किया। बाद में ये किस्में विभेदक पोषक (differential host) के रूप में 1932 में केवल 8 विभेदक पोषक माने गये (Johnston and Mains, 1932) हर जगह काम आती हैं तथा विश्व में अब तक 163 प्रजातियों की खोज की जा चुकी है।

गेसनर एवं स्ट्रेब (Gassner and Straibs, 1934) ने पीले किट्ट के विभेदक पोषक बताये। गतः 25 वर्षों में इन प्रजातियों के अन्दर भी बहुत अन्तर देखा गया। एक प्रजाति किसी वर्ष अधिक आती है तो दूसरे वर्ष नहीं। प्रजाति 21 जो कि बहुत कम पहले पायी जाती थी वह अब बड़ी महत्वपूर्ण है (मेहता 1940) जबकि प्रजाति 15 जो सबसे पहले मालुम की गयी वह अब लगभग दिखाई ही नहीं

देती है (मेहता, 33)। 1931 में जीव प्रारूप 15 बी. का पता लगाया गया उस समय इसका इतना प्रकोप नहीं था परन्तु 1951 से गेहूं में इसका बहुत प्रभाव देखा जा रहा है। इसके अलावा एक किस्म देश के एक भाग मे प्रतिरोधी है तथा दूसरे भागो में प्रभाव्य। इन प्रजातियों के कारण ही रोधी किस्मे विकसित करने में कठिनाइयां हैं। इन प्रजातियों के कारण ही होप, थेचर एवं सिरोस किस्मे अमेरिका, यूरेका आस्ट्रेलिया से रेडमान कनाडा से लगभग समाप्त ही हो गई हैं।

1930 से 1968 तक गेहूं के किट्ट की भारत में प्रजातियां .

समय Period	पक्सीनिया ग्रेमिनिस ट्रीटीसाई P. graminis tritici	प रिकान्डिटा P. recondita	प. स्ट्रीफोमिस P striiforims
1930-35	15, 21, 24, 40, 42, 75	10, 20, 63, 106,107, 108	13, 19, 20, 31, A, D, E, F, G, H,
1936-40	34	–	–
1941-45	117, 194	11, 26	–
1946-50	15-C, 42 B	–	–
1951-55	122	70, 71	–
1956-60	14,17,21-A,21-A-1, 34-A	17, 131, 162	–
1961-65	11, 21-A-2, 40-A	16, 107-A, 162-A,162-B, D	24,57
1966-71	Race X and Y, 184,222	–	–
कुल	11, 14, 15, 15-C, 17, 21, 21-A, 21-A-1, 21-A-2, 24, 34, 34-A, 40, 40-A, 42, 42-B, 75, 117, 122, 194, X and Y, 184, 222	10, 11, 16, 17, 20, 26, 63, 70, 77, 106 107, 107-A, 108, 131, 162, 162-A, 162-B and D.	13, 19, 20 24, 31, 57 A, D, E. F, G and H.

विभिन्न प्रकार के किट्टों पर वातावरण का प्रभाव—(Effec. of environment on different rust.)—तीनों ही प्रकार के किट्ट के जीवन मे ताप एवं नमी का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। किसी किट्ट के लिये कम ताप अनुकूल नहीं है तो किसी के लिए अनुकूल है।

तापक्रम का किट्ट के प्रकास पर बहुत प्रभाव पड़ता है। यूरिडोबीजाणु सर्दी के कम तापक्रम को सहन नहीं कर सकते हैं तथा कम तापक्रम पर यूरिडोबीजाणु के

संक्रमण से उद्‌भवनकाल भी बढ़ जाता है। इस प्रकार यूरिडोबीजाणु के अंकुरण एवं जीवित रहने के लिए कम ताप अनुकूल नही है जबकि टेल्यूटोबीजाणु कम ताप पर बहुत अधिक बनते हैं। 10^0 सें. तापमान पर यदि यूरिडोबीजाणु का संक्रमण हो तो 20^0.सें.,की अपेक्षा उसका उद्‌भवन्‌काल एक सप्ताह बढ़ जाता है तथा 0 व 1^0 सें. पर तो और ज्यादा होता है। इसी कारण इसके बीजाणु 3000 या 3200 फीट से नीचे वाले स्थानों पर ही जीवित रहते हैं। काले किट्‌ट की कायिकी प्रजातियों मे भी यूरिडोस्पोर बनने पर तापक्रम का बहुत अन्तर पड़ जाता है। 0 से 1^0 सें. पर यूरिडो-बीजाणु बहुत अधिक मात्रा में बनते हैं तथा अंकुरण भी अच्छा होता है। यूरिडो-बीजाणु के अंकुरण के लिये 17 से 18^0 सें. तापमान अच्छा रहता है। बरबेरिस पर संक्रमण के लिए कुछ अधिक तापक्रम की आवश्यकता पडती है। अनुकूलतम तापमान संक्रमण के लिये 12 से 24^0 सें. है परन्तु यदि बरबेरिस की झाड़ियों को तीन सप्ताह के लिए 0^0 सें. पर रख दिया जाये तो भी पिक्निडिया बन जाते है जबकि फिर तापक्रम 18^0 सें.—20^0 सें. हो जाये। परन्तु बरबेरिस की झाडियों पर पिक्निडियम तब तक नही बनते जब तक कि उसका तापमान 12-21^0 सें. न हो जाय। हिमायन (freezing) के कारण किट्‌ट फफूंद से पहले बरबेरिस की झाड़ियां मर जाती है।

तापमान के अलावा यूरिडोबीजाणु के अंकुरण के लिये बादल तथा नमी वाला मौसम बहुत ही उपयुक्त है। अंकुरण के समय अधिक नमी की जरूरत पडती है। तब ही अंकुरण नलिकाएँ बढकर पोषक में प्रवेश करती हैं। परन्तु बाद में अधिक आर्द्रता पोषक मे परजीविता के लिए बहुत आवश्यक नहीं है।

प्रकाश की तीव्रता का भी किट्‌ट पर प्रभाव होता है क्योंकि पोषण मे बीजाणु का प्रवेश स्टोमेटा द्वारा होता है तथा पर्णरन्ध्र (Stomata) सीधे सूरज की रोशनी मे खुलते है। इस प्रकार कम प्रकाश पर इसका संक्रमण कम हो पाता है।

इसके अलावा रासायनिक खाद का भी किट्‌ट के ऊपर बहुत असर पड़ता है। अधिक नाइट्रोजनधारी खादों का प्रयोग पौधो मे किट्‌टो के लिए सुग्राहकता को बढ़ाता है। तथा पोटाश पौधो मे प्रतिरोधकता का गुण लाता है (प्रसादा, 64)।

पीले किट्‌ट को भी काले किट्‌ट जैसे ही वातावरण की जरूरत पडती है अन्तर इतना है कि इस किट्‌ट को ठण्डा मौसम सुग्राहक है, यह किट्‌ट 6,000 फीट से नीचे ग्रीष्मातिचार नहीं कर सकती हैं। यह इस प्रकार अधिक ताप नही सह सकती है। इसके बीजाणु तथा कवकजाल दोनों 11^0 सें. पर अंकुरित हो सकते हैं लेकिन समय अधिक लगता है। अधिक वर्षा तथा कम तापक्रम पर इसका प्रभाव बहुत होता है।

भूरा किट्‌ट तापमान के अनुसार काले एवं पीले किट्‌ट के मध्य मे आता है, क्योंकि इसको पीले किट्‌ट से अधिक तापमान की आवश्यकता होती है तथा काले

किट्ट से कम की। यह 3200-3500 फीट से नीचे वाले स्थानों पर अपनी यूरिडियल अवस्था में जीवित रह सकती है। इस किट्ट का अनुकूलतम तापमान 15° सें. है। इस किट्ट के लिए भी बादल तथा नमी वाला मौसम उपयुक्त है।

इन दोनो ही किट्टो पर रासायनिक खादों का प्रभाव काले किट्ट की भाँति ही होता है, परन्तु काले किट्ट की तरह सूरज की रोशनी का होना भूरे किट्ट के लिए जरूरी नही है क्योंकि बीजाणु का प्रवेश कम भी हो सकता है यहाँ तक कि स्टोमेटा बन्द हो।

गेहूँ के तीनों किट्टों की तुलनात्मक तालिका

काला किट्ट पक्सिनिया ग्रमिनिस ट्रिटिसाई	पीला किट्ट पक्सिनिया स्ट्रॉ फोरमिस	भूरा किट्ट पक्सिनिया रिकोन्डेटा
	(1) आभास	
मार्च उ.प्र. मे, दिसम्बर मे दक्षिणी द्वीप समूह मे	जनवरी	जनवरी
	(2) लक्षण	
इस किट्ट का तने पर अधिक प्रभाव होता है जिस पर स्फोट (pustule) पाये जाते हैं जो एक दूसरे से मिले होते हैं।	इस किट्ट का पत्तियों पर अधिक प्रभाव होता है जिस पर गोल हल्के पीले रंग के स्फोट पंक्तियों में पाये जाते हैं।	इस किट्ट का भी प्रभाव पत्तियों पर अधिक होता है जिस पर चमकीले नारंगी रंग के स्फोट पंक्तियो मे न होकर पत्तियो की सतह पर बिखरे होते हैं। स्फोटों का आकार पीले किट्ट से कुछ छोटा होता है।
	(3) यूरिडोबीजाणु (Uredospores)	
यूरिडोपुंज (Uredosori) काफी बड़े और लम्बे होते है। यूरिडोबीजाणु अण्डाकार भूरे रंग के 25–30×17–20 माइक्रोन के तथा जिनकी बाह्य भित्ति मे चार जनित छिद्र (germ	इस किट्ट के यूरिडोपुंज अपेक्षाकृत छोटे होते है। यूरिडोबीजाणु अण्डाकार पीले रंग के 23–35×20–35 माइक्रोन के होते है तथा 6–8 जनित छिद्र पाये	इस किट्ट के यूरिडोपुंज काले किट्ट के अपेक्षाकृत छोटे होते हैं परन्तु पीले किट्ट से लम्बे होते हैं। यूरिडोबीजाणु भूरे से नारंगी गोलाकार 16 से 28 माइक्रोन के तथा 7 से

काला किट्ट पक्सिनिया ग्रेमिनिस ट्रिटिसाई	पीला किट्ट पक्सिनिया स्ट्रीफोरमिस	भूरा किट्ट पक्सिनिया रिकोन्डेटा
pores) पाये जाते है जो मध्यतलीय (equatorial) रहते है ।	जाते हैं जो इधर-उधर बिखरे रहते हैं तथा मध्यतलीय नहीं होते हैं ।	10 जनित छिद्र पाये जाते हैं जो मध्यतलीय नहीं होते हैं ।
	(4) टेल्यूटोबीजाणु (Teleutospores)	
टेल्युटोबीजाणु काले रंग के 40-60×15-20 माइक्रोन परिमाण के होते है । हर एक कोशिका में एक जनित छिद्र होता है । टेल्यूटोबीजाणु की बाहरी दीवार चिकनी मोटी तथा सिरा कुछ नोकीला अथवा गोल होता है ।	टेल्यूटोबीजाणु गहरे कत्थई तथा कुछ काले रंग के सिरे पर चपटे 35-63 × 12-20 माइक्रोन परिमाण के होते हैं । इन टेल्यूटोबीजाणुओ का शीर्ष काले किट्ट की अपेक्षा कम नोकीला एवं मोटा होता है ।	इस किट्ट में टेल्यूटोबीजाणु कभी-कभी बनते है । जब बनते है यह मोटी दीवार वाले चिकने भूरे रंग के सिरे पर चपटे दो कोशिका वाले होते है ।
	(5) एकान्तर पोषक (Alternate host)	
इस फफूंद का एकान्तर पोषक बरबेरिस या महोनिया है ।	इस फफूंद के एकान्तर पोषक का अभी पता नहीं चला है ।	इस फफूंद का एकान्तर पोषक थैलिक्ट्रम एवं आइसोपायरोन है ।
	(6) तापक्रम का असर	
इस किट्ट के यूरिडोबीजाणुओ के लिए अन्य दोनों किट्टों से अधिक तापक्रम की आवश्यकता होती है । यह यूरिडोबीजाणु 3000 फीट से नीचे वाले स्थानों पर जीवित रहते हैं । अनुकूलतम तापमान 16–18° सें. है ।	पीले किट्ट को काले किट्ट की अपेक्षाकृत ठण्डा मौसम चाहिए । यह 6000 फीट से नीचे वाले स्थानों पर ग्रीष्मातिचार नहीं कर सकता है । अनुकूलतम तापमान 11° सें. है ।	यह किट्ट तापमान के अनुसार काले एवं पीले किट्ट के मध्य आता है । यह 3200–3500 फीट से नीचे वाले स्थानों पर ग्रीष्मातिचार कर सकता है । अनुकूलतम तापमान 15° सें. है ।

(7) क्षेत्र (Locality)

उत्तरी भारत एवं पेनीनसूलर भारत में।	उत्तरी तथा पूर्वी भारत कभी-कभी पेनीनसूलर भारत में।	उत्तरी तथा पूर्वी भारत तथा कभी पेनीनसूलर भारत में।

सापार्शिवक पोषक (Collteral host)—विभिन्न प्रकार के घासों पर अभी तक खोज जारी है कि वह इस किट्ट के ग्रीष्मातिचार में सहायक होती हैं या नहीं। हमारे यहाँ बटलर एवं विस्बी (1918) ने काले किट्ट का प्रकोप ब्रेकीपोडियम सिल्वेटीकम (Brachypodium sylvaticum), फेस्टूका जाइगेन्टीया (Festuca gigantea) एवं फे. कश्मीरीयाना (F. Kashmiri ana) हिमालया पर देखा। बाद में 1933 तथा 40 में मेहता ने फास सन्तक्रमण (Cross inoculation) से बताया कि ब्रोमस पेटूलस, ब्रेन्कीपोडियम सिल्वेटीकम तथा एवेना पेटूलाका इसके सापार्शिवक पोषक हैं। प्रसाद (1948 बी) ने ब्रोमस पेटू लस, एग्रोपायरोन सेमीकास्टेटम, ए. लांजियेरिस्टेटम (A. longiaristatum) तथा पोआ मेमोरेलिस (Poa memoralis) पर शिमला के आस-पास सक्रमण देखा।

प्रसाद (1951) ने 12 और विदेशी (exotic) किस्मों पर काले किट्ट का प्रभाव देखा है।

ब्रोमस कैथारटीक्स, ब्रोमस जापानिकस आदि पर दिल्ली के पास पीले किट्ट का प्रभाव देखा गया (Vasudeva et al., 1953)।

नियन्त्रण—इस भयानक रोग के रोकथाम के लिये कुछ सुझाव नीचे दिये जा रहे हैं।

रोग रोधी किस्मों का प्रयोग (Use of resistant varities)—

गेहूं के इस रोग की रोकथाम का सबसे अच्छा उपाय रोग रोधी किस्मों का प्रयोग है। जब से हमारे यहाँ गेहूँ की किस्मों के सुधार का कार्य शुरू किया गया उसका एक मुख्य उद्देश्य किट्टों के प्रति स्थायी प्रतिरोध दर्शाने वाली किस्मों की खोजना था। हमारे यहाँ पर ही नहीं बल्कि विश्व के सभी गेहूं उत्पादन क्षेत्रों में इन्हीं रोग रोधी किस्मों के उत्पादन के बारे में सिफारिश की जाती है।

परन्तु इस प्रकार की रोधी किस्मों के विकसित करने में कुछ कठिनाइयाँ हैं, जैसे कि इन किट्टों की बहुत अधिक क्रियात्मक प्रजातियाँ होने के कारण सभी जातियों का मुकाबला कर पाना रोधी पोषक के लिए बहुत कठिन है। आज हम एक किस्म को रोग रोधी जाति समझ कर मानते हैं लेकिन वह रोधी किस्म कुछ ही वर्षों में रोग ग्रसित हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि कोई भी किस्म किसी विशेष प्रजातियों के प्रति प्रतिरोधी बनायी जाती है पर उस पर अन्य किसी प्रजातियों का असर पड सकता है। उदाहरणीय: एन.पी. 718 तीनों प्रकार के किट्टों के लिए प्रतिरोधी मानी जाती है पर अब वह नई प्रजातियों के

होने से रोग ग्रसित हो गयी। इतना ही नही एक किस्म देश के एक भाग मे प्रतिरोधी है तथा दूसरे भाग मे प्रभाव्य है। इस प्रकार इस फफूंद के बीजाणु हमेशा नये-नये प्रभेद उत्पन्न करते है जो कि रोग ग्रहणशील तथा रोग रोधी सभी जातियो मे रोग पैदा करते रहते हैं। इसके अलावा रोग प्रतिरोधी किस्मो के सुझाव मे एक और कठिनाई है कि जो किस्म किट्ट रोधी है वह जरूरी नही है कि गेहू के दूसरे रोगो से भी रोधी हो।

गेहू के किट्ट मे क्रियात्मक एवं आकारिकीय (Physiological and morphological) दोनो ही प्रकार से रोधन होता है। अभी तक जो भी किस्म रोधी मालूम हुयी है उनमे दोनो ही प्रकार का रोधन पाया गया है। कुछ किस्मे बीजांकुर अवस्था (seadling stage) मे किसी प्रभेद से प्रतिरोधी होती है परन्तु वह परिपक्व अवस्था (mature stage) मे प्रभाव्य हो जाती हैं। इस प्रकार के रोधन का अभी कोई पता नही कि यह किस प्रकार का प्रतिरोधन है। आकारिकीय प्रतिरोधन पौधे मे स्कलेरन्काइमेटस ऊतिका (Scleren chymatous cells) की मात्रा, रन्ध्रों की सख्या तथा प्रकार एवं क्यूटिकल (Cuticle) की मोटाई तथा उस पर चढ़ी मोटी परत (Waxy layer) पर बहुत निर्भर करता है। स्कलेरेनकाइमेटस उत्तको की गति एव सीमा पेरेनकाइमेटस एवं मिजोफिल उत्तको का घेराव पर कवकजाल का फैलाव सोराई का परिमाण (size of sori) एव अधोस्तर के फटाव की जगह आदि निर्भर करती है (Allen, 1923, Hart, 1931)।

पोषक मे क्रियात्मक रोध (Physiological resistence) दो तरह से होता है :—(1) जीव द्रव्यीय (protoplasmic) (2) क्रियात्मक (functional)।

जीव द्रव्यीय प्रतिरोधकता—इस प्रकार का प्रतिरोधक उन्नत किस्मों मे अधिकतर देखा गया है। किसी भी प्रतिरोधी किस्म पर यूरिडोबीजाणु का आक्रमण होता है तो उन बीजाणुओ को अंकुरण होकर आसगाग बनते है (रोधी एवं प्रभाव्य दोनो ही किस्मो मे)। प्रतिरोधी किस्मो मे केवल कुछ ही रन्ध्र संक्रमण तन्तु को प्रवेश देते हैं लेकिन प्रभाव्य किस्मो मे बहुत से कवकतन्तु प्रवेश हो जाते हैं। प्रभाव्य किस्मों में आसंगाग के बाद प्रचूषांग बनते है और पोषक से खाना चूसते रहते हैं परन्तु प्रतिरोधी किस्मो मे जीव द्रव्यीय रोध के कारण अंकुरण नलिका नष्ट हो जाती है।

क्रियात्मक प्रतिरोधकता—रोग रोधिता के लिए क्रियात्मक प्रतिरोधन इतना जरूरी नही है जितना कि जीवद्रव्यीय प्रतिरोधन। इस रोधन की ठीक प्रकृति के बारे में भी अभी कुछ पता नही है। इस प्रकार का रोधन रन्ध्रो के खुलने पर निर्भर करता है। यदि कुछ किस्मो मे सुबह रन्ध्र खुलने मे देरी हो जाये तो प्रतिरोधी रहती हैं। उदाहरणार्थ होप किस्म (Hope variety) में रन्ध्र सुबह देर से खुलते हैं इसलिए वह काले तने के किट्ट से प्रतिरोधी हैं। (Hart, 1929)। भारतीय कृषि अनु-

संधान के पिछले 25 वर्षों के सतत प्रयत्नों के फलस्वरूप अब प्रतिरोधी जातियों का अभिस्ताव सम्भव हुआ है जो अधिक पैदावार होने के साथ-साथ खेतों मे किट्ट रोग के लिए निरोधक भी सिद्ध हुई हैं। पूसा गेहूँ (H.P. 4, 52) में अधिक पैदावार के साथ किट्ट रोधी गुण लाने के लिए डा. पाल ने 1935 मे शिमला में कार्य किया। इस संकरण में केन्या गेहूँ, स्पालिडस, प्रोलीफिक, डेमोक्रेट फ्रंटीस, रिप्रो निग्रो और टिमस्टोन को अन्तंप्रजातीय (intervarietal hybridization) के लिये इस्तेमाल किया गया। उनमें से चुनाव (selection) के द्वारा 770, 784—भूरे किट्ट, एन.पी. 785, 786 पीले किट्ट एवं एन.पी. 718 तीनो ही प्रकार के किट्ट के लिए प्रतिरोधी बताई गई।

इसके बाद पाल एवं मेहता (1935) ने किट्ट की सहम (tolerant) किस्म की जाति तैयार की है जिनकी पैदावार भी अधिक है वह इस प्रकार हैं एन.पी 797, 798, 799 आदि। देश के विभिन्न वैज्ञानिकों ने गेहूँ की बहुत सी किट्ट रोधी किस्में निकाली हैं वह इस प्रकार हैं—

किट्ट का नाम	किट्ट रोधी किस्में
काला किट्ट	HD 2009, Raj. 911,
पीला किट्ट	HD 2009, Raj. 911,
भूरा किट्ट	HD 2009, Raj. 911, सोनालिका,

पहाड़ी भागों के लिए सिफारिस किस्में—एन.पी. 4,710, 718, 770, 797, 809 आदि।

बिजनौर एवं सहारनपुर के लिए—एन.पी. 165।

बम्बई के लिए—केन्फड़ 21, 25, 28, 32।

उत्तर प्रदेश के मध्यवर्ती जिलों के लिए—एन.पी. 710।

मध्य प्रदेश के लिए—Hy 65-4, Hy 278, Hy 227-1, Hy 127-2, Hy 11-6, Hy 11-1, 11-8, Hy 12।

गेहूँ की मैक्सिकन किस्में सोनारा 64, लरमा रोजो किट्ट के लिये प्रतिरोधी है। अग्रवाल आदि (1979) के तीन वर्ष के शोध के आधार पर ज्ञात हुआ कि पीले रंग भूरे किट्ट से सामबहादुर (27·6) सबसे अधिक प्रभावित थी तथा फिर क्रमशः डब्ल्यू. एल. 334 (14·3%), कल्याण सोना (12·94%), डब्ल्यू.जी. 357 (8·09%), सोनालिका (2·47%) एवं डब्ल्यू.एच. 147 (1.82) प्रभावित पायी गई। यही क्रम उपज की कमी में पाया गया।

(2) उन्मूलन एवं निष्कासन (Eradication and clean up)—भारतवर्ष मे किट्ट के वार्षिक प्रावर्तन मे एकान्तर पोषक (alternate host) का कोई महत्व नहीं है इसलिए एकान्तर पोषक के उन्मूलन का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता

परन्तु जिन देशों मे एकान्तर पोषक अपना महत्त्व रखता है, वहाँ पर उनका उन्मूलन ही नियन्त्रण का मुख्य उपाय है। दोनो विश्वयुद्ध के बीच के समय मे संयुक्त राज्य अमेरिका तथा कनाडा मे नई उत्पन्न की गई किट्ट की प्रजातियो के उपयोग तथा किट्ट से शीघ्र प्रभावित हो जाने वाली बरबेरिस की झाडियों के उन्मूलन के द्वारा गेहूँ के महान नाशकारी रोग तने मे लगने वाले किट्ट की अस्थाई रूप से रोकथाम की। हमारे देश मे किट्ट का ग्रीष्मातिचार पहाड़ों पर स्वयं उगे गेहूँ के पौधो तथा गेहूँ के जो ठूठ रहते हैं एवं सापाश्विक पोषकों (Colleteral host) अवश्य ऐसे हैं, जो मैदानों की गर्मी के कारण किट्टो को शरण देते हैं, अगर इन साधनों को गर्मी के महीनो में नष्ट कर दिया जाये तो मैदानो मे गेहूँ की फसल पर किट्टों का प्रभाव कम हो सकता है। डॉ. कमेचन्द मेहता एवं उनके साथियों का भी यह सुझाव था कि पहाड़ों पर इन सभी सापाश्विक पोषको (Colleteral host) तथा ठूठों आदि को नष्ट करने से रोगों का प्रकोप कम हो सकता है।

डॉ. मेहता ने बताया कि नीलगिरी और पलनी पहाड़ी श्रेणियों में जहां दो फसलें एक वर्ष में होती है तथा यूरिडोबीजाणु बनने का क्रम पूरे वर्ष चलता रहता है, वहां एक साल गेहूँ की फसल बिल्कुल न बोई जाये तथा इन फसलों के स्थान पर जई (Oat) बोने का सुझाव दिया, साथ मे उन्होने यह भी सुझाव दिया कि मध्य नैपाल में अगस्त, सितम्बर के स्थान पर अक्टूबर में फसल बोई जाये जिसके फलस्वरूप यूरिडोबीजाणु पहले से ही नही बन सके। साथ में वैज्ञानिकों ने यह भी सुझाव दिया कि यदि इन पर्वत श्रेणियो पर गेहूँ की प्रतिरोधी (resistant) किस्म उगाई जाये तो मैदानों में आने वाले किट्टों की मात्रा कम हो जायेगी।

(3) उन्नत कृषि विधियाँ—

(अ) फसल को समय से पहले बोना—गेहूँ की जल्दी पकने वाली किस्मो को उगाना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से फसल की दूधिया अवस्था किट्ट के भयंकर प्रकोप से बच जाती है। देर से पकने वाली जातियो को भी यदि समय से कुछ पहले बो दिया जाये तो वह फूलती एवं पकती भी जल्दी हैं तथा साथ ही साथ रोग के संकट से भी बच सकते है।

(आ) उचित खाद का प्रयोग (proper manuring)—गेहूँ की फसल मे उचित खाद का प्रयोग करना चाहिये क्योकि फसलों मे आवश्यकता से अधिक नाइट्रोजनयुक्त खादों को नही देना चाहिए नहीं तो यह पौधों में किट्टो के प्रति सुग्राहकता (sus captability)को बढा देते हैं। सुग्राहक जातियो मे तो अधिक नाइट्रोजन का प्रयोग कभी नही करना चाहिए। इसके विपरीत गेहूँ की फसल को किट्ट से बचाने के लिए पोटाशयुक्त खादो का प्रयोग लाभदायक रहता है।

(4) मिश्रित फसलों को बोना (Mixed Cropping)—अभी तक इस बारे मे ज्ञान प्राप्त नही है कि किट्टो पर मिश्रित फसल बोने से रोग का प्रकोप कम

होता है, परन्तु ऐसा करने में इतना जरूर है कि किटटों के लिए सुग्राहक सतह (sus-captable stage) का क्षेत्र कम होने से स्फोट की संख्या घट जाती है।

(5) उचित समय पर सिंचाई (timely irrigation)—जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि किट्ट के आयात के लिए नमी की आवश्यकता होती है इसलिए जहाँ तक सम्भव हो फरवरी में सिंचाई कम से कम करनी चाहिये जिससे रोग का प्रसार तेजी से न हो सके। नमी की अधिकता को समाप्त करने के लिए खेतों में जल निकास का अच्छा प्रबन्ध करना चाहिये।

रासायनिक नियन्त्रण—

रोग प्रतिरोधी किस्मों की अनिश्चितता के कारण किट्ट की रोकथाम का दूसरा उपाय फफूंदनाशी दवाइयों का प्रयोग करना है। इन दवाओं के प्रयोग से गेहूँ के किट्ट रोग के नियन्त्रण मे धीरे-धीरे बहुत सफलता मिल रही है। इस रोग की रोकथाम के लिए 20-25 कि प्रति हेक्टर के हिसाब से गन्धक के चूर्ण का 3-4 बार भुरकाव करते है। परन्तु यह विधि अधिक प्रचलित नही हो पाई क्योंकि खर्चा बहुत अधिक पड़ता है। कानपुर में एक अच्छी किस्म की सल्फर डस्ट भी बनाई गई है, जिसका नाम कोलो डस्ट है। यह डस्ट एक ऐसी जाली में से छानकर बनाई जाती है जिसमें 1 वर्ग इन्च मे 100 छिद्र होते हैं। यह कोलो डस्ट किट्ट की रोकथाम मे लाभप्रद पाई गई है।

फोरसिथ एवं पेटरसन (Forysyth and Peturson, 1958) ने अपने अन्वेषणों के आधार पर यह बताया कि इस रोग की रोकथाम नेबम (Nabem) + जिन्क सल्फेट के 4-5 छिड़काव करने से की जा सकती है। छिड़काव पौधों पर किट्ट के स्फोट दिखाई देते ही कर देना चाहिये। सन् 1959 मे हमारे यहाँ पर भी प्रेवास एवं धर्मवीर ने भी इस रोग की रोकथाम के लिये यही विधि बतलाई। उनके अनुसार पारजेंट घोल 0·2% (नेबम या डायथेन डी. 14) एव जिंक सल्फेट को परस्पर मिलाकर किट्ट के स्फोट दिखाई देते ही छिड़काव कर देना चाहिये। कुल मिलाकर 4 छिड़काव की आवश्यकता पड़ती है। जिनेब (जिंक एथलीन बिस डाइथियोकार्बेमेट) + निकल क्लोराइड या सल्फेट, अथवा मेनेब (मैंगनीज एथलीन बिस डाइथियोकार्बेमेट) + निकल क्लोराइड से भी बहुत सराहनीय परिणाम मिले हैं (रोवेल, 1964)। इन दवाओं का छिड़काव फरवरी के प्रथम सप्ताह से करना चाहिये।

जर्मनी में केल्सियम सायनेमाइड का प्रयोग करके पीले किट्ट की रोकथाम मे बड़ी सफलता मिली है। 80 से लेकर 200 किलो प्रति हैक्टर के हिसाब से उपाकाल में गेहूँ के गेरू पर छिड़कने से अच्छे परिणाम प्राप्त हुये। परन्तु अब डाइथियोकार्बेमेट के आ जाने से इसका प्रयोग अधिक नहीं होता है।

वाल्टन (1955, 58), ने किट्ट की रोकथाम प्रतिजैविक पदार्थों के द्वारा की। वॉमिंग (Wyoming) कृषि अनुसंधान केन्द्र के परीक्षणों से यह ज्ञात हुआ

कि एक्टीडियोन (actidione) नामक प्रतिजैविक दवा के 50 पी.पी.एम. सान्द्रता के 2 छिड़काव करने से संक्रमकता 25 से 5% रह जाती है तथा उपज भी डेढ़ गुनी बढ़ जाती है। ग्रोवर एवं जोशी (1962) ने बताया कि 50 पी.पी.एम पर सल्फाथिग्रोन (sulphathione) के ग्रन्तक्रमण के पहिले छिड़काव करने के परिणाम अच्छे मिले हैं।

ग्राधुनिक परीक्षणों से जिनेब एवं यूरिया के मिश्रित छिड़काव के परिणाम अच्छे मिले हैं। ग्रनुभवों द्वारा देखा गया है कि किट्ट के स्फोट दिखाई देते ही या फरवरी के प्रथम सप्ताह में जिनेब (0·2%) एवं स्थिरीकारक (Sticker) सेण्डोविट 0·1% का 700 लीटर पानी में घोल बनाकर प्रति हेक्टर छिड़क दें। स्थिरीकारक की जगह हल्का साबुन भी प्रयोग में लिया जा सकता है। दूसरा छिड़काव पहले छिड़काव के 15 दिन बाद फिर 750 लीटर पानी में तथा तीसरा छिड़काव फिर 15 दिन बाद 800 लिटर पानी में मिलाकर दें। यदि जरूरत समझें तो एक छिड़काव ग्रौर किया जा सकता है। छिड़काव करते समय यह ध्यान रखे कि पत्तियों की दोनों सतह भली प्रकार भीग जायें। इस प्रकार मिश्रित छिड़काव करने से मेहनत तो बचेगी ही परन्तु परिणाम भी ग्रच्छे प्राप्त होंगे।

ग्राजकल इस रोग की रोकथाम के लिये दैहिक फफूंदनाशी योगिकों का पता भी लगाया जा रहा है जो किट्ट रोग की रोकथाम में ग्रच्छे साबित हुये हैं। वॉन श्मेलिंग एवं कुल्का (Von Schmeling and Kulka, 1966) के ग्रनुसार प्लान्टावेक्स (Plantavax) एवं वाइटावेक्स (Vitavax) योगिक इस रोग की रोकथाम में कारगर सिद्ध हुये हैं ? पोवेलसन एवं शेनर (Powelson & Shaner, 1966) ने डी.सी.एम.भो.डी. (एफ-461) से बीजोपचार करने पर धारीदार किट्ट के नवोद्भिज (Seedling) संक्रमण को रोका तथा साथ में किट्ट के ग्राने में एक महीने की देरी हुई। रोवेल ने भी 1967 में परीक्षणों द्वारा मालूम किया कि बुवाई के समय उपचारित करने पर तना एवं पत्ती के किट्ट के ग्राने मे देरी हो जाती है।

हमारे देश में भी पाठक एवं जोशी ने (1970) में सराहनीय कार्य किया। उन्होंने बताया कि प्लान्टोवेक्स-डी.सी.एम.ग्रो.डी. के 0·2% के बीजोपचार द्वारा गेहूँ मे भूरे एवं काले किट्ट के पौधे में 7 सप्ताह तक कोई लक्षण नहीं दिखाई देते हैं तथा इसके 15 दिन बाद दूसरा छिड़काव करने से 80-90 प्रतिशत संक्रमण के स्थान पर केवल 3% संक्रमण होता है। प्लान्टावेक्स (DCMOD) के परिणाम वाईटोवेक्स (DCMO) से ग्रच्छे मिले। शिवदान सिंह तथा उनके सहयोगियों (1971) के ग्रनुसार प्लान्टोवेक्स एवं वाइटावेक्स से 100 पी.पी.एम. पर यूरिडोबीजाणु के ग्रंकुरण मे ग्रवरोधकता थी। प्लान्टोवेक्स के द्वारा सभी प्रकार के किट्टों के यूरिडोबीजाणु मे ग्रवरोधकता पाई गई जबकि वाईटावेक्स से केवल तने के किट्ट की ही

रोकथाम हुई। दोनों ही ये दवाएँ गेहूँ के बीज में प्रोटीन की मात्रा पत्तियों पर छिड़काव करने पर बढ़ा देती हैं ? इसके अलावा जब इन दवाओं से बीजोपचार कर बुवाई की जाती है तो पौधों में तत्वों की न्यूनता के लक्षण भी दृष्टिगोचर नहीं होते हैं, जबकि बिना उपचारित बीजों में ये लक्षण अच्छी प्रकार देखे जा सकते हैं। माथुर (1969) ने भूरे किट्ट की रोकथाम में जिनेब 0·2% का लगातार (Repeated) छिड़काव अच्छा बताया। सिंह एवं माथुर (1972) ने बताया कि जिनेब एवं एम–31 के 3 किलोग्राम प्रति हेक्टर के छिड़काव 4 उसी सान्द्रता के, तथा 6, 2 किलोग्राम प्रति हेक्टर के छिड़काव के बराबर पाये गये। इस प्रकार जिनेब एवं डायथेन एम–31 के 4 छिड़काव 3 किलोग्राम/हेक्टर 15 दिन के अन्तर पर करने का सुझाव दिया। श्रीवास्तव एवं अन्य (1972) ने डायथेन जेड–78, डायथेन एम–5, 45 एवं मोरीन्टान फफूंदनाशी की तुलना की। उनके अनुसार काले एवं भूरे किट्ट की रोकथाम में डायथेन एम–45 (0·2%) सबसे अधिक प्रभावशाली पायी गयी। इसके अलावा डायथेन एम–45 कम सान्द्रता पर भी (1·5 lbs/acre) स्थिरोकारक के साथ प्रभावशील रही तथा नियन्त्रित (Control) की तुलना में उपज 33·3% अधिक मिली।

ग्रीवाल एवं धर्मवीर (1959), माथुर एवं अन्य (1961) तथा टण्डन एवं अन्य (1968) ने अपने अध्ययन में डायथेन जेड-78 को अच्छा पाया परन्तु श्रीवास्तव एवं अन्य (1972) ने इसे अधिक अच्छा नहीं बताया। टण्डन एवं अन्य (1968) के अध्ययन में भी डायथेन एम-45 अच्छा था परन्तु साथ में डायथेन जेड-78 के परिणाम भी अच्छे मिले। भूरे किट्ट की रोकथाम में आर.एच.-124 एवं पीले किट्ट के रोकथाम में प्लैनवेक्रीन का प्रयोग अच्छा पाया गया है। उदयपुर विश्वविद्यालय में किये गये अनुसंधान के आधार पर तीनों प्रकार के किट्ट की रोकथाम में बेलीटोन (Balyton, 0·05%) का छिड़काव सबसे अच्छा पाया गया। और खोज जारी है।

छिदरा कंड अथवा श्लथ कंड
(Loose smut)

गेहूँ की फसल पर श्लथ कंड रोग शीतल जलवायु वाले स्थानों में बहुतायत से पाया जाता है। इसे श्लथ कंड कजियारी, केरजुआ, कायमा, कालिमा अथवा छिदरा कंड के नामों से भी जाना जाता है। जहाँ कहीं भी गेहूँ की खेती होती है वहाँ इस रोग का प्रकोप देखा गया है। देशी किस्मों की अपेक्षा मेक्सिकन गेहूँ की जातियों पर इसका प्रकोप अधिक होता है। भारतवर्ष में पश्चिमी उत्तर प्रदेश, पंजाब, हरियाणा, सिन्ध आदि के मैदानों तथा उत्तरी पहाड़ियों पर विशेष रूप से इस रोग का प्रकोप देखा गया है। रोग के कारण दानों के स्थान पर काला चूर्ण बनता है जिसके फलस्वरूप उपज पर बहुत असर पड़ता है। यह रोग जौ (Barley) की फसल पर

भी पाया जाता है परन्तु दोनो पर फफूंद की प्रभेद (Strain) अलग अलग लगती हैं। गेहूँ की प्रभेद जौ पर नहीं तथा जौ की प्रभेद गेहूँ पर आक्रमण नही करती है।

आम तौर पर इस रोग के फलस्वरूप 2-3% से अधिक नुकसान नहीं होना है परन्तु उग्रावस्था में 30% तक नुकसान देखा गया है। लूथरा (1953) के अनुसार इस रोग के कारण हमारे देश को लगभग 5 करोड़ रुपये की हानि प्रतिवर्ष होती है। 1952-53 मे यह रोग पंजाब मे व्यापक रूप से फैला तथा 3 से 30% तक फसल नष्ट हो गयी जो कि आर्थिक दृष्टि से 30 करोड रुपये थी।

लक्षण (Symptoms)—रोग के लक्षण पौधे से बाली बाहर निकलने पर ही दृष्टिगोचर होते हैं। रोग ग्रसित बालियाँ स्वस्थ बालियों से कुछ समय पूर्व ही निकल



चित्र 2(क)6 गेहूँ का छिदरा अथवा श्लथ कंड
(सूना पुष्प अक्ष व नग्न बीजाणु)

आती हैं। भ्रमित बालियो मे दानों के स्थान काला चूर्ण बनता है। दानो का स्थान जो काले बीजाणु ले लेते है, उन्हे कंड मोराई कहते हैं। शूक (awns) के प्रतिनिध

पुष्प के सभी भाग जैसे अण्डाशय वर्तिका, वर्तिकाग्र तथा परागकोष आदि कंडवा मोराई मे परिवर्तित हो जाते हैं। आरम्भिक अवस्था मे यह चूर्ण चांदी जैसी कोमल झिल्ली मे बंधा रहता है किन्तु बाली के बाहर निकलते समय यह झिल्ली फट जाती है तथा बीजाणु नग्न रह जाते हैं (चित्र 2·6 व 2·7)। इन बीजाणुओं को क्लेमाइडोबीजाणु कहते हैं। इसी कारण इस रोग का नाम श्लेथ कंड या छिदरा कंड रखा गया है

हवा, वर्षा तथा कीड़े मकोड़े द्वारा बीजाणु पुष्प अक्ष से धीरे-धीरे ले जाये जाते हैं तथा पुष्प अक्ष बिल्कुल नग्न रह जाता है। अधिकतर अनुकूलों का सिर (head) पूर्णरूप से प्रभावित होता है परन्तु आंशिक संक्रमण भी देखा गया है। मैकएल्पाइन (Mc Alpine, 1910) ने बताया कि प्ररोह (Shoot) मे रोग रहित तथा रोग ग्रसित दोनों अनुशकी होने की सम्भावना बहुत ही कम होती है।

कभी कभी कंड बीजाणु पत्ती के फलक (Leaf blades), पर्ण छिद्र (leaf sheath) आदि पर भी पाये जाते हैं। आस्ट्रेलिया, इजीप्ट, भारत तथा जर्मनी में पौधों के इन भागों पर लक्षण देखे गये हैं। मैकएल्पाइन (1910) ने बताया कि रोगग्रसित गेहूँ के पौधों का वृन्त नील रक्त रंजक (Purplishtint) जैसा दिखाई पड़ता है जो कि दूर से देखा जा सकता है।



चित्र 2(ब)7 गेहूँ का छिदरा अथवा श्लथ कंड (नजदीक से)

कंड से ग्रसित पौधों मे 20 से 30% अधिक वाष्पोत्सर्जन (Transpiration) की प्रक्रिया पाई गयी। ग्रसित पौधों की शुरू के 20-25 दिन तक बहुत अधिक बढ़वार होती है परन्तु बाद मे वृद्धि कम हो जाती है तथा कंड ग्रसित पौधों का शुष्क भार केवल केवल 60 से 64% तक रह जाता है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and Life Cycle)—यह रोग अस्टीलागो ट्रिटिसाई (U. Tritici (Pers.) Rostr.) नामक फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है। कवकजाल पटयुक्त तथा दो प्रकार का होता है। प्राइमरी कवकजाल मोनोकेरियोटिक तथा द्वितीयक कवकजाल डाइकेरियोटिक होता है। प्राइमरी कवकजाल अल्प-

कालीन व द्वितीयक कवकजाल जीवन चक्र के अधिकांश भाग में रहता है। यह एक वैकल्पिक मृतोपजीवी फफूंद है। रोगी बालियों पर बना काला चूर्ण फफूंद के अन्तः कोशीय युग्माप्टिक कवकजाल से बने क्लेमाइडोबीजाणु का समूह होता है। क्लेमाइड्कोबीजाणु जैतुनी भूरे (Oliveceaus brown) गोल से दीर्घवर्तीय, 5 से 9 माइक्रोन व्यास के होते है। ये बीजाणु एक तरफ से हल्के रंग के होते हैं तथा इस तरफ बारीक काटे भी होते हैं।

इनकी बाहरी भित्ति (exine) मोटी एवं कण्टिकायुक्त तथा भीतरी भित्ति (int'ne) पतली चिकनी एव मुलायम होती है। ये बीजाणु हवा द्वारा बिखर जाते है। बीजाणु हवा द्वारा उड़कर स्वस्थ फूलों के योनि छत्रो में पहुंच कर अंकुरित होते हैं। अंकुरित होने से पहले दो केन्द्रिक का सायुज्य होता है। अंकुरित क्लेमाइडोबीजाणु में भित्ति दरार से खुल जाती है और छोटा रंगहीन कवकसूत्र उत्पन्न होता है। कवकसूत्र से एक प्रकवक बनती है जिसमे कि एक से चार तक कोशिका (cell) होती है तथा किसी भी प्रकार के बीजाणवी बनाने में असमर्थ रहते है। प्रकवक से संक्रमसूत्र या संक्रमण सूत्र निकल कर योनिका नली मे प्रवेश करके नीचे की ओर बढता है तथा अण्डाशय के बीजाण्डों को कवच के रास्ते से बढकर भ्रूण मे पहुंच जाता है। बीजाण्ड के बीजो में परिवर्तित होने पर कवकजाल बीजों से अपना स्थान ले लेता है तथा यहां आकर प्रायः वृद्धि रुक जाती है। यह कवक-जाल दाने में सुप्तावस्था मे पड़ा रहता है। इसका आकार कुछ फूला हुआ मोटा और तेल युक्त होता है।

रोगी बीजो के अंकुरण के समय उनके भ्रूण मे उपस्थित प्रसुप्त कवकजाल क्रियाशील हो जाता है तथा पोषक के शीर्ष के साथ बढता है। कवकजाल शाखायुक्त होकर प्राकुंर के द्वारा पौधे के तने से चोटी तक पहुँच जाता है तथा जब फूल लगने लगते हैं तब कवकजाल वहां पहुँच लेता है तथा बाल निकलने के समय बीजाणु पैदा कर देता है। क्लुश्किनोवा (Klushkinova, 1928) के अनुसार कवकजाल भ्रूण (embroyo) के सभी भागों में उपस्थित रहता है। बीजांकुर की जड़ो से 14 दिन तक तने मे पत्तियो मे तथा भ्रूणाग्रचोल (Coleoptile) से प्रथम की पत्तियो मे कम मात्रा मे तथा बालियों के बनने पर कवकजाल की वृद्धि बहुत अधिक होती है जिसके फलस्वरूप विभिन्न प्रकार के लक्षण पौधों में दिखायी देते हैं। इस प्रकार यह रोग दैहिक रूप से फैलता है तथा शूक के अतिरिक्त फूल का कोई भी भाग रोग से नहीं बच पाता है।

बीजांकुर का संक्रमण बंट की भांति ही होता है परन्तु ब्रीफेल्ड तथा फॉल्क ने यह भी बताया कि मिट्टी मे निवेश द्रव्य मिलाने से संक्रमण नहीं हो पाता है परन्तु यदि पुष्पण के समय संक्रमण किया जाये तो लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार (Annual recurrence and spread)—

यह अन्तः बीजोढ़ (internally seed borne) रोग है तथा रेखीय पुष्प (feathery stigma) के द्वारा प्रभाव होता है। प्रसुप्त कवकजाल बीजों के अन्दर उपस्थित रहता है तथा जब रोग ग्रसित बीज बोया जाता है तो बीजांकुर पर संक्रमण होकर दैहिक रूप से बढ़ता है तथा पुष्प आने पर लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं।

द्वितीयक सक्रमण क्लेमाइडोबीजाणु द्वारा होता है। क्लेमाइडोबीजाणु ग्रसित पौधे से स्वस्थ पौधे के फूलों पर हवा द्वारा उड़कर चले जाते हैं, वहीं पर अंकुरित होते हैं तथा सायुज्य होकर सक्रमण कवक तन्तु उत्पन्न कर देते है। प्रवेश मुख्यतः अण्डाशय की भित्ति से होता है तथा कवकजाल परिच्छद (pericarp) कवच (integuments) या भ्रूणीय (embroyonic) भाग मे प्रसुप्त अवस्था से पहले सस्थापन हो जाता है। प्रसुप्त अवस्था में यह मुख्यतः वरुथिका (scutallum) मे अगले वर्ष तक रहता है तथा जब बीज बोया जाता है तो फिर बीजांकुर का संक्रमण हो जाता है तथा कवकजाल का दैहिक स्थानान्तरण होता रहता है।

फ्रीमेन तथा जोनसन (Freeman and Johnson, 1909) ने बताया कि हरे पुंकेसर (stamen) से जबकि अण्डाशय परिपक्व की 1/3 आकृति के हो तथा पुष्प पूर्ण रूप से खिला हो तब कृत्रिम संचारण इसके बीजाणु के सक्रमण के लिए उपयुक्त है।

कार्यिकी प्रजातियाँ (Physiologic races)—कई प्रजातियाँ होने के भी संकेत मिले हैं। पीकेनब्रेक (Picken brack, 1927) ने दो प्रजातियाँ बतायी तथा बाद मे ग्रेवाल (Grewal, 1930) ने चार प्रजातियाँ तथा मोरे (Moore, 1936) ने 5 प्रजातियों के होने के बारे में बताया। हेना (Hanna, 1943) ने बताया कि 3 प्रजातियाँ भारत में मुख्य रूप से पायी जाती हैं।

मुन्दकर एवं पाल (1945) के अनुसार भारत मे तीन प्रजातियाँ क्रमशः L_1, L_2 एवं L_4 गेहूँ पर मुख्यतः पायी जाती हैं।

रोग नियन्त्रण—इस रोग के नियन्त्रण के लिए नीचे कुछ सुझाव दिये जा रहे हैं।

1. रोगी पौधों का उन्मूलन (Eradication of diseased plant)—जिस गेहूँ के खेत से अगली बुवाई के लिए बीज लिया जाये, उस गेहूँ के खेत से रोगी बालियों को काटकर जला देना चाहिए। रोगी पौधों की बालियाँ कुछ पहले निकल आती हैं तथा इनको आसानी से पहिचाना जा सकता है। इस प्रकार यदि किसी क्षेत्र के सभी किसान अपने-अपने खेतों मे इस प्रकार उन्मूलन कार्य तीन चार वर्ष तक लगातार करते रहें, तो उस क्षेत्र मे अगली फसल को इस रोग से कम से कम हानि की आशंका होगी।

(2) बीजों का चुनाव (selection of seed)—

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि बीज उन क्षेत्रों का चुना जाये जहाँ रोग उत्पन्न नही हुआ हो अथवा बीजों मे व्याप्त प्रसुप्त फफूंद को नष्ट कर दिया जाये।

(3) गरम पानी उपचार (Hot Water treatment)

गरम पानी के उपचार की विधि का आविष्कार सबसे पहले आलू के पछेता अंगमारी (Late blight of potato) की रोकथाम के लिए जेंनसन ने 1889 में किया। इस रोग की रोकथाम के लिये सबसे पहले स्विगल (Swingle) ने 1892 मे इस विधि का प्रयोग किया।

इस विधि मे सर्वप्रथम गेहूं के बीजों को 4 घन्टे तक साधारण तापमान वाले पानी (25-30° सें.) मे भिगो देना चाहिये। ऐसा करने से रोग फैलाने वाले फफूंद के बीजाणु जो कि सुप्तावस्था मे रहते हैं वह सक्रिय होकर अंकुरित हो जाते हैं। इसके पश्चात् इन बीजो को 10 मिनट तक 54° सें. तापमान के पानी मे भिगो देना चाहिए। इस तापमान पर फफूंद के बीजाणु मर जाते हैं। अन्त में बीजों को बोने से पहले सुखा लेना चाहिए।

गेरा तथा उनके साथियो (Gera et al., 1963) ने बताया कि कॉपर से स्वस्थ जल मे 23-29 घण्टे के लिए 30° सें पर तथा 41 से 48 घण्टे 25° सें. पर बीजों को भिगोया जाये तो भी अन्तः बीजोढ नष्ट हो जाते हैं परन्तु 20° सें. पर 53 घण्टे तक भी भिगोया जाये तो कवकजाल नष्ट नही होता है।

सावधानी—इस विधि में सावधानी की बहुत जरूरत है क्योंकि यदि पानी मे बीज 54° सें. पर 10 मिनट से ज्यादा रह जाये तो बीज की अंकुरण शक्ति खत्म हो जायेगी। इसी कारण यह विधि हमारे यहाँ पर अधिक प्रचलित नही हुई है।

(4) सौर उपचार (Solar treatment)—कंड से बचाने का एक बहुत ही सरल और सबसे अच्छा उपाय यह है कि बीजों को धूप मे सुखा लिया जाये। लूथरा (1932), लूथरा एवं सत्तार (Luthra and Sattar, 1934) ने उपरोक्त विधि में भारतीय कृषकों की कठिनाई को देखते हुए धूप उपचार विधि का आविष्कार किया।

इस विधि मे सबसे पहले बीज ऐसे बर्तन मे रखा जाता है जिसकी पेंदी चौड़ी हो। गर्मियों के दिनो मे बीजो को प्रातः 8 बजे से 12 बजे तक (4 घन्टे) इस बर्तन मे रखकर इतना पानी भर देते हैं कि पानी की सतह बीज से लगभग 2½" ऊँची उठ जाये। इसके पश्चात् बीजों को दोपहर मे 12 बजे से 4 बजे तक (4 घन्टे) पानी से निकालकर खलियान के फर्श पर फैला देते हैं जिससे गर्मी की कड़ी धूप मे बीज सूख जाये। यह विधि भी गरम पानी उपचार विधि पर ही आधारित है, क्योंकि इसमे भी सबसे पहले बीजाणु जो सुप्तावस्था मे है वह सक्रिय होकर अंकुरित हो

जाते हैं और फिर कड़ी धूप के कारण फफूंद के बीजाणु मर जाते हैं। ठंडे इलाकों के लिए धूप में फैलाकर सुखाने के लिए जस्ती चादर का प्रयोग करना चाहिए।

इस विधि की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि गर्मी के दिनों में बहुत तेज धूप है या नहीं। उन दिनों में आंधी बादल नहीं होने चाहिए। हमारे देश में जहां किसान प्रशिक्षित हैं वहां यह विधि बहुत अच्छी है, तथा कम खर्चे में ही इस रोग से छुटकारा पाया जा सकता है।

रसायनों का प्रयोग (Use of Chemicals)—इस रोग की रोकथाम रसायनों द्वारा भी की जा सकती है। 1935 में हेन्ना एवं पोप (Hanna and Popp) ने बताया कि बीजों को पोटेशियम ब्रोमाइड के घोल में भिगोने से रोगकारक जीव नष्ट किया जा सकता है। टेनर (Tyner, 1951, 52, 53) ने कनाडा में सबसे पहले यह प्रदर्शित किया कि बीजों को 22-25° में. पर 48 घंटे के लिये 0.1% स्परगान के घोल में भिगोया जाय तो रोग उत्पन्न नहीं होता है। बाद में उन्होंने यह भी बताया कि गेहूँ एवं जौ दोनों के कंड रोगों को साधारण जल में एव स्परगॉन के घोल में कमरे के तापक्रम पर 56-64 घण्टे तथा 48 घण्टे क्रमानुसार (respectively) रखा जाये तो भी इस रोग का प्रभाव नहीं होता है।

चटरथ (Chatrath, 1968) ने बताया कि D 735 एव F 461 से (1:400 के अनुपात से) बीजोपचार करने पर रोकथाम की जा सकती है। इन दैहिक फफूंदनाशी दवाओं का प्रभाव उन्होंने एन.पी. 775 किस्म पर देखा जिसमें कि बीजोपचार वाले बीजों में संक्रमण 0·2 एव 0·4% पाया गया जबकि बिना उपचारित बीजों में 16·3% संक्रमण था। बेनलेट (0·25%) से उपचारित करने पर भी इसका प्रकोप नहीं होता है। चटरथ एवं मदनमोहन (1971) ने दो दैहिक फफूंदनाशी बेनलेट (ड्र पोन्ट, 1991) एव डैमोसन 65w से बीजोपचार किया तथा इनमें से बेनलेट का 1·87 ग्राम/किलो के हिसाब से उपचारित बीजों में इस रोग का असर नहीं देखा गया। अनुपचारित बीज की तुलना में 43·4% की जगह केवल 0 36% रोग का प्रभाव देखा गया। डीमोसन प्रभावशील नहीं पाया गया।

रोग प्रतिरोधी किस्मों का प्रयोग (Use of resistant Varities)—

रोग प्रतिरोधी किस्मों के प्रयोग से भी इस रोग की रोकथाम की जा सकती है। एन पी. 710, 770.809,798,799 एवं बस्मी 224 आदि प्रतिरोधी किस्में हैं। सी. 13, सी. 591, एन पी 4, 12, सोनारा 64 इस रोग से अधिक प्रभावित होती हैं अत: इनको नहीं बोना चाहिए। एन.पी 823,824 एवं 827 में बहुत अधिक प्रतिरोधन पाया गया। कल्याण सोना, W.G. 307, सी. 302 एवं वी.वी. 18 भी इस रोग से प्रतिरोधी है।

बंट
(Bunts)

बंट दो प्रकार की होती हैं—

1. पहाड़ी बंट Hill bunt
2. करनाल बंट Karnal bunt

पहाड़ी बंट उत्पन्न करने वाली दो विभिन्न कवक है जिनके नाम इस प्रकार हैं—

1. टिलेशिया केरीज Tilletia Caries (DC) Tul,
2. टिलेशिया फोटिडा T. foetida (Walls) liro

पहाड़ी बंट को अनावृत कंड (Covered smut), बन्द कंड (Closed smut), यूरोपियन कंड (European smut), स्टिंकिंग कंड (stinking smut) तथा सामान्य कंड (Common smut) के नामों से भी जाना जाता है। सर्वप्रथम टिलेट (Tillet) ने बंट तथा कंड रोग में अन्तर बताया तथा बंट के संक्रमण की प्रक्रिया का भी वर्णन किया। पहाड़ों में ही इस रोग का प्रकोप होता है फलत: इसे पहाड़ी बंट कहते हैं। इस रोग का प्रकोप मुख्यत: ठण्डे स्थानों तक ही सीमित रहता हैं जैसे काश्मीर, हिमाचल प्रदेश, पंजाब एवं पश्चिमी उत्तर प्रदेश के कुछ भाग। मैदानी क्षेत्र में इसका प्रकोप बहुत ही कम देखा गया है और यदि होता भी है तो पहाड़ से दूषित (Contaminated) बीजों द्वारा। मुंदकर (1944) ने सबसे पहले इन फफूंदियों का प्रकोप मैदानी इलाकों (देहली) में 1941 में देखा। टिलेशिया फोटिडा का प्रकोप अधिक होता है तथा टिलेशिया केरीज केवल उन स्थानों तक सीमित रहती है जहाँ पर सूखा ठंडा (dry cold) मौसम है। काश्मीर में दोनों ही प्रकार की फफूंदियों का प्रकोप देखा गया है।

विश्व के लगभग सभी गेहूँ उगाये जाने वाले क्षेत्रों में इस रोग का प्रकोप देखा गया है। हमारे यहाँ सिंह एवं माथुर (1953) ने गढ़वाल (Garhwal) अलमोड़ा (Almora) एवं नैनीताल (Nainital) आदि जगहों से इस रोग को मालूम किया। पंजाब के कांगरा (Kangra) एवं कुलू घाटियों (Kulu Valleys) में भी इसका प्रकोप देखा गया। मित्रा (1935) ने 30-40% का नुकसान शिमला की पहाड़ियों में (जुबल) तथा सिंह एवं माथुर (1953) ने 1-10% का नुकसान उत्तर प्रदेश की पहाड़ियों (कुमायूँ) में देखा। सूर्य नारायन एवं वेदी (1968) ने इसका प्रकोप पहाड़ी से दूर के स्थान हिसार, हांसी तथा अन्य जगहों पर भी देखा।

गेहूँ के अलावा एजिलोप्स (aegilops), लोलियम (lolium), एग्रोपायरोन, होर्डियम (Hordeum) आदि वंशों पर भी इस फफूंद का प्रकोप देखा गया है। इस फफूंद के कारण सड़ी हुई मछली जैसी दुर्गन्ध आती है जिसके कारण इसे

स्टिंकिंग कंड रोग भी कहते हैं। यह दुर्गन्ध ट्राइमिथाइललेमाइन के कारण उत्पन्न होती है।

लक्षण (Symptoms) :—इस रोग के लक्षण भी श्लथ कंड की भाँति पौधे से बाली बाहर निकलने पर ही दृष्टिगोचर होते है। रोग ग्रसित बालियाँ स्वस्थ बालियों की अपेक्षा शीघ्र ही पक जाती हैं। पौधे की वृद्धि रुद्ध (Stunt) होती है। टिलेट तथा अन्य वैज्ञानिकों ने यह भी बताया कि जड़ों की वृद्धि भी कम हो जाती है। टिलोशिया केरीज के कारण टिलोशिया फोटिडा की अपेक्षाकृत ज्यादा होती है। इसी कारण टिलोशिया केरीज से उत्पन्न बंट को छोटा बन्ट (dwarb bunt) भी कहते हैं।

ग्रसित पौधों में स्वस्थ पौधों की अपेक्षा स्त्रीकेसर बढ़ जाती है तथा अण्डाशय लम्बे एवं चौड़े हो जाते हैं। पुंकेसर (Stamens) लम्बाई में कम होते हैं, तथा परागकोश (anthars) अधिक पीले पड़ जाते हैं। बंट से ग्रसित दाने कटाई तक बिना टूटे रहते हैं तथा ये गहाई के समय फट जाते हैं। जब पौधा दुग्ध अवस्था में हो तब यदि दाने को दबाया जाये तो उसके अन्दर कालाचूर्ण दिखाई पड़ता है, यह इस फफूँद की मुख्य विशेषता है, तथा ग्रसित दानों से दुर्गन्ध निकलती है जिसके आधार पर इसको आसानी से पहचाना जा सकता है। दाने स्वस्थ दानों की अपेक्षा अधिक स्थूल (Plump) होते हैं।

सम्पूर्ण या आंशिक रूप से पौधा इससे प्रभावित हो सकता है। अधिकतर एक पौधे की सभी बालियाँ इससे प्रभावित होती हैं परन्तु कभी कभी आंशिक रूप में संक्रमण भी देखा गया है। ग्रसित पौधे बीजांकुर अंगमारी तथा पीले किट्ट में अधिक प्रभाव्य होते हैं तथा चूर्ण फफूँद से प्रतिरोधी होते हैं।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and Life cycle)—यह रोग दो फफूँदियों द्वारा उत्पन्न होता है—

1. टिलोशिया केरीज Tilletia Caries (D C) Tul 1847 (T. tritici) Bi Jerk 1775.

समानार्थक:—यूरिडो केरीज Uredo caries D C

मारकोपरडोन ट्रिटिसाइ Lycoperdon tritici B. Jerk

टिलेशिया सिकेलिस T. Secalis (Cda) Kühn 332

2. टिलोशिया फोटिडा T. foetida (Wallr) Liro 1920 (T. levis)

समानार्थक—एरीसाइबी फोटिडा Erysibe foetida

अस्टीलागो फोटेन्स Ustilago foetens Berk and curt 1873

टिलेशिया फोटेन्स T. foetens (Berk and Curt) Schs.

इन दोनों जातियों का जीवन चक्र एक जैसा है। इन दोनों फफूँदियों में आकारिकी (morphological) तथा क्लेमाइडोबीजाणु की बाहरी भित्ति के अंकन (marking) का अन्तर है।

टिलेशिया केरीज के क्लेमाइडोबीजाणु 15 से 21 माइक्रोन व्यास के गोल तथा भित्ति जालकीय (reticulated) होती है। टिलेशिया फोटिडा के बीजाणु 16 से 25 माइक्रोन के अनियमित आकृति के चिकने (smooth) होते है। क्रियात्मक क्लेमाइडोबीजाणुओं मे बारीक भित्ति (thin walled) रंगहीन तथा कोशिका बाँझ (sterib cells) होती है।

इन दोनो ही प्रकार के बीजाणुओं का अंकुरण मजबूत (stout) प्रकवक (promy celium) द्वारा होता है। प्रकवक पर 8 से 16 तथा कभी कभी 24 तक सूत्राकार (fili form) रंगहीन बीजाण्वी अग्रभाग पर बन जाते हैं। जोड़े (Pair) जहा यह पैदा होते हैं वहां उसी स्थान पर (in situ) इनका सलयन होता है तथा एच. (H) की आकृति की रचना बना लेते है।

सायुज्य के पश्चात प्राथमिक बीजाण्वी द्विकेन्द्रिक हो जाता है तथा अंकुरण होने पर कवकसूत्र उत्पन्न होता है जिस पर फिर द्वितीयक बीजाण्वी बनते हैं जो हँसिया (Sickle) की आकृति के रंगहीन होते है। बेसीडियोबीजाणु से अगुणित कवकजाल (haploid mycelium) बारीक अपट कवकसूत्र का बना होता है जो कि पूरक लिंग के कवकजाल से मिलकर पटयुक्त कवकजाल बनाते हैं। कवकजाल एवं द्वितीयक बीजाण्वी द्विकेन्द्रिक होते हैं।

वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार (Annual recurrence and Spread)—

यह रोग बाह्य बीजोढ़ तथा मृदूढ़ (Seed and Soil borne) है। इस फफूंद के क्लेमाइडोबीजाणु बीज की बाहरी सतह पर चिपके रहते है। बीज की त्वचा पर बाहर लगे क्लेमाइडोबीजाणु बीज के साथ-साथ अंकुरण करते हैं, तथा बीजांकुर को संक्रमित (Seedling infection) करते हैं। अंकुरित होने पर कवकसूत्र उत्पन्न करते है जिस पर कि क्यूटिकल की सहायता से आसंगांग (appressorium) बनते है तथा वहां से एक बारीक खूंटी (peg) सी दैहिक रूप से अन्तर्कोशीय गेहूँ के पौधे के भीतर बढ़ती रहती है तथा रोगी बालो उत्पन्न कर देती है।

पूर्व वृत्तिक कारक (Pre disposing factors)—भूमि का तापक्रम कम तथा अधिक नमी का होना इस रोग की बढ़ावार के लिए सुग्राही हैं। ह्यूसर (Heuser, 1922) ने बताया कि संक्रमण के लिए अनुकूलतम तापमान 6 से 10° सें. है। संक्रमण 5 से 20° सें. भूमि के तापमान तथा 25 से 30% भूमि की नमी पर अच्छा देखा गया है। क्लेमाइडोबीजाणु का अंकुरण 12 से 20° सें. पर तथा सबसे अच्छा 14 से 16° में पर होता है। गहरी बुवाई भी इस रोग के लिए सुग्राही है।

कार्यिकी प्रजातियाँ (Physiologic race) इस फफूंद की कई प्रजातियां

मिली है जिनको व्याधिजनत्व (Pathogeni city) परिमाण, आकृति तथा बट बाल की कठोरता (hardness), रंग तथा प्रकवक की लम्बाई के आधार पर अलग किया जा सकता है।

सबसे पहले इस फफूंद की प्रजातियों के अस्तित्व के बारे में 1914 में फेरिस (Faris) ने बताया परन्तु सही अभिज्ञान प्रजातियों का रोड़नहिसर तथा स्टेकमेन (Rodenhiser and Stakman, 19:2) ने दिया। उन्होंने टिलीशिया केरीज की दो तथा टि. फोटिडा की तीन प्रजातियाँ बतायी। बाद में होल्टन तथा रोड़नहिसर (Holten and Roden hiser, 1922) ने टि. केरीज की 14 तथा टि. फोटिडा की 10 प्रजातियाँ मालूम की। नेपाल एवं भारत से टि. फोटिडा की 13 तथा टि. केरीज की 12 प्रजातियाँ मालूम पड़ी है।

रोकथाम (Control)—चूंकि यह रोग बाह्य बीजोढ है अतः बीजोपचार करना बहुत आवश्यक है। ग्रेवाल तथा उनके साथियों (1962) ने बताया कि पयूजेरियोल, एग्रोसन, सेरेसन एवं ट्रिटिसान द्वारा इसकी रोकथाम की जा सकती है। ग्रेवाल तथा उनके साथियों (Grewal et al., 1965) ने बताया कि पेनोजन (गायनो) (मियाइल, मरक्यूरी), (ग्वानीडिन) का 2 मि. ली./कि. ग्राम एवं सेरेसन 0.2% से बीजोपचार करने पर रोकथाम की जा सकती है। इस विधि से खर्चा केवल 1.25 पैसे प्रतिहेक्टर आता है। फेरिक हाइड्रोक्साइड एवं जीराम से भी अच्छे परिणाम प्राप्त हुए हैं। हेक्साक्लोरोबेन्जीन से बीजोपचार करने पर मृदूढ़ रोग का संक्रमण भी कम किया जा सकता है। दैहिक फफूंदनाशी दवा से बीजारोपण के भी अच्छे परिणाम प्राप्त हुए हैं। बेनलेट 0.3% एवं वाइटावेक्स 0.2% से 100% नियन्त्रण पाया गया। (Sharma et al., 1971)।

1. बुवाई जल्दी करनी चाहिए तथा प्रमाणित बीजों की ही बुवाई करनी चाहिए।
2. अधिक गहरी बुवाई नहीं करनी चाहिए।
3. रोग प्रतिरोधी किस्में प्रयोग में लानी चाहिए। सभी किस्में (D III) को छोड़कर इससे प्रभावित होती हैं। मेक्सिकन किस्में इस रोग से बहुत प्रभावित होती हैं। एम. 227 एवं पन्जाबी 62 इसमें प्रतिरोधी हैं। एम. 227 जो बहुत ही अच्छी किस्म है उसका प्रयोग पहाड़ी इलाकों में जहाँ इसका अधिक प्रकोप है किया जा सकता है (Sharme et al., 1971) टर्की 10016, मारटीन एवं हुसर (Husser) के संकर (Cross) से प्रतिरोधी किस्में तैयार की जा सकती है.

करनाल बंट
(Karnal bunt)

करनाल बंट को आंशिक बंट भी कहते हैं तथा इसका प्रकोप यदाकदा (Sporadic) ही देखा गया है। उत्तरी भारत में इस रोग का प्रकोप अधिक होता

है। पंजाब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा देहली में इस रोग से मुख्य रूप से फसलें प्रभावित होती है, जहाँ ठण्डा मौसम रहता है। सबसे पहले इस रोग का विवरण (1931) मित्रा ने करनाल (पंजाब) से किया। इसी कारण इस रोग का व्यापक रूप से भी प्रभाव देखा गया है।

लक्षण (Symptoms)—इस रोग के विस्तृत लक्षण 1935 मे मित्रा ने वर्णित किये। इस रोग की मुख्य विशेषता यह है कि संक्रमण बहुत ही कम बालियों मे होता है तथा उस बाली मे कुछ ही दाने प्रभावित होते हैं। इसलिए इसे आंशिक (Partial) बंट भी कहते है। इसके लक्षण भी पौधे से बाली बाहर निकलने पर ही दृष्टिगोचर होते है। कुछ दाने पूर्ण रूप से या आंशिक रूप से काले चूर्ण मे परिवर्तित हो जाते हैं जो कि परिच्छद (pericarp) से ढके होते है। सम्पूर्ण बाली बहुत ही कम प्रभावित होती देखी गई है (मित्रा 1937)। आमतौर से एक बाली में 1 से 5 मनुशूकी (Spiklet) मे बंट से प्रभावित दाने होते है तथा शेष स्वस्थ रहते हैं। अनैच्छिक दुर्गन्ध इसमे और भी ज्यादा आती है।

हेतुकी एवं जीवनचक्र (Etiology and Life cycle)—यह रोग निग्रोवोसिया इन्डिका (Neovossia indica) (Mitra) Mundkur नामक फफूंद के द्वारा उत्पन्न होता है। मित्रा ने 1931 मे टिलेशिया ट्रिटिसाई के नाम से इस फफूंद का विवरण दिया।

इसके बीजाणु अधिक गहरे रंग के गोलाकार से अन्डाकार (Oval) तथा भित्ति जालकीय 22 से 44×25 से 55 औसतन 32×40 माइक्रोन व्यास के होते है। बहुत अधिक बांझ कोशिका (Sterile cells) बीजाणु से मिली रहती है।

बीजाणुओं का अंकुरण बहुत समय की अवधि के बाद होता है। अंकुरण होने पर शीर्ष पर एक जनित नलिका बन जाती है जिस पर 60 से 180 बीजाण्वी (Sporidie) बनते है। ये बीजाणु लम्बे हांसिया (Sickle) की आकृति के होते है तथा इनका सलयन जोड़ मे नही होता है। एच H की आकृति की रचना भी नही बनाते हैं। इन बीजाणुओ का अंकुरण जनित नलिका द्वारा होता है जो संक्रमण तन्तु का कार्य करते है।

वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार (Annual recurrence and Spread)—यह भूदोढ़ (soil borne) रोग है। इस फफूंद के बीजाणु मढ़ाई (threshing) के समय मिट्टी मे मिल जाते है तथा फरवरी या मार्च के महीने मे अंकुरित होते हैं। हवा के द्वारा बीजाण्वी स्वस्थ फूलों को प्रसित करते हैं। वायु जनित बीजाण्वी का होना, मुरंकर (1943), रामामूर्ति एवं मुदकर (1944) तथा बाद मे बेदी तथा उनके साथियो (1949) ने सिद्ध किया।

मद तापक्रम (mild temperature), बदली मौसम, तथा हल्की बारिश की बोछारो का होना इस रोग के लिए सुग्राही है।

रोकथाम (Control)—चूंकि यह मृदुढ़ रोग है तथा इसका संक्रमण बातोड़ है अतः रोकथाम का मुख्य साधन प्रतिरोधी किस्मों को प्रयोग करना ही है। ड्रम (durum) गेहूँ की किस्में देशी किस्मों की अपेक्षा प्रतिरोधी हैं (Bedi, 1949)।

2. रोग ग्रसित पौधों को एकत्र कर नष्ट कर देना चाहिए।

तीनों बंट की तुलनात्मक तालिका

पहाड़ी बंट		करनाल बंट
टिलेशिया कैरीज	टिलेशिया फोटिड़ा	निवोशिया इण्डिका
1. पहाड़ी इलाकों में जहाँ सूखा ठण्डा मौसम हो प्रकोप होता है।	पहाड़ी इलाकों में प्रकोप होता है।	मैदानी इलाकों में प्रकोप अधिक होता है। इसका प्रकोप यदाकदा ही होता है।
2. अधिकतर एक पौधे की सभी बालियां इससे प्रभावित होती हैं।	इसमें भी एक पौधे की सभी बालियाँ प्रभावित होती हैं।	सभी बालियाँ संक्रमित नहीं होती हैं बल्कि बहुत ही कम बालियाँ प्रभावित होती हैं।
3. क्लेमाइडोबीजाणु 15 से 20 माइक्रोन व्यास के गोल तथा भित्ति जालकीय होती हैं।	क्लेमाइडोबीजाणु अनियमित आकृति के 16 से 25 माइक्रोन के चिकने (smooth) होते हैं।	क्लेमाइडोबीजाणु गोलाकार से अण्डाकार, जालकीय 22 से 44 माइक्रोन के होते हैं।
4. बीजाणुओं के अंकुरण के लिए किसी भी विश्राम काल की आवश्यकता नहीं पड़ती है तथा प्रकवक पर 8 से 16 बीजाण्वी बनते हैं, जिनका संलयन होने पर एच. (H) आकृति बनती है।	इनके बीजाणुओं के अंकुरण के लिए भी विश्राम काल की आवश्यकता नहीं होती है तथा प्रकवक पर 8 से 16 बीजाण्वी बनते हैं जिनका संलयन होने पर एच. आकृति बनती है।	क्लेमाइडोबीजाणु के अंकुरण के लिए लम्बे समय विश्राम काल की आवश्यकता पड़ती है तथा 60 से 180 बीजाण्वी बनते हैं। जिनका संलयन एच. (H) आकृति में नहीं होता है।
5. मुख्यतः यह बाह्य बीजोढ़ रोग है तथा संक्रमण बीजांकुर अवस्था में होता है।	यह भी मुख्यतः बाह्य बीजोढ़ रोग है तथा संक्रमण बीजांकुर अवस्था में होता है।	यह मुख्यतः मृदोढ़ रोग है तथा संक्रमण स्थानिक (local) होता है। जो कि वातोढ़ होता है।
6. 12 प्रजातियों का मालूम पड़ा है (हैटरोथैलिक)	13 प्रजातियों का मालूम पड़ा है। (हैटरोथैलिक)	प्रजातियों का अभी कोई मालूम नहीं पड़ा है।

सर्व प्रथम इस रोग का प्र· . ···. ·:·:·:·· ·· । इसके बाद जापान, चाईना, दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों, भारत, पाकिस्तान, यूरोप, दक्षिण अफ्रीका, अमेरीका आदि देशों में भी इसके संकेत मिले। भारत मे सबसे पहले इसका अभिलेख 1906 में लायलपुर से किया गया (बटलर, 1918)। इसका प्रकोप अब मुख्यतः पंजाब, मध्यप्रदेश, देहली तथा राजस्थान मे होता है (मुदकर, 1944)। आमतौर पर इससे 5 प्रतिशत से अधिक हानि नही होती है परन्तु उग्रावस्था मे 60 से 70% तक नुकसान भी देखा गया है।

लक्षण (Symptoms)—रोग का प्रकोप देर की बीजांकुर अवस्था से दृष्टिगोचर होने लगता है तथा जब तक फसल परिपक्व होती है चलता रहता हैं। मुख्यतः



चित्र 2 (क) 8 गेहूँ के पत्ती कंड रोग से प्रभावित पौधे

पत्तियाँ ही इससे प्रभावित होती हैं परन्तु तने, संधि स्तम्भ (Culm) आदि पर भी कभी-कभी लक्षण दिखायी देते हैं। पत्तियो पर भूरी तथा भूरी काली कुछ उभरी हुई सी धारियां पत्ती शिरा के समानान्तर बढ़ती जाती हैं (चित्र 2.8 व 2.9)। पुरानी पत्तियो पर ये सोराई धारी काली सी दिखाई देती है तथा शुरू मे अधोस्तर से ढकी रहती है तथा बाद मे अधोस्तर के फटने पर काला चूर्ण बाहर आ जाता है। पत्तियां मुड़ जाती हैं एव झंडे की तरह झुक जाती है। पत्तियाँ ऐठने के बाद ऐसी प्रतीत

होती हैं कि गिर रही हो। शीघ्र ही पत्तियाँ झड़ जाती हैं तथा पौधा मर जाता है। अधिकतर सधिस्तम्भ (culm) बाँझ (sterile) होते हैं जिनमें दाने नहीं बनते हैं। यदि दाने बन भी जायें तो वह सिकुड़े तथा हलके होते हैं। पौधे की वृद्धि भी रुद्ध तथा दौजी की संख्या भी कम हो जाती है।



चित्र 2 (क) 9

हेतु की एवं जीवन चक्र (Etiolgy and life cycle)—यह रोग यूरोसिस्टिस ट्रिटिसाई (Urocystis tritici) नामक फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है। फिशर (Fischer, 1943) ने आकारिकीय समान जातियाँ यूरोसिस्टिस ट्रिटिसाई, यू. आँग्यूलेटा एवं यू. एग्रोपायरी जो कि गेहूँ, राई तथा घास पर क्रमानुसार (respectively) आक्रमण करती है उन सबको यू. एग्रोपायरी में गेहूँ का पत्ती कण्ड रोग रक्खा तथा बताया कि इस फफूंद की विशिष्ट जातियाँ धान्य तथा घास की फसलों पर संक्रमण करती है। तदुपरान्त फिशर (1953) ने यू. ट्रिटिसाई को यू. एग्रोपायरी में शामिल किया तथा यू. आग्यूलेटा को छोटी बीजाणुगेंद (spore ball) होने के कारण अलग रक्खा।

सोराई रेखाकार (linear) काली तथा अधोस्तर से घिरी रहती हैं। बीजाणु गेन्द रंगहीन से भूरी, गोलाकार से दीर्घवृत्तीय 18–35×35–40 माइक्रोन की 1 से 4 क्लेमाइडोबीजाणु की बनी होती है। क्लेमाइडोबीजाणु कोणीय से गोल, गहरे लाल, भूरे चिकने 14 से 20 माइक्रोन व्यास के होते हैं इनका अंकुरण (germination) होने पर एक छोटी से प्रकवक पटहीन अथवा पटयुक्त बनती है जिस पर 3-4 रंगहीन बेलनकार शीर्ष के पास बीजाण्वी (sporidie) बनते हैं बीजाण्वी का अंकुरण अनिश्त नलिका द्वारा होता है।

वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार (Annual recurrence and Spread)—

यह रोग बाह्य बीजोढ़ (seed borne) तथा मृदोढ़ (soil borne) है। जब रोगी बीज बोया जाता है तब उनमें बीजाणु का अंकुरण होता है और बीजांकुर को संक्रमित कर देते हैं तथा बाद में दैहिक रूप से पौधे के भीतर बढ़ते रहते है और लक्षण उत्पन्न कर देते हैं।

बीजाणु भूमि के अन्दर भी जीवित रहते है तथा 3 वर्ष तक ये संक्रमण कर सकते हैं। बीजाणु जानवरों के अन्न स्रोतस (alimentry canal) में जाकर बिना अंकुरण क्षमता नष्ट किये भी जीवित रहते है तथा कम्पोस्ट खाद जो इन संक्रमित पौधों से बनती है उन पर भी जीवित रहते हैं और वहाँ से नयी फसल में संक्रमण कर देते हैं।

पूर्व वृतिक कारक (Predisposing factors)—संक्रमण के लिए कार्डिनल तापक्रम (Cardinal temperature) 5°, 20°, तथा 28° सें. है। बीजाणुओं के अंकुरण के लिए 5.1 से 5.7 पी. एच. मान तथा 16 से 24 सें. सबसे अच्छा तापक्रम है। यदि बुवाई जल्दी कर दी जाये जबकि तापक्रम 28° सें. हो तो बीजकुंर का संक्रमण नही हो पाता (हफिज, 1948)।

कायिकी प्रजातियां (Physiologic races)—इस फफूंद की कई प्रजातियां होने के भी संकेत मिले हैं। यू (yu) तथा उनके साथियों (1936, 45) ने 5 गेहूं के विभेदक पोषकों पर 12 प्रजातियां पहचानी। होल्टन तथा जोनसन (Holton and Johnson, 1943) ने अमरीका मे 2 प्रजातियां मालूम की। भारत मे इस ओर अभी कार्य नही हुआ है।

रोकथाम (Control)—

1. चूंकि यह बाह्य बीजोढ रोग है अतः बीजोपचार करना आवश्यक है। बीजों का उपचार कॉपर कार्बोनेट या कॉपर सल्फेट (55 ग्राम/40 किलो बीज) या टिलेक्स (100 ग्राम/50 किलो बीज) या बीजों को फोरमेल्डीहाइड घोल मे (1/2 किलो/180 लिटर पानी) या अन्य किसी पारावर्गी फफूदनाशी से किया जा सकता हैं। वाइटावेक्स (Tyagi 1968) एवं TCNA (टेटराक्लोरा नाइट्रोएनिजोल) से भी बीजोपचार करने पर अच्छे परिणाम मिले है।

2. यह बाह्य बीजोढ के साथ मृदुढ भी है अतः फसल चक्र, गर्मी के दिनो में गहरी जुताई तथा प्रतिरोधी किस्मो को बोना चाहिए। पूसा–4 (Pusa–4) इस रोग से अति प्रतिरोधी हैं तथा आस्ट्रेलियन किस्मो मे इसका प्रदाता पियज (donar parent) के रूप में बहुत प्रयोग किया गया है। पाल एव मुदकर (1941) ने 6 प्रतिरोधी तथा 2 अति प्रतिरोधी किस्में बतायी।

3. गहरी बुवाई नही करनी चाहिए तथा बुवाई भी जल्दी कर देनी लाभप्रद रहता है क्योकि तापक्रम एव नमी बीजाणुओं के अंकुरण एवं बीजाकुंर के संक्रमण के लिए अनुकुल नही रहते हैं।

4. रोगग्रसित पौधो के ठूठ तथा अन्य खरपतवारों को नष्ट कर देना चाहिए।

5. मिश्र देश मे यह भी देखा गया है कि यदि बीजाकुंर के बाहर आते ही यदि सिंचाई कर दी जाये तो रोग का प्रकोप कम हो जाता है अपेक्षाकृत पहले सिचाई करने से।

पत्ती अंगमारी
(Leaf Blight)

गेहूं की फसल मे किट्ट के बाद तथा कभी-कभी उसमे भी अधिक यह

भी बताया परन्तु 1962 मे प्रसादा एवं प्रभु ने पुष्टि की कि यह रोग आ.ट्रिटिसाइना नामक फफूंद के द्वारा उत्पन्न होता है।

कवकजाल पटयुक्त, शाखायुक्त, शुरु मे रंगहीन तथा बाद में जैतून बफ, 2 से 7 माइक्रोन चौड़ा होता है। कोनिडियोफोर रंग मे कवकजाल जैसा पटयुक्त, शाखायुक्त 17 से 28 माइक्रोन लम्बे तथा 3 से 6 माइक्रोन चौड़े पत्ती पर बने धब्बों के बीच से पूर्ण रन्ध्रों द्वारा बाहर निकलते है जिनके सिरे पर अकेले या छोटी छोटी 2 से 4 की जंजीर मे कोनिडिया उत्पन्न होते हैं।

कोनिडिया (चोंच सहित) 15.3 से 88.6 माइक्रोन लम्बे तथा 6.8 से 28.9 माइक्रोन चौड़े होते है (प्रसाद एवं प्रभु, 1966) परन्तु जिस माध्यम (meduim) पर यह उगाये जाते है उसका परिमाण पर बहुत असर पड़ता है। माल्ट सत्व एगर मे 17.0–85×6.8–28.9 माइक्रोन स्टेन्डर्ड न्यूट्रिएन्ट एगर मे 15.3–68×13.6 तथा पोषक पर 18.8–88.4×6.8–17.0 माइक्रोन व्यास के होते है (प्रसादा एवं प्रभु, 67) एक से 8 तक पट परन्तु मुख्यतः 3 से 4 अनुप्रस्थ पट तथा 0 से 5 अनुलम्ब पट (longitudinal septa) होते हैं। 2 से 4 की जंजीर भी देखी गयी है। परन्तु अधिकतर ये अकेले ही रहते हैं। बीजाणु अग्राभिसरी (acropetal) शृंखला मे उत्पन्न होते है। दोनो प्रकार के पट पाये जाने के कारण इनको गुमड़ीदार कोनिडिया भी कहते हैं। कोनिडिया हल्के भूरे से गहरे जैतूनी बफ रंग के होते हैं।

कई प्रकार की फफूंदियो का विवरण इस पोदक पर किया गया है जिनको निम्न गुणो के आधार पर पहचाना जा सकता है।

1. आ०टेनुइस (A. tenuis)—माथुर ने 1956 मे इस फफूंद का विवरण दिया। इसके कोनिडिया छोटे, अवरुद्ध (stubby) तथा लम्बी जंजीर मे बनते है। चोंच बहुत छोटी या नहीं होती है।

2. स्टेम्फाइलम ट्रिटिसाई (Stemphylium tritici)—इस फफूंद का विवरण सर्वप्रथम अमेरिका मे 1910 मे पेटरसन (Patter Son) ने दिया। इस फफूंद के कारण पुष्प बन्ध्य (Sterile) के लक्षण देखे गये है। प्रभु एवं प्रसादा (67) ने बताया कि यह फफूंद आ. टेनुइस की ही किस्म है।

आ०ब्रेसीकी एफ ट्रिटिसाइ (A. brassicae f tritici—ब्रून (Brun.) 1894) ने 1894 में इस फफूंद का विवरण दिया। कोनोडिया 95–110×18–20 माइक्रोन के होते है जो कि आ0 ट्रिटसाईना से बिल्कुल भिन्न है।

आ० टेन्यूसिमा (A. tenuissima)—भदकामेकर (Bhadkamker et. al, 1965) ने बताया कि महाराष्ट्र में पत्ती धब्बा इस फफूंद का कारण होती है। कोनिडिया 3 से 12 की जंजीर मे, 15–105×6 से

16 5 माइक्रोन के चोंच युक्त तथा अग्रीय भाग से फूले हुए होते हैं। नीयरगार्ड (Neergaard, 1945) के अनुसार यह फफूंद भी आ.टेनुइस ही है। यह फफूंद लोन्जी केटेनिटी तथा ब्रेवीकेटेनेटी (longi catenate and brevicatenate) के मध्य रखी गई है।

आ. ट्रिटिकोला (A. triticolo)–1964 में पूना से रॉव (Rav) ने गेहूँ पर इस फफूंद का विवरण किया। कोनिडिया 63–172·2×29 से 35 माइक्रोन चोड़े होते है। प्रभू एवं प्रसाद (1967) ने बताया कि यह फफूंद आ0ट्रिटसिना ही है क्योंकि इसके औसतन कोनिडिया की लम्बाई 49 5 माइक्रोन तथा चौड़ाई 15.2 माइक्रोन होती है। इसके लक्षण भी आ. ट्रिटिसाइना से मिलते हैं।

कोनिडिया का अंकुरण जनित नलिका द्वारा होता है। जनित नलिका स्वस्थ पत्ती के रन्ध्रों द्वारा प्रवेश करके एक नया कवकजाल बना देती है।

पूर्व वृत्तिक कारक (Predisposing factors)—

पौधे की उम्र, तापक्रम तथा नमी का रोग के प्रसार पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। जब पौधे 6 से 8 सप्ताह के हो जाते है तभी से लक्षण दिखाई देने लगते है तथा जब दुग्ध (boot) अवस्था होती है तब सबसे अधिक लक्षण दिखाई देते हैं (प्रभू एवं प्रसाद 66)। 22 से 25० सें. अनुकूलतम तापमान है जिस पर सबसे अधिक रोग का प्रकोप देखा गया है। जब दिसम्बर के माह में अन्तः क्रमण किया गया तो पौधो मे किसी भी प्रकार के लक्षण उत्पन्न नही हुए जबकि तापमान 18० सें. या उससे कम था परन्तु जब तापक्रम 20० सें. या उससे अधिक हो तब थोड़े थोड़े लक्षण दृष्टिगोचर होने लगते है परन्तु फरवरी के माह मे जब तापक्रम 22 से 25० सें. होता है तब सबसे अधिक प्रकोप देखा गया है। अधिक नमी वाले मौसम मे इस रोग का प्रकोप अधिक होता है।

संक्रमण सूचक (infection index) जैसे जैसे नाइट्रोजन की मात्रा बढ़ाते है बढ़ता रहता है तथा पोटाश की मात्रा बढ़ाने पर कम होता रहता है।

रोग का वार्षिक आवर्तन (Annual recurrence)—

यह फफूंद एक मौसम से दूसरे मौसम तक भूमि मे पड़े रोगी पौधे के मलबे में उपस्थित कवकजाल एवं कोनिडिया के द्वारा नई फसल मे प्रारम्भिक संक्रमण करती है। मृदूढ़ के साथ साथ रोग अन्तः बीजोढ़ भी है जो संक्रमित गेहूँ के बोने पर कवकजाल नये पौधे में प्रगुणित होता है और कोनिडिया उत्पन्न करता है। बीजो का संक्रमण किस्मों पर निर्भर करता है, परन्तु औसतन 12.2% संक्रमण होता है। संक्रमण बीजो के अन्दर होता है। द्वितीयक प्रसार (secondry spread) इन पत्तियों पर बने धब्बो से एक खेत से दूसरे खेत में कोनिडिया की सहायता से होता है।

कोनिडिया हवा में उड़कर दूर दूर तक पहुँच जाते हैं और स्वस्थ पौधों की पत्तियों की सतह पर अंकुरनाल बनाते हैं जो पूर्ण रन्ध्रों (stomata) द्वारा अथवा सीधे वेधन (Penetration) करके संक्रमण कर देते हैं।

पत्तियों पर रोग के लक्षण लगभग 2 महीने तक की फसल में नहीं दिखाई देते हैं परन्तु रोग की तीव्रता तथा हानि फसल के लगभग ढ़ाई महीने के होते ही दिखाई देने लगती हैं। प्रभु एवं प्रसाद (1966) के अनुसार इस रोग की मुख्य विशेषता यह है कि यह रोग गेहूँ तक ही सीमित रहता है।

रोकथाम (control)—

1. गरम पानी उपचार (Hot Water treatment)—प्रभू एवं प्रसाद (1967) ने अपने अन्वेषणों द्वारा यह बताया कि रोग का सक्रमण बीजों के अन्दर होता है। इसलिए बीजों को सबसे पहले 26°सें. से 30 सें. तक तापमान के पानी में चार घंटे तक भिगोया जाना चाहिए और फिर शीघ्र इन बीजों को 52° सें. तक गर्म पानी में केवल दस मिनट तक रखना चाहिए। बीजों को फिर सुखाकर बोने से इस रोग का प्रभाव कम हो जाता है। परन्तु इस तापक्रम से बीजों को 2 मिनट भी अधिक समय पर रखे जाये तो बीजों के अंकुरण पर बहुत असर पड़ता है। इसलिए गरम पानी उपचार करते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है।

2. खेत की स्वच्छता—यह रोग मृदुढ़ भी है, अतः खेत में उपस्थित रोगी पौधों के मलबे को एकत्र करके जला देना चाहिए, जैसे ही पौधों पर लक्षण दिखाई दे तुरन्त निकाल कर नष्ट कर दें जिससे द्वितीयक प्रसार न होने पाये।

3. उर्वरकों का प्रयोग—सिसोदिया (1967) ने अपने प्रयोगों के आधार पर यह बताया कि फास्फेट और पोटाश की मात्राएं बढ़ाने में फसल में रोग रोधिता का गुण बढ़ता है। प्रभू एवं प्रसाद (67) के अनुसार नाइट्रोजन के साथ साथ संक्रमण सूचक भी बढ़ता है।

4. रसायनों का प्रयोग—उचित फफूंदनाशी का प्रयोग छिड़काव के रूप में करके इस रोग की रोकथाम की जा सकती है। टन्डन एवं उनके साथियों (1967) ने बताया कि डायथेन 0.2% तथा सिंह (1968) ने जिनेब के छिड़काव से इस रोग की रोकथाम की। सिंह एवं सिंह (1971) के अनुसार डायथेन जेड0 78 (0.25%) का छिड़काव सबसे लाभकारी सिद्ध हुआ तथा उसके बाद डायथेन एम. 45 (0.25) के अच्छे परिणाम मिले। टन्डन तथा उसके साथियों ने डायथेन जो अच्छा बताया था वह इनके अध्ययन में डायथेन जेड-78 तथा डायथेन एम. 45 से कमजोर रहा। बिसडायथेन, डायथेन, बेराथेन एवं थोनाल से भी रोग की सक्रमणता में तो कमी पायी गयी परन्तु उपज बराबर ही मिली। शर्मा एवं अन्य

(1972) के अनुसार भी क्यूमान (0.2%) सबसे अच्छा था तथा डायथेन M–45 0.2% विसडायथेन 0.2% एवं वाइटावेक्स 0.2% भी रोकथाम में प्रभावशाली पाये गये। सोरवी (1971) के अनुसार फाइटोपान का छिडकाव डायथेन 2-78 एव डायथेन M–45 से अच्छा रहा। बसन्तराम एवं जोशी (1978) ने बताया फाइटोपान 0.1% के 4 छिडकाव (एक अन्तःक्रमण से पहले तथा 3 बाद मे) इस रोग की रोकथाम से सबसे अच्छे रहे। रोग नियन्त्रण के साथ पोधों की वृद्धि भी अधिक देखी गयी। मानव चलित फूहारे से एक एकड़ मे 200 लीटर पानी का छिडकाव करना चाहिए।

रोग प्रतिरोधी किस्मों का प्रयोग—एन. पी. 4, 52, 200, 809, 823 एव 824 एवं आगरा लोकल इस रोग के लिए प्रतिरोधी हैं। एन. पी. 710, 718, 790, 788 एवं 761 सहिष्णु हैं तथा एन. पी. 827, 828, 829, 830, 400, 401, 402, 404, 405, 405, 406, 407, 408, 409 सी. 281, 591, बी. आर 319, आर. एस 31-1 किस्मो पर इसका बहुत अधिक प्रभाव होता है इसलिए जिन खेतो मे इस रोग का प्रकोप होता हो वहां दूसरे साल यह किस्मे नही बोनी चाहिए। निफेड़, केन्फेड 21, 32, विजय कोठिया, वस्सी, गुलाबजाया इसंसे बहुत अधिक प्रभाव्य हैं। एस 331 तथा कल्यान सोना पर इस रोग का प्रभाव कम देखा गया है।

हेल्मिथोस्पोरिओज
(Helminthosporiose)

हेल्मिथोस्पोरियम की जातियो का प्रकोप गेहूं पर देखा गया है जो पौधे के सभी भागो पर आक्रमण करती हैं। ये जातियां बीजांकुर अंगमारी, पत्ती अंगमारी, काला बिन्दु रोग, पद गलन तथा जड़ गलन आदि के लक्षण उत्पन्न करती है। हेल्मिथोस्पोरियम की जातियां जो गेहूं पर रोग पैदा करती है वह इस प्रकार हैं।

1. हेल्मिथोस्पोरियम सेटाइवम (H. sativum Pammel king and Bakke.)
2. हे ट्रिटिसाई H. tritici P. Henn.
3. हे ट्रिटिसाई वलगेरिस H. tritici Vulgaris Hisikado.
4. हे. ग्रेमीनीयम H. gramineum Rabenh ex Schrecht.
5. हे. हेलोडस ट्रिटिसाई H. halodas var tritici.
6. हे. ट्रिटिसाई रिपेन्टिस H. tritici repentis Died.
7. हे. बाइकोलर H. bicolor Mitra.
8. हे. टेटरामेरा H. tetramera Mc Kinney.
9. हे स्पेसीफेरम H speciferum Bains.

10. हे. कैटेनेरियम H. catena

11. हे. रोस्ट्रेटम H. rostratu

मुकुट एवं पद गलन (Crown and Foo

सर्व प्रथम मध्य प्रदेश में अस्थाना
बताया तथा बाद मे श्रीवास्तव ने देहली
पश्चिमी बंगाल से, मिश्रा ने साबोर से त
गलन के लक्षण कई प्रकार के व्याधिजन
आल्टरनेरिया टेनुइस, स्कलेरोशियम रोल्फ
हे. टेटरामेरा आदि।

हे. सेटाइवम के कारण पद एवं ज
पर भी धब्बे बन जाते हैं परन्तु हमारे यह
इस फफूंद का मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, पं
में मुख्य रूप से प्रकोप होता है।

बीजांकुर भूमि से बाहर आने से प
दात स्थल भ्रूणाप्रचोल (Coleoptile)
देते हैं। संक्रमित बीजांकुर की बढ़ावार म
(tillering) होता है।

पत्तियों पर गहरे भूरे रंग के
मिलकर लम्बे रेखाकार (linear) क्षतर
परिणाम भिन्न होते हैं। जब प्रकोप उग्र
हुआ होता है। धब्बों के बीच का भाग धूस
फोर होते हैं। उग्रावस्था में दाने नही बन
उत्पन्न होते हैं।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiolog
स्पोरियम सेटाइवम नामक फफूंद के द्वार
कोक्लिओबोलस सेटाइवस (Cochliobo
H. sa

समानार्थक (Synonyms)—(1) हे. एक्रो
(2) हे. इनक
(3) हे. सोरो
(4) बाइपोल
kiniar
(5) ड्रेक्सले
kiniar

rot)—
(Asthana) ने पद गलन के बारे में
IARI) से, मुकरजी एवं सेन गुप्ता ने
या पारासर ने पंजाब से बताया कि पद
ों से उत्पन्न होते हैं जैसे हे. सेटाइवम,
सी, राइजक्टोनिया, फ्यूजेरियम, ओला,

ह गलन के लक्षण स्पष्ट होते हैं। पत्तियों
पद गलन अवस्था ज्यादा देखी गयी है।
श्चमी बंगाल, पंजाब एवं हरियाना राज्यों

पहले ही मर जाते हैं। काले से गहरे भूरे
पर बीजांकुर के बाहर आते ही दिखायी
न हो जाती है तथा बहुत अधिक प्ररोहण

ब्बे दिखाई देते हैं। ये धब्बे आपस में
न बनाते हैं। इन धब्बों की आकृति एवं
रूप से होता है तो सम्पूर्ण पौधा झुलसा
र भूरे रंग का होता है जिसमें कोनिडियो-
पाते हैं तथा दाने जो बनते हैं वह हल्के

and life cycle)—यह रोग हेल्मिंथो-
उत्पन्न होता है जिसकी लैंगिक अवस्था
us sativus) है।

trum

कोथेसिओइड्स H. acrotheciodes Lindf.
स्पिकुअम H. inconspicuum Peck.
किनिएनम H. sorokinianum Sacc.
रिस सोरोकिनिएनम Bipolaris soro-
m shoemaker.
सोरोकिनिएनम Drechslera soro-
um (sacc) subram. and Jain.

(6) कोकलिग्रोबोलस सेटाइवस (Cochliobolus sativus) Ito and kurib Drechs ex Dastur

कवकजाल जैतुनी से काला पट एवं शाखा युक्त होता है। अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है जो कोनिडियोफोर के सिरे पर बनते है। कोनिडियोफोर सीधे प्रान्तरिक कवकतन्तुओं से उत्पन्न होते हैं जो पत्तियों की निचली सतह पर एक या दो, कभी-कभी तीन के गुच्छे मे रन्ध्रों द्वारा बाहर ग्रा जाते है। ग्राधार के उतक फूले हुए तथा गहरे जैतुनी होते हैं। कोनिडिया कुछ या अधिक मुडे हुए, मोटी भित्ति के लाल से गहरे जैतुनी भूरे 1 से 10 पट युक्त एवं बीच से चौड़े होते हैं। हवा द्वारा उडकर उचित पोषक मिलने पर अकुरनाल द्वारा अंकुरित होते है। कोनिडिया का अंकुरण केवल शीर्ष के उतको से होता है (Drech sler, 1923, 24)।

लैंगिक अवस्था का पता इटो एवं कुरीबैयशी (Ito and kuribayshi) ने लगाया। पेरीथिसीया (Perithecia) काली से भूरी फ्लास्क जैसी ग्राकृति की ऑस्टिग्रोलेट (ostiolate) 340–470×370–530 माइक्रोन की होती है। एस्कस बहुत अधिक तकुरूपी (fusiform) या बेलनाकार, शीर्ष से गोलाकार तथा उसमें 4 से 8 एस्कोबीजाणु होते है। एस्कोबीजाणु रंगहीन 160–360×6–9 माइक्रोन के होते हैं। इनका अंकुरण जनित नलिका द्वारा होता है।

वार्षिक ग्रावर्तन (Annual recurrence)—यह मृदूढ एवं बाह्य बीजोढ (externally seed borne) रोग है। रोग ग्रसित पौधो के अवशेषों मे यह फफूंद कवकजाल के रूप में जीवित रहती है। बीजांकुर (seedling) एवं मुकुट (crown) का संक्रमण बीज द्वारा होता है। द्वितीयक संक्रमण कोनिडीया द्वारा होता है।

पूर्व वृत्तिक कारक (Pre disposing factors)—तापक्रम एवं नमी का इस रोग की वृद्धि तथा संक्रमण पर बहुत असर पडता है। मिश्रा के अनुसार बीजांकुर अंगमारी के लिए 30° सें. तापमान तथा 90% ग्रापेक्षिक ग्राद्रता सुग्राही है। पत्तियों पर संक्रमण 28° पर सबसे अधिक होता है तथा रोग की बढवार 22° सें. पर सबसे अधिक होती है। कमजोर पौधों पर इस रोग का अधिक असर होता हैं। मिश्रा (1979) ने इस फफूंद के 5 प्रभेद HS 1, HS 2, HS 3, HS 4, HS 5 बताये जिनमें प्रभेद HS 1 सबसे अधिक संक्रामक एवं HS 5 सबसे कम संक्रामक था। प्रभेद HS 1 से धान, बाजरा, इलूसिन कोरकेना, पेस्पायम स्क्रोबिकलेटम, पेनीकम-मिलीग्रासीयम ग्ररग्रोस्टीस टेनेला एवं ग्र इन्टरप्टा भी प्रभावित पाये गये। नीमा एवं जोशी (1973) ने बताया इस फफूंद से उत्पन्न धब्बा दाग रोग से छोटे पौधे कम प्रभाव्य रहते है जबकि पुष्पण अवस्था के बाद सबसे प्रभावशील रहते हैं। दूरीनिना एवं विलिकनाव (Durynina and Vilikenov, 1974) ने बताया इस रोग का प्रभाव फास्फोरस एवं पोटाश के प्रयोग से कम होता है जबकि केवल नत्रजन देने से सबसे अधिक होता है।

रोकथाम (control)—

1. रोग ग्रसित पौधो के अवशेषो को एकत्र कर नष्ट कर देना चाहिए।
2. एग्रोसन जी एन. या सेरेसन (0.3%) से बीजोपचार करने से बीज जनित संक्रमण नष्ट हो जाता है।
3. 15 दिन देर से बुवाई करने पर रोग का प्रकोप कम होता है क्योंकि अधिक भूयन तापक्रम नहीं रह पाता है।
4. 2–3 वर्ष का फसल चक्र अपनाना चाहिए।
5. रोग प्रतिरोधी किस्मे काम मे लानी चाहिए। निमा एवं जोशी (1971) ने बताया पत्ती धब्बे रोग का सोनारा 64, एस. 227 पर सबसे कम तथा एन.पी. 884, 852 तथा लेरमा रोजों पर सामान्य रूप से प्रकोप होता है। सोनारा 64 पर मुश्किल से 3% नुकसान था जबकि एस. 227 पर 20.3% नुकसान पाया गया।

है॰ टेटरामेरा—इस फफूंद का वर्णन सवप्रथम मेककिनी (Mc. Kinney) ने गेहूँ पर 1924 मे किया।

इस रोग से प्रभावित पौधो मे बीजांकुर पर अंगमारी के लक्षण दिखायी देते हैं तथा बाद मे पत्तियाँ पीली पड़कर बीजांकुर पूर्ण रूप से सूख जाते हैं। जब ऐसे पौधों को उखाड कर देखें तो भूरी विवर्णन (discolouration) मुकुट के हिस्से पर दिखायी देते है। मिश्रा एव मुनाकमी (1967) ने बताया कि फफूंद से पदगलन के लक्षण भी उत्पन्न हो सकते हैं।

कवकजाल पटयुक्त 3.75 से 7.5 माईक्रोन व्यास का होता है। कोनिडियोफोर गहरे जैतुनी से भूरे, साधारण शाखा युक्त होते है। कोनिडिया 4 कोशिका के गहरे जैतुनी से भूरे, नियमित आकृति के 30–34 × 102–13.6 माइक्रोन के होते हैं इनका अंकुरण अनिततलिका द्वारा होता है।

बीजाणुओ के अंकुरण के लिए 30° सें. तापक्रम एवं 4.3 से 10.3 पी.एच. मान अनुकूलतम है।

हे. केटेनेरियम—इस फफूंद का वर्णन सर्वप्रथम भारत मे मिश्रा एवं सिंह (1971) ने किया। इस रोग का प्रभाव दो माह की फसल पर अधिक होता है। पत्ती अंगमारी के लक्षण मुख्यत. इस फफूंद से उत्पन्न होते है। पत्तियो पर छोटे, हल्के भूरे रग के 1 × 0.5 मि.मी. आकृति के धब्बे बनते है जो कि धीरे-धीरे बढ़कर 8 × 2.5 मि मी. के हो जाते है।

कोनिडियोफोर साधारण पर्णरन्ध्रो से अकेले या 2 के जोड़े मे बाहर आते हैं। ये हल्के जैतुनी रग के 68.64–349.44 माइक्रोन लम्बे तथा 7.8–9.36 माइक्रोन चौड़े 4 से 13 पटयुक्त होते है। कोनिडिया उप रंगहीन (sub hyaline) पीले रग के, 43 68–134 16 माइक्रोन लम्बे तथा 9.36–15.60 माइक्रोन चौड़े,

2 से 9 पट युक्त होते हैं (मिश्रा एवं सिंह, 1971)। इनका अंकुरण जनित नलिका द्वारा होता है।

इस फफूंद से गेहूँ के अलावा जौ, जई, धान, ज्वार, मक्का, बाजरा आदि फसलें भी प्रभावित होती हैं।

हे. स्पेसीफेरम (H. speciferum)—मेक्सिकन किस्मों के आने से गेहूँ मे यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण रोग उत्पन्न हुआ। सबसे पहले 1967 मे एस. 227 पर इस फफूंद का प्रकोप देखा गया। इसके कारण मुख्यतः पत्तियाँ ही प्रभावित होती है पत्तियाँ पीली पड़ने लगती हैं। शुरू में पत्ती के शीर्ष से आधार पर रोग का प्रसर बढ़ता है बाद में पत्तियो मे ऊतिक्षय के लक्षण उत्पन्न होकर पत्तियाँ मर जाती हैं। इस व्याधिजन का जड़ों की बढ़ावार पर भी प्रभाव पड़ता है तथा जड़ों की बहुत कम वृद्धि होती है। रोग ग्रसित पौधो की वृद्धि रुद्ध (stunted) तथा उनमें बहुत कम प्ररोहण (tillers) निकलते हैं। कृत्रिम रूप से संक्रमण करने पर बालियां भी रोग ग्रसित पायी गयी। दाने बहुत सिकुड़े हुए हल्के कम भरे हुए तथा कभी-कभी काले बिन्दु के लक्षण भी उत्पन्न होते है।

हेतुकी (Etiology)—यह रोग हेल्मियोस्पोरियम स्पेसीफरम (H. spiciferum) (Bains) Hicot नामक फफूंद के द्वारा उत्पन्न होता है। कवकजाल पटयुक्त रंगहीन तथा अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है।

वार्षिक आवर्तन (Annual recurrence)—रबी के मौसम में इस रोग का गेहूँ पर तथा खरीफ में मक्का एव ज्वार पर होता है। इस प्रकार यह व्याधिजन प्रकृति मे पूरे साल मौजूद रहता है और एक फसल से दूसरी फसल में हवा द्वारा चला जाता है। इसके अलावा रोग ग्रसित पौधो के अवशेषों मे भी यह फफूंद चिर-जीवित रहती है।

10–45° सें. पर इस रोग का प्रकोप हो सकता है 30° सें. अनुकूलतम तापमान है।

रोकथाम (Control)—

1. रोग ग्रसित पौधों के अवशेषों को एकत्र कर नष्ट कर देना चाहिये।
2. डायथेन जे.-78 (0·2%) का छिड़काव पौधो में रोग के लक्षण दिखाई देते ही करना भी बहुत लाभप्रद रहता है। 15 दिन के अन्तर पर तीन छिड़काव की आवश्यकता होती है। बुवाई से पहले बीजो को एग्रोसन या सेरेसन (0·2%) से उपचारित भी करना अच्छा रहता है।
3. रोग प्रतिरोधी किस्मे बोनी चाहिए। सिंह तथा सिंह (1971) ने बताया कि एच.डी. 1460, 1460-ए, 1470, 1557, 1559, 1638-ए, 1657, 1729, 1739, 1902, 1906, 1916, 1917, 1925, 1928-ए, 1933, 1949, 1950, 1951, 1956, 1958, 1960,

रोकथाम (control)—

1. रोग ग्रसित पौधों के अवशेषों को एकत्र कर नष्ट कर देना चाहिए।
2. एग्रोसन जी एन. या सेरेसन (0 3%) से बीजोपचार करने से बीज जनित संक्रमण नष्ट हो जाता है।
3. 15 दिन देर से बुवाई करने पर रोग का प्रकोप कम होता है क्योंकि अधिक न्यून तापक्रम नहीं रह पाता है।
4. 2–3 वर्ष का फसल चक्र अपनाना चाहिए।
5. रोग प्रतिरोधी किस्में काम में लानी चाहिए। मिश्रा एवं जोशी (1971) ने बताया पत्ती धब्बे रोग का सोनारा 64, एस. 227 पर सबसे कम तथा एन.पी. 884, 852 तथा लेरमा रोजो पर सामान्य रूप से प्रकोप होता है। सोनारा 64 पर मुश्किल से 3% नुकसान था जबकि एस. 227 पर 20 3% नुकसान पाया गया।

हे० टेटरामेरा—इस फफूंद का वर्णन सर्वप्रथम मेककिनी (Mc. Kinney) ने गेहूँ पर 1924 में किया।

इस रोग से प्रभावित पौधों में बीजांकुर पर अंगमारी के लक्षण दिखायी देते हैं तथा बाद में पत्तियाँ पीली पड़कर बीजांकुर पूर्ण रूप से सूख जाते हैं। जब ऐसे पौधों को उखाड़ कर देखें तो भूरी विवर्णन (discolouration) मुकुट के हिस्से पर दिखायी देते है। मिश्रा एवं मुनाकमी (1967) ने बताया कि फफूंद से पदगलन के लक्षण भी उत्पन्न हो सकते हैं।

कवकजाल पटयुक्त 3.75 से 7.5 माइक्रोन व्यास का होता है। कोनिडियोफोर गहरे जैतुनी से भूरे, साधारण शाखा युक्त होते हैं। कोनिडिया 4 कोशिका के गहरे जैतुनी से भूरे, नियमित आकृति के 30–34 × 102–13.6 माइक्रोन के होते हैं इनका अंकुरण जनितनलिका द्वारा होता है।

बीजाणुओं के अंकुरण के लिए 30° से तापक्रम एवं 4.3 से 10.3 पी.एच. मान अनुकूलतम है।

हे. केटेनेरियम—इस फफूंद का वर्णन सर्वप्रथम भारत में मिश्रा एवं सिंह (1971) ने किया। इस रोग का प्रभाव दो माह की फसल पर अधिक होता है। पत्ती अंगमारी के लक्षण मुख्यतः इस फफूंद से उत्पन्न होते है। पत्तियों पर छोटे, हल्के भूरे रंग के 1 × 0.5 मि.मी. आकृति के धब्बे बनते हैं जो कि धीरे-धीरे बढ़कर 8 × 2.5 मि.मी. के हो जाते है।

कोनिडियोफोर साधारण पर्णरन्ध्रों से अकेले या 2 के जोड़े में बाहर आते हैं। हल्के जैतुनी रंग के 68.64–349.44 माइक्रोन लम्बे तथा 7.8–9.36 माइक्रोन चौड़े 4 से 13 पटयुक्त होते है। कोनिडिया उप रंगहीन (sub hyaline) पीले रंग के, 43.68–134.16 माइक्रोन लम्बे तथा 9.36–15.60 माइक्रोन चौड़े,

2 से 9 पट युक्त होते हैं (मिश्रा एवं सिंह, 1971)। इनका अंकुरण जनित नलिका द्वारा होता है।

इस फफूंद से गेहूँ के अलावा जौ, जई, धान, ज्वार, मक्का, बाजरा आदि फसलें भी प्रभावित होती हैं।

हे. स्पेसीफेरम (H. speciferum)—मेक्सिकन किस्मों के आने से गेहूँ में यह बहुत ही महत्वपूर्ण रोग उत्पन्न हुआ। सबसे पहले 1967 में एस. 227 पर इस फफूंद का प्रकोप देखा गया। इसके कारण मुख्यतः पत्तियां ही प्रभावित होती है पत्तियां पीली पड़ने लगती हैं। शुरू में पत्तों के शीर्ष से आधार पर रोग का प्रसर बढ़ता है बाद में पत्तियों में ऊतिक्षय के लक्षण उत्पन्न होकर पत्तियां मर जाती हैं। इस व्याधिजन का जड़ों की बढ़ावार पर भी प्रभाव पड़ता है तथा जड़ों की बहुत कम वृद्धि होती है। रोग ग्रसित पौधों की वृद्धि रुद्ध (stunted) तथा उनमें बहुत कम प्ररोहण (tillers) निकलते हैं। कृत्रिम रूप से संक्रमण करने पर बालियां भी रोग ग्रसित पायी गयी। दाने बहुत सिकुड़े हुए हल्के कम भरे हुए तथा कभी-कभी काले बिन्दु के लक्षण भी उत्पन्न होते है।

हेतुकी (Etiology)—यह रोग हेल्मिथोस्पोरियम स्फेसीफरम (H. spiciferum) (Bains) Hicot नामक फफूंद के द्वारा उत्पन्न होता है। कवकजाल पटयुक्त रंगहीन तथा अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है।

वार्षिक आवर्तन (Annual recurrence)—रबी के मौसम में इस रोग का गेहूँ पर तथा खरीफ में मक्का एवं ज्वार पर होता है। इस प्रकार यह व्याधिजन प्रकृति में पूरे साल मौजूद रहता है और एक फसल से दूसरी फसल में हवा द्वारा चला जाता है। इसके अलावा रोग ग्रसित पौधो के अवशेषों में भी यह फफूंद चिरजीवित रहती है।

10–45° सें. पर इस रोग का प्रकोप हो सकता है 30° सें. अनुकूलतम तापमान है।

रोकथाम (Control)—

1. रोग ग्रसित पौधों के अवशेषों को एकत्र कर नष्ट कर देना चाहिये।
2. डायथेन जे.-78 (0·2%) का छिड़काव पौधो में रोग के लक्षण दिखाई देते ही करना भी बहुत लाभप्रद रहता है। 15 दिन के अन्तर पर तीन छिड़काव की आवश्यकता होती है। बुवाई से पहले बीजो को एग्रोसन या सेरेसन (0·2%) से उपचारित भी करना अच्छा रहता है।
3. रोग प्रतिरोधी किस्में बोनी चाहिए। सिंह तथा सिंह (1971) ने बताया कि एच.डी. 1460, 1460-ए., 1470, 1557, 1559, 1638-ए, 1657, 1729, 1739, 1902, 1906, 1916, 1917, 1925, 1928-ए, 1933, 1949, 1950, 1951, 1956, 1958, 1960,

रोकथाम (control)—

1. रोग ग्रसित पौधों के अवशेषों को एकत्र कर नष्ट कर देना चाहिए।
2. एग्रोसन जी एन. या सेरेसन (0.3%) से बीजोपचार करने से बीज जनित संक्रमण नष्ट हो जाता है।
3. 15 दिन देर से बुवाई करने पर रोग का प्रकोप कम होता है क्योंकि अधिक न्यूनतम तापक्रम नहीं रह पाता है।
4. 2–3 वर्ष का फसल चक्र अपनाना चाहिए।
5. रोग प्रतिरोधी किस्मे काम में लानी चाहिए। निमा एवं जोशी (1971) ने बताया पत्ती धब्बे रोग का सोनारा 64, एस. 227 पर सबसे कम तथा एन.पी. 884, 852 तथा लेरमा रोजों पर सामान्य रूप से प्रकोप होता है। सोनारा 64 पर मुश्किल से 3% नुकसान था जबकि एस. 227 पर 20.3% नुकसान पाया गया।

हे० टेटरामेरा—इस फफूंद का वर्णन सर्वप्रथम मेकिनी (Mc. Kinney) ने गेहूँ पर 1924 में किया।

इस रोग से प्रभावित पौधो में बीजांकुर पर अंगमारी के लक्षण दिखायी देते हैं तथा बाद मे पत्तियाँ पीली पड़कर बीजांकुर पूर्ण रूप से सूख जाते हैं। जब ऐसे पौधो को उखाड कर देखें तो भूरी विवर्णन (discolouration) मुकुट के हिस्से पर दिखायी देते है। मिश्रा एवं मुनाकभी (1967) ने बताया कि फफूंद से पदगलन के लक्षण भी उत्पन्न हो सकते हैं।

कवकजाल पटयुक्त 3.75 से 7.5 माईक्रोन व्यास का होता है। कोनिडियोफोर गहरे जैतुनी से भूरे, साधारण शाखा युक्त होते हैं। कोनिडिया 4 कोशिका के गहरे जैतुनी से भूरे, नियमित आकृति के 30–34 × 102–13.6 माइक्रोन के होते हैं इनका अंकुरण जनितनलिका द्वारा होता है।

बीजाणुओ के अंकुरण के लिए 30° से. तापक्रम एवं 4.3 से 10.3 पी.एच. मान अनुकूलतम है।

हे. केरेनेरियम—इस फफूंद का वर्णन सर्वप्रथम भारत में मिश्रा एवं सिंह (1971) ने किया। इस रोग का प्रभाव दो माह की फसल पर अधिक होता है। पत्ती अंगमारी के लक्षण मुख्यतः इस फफूंद से उत्पन्न होते हैं। पत्तियों पर छोटे, हल्के भूरे रग के 1 × 0.5 मि.मी. आकृति के धब्बे बनते है जो कि धीरे-धीरे बढ़कर 8 × 2.5 मि.मी. के हो जाते हैं।

कोनिडियोफोर साधारण पर्णरन्ध्रो से अकेले या 2 के जोडे मे बाहर आते है। ये हल्के जैतुनी रग के 68.64–349.44 माइक्रोन लम्बे तथा 7.8–9.36 माइक्रोन चौड़े 4 से 13 पटयुक्त होते है। कोनिडिया उप रंगहीन (sub hyaline) पीले रंग के, 43.68–134.16 माइक्रोन लम्बे तथा 9.36–15.60 माइक्रोन चौड़े,

3. रोग प्रतिरोधी किस्में बोनी चाहिये । लगभग सभी बोनी जातियां नोरटिनो 67, (norteno), कल्यान सोना, लेरमा रोजों 64 ए, सोनारा 64, तथा सी. 306 एवं 307 इस रोग से प्रभाव्य हैं । एस. 307 पर इस रोग का कम प्रभाव होता है ।

रोगकारक जीव—

सेप्टोरिया नोडोरम Septoria nodorum Berkley

से.ग्लयूमेरम S. glumarum Pass.

मेक्रोफोमा हेनबर्गी (Macrophoma hennbergi (Kiihn) Ber and Veg.

फोमा हेनबर्गी Phoma hennbergi Kiihn.

कवकजाल शाखाधारी, रंगहीन अन्तः कोशिक एवं अन्तकोशिय होता है। बीजाणुधानी से उत्पन्न कवकसूत्र (hyphal) से पिक्निडियम बनती है। एक स्ट्रोमेटिक केविटी (Stromatic Cavity) पर आमतौर से एक पिक्निडियम ही बनती है। पत्तियो पर पिक्निडिया दोनो तरफ बनती है परन्तु तुष-निपंत्र पर केवल ऊपर की तरफ ही बनती हैं। पिक्निडिया गोलाकार उपअधिस्तर, प्रारम्भ में पीली भूरी तथा बाद में गहरी भूरी ऑस्टियोलेट (Ostiolate), बीच से 35 माइक्रोन व्यास की तथा 31.5-170 माइक्रोन व्यास (अधिकतर 112-160 माइक्रोन) की होती है। पिक्निडिओबीजाणु रंगीन बेलनाकार या दीर्घवतीय, बहुत कम मुड़े हुये, 1 से 3 पटयुक्त 14 से 26×3 से 5 माइक्रोन (अधिकतर 21×3 माइक्रोन) के होते है। (चोना एवं मुन्जाल, 1952)।

पेरीथिसिया भी सूखी हुयी पत्ती तथा पर्णाच्छद आदि पर पिक्निडिया के साथ देखी गई हैं। पेरीथिसिया गोलाकार से उपगोलाकार, 85 से 120 माइक्रोन व्यास की ऑस्टियोलेट (ostiolate) होती है। ऐस्कस मुद्गराकार (clavate) 45 5 से 60×5-8 माइक्रोन की बारीक भित्ति की होती हैं जिसमें 8 ऐस्कोबीजाणु होते है। ऐस्कोबीजाणु रंगहीन जबकि परिपक्व नही होते है परन्तु परिपक्व होने पर पीले जैतुनी, 3 पटयुक्त, तर्कु आकार (spindle shape) के 15 से 20×3 से 4 माइक्रोन के होते हैं। (चोना एवं मुन्जल, 1952)।

राईजक्टोनिया फफूंद से उत्पन्न रोग

इस रोग का प्रकोप गेहूँ, धान, जई तथा कई प्रकार की घासों पर होता है। सक्सेना एवं कुमार (1971) ने बताया कि गेहूँ तथा धान के खेतो मे इससे सबसे अधिक नुकसान होता है।

लक्षण (Symptoms)—उत्तर प्रदेश मे राइजोक्टोनिया सोलेनाई (Rhizoctonia Solani) की गेहूँ पर दो प्रभेद (Strains) मिली हैं, एक से जड़ गलन,

1961, 1963 आदि इस रोग से प्रतिरोधी हैं। मेक्सिकन किस्में इससे बहुत प्रभाव्य है। एम. 227 पर बहुत अधिक प्रभाव देखा गया है।

सेप्टोरिया पत्ती दाग एवं तुष-निपंत्र दाग
(Septoria leaf blotch and glume blotch)

दो प्रकार के सेप्टोरिया दाग गेहूँ के ऊपर पाये जाते है—

1. पत्ती दाग (Leaf blotch)—यह रोग सेप्टोरिया ट्रिटिसाई ((Septoria tritici Rob.) नामक फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है।
2. तुष-निपंत्र दाग (Glume blotch)—यह रोग सेप्टोरिया नोडोरम (Septoria nodorum Berk.) फफूंद से उत्पन्न होता है। जिसकी लैंगिक अवस्था लेप्टोस्फिरिया नोडोरम (Leptosphaeria nodorum) है।

इन दोनो दाग में पत्ती दाग अधिक महत्त्वपूर्ण है। पत्ती दाग का प्रकोप उत्तर पश्चिम भाग मे तथा तुष-निपत्र दाग का प्रकोप दक्षिण भारत के पहाड़ी इलाको मे मुख्य रूप से होता है।

पत्ती दाग—पत्ती के नाडियो के मध्य सर्व प्रथम हल्के हरे से पीले दाग दिखाई पड़ते हैं। इन दागो मे निमज्जित (sub merged) भूरी पिक्निडिया बनती है, जिसके आधार पर इसकी पहचान की जा सकती है। संधिस्तम्भ (culm) पुष्प निपंत्र (floral bracts) एवं परिस्तर (pericarp)पर ये दाग अच्छी प्रकार दृष्टिगोचर नहीं होते हैं।

तुष-निपंत्र दाग—इसके फलस्वरूप मुख्यतः पुष्प निपंत्र (floral bracts) एवं संधिस्तम्भ (culm) के निस्पंद ऊतिका (nodal tissue) प्रभावित होते है। क्षत स्थल प्रारम्भ मे छोटे रेखाकार (linear) से दीर्घवृत्तीय, हल्के भूरे से गहरे भूरे रंग के 4 से 9 मि.मी लम्बे एव 2 से 3·5 मि.मी. चौडे दाग दिखाई देते हैं। बीजाणु पिक्निडिया एव कवकजाल रोगग्रसित पौधो के अवशेषो से बहुत अधिक समय तक अनुकूल वातावरण न मिलने पर बने रहते हैं। कवकजाल से बीजांकुर संक्रमण (seedling infection) होता है। (Machacek, 1945)। यह रोग बीजोढ़ भी है। निमज्जित पिक्निडियम (submerged pycnidium) कम ही देखी गई हैं।

रोकथाम (Control)—

1. फसल चक्र, खेत की स्वच्छता तथा गहरी जुताई करना इस रोग की रोकथाम के लिए लाभप्रद रहता है।
2. किसी भी कार्बनिक पारावर्गी फफूंद नाशी दवा से बीजोपचार करना चाहिए।

3. रोग प्रतिरोधी किस्में बोनी चाहिये । लगभग सभी बोनी जातिया नोरटिन्नों 67, (norteno), कल्यान सोना, लेरमा रोजो 64 ए, सोनारा 64, तथा सी. 306 एवं 307 इस रोग से प्रभाव्य है । एस. 307 पर इस रोग का कम प्रभाव होता है ।

रोगकारक जीव—

सेप्टोरिया नोडोरम Septoria nodorum Berkley

से.ग्लूमेरम S. glumarum Pass.

मेक्रोफोमा हेनबर्गी (Macrophoma hennbergi (Kiihn) Ber and Veg.

फोमा हेनबर्गी Phoma hennbergi Kiihn.

कवकजाल शाखाधारी, रंगहीन अन्त: कोशिक एवं अन्तकोशिय होता है । बीजाणुधानी से उत्पन्न कवकसूत्र (hyphal) से पिक्निडियम बनती है । एक स्ट्रोमेटिक केविटी (Stromatic Cavity) पर आमतौर से एक पिक्निडियम ही बनती है । पत्तियो पर पिक्निडिया दोनो तरफ बनती है परन्तु तुष-निपत्र पर केवल ऊपर की तरफ ही बनती हैं । पिक्निडिया गोलाकार उपअधिस्तर, प्रारम्भ मे पीली भूरी तथा बाद मे गहरी भूरी ओस्टियोलेट (Ostiolate), बीच से 35 माइक्रोन व्यास की तथा 31.5-170 माइक्रोन व्यास (अधिकतर 112-160 माइक्रोन) की होती है । पिक्निओबीजाणु रंगीन बेलनाकार या दीर्घवृत्तीय, बहुत कम मुडे हुये, 1 से 3 पटयुक्त 14 से 26×3 से 5 माइक्रोन (अधिकतर 21×3 माइक्रोन) के होते हैं । (चोना एव मुन्जाल, 1952) ।

पेरीथिसिया भी सूखी हुयी पत्ती तथा पर्णच्छद आदि पर पिक्निडिया के साथ देखी गई हैं । पेरीथिसिया गोलाकार से उपगोलाकार, 85 से 120 माइक्रोन व्यास की ओस्टियोलेट (ostiolate) होती है । ऐस्कस मुद्गराकार (clavate) 45.5 से 60×5-8 माइक्रोन की बारीक भित्ति की होती हैं जिसमे 8 ऐस्कोबीजाणु होते हैं । ऐस्कोबीजाणु रंगहीन जबकि परिपक्व नही होते है परन्तु परिपक्व होने पर पीले जैतुनी, 3 पटयुक्त, तर्कु आकार (spindle shape) के 15 से 20×3 से 4 माइक्रोन के होते है । (चोना एवं मुन्जल, 1952) ।

राईजक्टोनिया फफूंद से उत्पन्न रोग

इस रोग का प्रकोप गेहूँ, धान, जई तथा कई प्रकार की घासों पर होता है । सक्सेना एवं कुमार (1971) ने बताया कि गेहूँ तथा धान के खेतों मे इससे सबसे अधिक नुकसान होता है ।

लक्षण (Symptoms)—उत्तर प्रदेश में राइजोक्टोनिया सोलेनाई (Rhizoctonia Solani) की गेहूँ पर दो प्रभेद (Strains) मिले हैं, एक से जड गलन,

बढ़ावार का रुकना तथा बीजांकुर अंगमारी के लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसका प्रकोप खण्डकों (patches) में होता है तथा पत्तियाँ पीली पड़ जाती हैं एवं बाद में सूख कर मुड़ जाती हैं। पौधा कमजोर होकर नष्ट हो जाता है तथा पौधा देरी से परिपक्व होता है एव उपज भी कम होती है। जड़ों मे ऊतिक्षय के लक्षणों से लेकर प्राथमिक एवं द्वितीयक जड़ों का तन्त्र (System) सड़ जाती है। इन सड़े हुए ऊतकों में कवक-जाल मौजूद रहता है। इस रोग का बहुत ही अधिक प्रकोप होता है तथा बहुत अधिक फैला हुआ है। 25% तक बीजांकुर इसमें नष्ट हो जाते हैं। कई खेतों में तो जहाँ गहन कृषि (inten sive Cultivation) होती है वहाँ कोई बढ़ावार (growth) पौधे के खण्डको (patches) मे नहीं देखी जाती तथा जल्दी-जल्दी बीजांकुर भी मर जाते हैं (सक्सेना एवं कुमार, 1971)।

दूसरी प्रभेद तीक्ष्ण (sharp) आँखों जैसे धब्बे भ्रूणाग्रचोल (Coleoptile) पर उत्पन्न करती हैं परन्तु यह प्रभेद अधिक नही पाई जाती है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and Life cycle)—यह रोग राइजक्टोनिया सोलेनाई (Rhizctoniasolani küihn) फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है। कोरटीशियम (corticium) एव पेलीकुलेरिया (Pelli cularia) की अवस्था अधिकतर नहीं पाई जाती है। कवकजाल पटयुक्त भूरे रंग का होता है। गहरे धूसर से काले रंग के अनियमित आकृति के कठ बीजाणु (Sclerotia) ग्रसित जड़ों मे नहीं पाये जाते हैं परन्तु पर्णछंद की ऊतिकाओं में मौजूद रहते हैं। अंकुरण होने पर कवकजाल उत्पन्न करते हैं।

पूर्ववृतिक कारक (Predisposing fectors)—कम नम भूमि 10% मृदु जल धारिता (field capacity) तक तथा 30° सें. या इससे अधिक तापक्रम गड़गलन तथा बीजांकुर अंगमारी के लिए सुग्राही है यह मृदूढ़ (soil borne) रोग है।

रोकथाम (control)—ब्रेसीकोल (P.C.N.B.) के 0·25% घोल को ग्रसित खण्डकों (patches) में मिलाने पर इस रोग का असर कम हो जाता है इसके अलावा भूमि में जल निकास तथा उचित मात्रा मे खाद का प्रयोग करना लाभप्रद रहता है।

2. रोग प्रतिरोधी किस्मे बोनी चाहिये। के. 65, कल्यान सोना, सोनारा 64 इस रोग से बहुत अधिक प्रभावित होती हैं जबकि लाल बहादुर, यू.पी. 301 पर बहुत कम असर होता है तथा एस. 308, एस. 227, के. 68 तथा एच.डी.1553 सामान्य किस्में हैं।

Agrios, G. N. (1969) Plant Pathology. Academic Press New York, 629 pp

Ahmad, S.T. (1968) A possible control of wheat rusts through hyperparasite. First Summer Institute in Plant disease

control, 15th May to 8th June, 1968, I.P.S : 80-81.

Ahmad, S.T. and Sheodhan Singh (1969) Addition to the wheat rusts races in India: Races 12 and 61 of the Puccinia recondita indentified during 1966. Indian Phytopathology 22 (4) : 524.

Ahmad, S.T., Sheodhan Singh and D.P. Misra (1967) Addition to the wheat rusts races in India : Races 14 and 38 of P. striiformis indentified during 1965. Indian Poytopathology 22 (4) : 522-523.

Ainsworth, G.C. and Kathleen Sampson (1950) the Bristish Smut Fungi (Ustiliaginales). The Common wealth Mycological Institute, Kew, Surrey, England.

Allen, P.J. (1955) The role of self in hibitors in the germination of uredospous Phytopathology.45:259-266.

Allen, P.J. and D.R. Goddard (1938) A respiratory study of Powdery mildew of Wheat. Amer J. Bot 25 : 613-621.

Allen, Ruth F, (1930) A Cytological study inheterothallism in Puccinia graminis. Jour. Agr. Res. 40 : 585.

............(1931) Heterothallism in Puccinia triticina. Science 74 : 462-463.

Ambastha, H.N.S. (1955) Environments and bunt infection. Proc. Bihar. Acad. Agric. Sci. 4 : 79-85.

Arthur, J.C. (1929) The Plant rusts (Uredinales).
John Willey and sons, New York.

Arya, H.C. (1962) : Studies on the Physiologic specialization and varietal reaction of wheat to powdery mildew in India. Indian Phytopathology. 15 : 127-132.

.........(1964) : On the Physiology of ascospore formation in powdery mildew of wheat : Indian Phytopathology 17 : 27-34.

.........& M.S. Chemawat (1953) Occurence of powdery mildew of wheat in the neighbourhood of Jodhpur, Indian Phytopathology 6 : 123-130.

Augla, S.S. Y.R. Sharma and G.S. Narida (1979 Estimation of losses in Yeild due to rust in high yielding varieties of wheat in the Punjab. Indian Phytopath 32 : 171.

Bakshi, B.K. (1951, Seedling blight and foot rot of Cereals causes by Fusarium avenaceum (Fr.) Sacc. and F. Culmo-

बढ़ावार का रुकना तथा बीजांकुर अंगमारी के लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसका प्रकोप खण्डकों (patches) में होता है तथा पत्तियाँ पीली पड़ जाती हैं एवं बाद में सूख कर मुड़ जाती हैं। पौधा कमजोर होकर नष्ट हो जाता है तथा पौधा देरी से परिपक्व होता है एव उपज भी कम होती है। जड़ों में क्षतिक्षय के लक्षणों से लेकर प्राथमिक एवं द्वितीयक जडों का तन्त्र (System) सड़ जाती है। इन सड़े हुए उत्तकों में कवक-जाल मौजूद रहता है। इस रोग का बहुत ही अधिक प्रकोप होता है तथा बहुत अधिक फैला हुआ है। 25% तक बीजांकुर इसमें नष्ट हो जाते हैं। कई खेतों में तो जहाँ गहन कृषि (inten sive Cultivation) होती है वहाँ कोई बढ़ावार (growth) पौधे के खण्डकों (patches) में नहीं देखी जाती तथा जल्दी-जल्दी बीजांकुर भी मर जाते हैं (सक्सेना एवं कुमार, 1971)।

दूसरी प्रभेद तीक्ष्ण (sharp) आँखों जैसे धब्बे भ्रूणाग्रचोल (Coleoptile) पर उत्पन्न करती हैं परन्तु यह प्रभेद अधिक नही पाई जाती है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and Life cycle)—यह रोग राइजक्टोनिया सोलेनाई (Rhizctoniasolani kiibn) फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है। कोरटीशियम (corticium) एवं पेलीकुलेरिया (Pelli cularia) की अवस्था अधिकतर नही पाई जाती है। कवकजाल पटयुक्त भूरे रंग का होता है। गहरे भूसर से काले रंग के अनियमित आकृति के कठ बीजाणु (Sclerotia) ग्रसित जड़ों में नहीं पाये जाते हैं परन्तु पर्णछंद की ऊतिकाओं में मौजूद रहते हैं। अंकुरण होने पर कवकजाल उत्पन्न करते हैं।

पूर्ववृतिक कारक (Predisposing fectors)—कम नम भूमि 10% मृदु जल धारिता (field capacity) तक तथा 30° सें. या इससे अधिक तापक्रम जड़गलन तथा बीजांकुर अंगमारी के लिए सुग्राही है यह मृदूढ़ (soil borne) रोग है।

रोकथाम (control)—ब्रेसीकोल (P.C.N.B.) के 0·25% घोल को ग्रसित खण्डकों (patches) में मिलाने पर इस रोग का असर कम हो जाता है इसके अलावा भूमि में जल निकास तथा उचित मात्रा में खाद का प्रयोग करना लाभप्रद रहता है।

2. रोग प्रतिरोधी किस्मे बोनी चाहियें। के. 65, कल्यान सोना, सोनारा 64 इस रोग से बहुत अधिक प्रभावित होती है जबकि लाल बहादुर, यू.पी. 301 पर बहुत कम असर होता है तथा एस. 308, एस- 227, के- 68 तथा एच.डी.1553 सामान्य किस्मे हैं।

Agrios, G. N. (1969) Plant Pathology. Academic Press New York, 629 pp.

Ahmad, S.T. (1968) A possible control of wheat rusts through hyperparasite. First Summer Institute in Plant disease

control, 15th May to 8th June, 1968, I.P.S : 80-81.

Ahmad, S.T. and Sheodhan Singh (1969) Addition to the wheat rusts races in India: Races 12 and 61 of the Puccinia recondita indentified during 1966. Indian Phytopathology 22 (4) : 524.

Ahmad, S.T., Sheodhan Singh and D.P. Misra (1967) Addition to the wheat rusts races in India : Races 14 and 38 of P. striiformis indentified during 1965. Indian Poytopathology 22 (4) : 522-523.

Ainsworth, G.C. and Kathleen Sampson (1950) the Bristish Smut Fungi (Ustiliaginales). The Common wealth Mycological Institute, Kew, Surrey, England.

Allen, P.J. (1955) The role of self in hibitors in the germination of uredospous *Phytopathology.45:259-266.*

Allen, P.J. and D.R. Goddard (1938) A respiratory study of Powdery mildew of Wheat. Amer J. Bot 25 : 613-621.

Allen, Ruth F, (1930) A Cytological study inheterothallism in *Puccinia graminis. Jour. Agr. Res. 40 : 585.*

............(1931) Heterothallism in Puccinia triticina. Science 74 : 462-463.

Ambastha, H.N.S. (1955) Environments and bunt infection. *Proc. Bihar. Acad. Agric. Sci. 4 : 79-85.*

Arthur, J.C. (1929) The Plant rusts (Uredinales).
John Willey and sons, New York.

Arya, H.C. (1962) : Studies on the Physiologic specialization and *varietal reaction of wheat to powdery mildew in* India. Indlan Phytopathology. 15 : 127-132.

.... (1964) : On the Physiology of ascospore formation in powdery mildew of wheat : Indian Phytopathology 17 : 27-34.

.........& M.S. Chemawat (1953) Occurence of powdery mildew of wheat in the neighbourhood of Jodhpur, Indian Phytopathology 6 : 123-130.

Augla, S S. Y.R. Sharma and G.S. Nanda (1979 Estimation of losses in Yeild due to rust in high yielding varieties of wheat in the Punjab. Indian Phytopath 32 : 171.

Bakshi, B.K. (1951, Seedling blight and foot rot of Cereals causes by *Fusarium avenaceum (Fr.) Sacc. and F. Culmo-*

rum (W.G. Smith) Sacc. Indian Phytopathology 4 : 162-169.

Basant Ram and L.M. Joshi (1978) Spray schedule of fytolan for leaf blight of Wheat and its effect on yield component Indian Phytopathology 31 : 348-351.

Batts, C.C.V. (1955), Infection of Wheat by loose Smut.

Ustilago tritici. Nature (London) 175 : 467-468.

Beatrice Sankhla, H.C. Sankla GG. Dalela and R.L. Mathur (1972) Evalu- ation of fungicides against blight disease of wheat caused by Alternaria tritcina Indian Phytopathology. 25 : 210-214.

Bedi, K.S. (1957) : Further studies on the control of loose smut of wheat in Punjab.

Indian Phytopathology 10 : 133-137.

Bedi K.S. and Gurdip Singh (1972) Studies on Varietal resistance to barley to covered smut in Punjab. Indian Phytopath 25 : 101-103.

Bedi, K.S. M.R. Sikka and B.B. Mundkur (1949).

Transmission of wheat bunt due to Neo-vossia (Indica) (Mitra) Mundkur. Indian Phytopathlogy 2 : 20-26.

Bhadkamkar, V.B., M.K. Desai, and N.B. Kulkarni (1965) Alternaria blight of wheat in Maharashthra state, India, Sydowia 14 : 247-249.

Borlaug, N.E. (1965) Wheat rust, and people. Phytopathology 55 : 1088-1998.

Breassman, E.N. (1941) Physiologic forms of bunt of wheat and varietal resistance. Phytopathology 21 : 108.

Bridgmon, G.H (1957). The production of new races of Puccinia graminis tritici by hyphal fusion on Wheat Phytopathology 47 : 517.

Butler, E.J. (1918) Fungi and diseases in Plants.

Thacker Spink & Co., Calcutta, India.

Butler E.J. and G.R. Bisby (1931) Fungi of India Scientific monogr. Imp. Council Agric Res. India I.

Butler E J. and J.M. Hayman (1906) Indian Wheat rusts. Mem. Dep. Agri. India.

Chatrath, M.S. (1968) Loose Smut of Wheat and control.
First Summer Institute in Plant disease Control, 15th May to 8th June, 1968 I.P.S. 78-79.

Chatrath, M.S. and Madan mohan (1971) Control ot loose smut of wheat with a derivative of benzimidazole. Indian Phytopath. 24 : 174-175.

Cherwick, W.J. (1944) Studies on the biology of Chenulu, VV A Singh and L.M. Joshi (1967) Estimation of losses due to • Alternaria blight of wheat caused by Alternaria triticina : Abstr. Intern. Symp. Pl. Pathology, New Del. P. 4

Erysipha graminis DC. Can J. Res. C. 22 : 52-86.

Cherwick, W.J. and W. Popp (1950) A modification of Moore's method of inoculating wheat and barley with loose smut. Phytopathology 40 : 1054-1056.

Chester , K.S. (1946) The nature and Prevention of the cereal rusts as exemplified by the leaf rust of wheat. Chronica Chronica Botanica Co., Waltham, Mass; U S A.

Chona, B.L. and R.L. Munjal (1952) Glume blotch of wheat in India. Indian Phytopathology 5 : 17-20.

Crosier, W. and M. Szkolnik (1956) Sulphur, karathone and Actidione for control of powdery mildew of wheat. Plant disease Reporter 40 : 337-339.

Cragie, J.H. (1927) Experiments on Sex in rust fungi Nature 120 : 116-117.

.... (1927a) Discovery of the function of Pycnia of the rust fungi Nature 120 : 765-767.

...........(1928) on the occurrence of Pycnidia and accia in certain rust fungi, Pythopathology 18 : 1003-1005.

...........(1931) An experimental investigation of sex in the rust fungi. Phytopathology 21 : 1001-1037.

Daly, J.M. (1949) The influence of nitrogen source on the development of rust of wheat. Phytopathology. 51 : 461-471.

Dastur, J.F. and B.P. Pal (1947) : Wheat Rusts and their control : Science and culture 13 : 91-98.

Dickson, J.G. (1959) Chemical control rusts Botan. Rev 25 : 486-513.

Pathak, R.D. aud L.M. Joshi (1972) Chemical control of Powdery mildew of wheat. Indian Phytopath 25, 1 : 139-140.

Patil B.P. and V.P. Bhide (1962) occurrence of race 11 of Puccinia graminis tritici in Maharashtra. Indian Phytopathology 15 : 220-221.

Patil B.P., M.L. Mutkeker and M. Sulaimau (1963) on the occurrence of biotype 117-A of Puccinia graminis tritici in India. Indian Phytopath. 16 : 244-245.

Payak. M.M. and L.M. Joshi (1967) Some taxonomic consideration on Bargeris aecidia. Plant diseases problems Proceedings of the first International symposium on Plant Pathology Dec. 26, 66 to Jan, 1, 67. Indian Phytopath. Soe. New Delhi. Payak, M.M. (1965) : on two unrecorded races and new biotype of Puccinia recondita. Indian Phytopathology 18 : 25-27.

Peglion, V. (1930) La form a ziona dei Conidi e la germinazione delle cospore delle Sclerospore macrospore Sacc. Bol. R. Staz. Pat. Veg. (N.S.) 10 : 153-164.

Peltier, G.L. (1916) Parasitic Rhizoctonia in America. III Agr. Exp. Sta. Bull. 189.

Peterson, R.F. (1931) Stomatal behaviour iu relation to breeding of wheat for resistance to stem rust. Sci. Agri. 12-155-173.

Popp, W (1951) Infection in seeds an seedlings of wheat and barley in relation to development of loose smut. Phytopathology 41 : 261-275.

.... (1959) A new appoarch to the embroyo test for predicting loose smut of wheat in adult plants. Phytopathology 49 : 75-77.

Powelson, R.L. and G.E. Shaner (1966) An effective chemical seed treatment for systemic control of seedling infection of wheat by stripe rust (Puccinia striformis). Plant Disease Reptr. 50 : 806-807.

Prabhu, AS. V. Rajendran and R. Prasada (1962) : Moisture requirement for the germination of conidia of Erysiphe graminis tritici E. Marchel. Indian phytopathology. 15 : 280-286.

Prabhu, A.S. and R. Prasada (1963) : Physiologic races of wheat powdery mildew in Simla and Nilgiri Hills. Indian Phytopathology. 16 : 201-204.

Prabhu, AS. and R. Prasada (1966) : Pathological and epidemiological studies on leaf blight of wheat caused by Alternatia triticina. Indian Phytopatho- logy 19 : 95-112.

.... (1967) · Investigations on the leaf blight disease of wheat caused by Alternaria triticina. Abstr. Ist Intren. Symp. Pl. Pathology, New Delhi pp 3-4.

Prasada R. (1947) : Reaction of certain varieties of Hordeum to Indian Physiologic races of Puccinia triticina. J Ind. Bot. Sci. 26 : 231-219.

— .... (1947) : Discovery of uredo stage connected with accidia so commonly found in species of Barberis in the Simla Hills: Indian J. Ag. Sci. 17 : 137-151.

....(1948) studies on the formation and germination of teliospores in rust. Indian Phytopathology 1 : 119.

.... (1948a) : Studies on rust of some wild grasses occuring in the neighbourhood of Simla. Indian. J. Ag. Sci. 18 : 165-176.

— ....(1951) ; Rusts of wild grasses. Curr. Sci. 20 : 243.

— ....(1960) : Our Fungal foes; Presidental address Section of Agri. Sciences, Indian Science Congress Association, combined 51st and 52nd session Calcutta, 1964-65.

....(1968). Alternaria blight of wheat a menance to wheat cultivation. First summes Institute in plant Disease control, 15th May to 8th June, 68 I.P.S. 75:

.........(1970) : Flag Smut of wheat. IX Wheat workshop New Delhi.

..............& A.S. Prabhu (1962) : Leaf blight of wheat caused by a new specses of Alternaria. Indian Phytopatholcgy. 14 : 292-293.

— ....and L.M. Joshi (1961) : Race 122 of black Rust a ■ Source of potential danger in India. Indian Phytopathology. 14 : 23-25.

.........and V.C. Lele (1952) : New Physopathology. 5 : 128-129.

....and K.R. Srikantaih (1956) : Indentifiication of biotoypes within physiologic races of wheat stem rust. Indian Phytopathology. 9 : 209-211.

.... S.K. Sharma and Madan Mohan (1965) : A Virulent biotype of physiologic race 107 of brown rust of wheat, Puccinia recondita Robex Desm. Indian Phytopathology. 18.

....V.C. Lele, L.M. Josht' S. Singh, M.M. Payak, D.P. Misra, G. Swarup, E.B. Goel, G.Krishna and S.K. Sharma (1966) : occurrence of Physiologic races of wheat and barley rust in India during 1957-62. Indian Phytopathology. 19 : 45.

Purdy L H (1965) Flag Smut of wheat. Botan. Rev. 31 : 565-606.

Rao, M.H. and V,C Lele (1952) : A new sub. biotype of race 21 of rust of wheat in India. Indian Phytopathology 15 : 184-185.

Roden hiser, H.A. and C.S. Holton (1945) Distribution of races of Tilletia Caries and T. foetida and their relative virulence on certain varieties and selections of wheat. Phytopathology 35 : 955-969.

Rowell, J.B. (1967) Control of leaf and stem rust of wheat by an 1, 4-Oxathin derivatives, Plant Dis. Reptr. 51 : 336-339.

Sadasivan Nair, K R. and T.H. Ellingobe (1962) Time, temperture, humidity and Primary infection of Erysiphe graminis tritici. Phytopathology 52 . 26.

.. ..(1965) Germination of conidia of Erysiphe graminis f. p. tritici. Phytopathology 55 (3) 370-371.

Salmon, E.S. (1900) A monograph of Elysiphaceae. Mem Torry. Botan. Club. 9-192.

Waston, I.A. (157) Further studies on the production of new races from mixtures of races of Puccinia graminis tritici on wheat seedlings. Phytopathology 47 : 510-12.

.. ..(1958) Somatic hybridization in Puccinia graminis Var. tritici. Proc. Lin. Soc. N.S. Wales 83 : 190-195.

Sahni, M L. and R. Prasada (1963) : A study of the environmental conditions influencing the development of the three

rusts of wheat in the neighbourhood of Delhi. Indian Phytopathology 16 : 285-300.

Salmon, E.S. (1900) A monograph of the Erysiphaceal Mem Torrey Baton. Club 9 : 1-192.

Somborski, D.J. and M. Shaw (1956) The Physiology of host parasite relations II The effect of Puccinia graminies tritici Eriks and Henn on the respiration of the first leaf of resistant and suscapteble species of wheat. Con. J. Bot 34 . 601-619.

Sarri, Eugene, E. (1968) The use of Physiologic specialization in rusts as a tool for Pathological studies. First Sumner Institute in Plant Disease control, 15th May to 8th June, 1968 I.P.S. 79-80.

Sharma, S.K. and D P. Misra (1965) : Mutation in race 107 of 18 : 363-366.

Sharma S.K. and R. Prasada (1869) : Production of new races. of Puccinia graminis var. tritici from mixture of wheat seedlings. Australian Journal of Agri. Resi. 20 : 981-5.

..............(1970) Somatic recombination in leaf rust of wheat caused by Puccinia recondita. Rob. ex. Desm. Phytopathology 67 ; 240-249.

Sharma S.K., S. Singh, L.B. Goel, S.K. Nayar and S.C. Chatterjee (1979) performance of Wheat Cultivars against Powdery Mildew. Indian Phytopathology. 32 : 137-138.

Sharp E.L. (1965) Pre penetration and post penetration enviornment and development of Puccinia striformie on-wheat. Phytopathology 55 : 198-203.

Singh, B.K. and R.S. Mathur (1972) controlling brown rust of wheat with zineb and dithane S-31 with minimal dose and intercal of spraying. Indian Phytopathology 25 : 125-127.

Singh R.S. (1968) Plant Diseases 2nd ed oxford and I BH Publishing Co., Calcutta 494. pp.

Singh S. (1952) : A virulent biotype of race 34 of Puccinia graminis var tritici Erikss and Henn in India. Indian Phytopathology. 15 : 162-163.

Singh, S. aud Amar Singh (1938) Helminthosporium blight of wheat and its control. First summer Institute in Plant disease control. 15th May to 8th June, 1968, I.P.S. 76.

Wilcoxson, R.D. (1958) A Study of penetration by Puccinia graminis Var. tritici, Diss. Abstr. 18 : 1204-1205.

Wilson, M. and D.M. Henderson (1966) British rust Fungi Cambridge University Press.

Wu, Y.S. (1949) Temperature and Cultural Studies on Urocystis tritici, Can. J. Res. 27 : 66-72.

Yarwood, C.E. (1945) Copper Sulphate as an eradicant spleray for powdery mildews. Phytopathology. 35 : 895-909.

Yu, T.F. (1945) Varietal resistance and suscaptability of wheat to flag smut, IV. Further Studies on Physiologic specialization in Urocystis tritici Phytopathology 35 : 332-338

Zundel, G.L. (1953). The Ustilaginales of the world. Pennsylvania State. Coll., Dep. Bot. Contrib. No. 176.



(ख) जौ के रोग
(Diseases of Barley)

रबी मे उगाये जाने वाले खाद्यान्नो मे जौ का प्रमुख स्थान है। जौ की खेती लगभग 26 लाख हेक्टेयर मे की जाती है जिससे अनुमानतः 26 लाख टन अनाज पैदा होता है। अनुकूल परिस्थितियां उपलब्ध होने के कारण इसकी खेती देश के उत्तरी राज्यों मे प्रमुखतः होती है। प्रमुख उगाये जाने वाले राज्य उत्तर-प्रदेश, राजस्थान एवं बिहार हैं ? जिन स्थानों पर गेहूं की फसल को सफलता पूर्वक उगाना मुश्किल है वहां भूमि तथा अपर्याप्त सिचाई सुविधाओं को ध्यान में रखते हुये इसकी खेती करना संभव है। अन्य फसलों की भांति इस फसल पर भी कई प्रकार के रोग लगते हैं, जिनमे से कुछ महत्त्वपूर्ण हैं। इन रोगो के फलस्वरूप फसल का लगभग 10–15 प्रतिशत भाग नष्ट हो जाता है। फफूंदियों से लगने वाले रोग इस प्रकार हैं:—

(1) किट्ट (Rust)
(2) अनावृत्त कण्ड (Covered Smut)
(3) छिदरा/शलथ कण्ड (Loose Smut)
(4) चूर्णिल आसिता (Powdery Mildew)
(4) हैल्मिथोस्पोरिओज (Helminthosporiose)
(6) धारी रोग (Stripe disease)
(7) पदगलन एवं स्फोट ब्लोच (Foot rot and spot blotch)
(8) फ्यूजेरियम अंगमारी (Fusarium blight) आदि।

इन सभी रोगों के बारे में विस्तृत रूप से वर्णन किया जा रहा है।

जौ के किट्ट
(RUSTS OF BARLEY)

जौ की फसल पर तीन प्रकार के किट्ट लगते हैं जिनमें काला तना एवं पीला किट्ट गेहूं की तरह का तथा पत्ती या बोना किट्ट इस पर और लगता है। इन तीनों किट्ट को उत्पन्न करने वाली फफूंदिया इस प्रकार हैं।

(1) काला तना किट्ट (Black Stem ,rust) पक्सिनिया ग्रेमिनिस वेर ट्रिटिसाई P.graminis var. tritici

(2) पीला किट्ट (Yellow rust) पक्सीनिया ग्लूमेरम P. glumarum.

(3) पत्ती या बोना किट्ट (Leaf or dwarf rust) पक्सिनिया होर्डी P. hordei।

काला, तना एवं पीला किट्ट के बारे में विस्तार से गेहूं के रोगों वाले अध्याय में वर्णन किया गया है तथा यहां पत्ती किट्ट के बारे में ही वर्णन किया जा रहा है।

पत्ती किट्ट का वर्णन सर्वप्रथम बटलर (1918) ने किया। अमेरिका (मेन्स, 1926; 1930), आस्ट्रेलिया (वाटरहाउस, 1927; 29), कनाडा (ब्राउन, 1931), जर्मनी (हे, 1931), अर्जेन्टाइना (हिरस्चोरन, 1932) एवं पुर्तगाल (डी-ऑलीवीरा, 1937; 1939) में भी यह रोग काफी नुकसान पहुंचाता है।

लक्षण—इस रोग का प्रभाव पौधे की वृद्धि के किसी भी समय हो सकता है परन्तु बाली आने के समय अधिक प्रकोप होता है। जैसा कि नाम से स्पष्ट है इस किट्ट के यूरिडो एवं टेल्यूटो स्फोट अधिकतर पत्तियों पर ही बनते हैं। प्रारम्भ में यूरिडोस्फोट छोटे, (नींबू lemon) पीले रंग के अनियमित बिखरे पत्ती की दोनों सतहों पर दिखाई देते हैं। धीरे-धीरे पत्ती पर छोटे गोले, हल्के पीले रंग के खोलते स्फोट दिखाई पड़ते हैं। प्रारम्भ में स्फोट एक महीन झिल्ली में रहते हैं परन्तु जैसे-जैसे इसका परिमाण बढ़ता जाता है झिल्ली फट जाती है और भूरे रंग के यूरिडोबीजाणु बाहर निकल आते हैं। टेल्यूटोसोराई बिखरी तथा काले रंग की दिखाई देती है। ये सोराई बहुत समय तक अधोस्तर से घिरी रहती है। रोग ग्रसित पौधों का आकार घट जाता है तथा बालियों में दाने कुछ सिकुड़े हुए उत्पन्न होते हैं।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and Life cycle)—यह रोग पक्सीनिया होर्डी (Puccinia hordei otth=P. anomala) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है।

समानार्थक—(i) P. anomala Rostr प. एनोमेला

(ii) P. rubigo-vera simplex Kocsn प.रुबीगोवीरा सिम्पलेक्स

(iii) P. simplex Eriks and Henn प.सिम्पलेक्स

(iv) Accidium ornithogalium Bubak ईसीडियम ऑरनीथोगेलियम

यह एक बहुरूपी तथा भिन्नाश्रयी फफूंद है। इस फफूंद का एकान्तर पोषक ऑरनीथोगेलम अम्बेलेटम (*Ornithogalum umbellatum*) है। कवकजाल पटयुक्त तथा शाखायुक्त होता है।

यूरीडोबीजाणु गोलाकार से दीर्घवृत्तीय (ellipsoid) पीले, 19-22 माइक्रोन व्यास के जब गोलाकार हों तथा 22-27 × 15-20 माइक्रोन के जब दीर्घित (elongated) हों। बाहरी दीवार मोटी तथा कण्टिकायुक्त होती है। जनितछिद्र कई तथा बिखरे हुए होते हैं।

यदि नव (fresh) यूरिडोबीजाणु को पानी की झिल्ली (film) में रखा जाय तो 45 मिनट में 10 सें° पर अंकुरित हो जाते हैं; तथा अधिकतम अंकुरण 6 घन्टे बाद होता है। विभिन्न तापमान पर यूरिडोबीजाणु का अंकुरण इस प्रकार होता है–

(1) 55-65% अंकुरण	3 से 6° सें. पर
(2) 65-75% अंकुरण	10 से 13° सें. पर
(3) 80-90% अंकुरण	16 से 18० सें. पर
(4) 60-70% अंकुरण	21 स. 3° सें. पर
(5) 5-15% अंकुरण	26 से 28° सें. पर

तथा 1° सें एवं 33° सेंटीग्रेड पर अंकुरण बिल्कुल नहीं होता है। उपरोक्त तालिका के अनुसार इस कफूंद के यूरिडोबीजाणु के अंकुरण के लिए 16-18° सेंटीग्रेड अनुकूलतम तापमान है (Joshi et al, 1959)। इसके साथ ही जब 24 घन्टे तक हिम शीतित (frogen) किया जाये तथा पानी की झिल्ली में यूरिडोबीजाणु रक्खा जाये तो 16-18° सें. पर एक घन्टे में यूरिडोबीजाणु अंकुरित हो जाते हैं। यदि बीजाणु को 35° सें. पर 4 घन्टा रखा जाय तथा बाद में 16-18° सें पर रखने पर कुछ घन्टों में 60-70% अंकुरण हो जाता है परन्तु 35° सें. पर 24 घन्टे रखने पर वापिस यूरिडोबीजाणु का अंकुरण नहीं होता है (Joshi et al; 1959)। स्ट्रैब ने (Straib, 1942) ने भी यूरिडोबीजाणु के अंकुरण के लिए अनुकूलतम तापमान 20° सें से कुछ ही कम बताया। डी ओलवेरा D. Oliveira (1939) के अनुसार प्रभेद 12 एवं 17 के यूरिडोबीजाणु 28° सें. पर अंकुरित नहीं होते हैं तथा साथ में यह भी बताया कि अन्धेरे (darkness) का जनित नलिका के प्रवेश पर कोई असर नहीं पड़ता है। संक्रमण के बाद भी नमी का विशेष महत्व है (Beach, 1919 ; Renfro and Young, 1956)। अनुकूलतम नमी संक्रमण होने के बाद इसकी बढ़वार तथा बीजाणुकरण के लिये 60-78% है। यूरिडोबीजाणु के अंकुरण, आसगांग के बनने हेतु तथा इसका अधोरन्ध्री कोष्ठ (Sub stomatel Chamber) में प्रवेश अधिकतर अन्धेरे में ही होता है। इस प्रकार यह पक्सीनिया ग्रेमिनिस ट्रिटिसाई से भिन्न है जिसमें प्रकाश का होना अति आवश्यक है (Hert, 1929, Rowell et al; 1958)। पोषिता की सतह पर नमी की उपस्थिति में यूरिडोबीजाणु जनित छिद्र से अंकुरित होते हैं। अंकुरित होने पर अंकुरनाल का एक सिरा फूलकर आसगांग बनाता है, और फिर इसमें से एक नली जैसी रचना निकलती है जो स्टोमेटा अथवा रन्ध्रों में प्रवेश करके वेसीकल बनाती है। Noll नोला (1955)

के अनुसार प्रासगाग ग्रसित अधोस्तर कोशिका पर बनते हैं। यदि हालत (condition) प्रभाव्य है तो प्रासगांग बनने के लिये कम से कम 13 मिनट का समय लगता है। तापमान एव नमी का प्रासगांग बनने पर काफी प्रभाव पड़ता है। यूरिडाबीजाणु के लिए जल की स्वतंत्र परत (free film) का बीजाणुकरण (sporulation) के लिये होना अति आवश्यक है। वेसीकल मे से सक्रमण कवकतन्तु निकल कर बढ़ने लगते है जो द्विकेन्द्रिक कवकजाल बनाते है। ये द्विकेन्द्रिक पठयुक्त कवकजाल एक बार फिर यूरिडोबीजाणु की दूसरी नई फसल तैयार करते हैं। इस प्रकार ये यूरिडोबीजाणु हवा द्वारा उड़कर बड़ी तेजी से रोग फैलाने मे सहायक होते हैं।

टेल्यूटोसोराई काली, बिखरी हुई पत्ती पर बनती है जो अधोस्तर से ढकी रहती है। टेल्यूटोबीजाणु द्विकेन्द्रिक जाल पर बनते हैं। ये बीजाणु मोटे, चिकने (smooth) भित्ति के; दीर्घायत (oblong) मुदगराकार (clavate) नाशपाती की आकृति के, सिरा गोल चपटा, जैतूनी भूरे, 25-50 × 15-25 माइक्रोन के होते हैं। ये बीजाणु छोटे से वृन्त पर लगे रहते हैं (Joshi et al, 1959)। जनित छिद्र के अंकुरण के समय प्रकवक बाहर निकलती है। प्रकवक से अंगुलाकार रचना बनती है जिन्हे बीजाणुसूत्र कहते है। अंगुलाकार रचनाओ पर गोल बीजाण्वी बनते हैं। प्रत्येक बीजाण्वी एक केन्द्रक (monokaryotic) अलग-अलग प्रभेद के होते हैं। बेसीडियोबीजाणु (बीजाण्वी) सूत्र से टूटकर अलग-अलग हो जाते हैं तथा जल की उपस्थिति में एकान्तर पोपक आरनीथोगेलम अम्बेलेटम पर अंकुरित होते हैं।

पिक्नीडियल एवं इसीडियल अवस्था आरनीथोगेलम अम्बेलेटम (P. Olive, la, 1941; Mains and Jeckson, 1924) पर पायी जाती है। आरनीथोगेलम पायरानीकम (O. piyranaicum) की पत्तियों पर भी स्पर्मेगोनिया एव इसीडिया देखे। जौ के बीजाकुंर पर अन्तक्रमण करने से 9 दिन के अन्दर यूरिडोसोराई बन जाती है (Beck, o 1924) इन पौधो की पत्तियो की ऊपरी सतह पर फलास्क जैसी रचनायें बनती है। जिन्हें पिक्नीडियम कहते हैं। ये पिक्नीडियम+अथवा− प्रभेदों के होते हैं। जब दो भिन्न पिक्नीडिया के सग्राहक कवकसूत्र आपस मे मिलते हैं तो युग्मास्टिकरण हो जाता है जिनका केन्द्रिक व्यवहार द्विसूत्रित (2 एन) होता है। ये पत्तियों की निचली सतह पर इन्ही स्थानों पर ईसीडियम बनते हैं।

इसीडिया गोल, पीले, 200 माइक्रोन व्यास के पेरीडियम सहित होते है। इसीडियोबीजाणु उपगोलाकार, 25-30×23-29 माइक्रोन के तथा इनकी दीवार कन्टकी एवं भित्ति मे जनित छिद्र पाये जाते हैं तथा विकीरण हवा द्वारा होता है एवं वह जौ के पौधे पर अंकुरण कर सकते हैं। अंकुरण के लिये नमी की आवश्यकता होती है। इस प्रकार इस फफूंद का जीवन चक्र पूरा होता है।

वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार (Annual recurrence and spread)—

हमारे यहां इस किट्ट के जीवन चक्र में एकान्तर पोपक का महत्व नहीं है क्योंकि

यह पौधे यहां पर नहीं पाये जाते हैं। तथा यूरिडोबीजाणु द्वारा ही उसका प्रसार होता है। सापाशिविक पोषक इसके आवर्तन में सहायक हो सकते हैं। यूरिडोबीजाणु ठन्डे स्थानों पर चिरजीवित (survive) करते हैं तथा हवा द्वारा इनका प्रसार एक स्थान से दूसरे स्थान पर हो सकता है। इंगलैण्ड तथा पुर्तगाल में यह किट्ट सर्दियों में यूरिडोबीजाणु के रूप में चिरजीवित (survive) रहतो है (Dennis, R and Sandwith 1943)। इसके बीजाणु मैदानों की गर्मी में मर जाते हैं अतः बीजाणु हर वर्ष ठन्डे स्थानों से मैदानी इलाकों में आकर रोग फैलाने में सहायक होते हैं।

द्वितीयक प्रसार यूरिडोबीजाणु से गर्म, नम, समय में काफी होता है। इस प्रकार यूरिडोबीजाणु हवा में उड़कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते हैं तथा रोग को तेजी से फैला देते हैं।

कायिकी प्रजातियाँ (Physiologic reces)—

इस किट्ट की अनेक प्रजातियाँ उत्पन्न हो रही हैं। सबसे पहले मेन्स (*Mains, 1926*) ने *1926 में अमेरिका में 2 प्रजाति होने का पता लगाया।* डी. ओलीवीरा (D.Oliveira, 1939) ने इस फफूंद की प्रजातियों को पहचानने के लिये विभेदक पोषक प्रस्तावित किये। लेवाइन एवं चेरविक (Levine and Cherewick, 1952) ने 16 विभेदक पोषक चुने तथा उसके आधार पर 52 प्रजातियां कई देशों से मालूम कीं। ये विभेदक पोषक स्पेशियाल (speciale), रेका (Reka), सूडान (Sudan), बोलिविया (Bolivia), ओडरब्रूकर (Oderbruker), क्विन (Quinn), इजिप्ट-4, गोरन्ड, लेट चेटेलर (Let Chetaler), क्रुजेट (Crujet), चिलियन (Chilean), डी. क्लबमारविट (D. Clubemarwit), सामेरिया (Sameria), बर्ग (Berg), आस्ट्रास एवं किनवर (Kinver) हैं। वाटर हाउस (1929), लुड्ग एवं बेकर (1956) आस्ट्रेलिया में, ब्राउन एवं न्यूटन (1929) कनाडा में, है (1931), रॉम्सड्रोप (1934,35), स्ट्रेब(1937) जर्मनी में, एवं मोजमेन एव रोने (1959) अमेरीका में, *जोशी एवं अन्य (1959), वासुदेव एवं अन्य (1960) तथा जोशी एव अन्य (1965) ने भारत में कायिकी प्रजातियो पर विस्तृत अध्ययन किया है।*

शापार्शिविक पोषक—

विभिन्न प्रकार की घासों पर यह फफूंद ग्रीष्मातिचार में सहायक होती है या नहीं इस पर खोज जारी है। वाटरहाउस (1927,29) एवं मेन्स (1930) ने बताया कि होरिडयम की बहुत सी जातियाँ आस्ट्रेलिया एव अमेरिका में इस फफूंद से प्रभावित होती हैं। होरडियम मरीनम (Hordeum murinum), हो. मेरीटीमम (H. meritimum), हो. सिकेलीनम (H. secalinum) पर प्राकृतिक रूप से संक्रमण पाया गया है (D. Oliviera, 1937)।

रोकथाम—

इस किट्ट की रोकथाम का सबसे अच्छा उपाय रोग प्रतिरोधी किस्मो का प्रयोग करना है। इस फफूंद के प्रतिरोधन मे दूसरे देशों में काफी कार्य हुआ है। (Roane, 1962; Lambert, 1960; Macers and Driesscha, 1966), जोशी एवं अन्य (1965) ने भी इस फफूंद के प्रति कई किस्मो को परिक्षण (test) की है। सिंह एवं अन्य (1965) ने कुछ किस्मों पर पीले किट्ट का प्रभेद 24,57 एवं जी का प्रतिरोधन देखा है। किस्म E B 2364, 2341, 2470 काले तना, पत्ती तथा पीले किट्ट की प्रभेद 57 से प्रतिरोधी है जबकि किस्म E. B. 2304, 2305 2324 एवं 2340 काले किट्ट के अलावा सभी किट्टों से प्रतिरोधी है। किस्म E. B. 2371 एवं E. B. 2466 साथ में संयुक्त (combination) सभी किट्ट के प्रति प्रतिरोधी प्रदाय (donar) का कार्य कर सकता है क्योंकि E. B. 2371 काले एवं पीले किट्ट से तथा E. B. 2466 काले एवं पत्ती किट्ट से प्रतिरोधी है। (Ahmed et al, 1972).

(2) फफूंदनाशी दवा जैसे डायथेन 2-78 (0 2%) डायथेन 14-45 के छिड़काव (0·2%) या गन्धक (15 किलो/एकड़) के भुरकाव करके भी इस रोग की रोकथाम की जा सकती है।

(3) जिन स्थानों पर एकान्तर पोषक का महत्व है वहां इसका उन्मूलन इस किट्ट की रोकथाम मे सहायक हो सकता है।

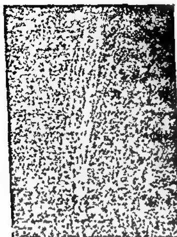
(4) उचित मात्रा मे खाद का प्रयोग करना चाहिये। अधिक मात्रा मे नत्रजन का प्रयोग पौधे मे किट्ट की सुग्राहकता बढा देता है।

बंद कंड
(Covered smut)

जौ की फसल का यह एक प्रमुख रोग है, तथा प्रायः उन सभी क्षेत्रो मे पाया जाता है जहां इसकी खेती की जाती है। पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश एवं उत्तर प्रदेश में इस रोग से काफी नुकसान होता है। औसतन 2·5% तक का नुकसान इससे देखा गया है परन्तु अनुकूल परिस्थितियों मे प्रभाव्य किस्मो मे 20 से 40% नुकसान भी हो जाता है। मेहता एवं अन्य (1964) के अनुसार यदि 2% नुकसान भी औसतन आंका जाये तो उत्तर प्रदेश अकेले मे 2500 टन का नुकसान हो जाता है। यह रोग ढका कंड, आवृत कालिका एवं आवृत कड़ नामों से भी जाना जाता है।

लक्षण (Symptoms)—

इस रोग के लक्षण पौधे से बाली बाहर निकलने पर ही दृष्टिगोचर होते हैं।


(चित्र 2 ख-1)
जौ का बंद कंड रोग

रोगग्रसित बालियाँ स्वस्थ बालियों के लगभग साथ ही निकलती हैं परन्तु छोटी तथा स्थायी झिल्ली से ढकी रहती हैं। तथा कई बार बाली बाहर नहीं निकलती है (Butler, 1918)। स्थायी झिल्ली पुष्प की अण्डाशय भित्ति तथा परजीवी के कवकतन्तु से बनती है। एक झुंड के सभी पौधे रोगग्रसित हो जाते हैं तथा रोगी पौधों में प्रत्येक बाली के सभी दाने काले चूर्ण में बदल जाते हैं (चित्र 2 ख-1)। यह काले चूर्ण में परिवर्तित दानों का स्थान जो काले बीजाणु ले लेते है, उन्हें कंड सोराई कहते हैं शूकों को छोड़ कर पुष्प के शेष सभी भाग जैसे अण्डाशय, वर्तिका, वर्तिकाग्र तथा परागकोष आदि कंड सोराई में परिवर्तित हो जाते हैं। सोराई मड़ाई के समय दबाव पाकर कंड बीजाणुओं में बिखर जाती है एवं स्वस्थ बीजों की सतह पर चिपक जाती हैं।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle)—

यह रोग अस्टीलागो होर्डाई (Ustilago hordei (Pers.) lagesh नामक फफूंद से उत्पन्न होता है।

समानार्थक—

- यूरिडोसेगेटम Uredo segetum sub sp. hordei Pers;
- अस्टीलागोकार्बो वे होर्डी U. carbo var. hordei D L
- यू सेगेटम वे. होर्डी U. segetum var. hordei Rab.
- यू. एवेनी वे. लेविस U. avanae var. lavis Kell and Swing
- यू. होर्डी वे. टेक्टा U. hordei var. tecte Jans
- यू. होर्डी U. hordei kell and Swing

क्लेमाइडोबीजाणु गोलाकार से (दीर्घवतीय), 6-9 माइक्रोन के तथा कभी-कभी 11 माइक्रोन व्यास के भूरे तथा झुण्ड में काले, एक तरफ से हल्के तथा दूसरी तरफ से चिकने (smooth) होते हैं। जौ के स्वस्थ बीजों से चिपके क्लेमाइडोबीजाणु बहुत दिनों तक प्रसुप्त अवस्था में पड़े रहते हैं। जब अगली फसल बोयी जाती है तब बीज के अंकुरण के समय अंकुरित होते हैं। क्लेमाइडोबीजाणु अंकुरण होने पर 4 कोशिका की प्रकवक बनाते हैं। प्रकवक पर 4 केन्द्रिकों के लैंगिक व्यवहार के अनुसार दो कोशिका एक प्रकार के बेसीडियोबीजाणु या स्पोरिडिया उत्पन्न करती है तथा अन्य दो अण्डाकार (ovate) से दीर्घवतीय (oblong) होते है। बहुत से

रोकथाम—

इस किट्ट की रोकथाम का सबसे अच्छा उपाय रोग प्रतिरोधी किस्मों का प्रयोग करना है। इस फफूंद के प्रतिरोधन में दूसरे देशों में काफी कार्य हुआ है। (Roane, 1962; Lambert, 1960; Macers and Driesscha, 1966), जोशी एवं अन्य (1965) ने भी इस फफूंद के प्रति कई किस्मों को परिक्षण (test) की है। सिंह एवं अन्य (1965) ने कुछ किस्मों पर पीले किट्ट का प्रभेद 24,57 एवं जी का प्रतिरोधन देखा है। किस्म E B 2364, 2341, 2470 काले तना, पत्ती तथा पीले किट्ट की प्रभेद 57 से प्रतिरोधी है जबकि किस्म E. B. 2304, 2305 2324 एवं 2340 काले किट्ट के अलावा सभी किट्टों से प्रतिरोधी हैं। किस्म E. B. 2371 एवं E. B. 2466 साथ में संयुक्त (combination) सभी किट्ट के प्रति प्रतिरोधी प्रदाय (donar) का कार्य कर सकता है क्योंकि E. B. 2371 काले एवं पीले किट्ट से तथा E. B. 2466 काले एवं पत्ती किट्ट से प्रतिरोधी है। (Ahmed et al, 1972)

(2) फफूंदनाशी दवा जैसे डायथेन 2-78 (0·2%) डायथेन 14-45 के छिड़काव (0·2%) या गन्धक (15 किलो/एकड़) के भुरकाव करके भी इस रोग की रोकथाम की जा सकती है।

(3) जिन स्थानों पर एकान्तर पोषक का महत्व है वहाँ इसका उन्मूलन इस किट्ट की रोकथाम में सहायक हो सकता है।

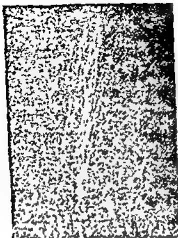
(4) उचित मात्रा में खाद का प्रयोग करना चाहिये। अधिक मात्रा में नत्रजन का प्रयोग पौधे में किट्ट की सुग्राहकता बढ़ा देता है।

बंद कंड
(Covered smut)

जौ की फसल का यह एक प्रमुख रोग है, तथा प्रायः उन सभी क्षेत्रों में पाया जाता है जहाँ इसकी खेती की जाती है। पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश एवं उत्तर प्रदेश में इस रोग से काफी नुकसान होता है। औसतन 2·5% तक का नुकसान इससे देखा गया है परन्तु अनुकूल परिस्थितियों में प्रभाव्य किस्मों में 20 से 40% नुकसान भी हो जाता है। मेहता एवं अन्य (1964) के अनुसार यदि 2% नुकसान भी औसतन आंका जाये तो उत्तर प्रदेश अकेले में 2500 टन का नुकसान हो जाता है। यह रोग ढका कंड़, आवृत कालिका एवं आवृत कंड़ नामों से भी जाना जाता है।

लक्षण (Symptoms)—

इस रोग के लक्षण पौधे से बाली बाहर निकलने पर ही दृष्टिगोचर होते हैं।


(चित्र 2 ख-1)
जौ का बन्द कंड रोग

रोगग्रसित बालियाँ स्वस्थ बालियों के लगभग साथ ही निकलती हैं परन्तु छोटी तथा स्थायी झिल्ली से ढकी रहती हैं। तथा कई बार बाली बाहर नही निकलती है (Butler, 1918)। स्थायी झिल्ली पुष्प की अण्डाशय भित्ति तथा परजीवी के कवकतन्तु से बनती है। एक झुंड के सभी पौधे रोगग्रसित हो जाते हैं तथा रोगी पौधो मे प्रत्येक बाली के सभी दाने काले चूर्ण में बदल जाते हैं (चित्र 2 ख-1)। यह काले चूर्ण में परिवर्तित दानो का स्थान जो काले बीजाणु ले लेते है, उन्हें कंड सोराई कहते है शूको को छोड कर पुष्प के शेष सभी भाग जैसे अण्डाशय, वर्तिका, वर्तिकाग्र तथा परागकोष आदि कंड सोराई मे परिवर्तित हो जाते हैं। सोराई मड़ाई के समय दबाव पाकर कंड बीजाणुओं मे बिखर जाती है एव स्वस्थ बीजो को सतह पर चिपक जाती है।

हेतुकी एव जीवन चक्र (Etiology and life cycle)—

यह रोग अस्टीलागो हार्डी (Ustilago hordei (Pers.) lagesh नामक फफूंद से उत्पन्न होता है।

समानार्थक—

यूरिडोसेगेटम Uredo segetum sub sp. hordei Pers;
अस्टीलागोकार्बो वे होर्डी U. carbo var. hordei D L.
अ. सेगेटम वे. होर्डी U. segetum var. hordei Rab.
अ. एवेनी वे. लेविस U. avanae var. lavis Kell and Swing
अ. होर्डी वे. टेक्टा U. hordei var. tecte Jans
अ. होर्डी U. hordei kell and Swing

क्लेमाइडोबीजाणु गोलाकार से (दीर्घवतीय), 6-9 माइक्रोन् के तथा कभी-कभी 11 माइक्रोन व्यास के भूरे तथा झुण्ड मे काले, एक तरफ से हल्के तथा दूसरी तरफ से चिकने (smooth) होते है। जो के स्वस्थ बीजो से चिपके क्लेमाइडोबीजाणु बहुत दिनों तक प्रसुप्त अवस्था मे पड़े रहते हैं। जब अगली फसल बोयी जाती है तब बीज के अंकुरण के समय अंकुरित होते हैं। क्लेमाइडोबीजाणु अंकुरण होने पर 4 कोशिका की प्रकवक बनाते हैं। प्रकवक पर 4 केन्द्रिकों के लैंगिक व्यवहार के अनुसार दो कोशिका एक प्रकार के बेसीडियोबीजाणु या स्पोरिडिया उत्पन्न करती है तथा अन्य दो अण्डाकार (ovate) से दीर्घवतीय (oblong) होते हैं। बहुत मे

द्वितीयक बीजाणु मुकुलन द्वारा बनते रहते हैं। बेसीडियोबीजाणु का अंकुरण होने पर अंकुरनाल बनती है। दो विपरीत प्रभेद वाली अंकुरनाल संयुक्त होकर डाइकैरियोटिक कवकसूत्र उत्पन्न कर देते हैं। अन्तः बीजाणु शाखा मिलन (inter sporidial anastomoses) भी देखा गया है जिसमें एक स्पोरिडया से न्यूक्लिआई दूसरे स्पोरिडिया में जाती है। इसके साथ ही कवकजाल का शाखा मिलन (anastomoses) संक्रमण के पहले डाइकेरियोटिक कवकजाल उत्पन्न कर देते हैं। अंकुरनाल अंकुरित बीज के अधोबीजपत्र भाग में होकर भ्रूणाग्रचोल को बेधकर अन्दर घुसती है तथा नयी निकलने वाली पत्तियों एवं तनों आदि के ऊपर की ओर बढ़ती रहती है। दैहिक संक्रमण होता है तथा कवकजाल पोषक के भीतर ही भीतर फैलता रहता है। पौधों में बालियाँ बनने के समय असंख्य क्लेमाइडोबीजाणु बनते हैं जो अण्डाशयों में भर जाते हैं। इन रोगी अंडाशयों पर फफूंद की झिल्ली×अण्डाशय भित्ति तथा परजीवी के कवकतन्तु से मिलकर बन जाती है। सोराई गहाई के समय जानवरों तथा मनुष्य के पैरों के दबाव से झिल्ली फट जाती है और इनसे निकले क्लेमाइडोबीजाणु स्वस्थ बीजों की ऊपरी सतह पर चिपक जाते हैं तथा यह क्रम चलता है।

वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार (Annual recurrence and spread)—

यह रोग बाह्य बीजोढ़ है। बीजों की ऊपरी सतह पर क्लेमाइडोबीजाणु चिपके रहते हैं तब बीज के अंकुरण के समय यह भी अंकुरित होते हैं। तथा बीजांकुर (seedling) को संक्रमित कर देते हैं। दैहिक रूप से संक्रमण होता है तथा कवकजाल पोषक के भीतर ही भीतर फैलता रहता है। बाली निकलते समय क्लेमाइडोबीजाणु में परिवर्तित हो जाता है। बीजाणु एक स्थायी झिल्ली से ढके रहते हैं.तथा जब खलिहान में मड़ाई होती है तो झिल्ली फट जाती है और बीजाणु स्वस्थ दानों के ऊपर चिपक जाते हैं। इस प्रकार इसका आवर्तन होता रहता है।

भूमन तापमान, नमी और कुछ हद तक भूमि के उपजाऊपन का बीजांकुर संक्रमण पर काफी प्रभाव पड़ता है (Faris, 1924; Schaffnit, 1926)। चूंकि संक्रमण का समय केवल अंकुरण तथा उसके बाहर आने के समय तक ही सीमित रहता है अतः गहरी बुवाई से संक्रमकता का समय बढ़ जाता है। उथली (shallow) बुवाई से अधिक नमी तथा कम तापमान नहीं रह पाता तथा प्ररोह (shoot) जल्दी बाहर निकलते हैं। क्लेमाइडोबीजाणु के लिए न्यूनतम तापमान 5-6° सेंटीग्रेड, अनुकूलतम तापमान 20° सेंटीग्रेड तथा अधिकतम तापमान 34-35° सें. है।

कार्य की प्रजातियाँ (Physiologic reces)—

इस फफूंद की कई प्रजातियाँ मौजूद हैं। सबसे पहले कार्यकी विशिष्टीकरण के बारे में Asmodt (1935), Faris (1924), (Roden ,hiser 1928)

पूर्ववृतिक कारक—

तापमान एवं नमी का इस रोग की वृद्धि तथा संक्रमण पर बहुत असर पडता है। बीजांकुर संक्रमण 12-34° सें. पर होता है तथा अनुकूलतम तापमान 22-30° सें. है। प्राय: अधिक तापमान इस रोग के संक्रमण के लिये सुग्राही है। मिश्रा के अनुसार बीजांकुर अंगमारी के लिए 30° सें. तापमान तथा 90% आपेक्षिक आद्रता सुग्राही है। पत्तियों पर संक्रमण 28° सें. पर सबसे अधिक तथा रोग की बढावार हेतु अनुकूलतम तापमान 22° सें. है। परजीवी क्षारीय (alkaline) मिट्टी में तजाबी मिट्टी की अपेक्षा अच्छी प्रकार रहता है। इसके अलावा रोग पीट (peat) मिट्टी मे ज्यादा होता है जहा गहरे पानी का निकास हो। कमजोर पौधों पर इस रोग का ज्यादा प्रभाव होता है। इस फफूद की कई प्रजातिया मोजूद है।

रोकथाम—

बीजों को गरम जल, फोर्मलडिहाइड या कार्बनिक पारावर्गी रसायनों से उपचारित करना अच्छा रहता है। एग्रोसन जी. एन या सेरेसन (0.3%) से बीजोपचार करने से बीज जनित्र सक्रमण नष्ट हो जाता है।

(2) बुवाई ऐसे समय में करनी चाहिये जब मिट्टी थोडी ठंडी हो।
(3) फसल चक्र अपनाना चाहिये। जई, मक्का, आलू आदि फसलो पर इस रोग का प्रभाव नही होता है। अतः इन्हे फसल चक्र मे सम्मिलित करनी चाहिये।
(4) रोग प्रतिरोधी किस्मे काम मे लेनी चाहिये। वेलवेट (velvet) एवं ग्लेबरोन (glabron) एवं मेनचूरियन (manchurian) जौ की किस्मे इससे प्रतिरोधी है जिनका प्रयोग अधिक उपजाऊ किस्मों के साथ प्रतिरोधी प्रदाय के रूप मे किया जा सकता है।

जाल धब्बा
(NET BLOTCH)

जाल धब्बा जौ की फसल का एक महत्वपूर्ण रोग है तथा कृष्य (Cultil) vated) किस्मे इससे प्रभावित होती हैं। कनाडा, अमेरीका, यूरोप, दक्षिणी अफ्रिका तथा अर्जेन्टाइना मे इससे काफी नुकसान होता है। भारत मे भी जौ की सभी किस्मे इससे प्रभाव्य हैं (Mc Rae, 1934)। इस रोग का प्रकोप उन स्थानो पर अधिक होता है जहां ठंड का मौसम हो तथा जौ ठंड के मौसम मे बोया जाता है। बटलर एव बिस्बी (1931) ने पूसा मे सबसे पहले इस रोग का वर्णन किया। मिश्रा (1935) के अनुसार इस रोग का प्रभाव बहुत सीमित होता है। शिवदानसिंह (1963) ने भी इस रोग पर काफी कार्य किया।

हेतुकी एवं जीवन चक्र—

सबसे पहले इस रोग का वर्णन जौ की फसल पर पामेल (Pammel, 1909) ने किया, तथा 1910 में उन्होंने बताया कि यह रोग हेल्मिंथोस्पोरियम सेटाइवम Helminthosporium sativum Pam, king and Bakke नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। 1914 में जोनसन ने बताया कि गेहूँ पर भी यह रोग पाया जाता है।

समानार्थक— (1) कोकलिओबोलस सेटाइवस Cochliobolus sativus (Ito and Kurib) Drechsl.

(2) हे. एक्रोथेसीओइड्स H. acrothe ciodes Lindf

(3) हे इनकोन्सपिक्यूम H. inconspi cuum Peck.

(4) हे. सोरोकिनीएनम H. sorikinianum Sacc.

(5) बाइपोलेरिस सोरोकिनीएम Bipolaris sorokinjanum Shoemaker

(6) ड्रेसचेलरा सोरोकिनिआना Drechslera sorokiniana (Sacc.) Subramanaim and Jain

कवकजाल जैतुनी से काला पट एवं शाखायुक्त होता है। कोनिडियोफोर पत्तियों की निचली सतह से एक या दो कभी तीन के गुच्छे में रन्ध्रों द्वारा अधोस्तरीय कोशिका भित्ति से बाहर आते हैं। आधार के ऊतक फूले हुए तथा गहरे जैतुनी होते हैं। कोनिडिया कुछ या अधिक मुड़े हुए, मोटी भित्ति के जैतुनी भूरे, 3 से 10 पट-युक्त (1 से 10 मी.) 60-120×15-30 माइक्रोन के बीच से चौड़े तथा सिरे गोलाकार होते हैं। हवा द्वारा उड़कर उचित पोषक मिलने पर अंकुरनाल द्वारा अंकुरित होते हैं। कोनिडिया का अंकुरण केवल शीर्ष ऊतकों से होता है (Drechsler, 19213,24)। कोनिडिया की जीवन क्षमता एक वर्ष तक है।

1931 में इटो एवं कुरयशी ने इस फफूंद की लैंगिक अवस्था का पता लगाया। उनके अनुसार पेरीथीसिया काली से भूरी सूडोपेरेनकाइमेटस, फ्लास्क जैसी आकृति की ओस्टीओलेट (ostiolate) 340-470×370-530 माइक्रोन की होती है। एस्कस बहुत अधिक तकुरूप (fusiform) या बेलनाकार शीर्ष से गोलाकार तथा उसमें 1 से 8 (अधिकतर 4 से 8) एस्कोबीजाणु होते हैं। एस्कोबीजाणु रंगहीन या हल्के जैतुनी 160-360×6-9 माइक्रोन के होते हैं।

वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार—रोगग्रसित पौधों के अवशेषों में फफूंद कवकजाल के रूप में तथा ग्रसित बीज कवकजाल या कोनिडिया के पदगलन का प्राथमिक संक्रमण होता है। कई बार मिट्टी में उपस्थित कोनिडिया भी रोग उत्पन्न कर देते है। इस प्रकार यह मृदुज एवं बाह्य बीजोढ रोग है। द्वितीयक संक्रमण कोनिडिया के हवा द्वारा प्रसार से होता है।

पूर्ववृतिक कारक—

तापमान एवं नमी का इस रोग की वृद्धि तथा संक्रमण पर बहुत असर पड़ता है। बीजांकुर संक्रमण 12-34° सें. पर होता है तथा अनुकूलतम तापमान 22-30° सें. है। प्रायः अधिक तापमान इस रोग के संक्रमण के लिये सुग्राही है। मिश्रा के अनुसार बीजांकुर अंगमारी के लिए 30° सें. तापमान तथा 90% आपेक्षिक आर्द्रता सुग्राही है। पत्तियों पर संक्रमण 28° सें. पर सबसे अधिक तथा रोग की बढ़वार हेतु अनुकूलतम तापमान 22° सें. है। परजीवी क्षारीय (alkaline) मिट्टी में तेजाबी मिट्टी की अपेक्षा अच्छी प्रकार रहता है। इसके अलावा रोग पीट (peat) मिट्टी में ज्यादा होता है जहां गहरे पानी का निकास हो। कमजोर पौधों पर इस रोग का ज्यादा प्रभाव होता है। इस फफूंद की कई प्रजातियां मौजूद हैं।

रोकथाम—

बीजों को गरम जल, फोर्मलडिहाइड या कार्बनिक पारावर्गी रसायनों से उपचारित करना अच्छा रहता है। एग्रोसन जी. एन. या सेरेसन (0.3%) से बीजोपचार करने से बीज जनित संक्रमण नष्ट हो जाता है।

(2) बुवाई ऐसे समय मे करनी चाहिये जब मिट्टी थोड़ी ठंडी हो।

(3) फसल चक्र अपनाना चाहिये। जई, मक्का, आलू आदि फसलों पर इस रोग का प्रभाव नहीं होता है। अतः इन्हें फसल चक्र में सम्मिलित करनी चाहिये।

(4) रोग प्रतिरोधी किस्में काम मे लेनी चाहिये। वेलवेट (velvet) एवं ग्लेबरोन (glabron) एवं मेनचूरियन (manchurian) जौ की किस्मे इनसे प्रतिरोधी है जिनका प्रयोग अधिक उपजाऊ किस्मों के साथ प्रतिरोधी प्रदाय के रूप मे किया जा सकता है।

जाल धब्बा
(NET BLOTCH)

जाल धब्बा जौ की फसल का एक महत्त्वपूर्ण रोग है तथा कृष्य (Cultivated) किस्मे इससे प्रभावित होती हैं। कनाडा, अमेरीका, यूरोप, दक्षिणी अफ्रिका तथा अर्जेन्टाइना में इससे काफी नुकसान होता है। भारत में भी जौ की सभी किस्मे इससे प्रभाव्य हैं (Mc Rae, 1934)। इस रोग का प्रकोप उन स्थानों पर अधिक होता है जहां ठंड का मौसम हो तथा जौ ठंड के मौसम मे बोया जाता है। बटलर एवं बिस्बी (1931) ने पूसा मे सबसे पहले इस रोग का वर्णन किया। मित्रा (1935) के अनुसार इस रोग का प्रभाव बहुत सीमित होता है। सिवदानसिंह (1963) ने भी इस रोग पर काफी कार्य किया।

लक्षण (Symptoms)—इस रोग से पत्तियों को सबसे अधिक नुकसान होता है। प्रारम्भिक अवस्था मे संकीर्ण पंक्ति (narrow lines) गहरे रंग की देखी जा सकती है जो क्रिस क्रॉस जाल बना लेती है। इस क्रिस क्रॉस जाल के कारण ही इसका नाम जाल धब्बा रखा गया है। पुराने क्षतस्थलों मे यह जाल केवल किनारो तक ही सीमित रहता है। धीरे धीरे जाल गहरे भूरे रंग का जालिय (ret'culated) हो जाता है।

शुरू में इसके लक्षण पहचानना कठिन है क्योंकि प्राथमिक क्षतस्थल बीजांकुर पत्तियों पर दिखाई देते है। क्षतस्थल बहुत कम बनते है परन्तु बीजांकुर पत्तियों के आधार पर क्षतस्थल धीरे धीरे बढ़ते है और समानान्तर कई धारीयां पत्ती धारी रोग की भांति बढ़ती रहती है, परन्तु 20 से 25 मि.मी. अधिक नही होती तथा तुलनात्मक कम व्यास होता है। ग्रसित धब्बे पर धारियां बाद मे भूरी बन जाती है परन्तु रंग सम्पूर्ण स्थान पर नही फैलता है। पर्णछद पर धारियां नही पायी जाती जबकि धारी रोग में पायी जाती हैं।

फलक (lamina) के धब्बे के स्थान का भाग फीका (Pale) हो जाता है तथा बाद में हर एक धब्बे के भूरे स्थान पर संकीर्ण (narrow) पीली जोन (zone) दिखाई देती है परन्तु हे. सेटाइवम की तरह हरे या पीले (variegation) नही बनते है। धीरे धीरे जाल क्षत स्थल पर बढ़ते जाते हैं तथा द्वितीयक संक्रमण से और धब्बे बनकर आपस मे मिल जाते हैं तथा धारियाँ बना लेते हैं। इस समय इस रोग को पहचानना कठिन हो जाता है परन्तु फिर भी वास्तविक जाल अच्छी प्रकार देखने से दिखाई दे सकते है। अधिक संक्रमण होने पर पत्ती सिरे से आधार की तरफ मुरझा जाती हैं परन्तु धारी रोग के जैसे श्रेडिंग (Shredding) नही होता। ग्रसित पौधो की बालियाँ सूखी सूखी दिखाई देती हैं तथा उनमे दाना हल्का व कमजोर बनता है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र—यह रोग हेल्मिथोस्पोरियम टेरीज (Drechs'era teres (Sacc) Shoemaker=H teres saec नामक फफूंद से उत्पन्न होता है।

समानार्थक—पायरेनोफोरा टेरीस Pyrenophora teres (Died) Drechsl.

ड्रेशलेरा टेरीस Drechslera Teres Shoemaker (Sacc).

प्लीओस्पोरा टेरीस Pleospora te es (Died).

हेल्मिथोस्पोरियम होर्डी Helminthosporium hordei Eiden

कवकजाल सफेद से जैतुनी, पटयुक्त होता है। कोनिडियोफोर हल्के भूरे से जैतुनी अकेले या 2-3 के झुण्ड मे पर्णरन्ध्र से बाहर निकलते हैं। कोनीडियो फोर का आधार धारी रोग से चौडा होता है तथा 120-290×7-9 माइक्रोन के होते हैं।

कोनिडिया 30-175×15-29 (अधिकतर 100-150×15-20) माइक्रोन के पीले जैतुनी होते हैं। हे. सेटाइवम की तरह कभी गहरे जैतुनी नही होते। कोनिडिया बारीक भित्ति के, पट के पास संकीर्णित (Constricted) सिरे के कोशिका अधिक गोलाकार, आधार की कोशिका बडी तथा अर्ध वेलनाकार आकृति के होते है। कोनिडिया सीधे अकेले तथा इनकी सभी कोषा से इनका जनित नलिका द्वारा अंकुरण होता है। कोनिडिया अधिक नही बनते है जैसा कि हे. सेटाइवम मे बनते है। छोटी काली कठकवक भी बहुत संख्या मे बनते है जो हे. सेटाइवम मे नही बनते।

कभी-कभी पिक्नीडिया भी बनती देखी गई है जो छोटी गोलाकार, 35 माइक्रोन व्यास की होती है। पिक्नीओस्पोर एक कोशिक दीर्घ वृताकार (elliptical) गोला 1-2×1 माइक्रोन के होते है तथा अंकुरण होने पर कवकजाल बनाते है।

प्रकृति में इसकी पेरीथीसिया भी कम पायी जाती है। Drechs'er, 1923, Ravn, 1900 तथा Smith, 1925 ने इसका वर्णन किया। पेरीथीसिया पुराने जौ के भूसे पर बनती है जो निमग्न (submerged) अनियमित आकृति की 0·5 मि.मी. व्यास की होती है। सीटी (setee) तथा कोनिडियाफोर स्तर पर बहुत रहते हैं। औस्टीओलर चोच समान्यतः नही होती है। एस्कस अर्ध बेलनाकार 220-250×30-36 माइक्रोन की होती है जिसमें 8 हल्के भूरे, 3 पटवाले जिसमे बीच का स्तर अधिकतर विभक्त (divided) एस्कोबीजाणु पाये जाते हैं एस्कोबीजाणु एक कोशीय तथा इनका अंकुरण किसी भी कोशा से हो सकता है। Drechsler, 1923)।

वार्षिक आवर्तन एव प्रसार—प्राथमिक संक्रमण या तो ग्रसित बीज पर कवकजाल से या एस्कोबीजाणु जो पुराने भूसे पर बनते है उससे होता है। उसस बने एस्कोबीजाणु एव कोनिडिया बाद मे अनुकूल अवस्था मे संक्रमण करते रहते है। कवकजाल बीज के जमने के समय तरुण पौधो के उतको मे परजीविता सम्बन्ध स्थापित करता है। इस रोग का प्रभाव सम्पूर्ण पौधो पर होता है अतः यह एक दैहिक रोग है। द्वितीयक संक्रमण रोगी पौधो पर प्राथमिक संक्रमण से बने कोनिडिया हवा मे उड़कर नये पौधो को संक्रमित कर देते है।

इसके अलावा यह रोग जगली जौ घास होरडियम मूरीनम (Hordeum murinum) पर भी पाया जाता है जो सामान्यतः जौ उगाये जाने वाले खेत्रो मे उपस्थित रहती है अतः संक्रमण का यह एक स्थिर (constant) साधन है। कठकवक भी भरी हुई पत्तियों पर सर्दियो मे पाये जाते है जो बसन्त मे कोनिडिया उत्पन्न कर देते हैं। पेरीथीसिया प्रकृति मे बहुत ही कम पायी जाती है; यदि ये हो तो द्वितीयक संक्रमण मे एस्कोबीजाणु दोनो सहायक होते हैं।

पूर्वव् तिक कारक—

प्राथमिक संक्रमण के लिए कम भूयम तापमान 10 से 15° सेंटीग्रेड सुग्राही है तथा जब तापमान इससे अधिक हो जाता है तो इस रोग का प्रभाव दिखाई नहीं देता। प्रयोगो में जब जुलाई में इसकी बुवाई की गयी तो इसका प्रभाव नही पाया गया परन्तु मार्च अप्रेल की बुवाई करने पर सबसे अधिक प्रभाव होता है (Ravn, 1900)।

द्वितीयक संक्रमण 8 से 33° सें. पर बहुत अधिक होता है तथा 35° सें पर कृत्रिम रूप से अन्त क्रमण किये पोधो पर नही होता। द्वितीयक संक्रमण एवं रोग की बढ़ावार के लिए अनुकूलतम तापमान 25° सें. से 29° सें. है (Singh, 1963)। इसके अलावा इसके संक्रमण के लिए कम से कम 5 घण्टे का नम (moi) समय होना चाहिए। अनुकूलतम संक्रमण के लिये नम समय 10 से 30 घण्टे के बीच होना चाहिये (Singh, 1963)। साथ ही 10 दिन पुराने अन्तः द्रव्य (inoculum) में सबमे अधिक संक्रमण पाया गया तथा 20, 25 एवं 35 दिन पुराने अन्तः द्रव्य (inoculum) से क्रमशः संक्रमण गिरता गया (Singh, 1963)।

रोकथाम—

(1) बीजोपचार-बुवाई से पूर्व बीजों को 2 ग्राम प्रति किलो एग्रोसन जी.एन. या सेरेसन से उपचारित करें।

(2) नाइट्रोजन खाद की मात्रा कम देने पर इसका प्रकोप रुक जाता है तथा फोस्फोरस एव पोटाश की अधिक मात्रा का प्रयोग भी अच्छा रहता है।

(3) फसल चक्र अपनाना चाहिये।

(4) रोग ग्रसित पौधो के अवशेषों को एकत्र कर नष्ट कर दें।

हे. केटेनेरियम फफूंद से उत्पन्न पत्ती अंगमारी रोग

सबसे पहले इस नये रोग का प्रकोप जौ की फसल पर ढोली (Dholi) में 1969 में देखा गया (Misra et al; 1971)। इस रोग का प्रभाव दो माह की फसल के पश्चात् ही होता है। पौधे की पत्तियां (borne) अवस्था ही अधिकतर प्रभावित होती हैं। फलक (lamina) पर चाकलेट भूरे, बिखरे 10×4 मि. मी. आकृति के धब्बे दिखाई देते हैं। धीरे धीरे ये धब्बे आपस मे मिल जाते हैं जिसकी कोई स्पष्ट आकृति नही होती है। लक्षण बीच से प्रारम्भ होते है तथा वह सिरे से नीचे की ओर बढते रहते है। उग्र अवस्था में सम्पूर्ण पत्ती झुलसी हुई दिखाई देती है तथा सूखे भूसे (straw) की तरह गिर जाती है (Misra et al; 19-1)। पत्ती झुलसने के कारण ही इस रोग का नाम अंगमारी रखा गया है। कवक हे. केटेनेरियम (H. catenarium Drechso) का अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है जो

कोनिडियोफोर पर बनते हैं। कोनिडियोफोर कुछ जैतुनी, साधारण सीधे पर्णरन्ध्र से अकेले या 2 से 3 के गुच्छों में बाहर आते हैं। कोनिडियोफोर 62·40-212·16×12·48 माइक्रोन के होते हैं (Misra et al, 1971)। कोनिडिया हल्के पीले, 1 से 7 पटयुक्त, अर्धदीर्घवर्त 46·80-136·28×12·48-20·28 माइक्रोन 2 शीर्ष (apical) कोशिका दीर्घित (elongated) तथा 2 से 3 की जंजीर मे होते हैं (Misra et al, 1971)। इसका अंकुरण जनित नलिका द्वारा होता है।

फफूंद की वृद्धि के लिये 28° सें. अनुकूलतम तापमान है तथा 35° सें. पर वृद्धि नही होती। 6·8 से 7 2 पी. एच. मान फफूंद की वृद्धि के लिये अनुकूलतम है। (Misra et al, 1971)।

इस रोग की रोकथाम हेतु बीजो को कार्बनिक पारावर्गी रसायनों से उपचारित करना चाहिये तथा रोग प्रतिरोधी किस्मे प्रयोग मे लानी चाहियें। हिमाचल, हिमालया, Np Hyb 4 (D) इस फफूंद से प्रतिरक्षक, B G 42, K 18, बहाइट ब्यूटी C N 292, E B 299, E II 310, H. P 13 अर्ली बारले, अफगानिस्तान 17, अफगानिस्तान 19 को इससे प्रतिरोधी पायी गयी (Misra and Om Prakash, 1972)। इन किस्मो को प्रतिरोधी प्रदाय के रूप में काम ली जा सकती हैं।

फ्यूजेरियम अंगमारी
(Fusarium blight)

फ्यूजेरियम अंगमारी से भी काफी नुकसान होता है। हमारे यहां फ्यूजेरियम एवेनेसियम (F. avenaceum), फ. कलमोरम (F. culmorum) की जातियां पायी जाती हैं तथा पश्चिम एव मध्य अमेरीका मे जिबरेला जी (Gibberella zeal) से विशेष नुकसान होता है। स्नाइडर एवं हेनसन (Snyder and Hansen, 1945) के अनुसार तीनो जातिया फ्यूजेरियम रोजियम एव सिरीएलिस (F. roseum B. cerealis (Lk.) Snyder and Hansen) की ही किस्मे (varities) हैं।

लक्षण—बीजांकुर के आधार पर जमीन के ऊपर गहरे भूरे धतस्थल पाये जाते हैं तथा पौधा तीसरी चौथी पत्ती की अवस्था मे सूख जाता है। झुलसे दाने (kernels) सिकुड़े (shrivalled) एवं वजन में हल्के होते हैं। ग्रसित दाने (kernels) मे एक ऐसा पदार्थ भी होता है जिससे सूअर, कुत्ते एवं आदमियों मे उग्र इमेसिस (emesis) हो जाता है। स्पाइक (spikes) खाली रह जाते हैं।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and Life cyile)—यह रोग फ्यूजेरियम एवेनेसियम (F. avenaceum (Fr.) Sacc) फ. कलमोरम (F. culmorum (WG. Sm Sacc) नामक फफूंद से उत्पन्न होती है। यह एक वैकल्पिक परजीवी है। कवकजाल रंगहीन, शाखायुक्त होता है। कवकजाल बहुत तेजी से बाहिनी उतको

मे बढ़ते है तथा कवकजाल वाहिनी उतकों में भरकर एकत्र हो जाता है जिसके फलस्वरूप वाहिनी उतकें बन्द हो जाती हैं तथा सम्पूर्ण पानी व अन्य खनिज तत्वों आदि का ऊपर चढना बन्द हो जाता है, जिसके फलस्वरूप पौधा मुरझा जाता है। अलैंगिक जनन माइक्रोकोनिडिया एवं मेक्रोकोनिडिया द्वारा होता है।

र्षाधिक आवर्तन—यह एक मृदुढ फफूंद है जो जीवित पोषक की अनुपस्थिति मे भूमि के अन्दर मृतोपजीवी के रूप मे रहती है। पौधों मे सक्रमण माइक्रोकोनिडिया एवं मेक्रोकोनिडिया द्वारा होता है। इन बीजाणुओं का अंकुरण होता है तो कवकजाल उत्पन्न कर देता है।

इस फ्यूजेरियम गलन (फ. एवेनेसियम) का प्रकोप तेजाबी मिट्टी मे नही होता है तथा क्षारीय मिट्टी में पी. एच. के बढने से इसका प्रकोप बढ़ता जाता है। जौ एलकलीफाइलस पौधा है। बढाने से दाने की उपज कम हो जाती है अतः मिट्टी की प्रतिक्रिया 6·0 से 7·0 पी. एच. होनी चाहिये। (Bakshi, 1957)।

रोकथाम— (1) रोगग्रसित पौधों को रोगमुक्त करना कठिन है अतः एक बार पौधों मे रोग लग जाने पर उसे खेत से उखाड कर नष्ट कर देना चाहिये।

(2) बीजो को बुवाई से पूर्व उपचारित करना चाहिये।

(3) चूंकि इस रोग का प्रभाव क्षारीय मिट्टी में अधिक होता है अतः पी. एच. जहां 6·0-7·0 है वहां जौ की बुवाई करनी चाहिये।

(4) फसल चक्र अपनाना चाहिये।

Aamodt, O.S. and W.H. Johnston (1935). Reaction of barley varieties to infection with covered smut (Ustilago hordei). Can. J. Res. C. 12 : 590-613.

Aberg, F. (1945). Effect of vernalization on the development of stripe in barley. Phytopathology 35:367-368.

Agrios, G.H. (1969) Plant Pathology. A code mic press New York, 629 pp.

Ahmed, S.T. (1969) Performance of barley Varieties against what rust. 2nd. All India Barley workers workshop. C.A.R.

Ahmed, S.T., V.C. Sinha and L.B. Goel (1972) Performance of Barley Varieties to rusts—Indian Phytopath. 25:435-438.

Ainsworth, G.C. and Kathleen Sampson (1950). The British smuth fungi (Ustilaginales). The Commonwealth Mycological Institute Kew, Surrey, England. 137 p.

Arny, D.C. (1945). Inheritance of resistance to barley stripe. Phytopathology 35:781-804.

Arny, D.C. (1945a). Physiologic specialization in Helminthosporium gramineum.Phytopathology 35·571·572.

Brown, A M (1931) Investigation of the dwarf leaf rust of Barley (Puccenia anomala) Rept. Dom. Botanist. 1930. Div Bot Can. Dept. Agric. 56-57.

Drechsler- C.)1223) Some glaminicolous species of Helmintho sporium. Jour. Age. Res. 24.641-740.

Drechsler, C. (134) Helmintho sporium, and a new genus cochlioblus. Plytopath. 26.676 684.

Chinn, S.H.F. and R.C. Russel (1956). Antagonistic activity of micro-organisms in the control of barley smuts. Canad. Jour. Agric. Sci. 36:1-7.

Christensen, J.J. and T.W. Graham (1930). Physiologic specialization and variation in Helminthosporium gramineum Rab. Minx. Agr Exp. Sta. Tech. Bul. 95:1-40.

D. Oliveira, B. (1937) Brown rust of wild species of Hordeum. Rev. Aglon Lisboy 25(3):230-234

D' Oliveira, B. (1939) Studies on Puccinia anomala Rust I. Physiologic reces of cultivated barleys. Ann. App. Biol. 15(1):56-82.

Faris, J.A. (1924). Factors infuluencing the infection of Hordeum sativum by Ustilago hordei. Amer. Jour. Bot. 11:189-213.

Faris, J.A. (1924b) Physiologic specialization of Ustilago hordei. Phytopathology 14:537-557.

Fezer, K.D. (1959). Survival of loose smut in barley seed. Plant Disease Reporter 43:1287.

Grewal, J.S. and Dharam Vir (1964). Efficacy of different fungicides. VIII. Field trials for the control of covered smut of barley (Ustilago hordei). Indian Phytopath. 17.

Hey, A. (1931) Beitrage zur Specialisie rung des. Gerstenzwer grostes, Puccinia simplex. Erikss it Henn. Arab Biol. T. Reichsanst Fiir Land and Forstw. 19 (3)·227-161.

Hebert, T.T. (1955). A new method of controlling loose smut of barley. Plant Disease Reporter 39:20-22.

Hebert, T.T. (1956). Mode of the action of the wet anaerobi storage treatment for the control of loose smut of barley Phytopathology 46:14.

Hirscchosn, J. (1933) Dos royes de la cebeda, nuevas pare la Argentina. Rev. Fac. Argon Univ. Hac la clata 19(3):390-9

Johnson, J. (1925). Studies in the pathogenicity and Physiolog of Helminthsoporium gramineum Rabh.

Phytopathology. 15: 797 804.

Joshi, L.M., D.P. Misra, K.R. Srikantiah, V.C. Lele and D Kak (1959) Studies in Puccinia hordei the leaf rust of barley in India. Indian Phytopathology 12:69-75.

Josoi, L.M., R. Prasada and L.B. Goel (1956) Studies on Puccina hordei I. Physiologic specialization and screeing of Varieties. Indian Phytopathy 18:267-273.

Kavanagh, T. (1961). Temperature in relation to loose smut in barley and wheat. Phytopatholoy 21:189-193.

Kavanagh, T. and D.L. Mumford (1960). Modification and adaptation of Popp's technique to routine detection of Ustillago nuda in burley embryo. Plant Disease Reporter 44:591.

Kōnzak. C.F. (1953). Inheritance of resistance in barley to physiologic races of Ustilago nuda. Phytopatnology 43.369-375.

Lambert, J.W. (1960) Resistance of berley Varieties. 15. Agron J. 52: 661-662.

Leben, C. and D.C. Arny (1954). Soaking treatment for the control of loose smut of barley. Phytopathology 44 329-330.

Leukel. R.W. (1936). The present status of seed treatments with special reference to cereals. Botan. Rev. 2.498-527.

Leukel, R.W. (1936a). Factors influencing infection of barley by loose smut. Phytopathology 26: 630-642.

Levine, M H. and W.J. Cherewick. (1952) Studies on dwarf leaf rust of berley. Tech Bull. D.S.P.A-1056.

Main S.E.B. (1926) studies in rust resistance. Jour Heridity 17(9):313-325.

Macers, R.C.F. and Van Den Driessebe (1966) yellow rust of barley in England 1961-65. J: Agric. Scicamb 57.255-265.

Malik, M M.S. anc
ley by loose sr
loose smut in
formation in nature and in culture. Trans. Brit. Mycol Soc. 43:117-126.

Mathur, R.S. et. al. (1960) : Resistance of barley varieties to loose smut Ustilago nuda and covered smut (Ustilago hordei) in Uttar Pradesh. Curr. Sci. 29:280-281.

Mc Fodder, P.R (1951). Seed size and loose smut of barley. Can. J.Pl.Sci. 40:611-615.

Mehta, P.R. (1951). Covered smut of barley and its control, Agric. & Animal Husb. Uttar Pradesh, 2:3-7.

Mehta, P.R., B. Singh and S.C. Mathur (153), Varietal reaction to covered smut of barley. Sci. and Cult. 19: 262-263.

Mehta, P.R., B. Singh end S.C. Mathur (1953) . Varietal reaction of stripe disease of barley. Sci. & Cult. 19:152.

Mitra, M. (1935). Helminthosporium diseases of barley and their control. Indian J. Agric. Sci. 5.499.

Mundkur, B.B. (1934) Some preliminary feeding experiments with Scabby barley. Phytopathology. 24:1237-1243.

Newton, M. and T. Johnson (1936) Stripe rust Puccini glumarum in Canada, Canadian J. Res. C 14:89-108.

Nishikado, Y. (1929) Studies on the Helminthosporium disease graminae in Japan. Ber. Ohara Inst. Landw. Forsch, 4:111-126.

Noack, F. (1905) : Helyminthosporium gramineum and Pleospora trichostoma. Zeitsher, Pflanzenkrank. 15:193-205.

Misra A.P. and Om Prakash (1971) Helminthosperum catenarium incit ant of a new leaf blight disease of barley in India. Indian Phytopathlogy 24:582-583.

Moore, M.B. (1936) A Method of inoculating wheat and barley with loose smuts Phytopathology 26 397-400.

Om Prakash and A.P. Misra (1976) Barley Variety as a source of resistance to net blotch Indian J. Mycol and Pl. Path. 6:109-110.

Poehlman, J.M. (1945) A Simple method inoulating barley of with loose smut. Phytopathology 35 : 640-644.

Popp. W. (1951) Infection in seeds and seedlings of wheat and Barley in relation to development of loose smut. Phytopathology 41 · 261-275.

Popp, W. (1955) A Comparative study of spore germination of Ustilago tritici and Ustilago nuda. Phytopathology, 45 . 585-590.

Popp, W. (1959) A new appraoch to the embryo test for predicting loose smut of wheat in adult plants. Phytopathology 49 : 75-77.

Popp, W. and W.J Cherewick (1953) An improved method of inculating seeds of oats and barley with smut. Phytopathology 44 : 697-699.

Porter, R.H. (1956). Seed treatment tests for control of barley loose smut. Plant Disease Reporter 40 · 106-111.

Prasada, R., V C. Lele], L.M. Joshi, S. Singh. M.M. Payak, D.P. Misra, G. Swarup, L B. Goel, G. Krishna, and S K. Sharma (1966) Ocurrence of Physiologic races of Wheat and barley rusts in India during 1957-62. Indian Phytopathology 18 : 84-85.

Roane, C.W. (1962) Inheritance of reaction to Puccinia hordei in barley Genes for resistance among north American race differentiating varieties. Phytopathology 52 : 1288-1295.

Rodenhei-ser, H.A.C. (1926) Physiologic specialization of ustilago nuda and ustinago tritici Phytopathology 16 : 1001-1007.

Russele, R.C. (1950). A study of the hot water treatment of barley for the control of loose smut, Ustilago nuda. Sci. . Agric. 30 : 303-315.

Russell, R.C. (1950a.) The whole embroyo method of testing barley for loose smut as routine test. Sci. Agric. 30 : 361.

Russell, R.C. (1953). The drowning treatment for loose smut of barley. Proc. Canad. Phytopath. Soc. 20 : 21.

Russell, R.C. and H.F. Chinn (1958). The salt water soak treatment for the control of loose smut of barley. Plant Disease Reporter 42 : 618-621.

Russell, R.C. and L.E. Tyner (1954). The influence of temperature on the time required to control loose smut of barley by means of Spergon or water soak treatment. Can. J. Agric. Sci 34 : 533-538.

Schaller, C.W. (1949) Inheritance of resistance to loose smut Ustilago nuda in barley. Phytopath. 39 : 959-979.

....(1951) The effect of mildew and scald infection on yield and quality of barley. Agron. Jour 43 : 183-188.

... .(1955) Inheritance of resistance to net blotch of barley. Phytopath 45 : 174-176.

Schropp. W. (1940) Bor and Gramineen. Forschungs dienst 10 138-160.

Semeniuk, W., and J.G, Ross. (1942) Relation of loose smut to yield of barley. Can. Jour Research C 20 : 491-500.

Shands, H.L. (1934) Temperature studies on stripe of barley. Phytopath 24 : 362-383.

Shands, H.L. and D.C. ARNY. (1944) Stripe reaction of spring barley varieties. Phytopath. 34 : 572-585.

Shands, H.L. and J.G. DICKSON. (1934) Variation in hyphal tip cultures from condia of Helminthosporium gramineum. Phytopath. 24 : 559-560.

Shands, H.L. and C.W SCHALLER. (1946). Response of Spring barley varieties to floral loose smut incoculation. Phytopath. 36 : 534-548.

Shands, R.G. (1939) Chevron, a barley variety resistant to stem rust and other diseases. Phytopath. 39 : 209-211.

Shands, R.G. (1942). An apparent linkage of resistance to loose smut and stem rust in barley. Jour Am. Soc., Agron. 38 : 690-692.

Simmonds. P.M. (1946), Detection of the loose smut fungi in embryos of barley and wheat. Sci. Agr. 26 : 51-58.

Smith, G. (1900). The haustoria of the Erysiphanceae. Bot. Gaz. 29 : 153-184.

Smith, L. (1951). Cytology and genetics of barley. Bot. Rev. 17 : 1-51, 133-202.

Smith, L. and J M. Rattrau (1930). Net blotch, spot blotch and leaf stipe diseases of barley in South Africa. South African Jour. Sci. 27 : 341-351.

Tapke, V.F. (1937). Physio'ogic races of Ustilago hordei. Jour Agr. Res 55 : 692

..........(1943) Occurrence, indentification, and species validity of the barley loose smuts, Ustilago nuda and U medians. Phytopathology 33 : 194-209

.... (1943). Physiologic races of Ustilago nigra Phytopathology 33 . 324-327

Shrivastava, S.N. and D P Srivastava (1976) Resistance of barley varieties to covered smut Indian Phytopath 29 : 319.

Singh, R.S. (1968) Plant disease 2nd ed. Oxford and IBH Publishing Co Calcutta 494 pp.

Tisadale, W.H. and V.F Tapke (1924) Infection of barley by Ustilago nuda through seed inoculation. Jour Agr. Res 29 : 263-287.

Tabke, V F. (1931). Influence of humidity on floral infection of wheat and barley by loose smut. Jour. Agr Res 43 : 503-516.

Tapke, V.F. (1935). An effective and easily applied method of inoculating seed barley with covered smut Phytopathology 25 : 1038-1039

Tapke, V.F. (1937). Physiologic races of Ustilago hordei. Jour. Agr. Res. 55 : 683-692.

Tapke, V.F. (1937). Sasonal cycle of Ustilago hordei. Phytopathology 27 : 141.

Tapke, V.F. (1939). Influence of environments after seeding emergence on loose smut of oats and covered smut of barley. Phytopathology 29 : 22-23.

Tapke, V.E. (1940). Pre-emergence and post-emergence factors that influence the infection of barley by covered smut and nigra loose smut. Phytopathology 30 : 23.

Tapke, V.F. (1945) New Physiologic races of Ustilogo hordei Phytopathology 35 : 970-976.

Tapke, V.F. (1948). Environments and the cereal smuts. Botan. Rev. 14 : 359-412.

Taple, V.F. (1952). Further studies on environments after seedling emergance and other factors that influence the incidence of barley covered smut. Phytopathology 42:117-118.

Tyagi, P D, (1964) Metabolites of Helminthosporium spp. in relation to disease. Indian Phytopath Soc. Bull 2:73-82.

Tyner, L.E. (1951). Control of loose smut of barley by chemical and phsyical treatments. Sci. Agr. 31:187-192.

Tyner, L.E. (1952). The control of loose smut of barley (Ustilaginoidae) by spergon SL. Phytopathology 42:476.

Tyner, L.E. (1953). The control of loose smut of barley and wheat by spergon and by soaking in water at room temperature. Phytopathology 43: 313-316.

Tyner, L E. (1957). Factors influencing the elimination of loose smut of barley by water soak treatment. Phytopathlogy 47: 420-422.

Tyner, L.E. (1962). Effect of cyanide in anaerobic treatment of barley for control of loose smut. Phytopathology 52: 1228-1229.

Tyner, L.E. and R.C. Russell (1952). Control of loose smut, in barley by terachloro-(para-benzene) (spergon SL). Plant Disease Reporter 36:180-181.

Vasudeva, R.S., L.M. Joshi and K.R. Sreekantiah (1960) Physiologic specialization in Puccinia hordei. Indian Phytopathology 13:66-67.

Vasudeva, R.S., L.M. Joshi and V.C. Lele (1953). Suspertibility of some grasses to cereal rusts. Indian Phytopath 6(1): 39-46.

Vasudeva, R S. and M.R.S. Iyenger (1950). Control of loose smut of barley. Curr. Sci. 19:218-219.

Vasudeva, R.S.R. Prasada, V.C Lele, L.M. Joshi., D.P. Misra and M.H. Rao (1961). Distribution and prevalence of physiologic races of wheat and berley rust is India during 1952-57. Indian Phytopathology 14:61-76.

Waterhouse, W.L. (1927). Studies in the inheritance of leaf rust, Puccinia anomala Rostr in crosses of barley. Jour. Proc. Roy. Soc. N S. Wales. 61:218-247.

Weaver, J.C. (1943). Climatic relations of American barley production. Geograph. Rev. 33:569-588.

Wehmeyer, L F. (1949). Studies in the Genus Pleospora. I Myco-logia 41:565-593.

Yarwood, C.E. (1934). Effect of mildew and rust infection on dry weight and resperation of excised clover leaflets. Jour Agr. Res. 49.549-558.

..............(1936). Tolerance of Erysiphe polygoni and certain other powdery mildews to low humidity. Phytopathology 26:845-859.



(ग) धान की फसल के रोग

(Diseases of Paddy Crop)

धान भारत के पूर्वी, दक्षिणी एवं दक्षिण-पश्चिम भाग के लोगो का मुख्य भोजन है, परन्तु इसकी खेती सभी राज्यो में की जाती है। हमारे देश के लगभग 8 करोड़ 80 लाख एकड़ भूमि मे धान की खेती होती है जिससे लगभग 2 करोड़ 70 लाख टन चावल प्रति वर्ष पैदा होता है। धान की फसल में विभिन्न प्रकार के मौसम मे अपने को अनुकूल बनाने की व्यापक क्षमता है, इसी कारण संसार के पर्याप्त भू-भाग पर इसकी खेती होती है। धान की कम पैदावार के अनेक कारणो में से एक प्रमुख कारण धान के रोग है। धान का ब्लास्ट एवं पत्ती अंगमारी रोग विश्व के धान उत्पादक प्रायः सभी क्षेत्रो में पाया जाता है, तथा कभी कभी महामारी का रूप भी धारण कर लेता है। धान की फसल पर फफूंदियों से मुख्य रूप से लगने वाले रोग इस प्रकार है।

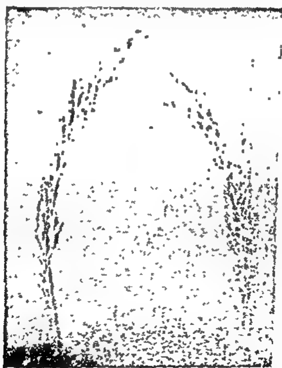
(1) ब्लास्ट (blast)
(2) पत्ती अंगमारी (leaf blight)
(3) तना गलन (stem rot)
(4) पद गलन (foot rot)
(5) बन्ट (bunt)
(6) पात कंड़ (leaf smut)
(7) मिथ्या कंड़ (false smut)
(8) बीजांकुर अंगमारी (seedling blight)

ब्लास्ट
(BLAST)

धान (paddy) की फसल का ब्लास्ट एक महत्वपूर्ण रोग है, जिसका प्रकोप लगभग सभी धान उगाये जाने वाले देशो मे होता है। सर्व प्रथम इस रोग का प्रकोप 1704 मे जापान मे देखा गया तथा रोगकारक जीव का वर्णन 1891 में इटली मे केवरा (Cavara) ने किया। 80 देशों से इसके होने के संकेत मिले हैं परन्तु जापान, तेवान, अमेरिका, भारत आदि देशों में इसका अधिक प्रकोप होता है। भारत में सर्व-प्रथम मद्रास के तिन्जोर जिले में 1918 मे इसका प्रकोप देखा गया।

दक्षिण भारत मे इसका प्रकोप अधिक होता है क्योंकि ठण्डे स्थानों पर मौसम मे अधिक नमी रहती है। आन्ध्र प्रदेश, मद्रास, केरल, बम्बई, उड़ीसा एवं काश्मीर मे विशेषत. इससे हानि देखी गयी। कई वर्ष यह रोग व्यापक रूप से भी फैला जिसके कारण दो तिहाई (2/3) उपज तक कम हुई। (Kulkarani, 1959)। पद्मनाभन (1959) के अनुसार 75 प्र. श. तक हानि इस रोग से हो सकती है। श्री कान्तिया (Shri Kantaiya, 1969) ने मैसूर में 75 प्र. श. तक का नुकसान इस रोग से देखा। घाना में (Ghana) में 30 से 90 प्र. श. तक का नुकसान देखा गया है (Bise ssas, 1965)

लक्षण (Symptoms)—पौधे के सभी वायव्य (aerial) भाग इस रोग से प्रभावित होते हैं परन्तु पर्ण फलक (leaf blade) एवं गर्दन (neck) पर लक्षण अच्छी तरह दृष्टिगोचर होते है। पर्णच्छिद (leaf sheats) पुष्पक्रम अक्ष (rachis) सधि स्तम्भ (culm) के जोड़ एवं तुष निपत्र (glumes) भी इससे अधिक प्रभावित



(चित्र 2 ग·1) धान का ब्लास्ट रोग

होते हैं (चित्र 2 ग·1)। सर्व प्रथम पत्तियों पर 1 मि. मि. व्यास के नीले नीले रंग के धब्बे बनते हैं। पुरानी पत्तियो पर ये धब्बे गोल होते हैं तथा नई पत्तियों पर बेतरतीब

से फैले रहते हैं। धब्बों के बीच का हिस्सा ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे पानी से भिगोया गया हो। धब्बों के किनारे कत्थई रंग के हो जाते हैं तथा धीरे-धीरे सूखे भूसे रंग के प्रतीत होते हैं। जब बहुत से धब्बे आपस में मिल जाते हैं पत्तियां झड़ जाती हैं। पौधशाला (nursery) में बीजांकुर की पत्तियों पर सबसे अधिक धब्बे बनते हैं तथा अधिक प्रभावित पौधा पूर्ण रूप से मर जाता है। सबसे अधिक नुकसान इस रोग से उस समय होता है जबकि फूल तने (flowering stem) के गर्दन के भाग पर हो। ब्लास्ट के क्षत स्थल (lesion) सबसे ऊपरी या उसके पास वाली गांठ (node) पर भूरे वृतिक्षयी बन जाते हैं जो बाद में काले पड़ जाते हैं। जब बालियां निकल रही हों उस समय भी गर्दन की ऊतिका (neck tissue) सबसे प्रभावित होती है।

तने से नीचे की गांठ इससे प्रभावित होकर काली पड़ जाती है तथा सड़ने लगती है। सधि स्तम्भ आसानी से अलग किया जा सकता है तथा वह स्थान काला दिखाई पड़ता है। भूरे से काले धब्बे पुष्प क्रम एवं तुष निपत्र पर भी बनते हैं।

रोग ग्रसित बीज उगते नहीं हैं तथा जमीन के भीतर ही सड़ जाते हैं। यदि ग्रसित बीज से पौध तैयार हो भी जाये तो 2-3 सप्ताह बाद पत्तियों में पीलापन पड़ना प्रारम्भ हो जाता है। तने का ऊपरी भाग सिकुड़ जाता है तथा फफूंद के कवकजाल से ढका रहता है। गर्दन (जहां से बाली निकलती है) का रंग नीला हो जाता है जो कि बाद में काला पड़ जाता है। बाली की शाखाएँ गिरने लगती हैं तथा दाने हल्के पड़ते हैं एवं उनका रंग भी काला पड़ जाता है।

रोग का प्रभाव यदि बालियों में दाने निकल आने के बाद हो तो फसल को अधिक हानि नहीं पहुँचती है। उष्ण कटिबन्ध (tropics) देशों में सबसे अधिक नुकसान बीजांकुर अवस्था एवं पुष्प निकलने के बाद गर्दन सड़न के कारण, तथा शीतोष्ण (temperate) देशों में प्ररोहण (tillering) के समय सबसे अधिक नुकसान होता है। गांगुली (Ganguly, 1954), ने बताया कि धान का पौधा इस फफूंद से तीन अवस्था में प्रभावित रहता है—(1) बीजांकुर अवस्था (2) प्ररोहण अवस्था रोपण के 15 से 20 दिन बाद (3) बाल निकलने की अवस्था।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle)—यह रोग पिरीकुलेरिया ओराइजी (piricularia oryizae) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है।

सामानार्थक (Synonyms) पिरीकुलेरिया ग्रिसाई (Piricularia grisae (Cke) कवकजाल पटयुक्त, शाखीय तथा बहुकेन्द्रिक होता है। अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है जो कोनिडियोफोर के सिरे पर बनते हैं कोनिडिया साधारणतः बहुत कम शाखीय, धूमर पटयुक्त बेलनाकार होते हैं। इनका जनन अग्रीय (terminal) होता है। परिपक्व होने पर ये नाशपाती के आकार के (ovate) बहुकेन्द्रिक 2 पटयुक्त तथा शीर्ष नुकीला होता है जो प्रजाति पर निर्भर करता है। कोनिडिया का अंकुरण कई जनित नलिकाओं द्वारा होता है।

कठ-कवक (seclerotia) तथा क्लोमाईडोबीजाणु भी इस फफूंद से बनते है (पदमनाभन, 1965)। इस फफूंद द्वारा एक विषैला पदार्थ पिरोकुलेरीन भी उत्पन्न होता है, जो अधिक मात्रा मे पोषक के लिये हानिकारक है, परन्तु अधिक अवमिश्रण (dilution) पर स्वय भी उत्तेजक (stimualtory) होता है (Brawn and Pringle, 1959)। इस विषैले पदार्थ के अलावा यह फफूंद पेक्टीओल्याटिक प्रकिण्व भी उत्पन्न करती है, जिसके अलावा कोशिका भित्ति के भग होने (break down) मे बड़ी सहायता मिलती है (Mahadevan, 1957)।

वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार (Annual recurrence and spread)—

यह रोग बीजोढ (seed borne) तथा मृदुढ (soil borne) है। कलकरनी (1959) के अनुसार पादप व्याप्त (epiphytotic) ग्रसित बीज द्वारा ही नहीं परन्तु रोग के पोषिताओं तथा ग्रसित भूमि द्वारा भी आवर्तन हो सकता है। इसके वार्षिक-आवर्तन के बारे मे अलग अलग मत हैं। मैदानी इलाको में घास पोषकों (grass-hosts) सापार्श्विक पोषकों तथा जल्दी बोयी जाने वाली धान की फसल पर कोनिडिया हवा द्वारा उडकर पहुँच जाते है, तथा ये संक्रमण कर रोग को तेजी से फैला देते हैं। दक्षिण भारत में मुख्यतः रोगकारक जीव भूमि में जीवित रहता है। सापार्श्विक पोषक जिन पर कि इस फफूंद के होने के सकेत मिले हैं, वह इस प्रकार है—गन्ना (De Gutierrez, 1954) मिटेरिया इन्टरमिडिया (Panwar and Kulkarni, 1954) डीजीटेरिया - मारजिनेटा, डिनेभा रिट्रोफ्लेक्सा, पेनीकम रिपेन्स, पेनीकम प्रोलीफरम, लेरसिया हेक्साण्डा, वेचीरनरिया म्यूटिका, एरण्डोडीनेक्स आदि (पदमनाभन, 1965)। अधिक ऊँचाई (1500 फीट समुद्र सतह के ऊपर) पर डी० मारजिनेटा पाया जाता है, जहां पर से संभवतः इस रोग का प्रसार मुख्यतः होता है। इटो (Ito. 1932) ने प्रदर्शित किया कि ब्लास्ट से ग्रसित भूसे को खुले खेत में इकट्ठा करके रखा जाये तो रोग कारक जीव नष्ट हो जाता है। सूखे हालत (dry-condition) मे फफूंद का कवकजाल 1 से 2 साल तक खेत में जीवित (survive) रह सकता है परन्तु नमी होने पर एव जीवाणुओं की प्रक्रिया से मिट्टी मे नष्ट हो जाता है।

केनार्ड (Kennard, 1965) ने ब्रिटिश घाना में, मोंगथीमाई (Moanghthimy, 1964) ने विएटनाम मे तथा सोकोलोवा (Sokolova, 1964) ने रूस मे बीजोढ होने के सकेत भी दिये। सुजुकी (Sujuki, 1934) ने बताया कि यह फफूंद भ्रूण की उत्तिका में भ्रूण की ब्रान परत (Endosperm bran layer) तुष निपत्र तथा इसके नीचे एवं दोनो मे उपस्थित रहती है। भारत में बीजोढ़ होने की कम सम्भावना है क्योंकि जब बीज मैदानी भाग में जून जुलाई मे बोया जाता है तब अधिक तापक्रम होने के कारण रोग उत्पन्न नही हो पाता है, तथा भूमि के अन्दर भी 19 दिन से ज्यादा इस परजीवी के रहने की सम्भावना नहीं है क्योंकि भूमि मे

अन्य परजीवी जैसे स्ट्रप्टोमाइसीज ग्रीसोयस, स. फ्लेविग्रोलस के उपस्थित रहने के कारण यह जीवित नहीं रह पाता है (Apparao, 1965)। अतः हमारे यहाँ इसके वार्षिक प्रावर्तन में सापाश्विक पोषक तथा जल्दी बोई हुई धान बहुत सहायक होती है। पद्मनाभन् (1965) के अनुसार यह फफूंद सर्दियों मे ग्रसित धान के भूस मे जीवित रहती है तथा अप्रैल के माह मे बहुत अधिक मात्रा मे कोनिडिया बन जाते है वहाँ से कोनिडिया हवा द्वारा उड़कर फसल को संक्रमित कर देते है। एक क्षत स्थल (Lesion) से 4,5000 कोनिडिया तक एक रात्रि मे बन सकते हैं। परिमुक्त (Lil erated) कोनिडिया ऊपर की तरफ संवहन धारा (convection currents) से जाते है तथा वहाँ से फिर हवा द्वारा उनका विकीर्णन होता है। जापान मे हुए अनुसंधानों से पता चला है कि कोनिडिया 25 मी. ऊपर तक लिफ्ट (Lift) किये जा सकते हैं तथा क्षैतिज (horizontally) की ओर 20 कि.मी. तक जा सकते हैं। हवाई जहाज मे 2,900 मी. के ऊपर भी कोनिडिया को स्लाइड पर पकड़े गये (rapped) हैं। जिन पौधों की पत्तियाँ खड़ी शलत (vertical position) मे होती हैं, उनमें क्षैतिज स्थिति (Horizontal positin) की अपेक्षाकृत बीजाणु कम पकड़े जाते हैं।

क्लेमाइडोबीजाणु एवं कठ-कवक (Sclerotia) भी यदि प्रकृति मे बनने लगे तो वे वर्ष स्थाई करने मे सहायक हो सकते हैं। लैंगिक अवस्था की उपस्थिति के बारे मे भी अभी तक कोई ठोस प्रमाण नही है परन्तु यदि कभी अवस्था पायी जाये तो हो सकता कि यह रोग इनके द्वारा ही चिरस्थाई करता है।

पूर्व वृत्तिक कारक (Predisposing factors)—कोनिडिया के उत्पन्न होने के लिए उपयुक्त तापक्रम एवं नमी का होना बहुत जरूरी है। रामकृष्णा (Ramakrishna, 1948) के अनुसार इस फफूंद की वृद्धि के लिए अनुकूलतम तापमान 30° सें. है। अबे (Abe, 1933) एवं हेमी तथा इमूरा (Hemmi and Imura, 1939) ने बताया कि कोनिडिया 88% से कम आपेक्षिक आर्द्रता पर नही बनते हैं; इसी कारण कोनिडिया सबसे अधिक सुबह के समय उत्पन्न होते है। पद्मनाभन (1968) ने बताया 20–25° से. का न्यूनतम तापमान एवं 90 प्रतिशत से अधिक आपेक्षिक आर्द्रता सुबह के समय होना इस रोग के लिए अनुकूल है, जब यह अवस्था 2–4 दिन या ज्यादा रहती है, तो इस रोग के होने का अन्देशा कर सकते है। 20° सें. रात्रि का तापक्रम प्रत्यावर्ती (alternating) दिन के तापक्रम 30° सें. पर निश्चित प्रदीप्ति (Fixed illumination) पर 14 घण्टे तथा 10 घण्टे अन्धेरे का समय होना इस रोग की बढ़वार के लिए बहुत ही अनुकूल है। जब पौधे 26° सें. या इससे अधिक रात्रि के तापक्रम पर उगाये जाते हैं तो संक्रमण बहुत ही कम होता है। (Suryanarayana, 1958)। रात्रि का कम तापक्रम धान की बढ़वार के साथ होना इस फफूंद की वृद्धि के लिए अनुकूल है।

रामलिंगम (Ramlingam, 1966) ने बताया की दक्षिण भारत में कोनिडिया बनते हैं तथा सबसे अधिक मुख्य फसल में सुबह 4 बजे तथा द्वितीय फसल मे (secondaly crop) सुबह 6 बजे बनते हैं। रात्रि मे इनका सबसे अधिक विकीरण होता है, जबकि तापमान 25–27^{0} में, तथा आपेक्षिक आर्द्रता 86 से 98 प्रतिशत हो। सूर्यनारायण (1963) के अनुसार न्यूनतम रात्रि का तापमान क्रान्तिककारक (Critical factor) है।

बीजाणुकरण सबसे अधिक जबकि परजीवी प्रकाश मे उगाये जायें तब होता है। जैसे-जैसे प्रकाश की तीव्रता बढ़ती है, कोनिडिया अधिक मात्रा में बनते हैं। सबसे अधिक बीजाणुकरण (300–400 M/S) उस समय होता है जब प्रकाश की विभिन्न तरंग दैर्ध्य (wave length) पर इस फफूंद को उगाया जाये (Chakrabarti and Wilcoxson, 1971)।

सुब्रमनियन (Subramanian, 1967) तथा सूर्यनारायना (Suayrnarayana, 1967) ने बताया कि प्रतिरोधन केवल आनुवंशिक ही नियन्त्रित (govern) नही होता बल्कि वातावरण पर भी निर्भर करता है। कम तापक्रम पर अवशोषण (absorption) नत्रजन पत्ती में घुलनशील नत्रजन जैसे ग्लेयूटेमिन की जगह एकत्र (accumulate) होती है। इसके अलावा कम तापक्रम पर अधिक नत्रजन के खाद के प्रयोग से बहुत कम मात्रा मे पत्तियो द्वारा सिलिकोन का अवशोषण (absorption) होता है। इन दोनो के कारण पौधे मे प्रतिरोधन का गुण बढ़ता है। अदयाथया एव रंगास्वामी, 1952 (Adyanthaya and Rangaswami, 1952) व वोल्कि तथा उनके साथियो (Volk et al; 1958) के अनुसार धान की पौधों मे सिल्कोन की मात्रा प्रभाव्य से प्रतिलोमी मे (inversely) सम्बन्ध है। माटसुयामा एवं डाइमन्ड (Matsuyama and Dimond, 1973) के अनुसार नत्रजन खाद का प्रकिण्व प्रक्रिया से सीधा सम्बन्ध है। इसके फलस्वरूप लिगनिन एवं फिनोलिक्स की मात्रा कम हो जाती है एव रोग की मात्रा बढ़ जाती है।'

पौधे की उम्र का भी प्रभाव्यता पर बहुत असर पड़ता है। प्ररोहण की अवस्था तथा उसके बाद रोपण की अवस्था सबसे अधिक प्रभाव्य है तथा जैसे-जैसे पौधे परिवक्व होते हैं इसका प्रभाव कम होता जाता है।

उपरोक्त पर्यावरण कारक के अलावा अधिक नत्रजन का प्रयोग भी इसके लिए सुग्राही है (Sundaraman, 1927; Krishnaswami, 1952, Padmanabhan, 1953, Ganguly et al; 1954, Suryanaryana, 1958, Appa-Rao, 1964 and Padmanabhan, 1965)। पत्तियों पर जितनी अधिक नत्रजन एकत्र होगी पौधा उतना ही अधिक प्रभावित होगा। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि नत्रजन कम होने पर सिलिका का अवशोषण (Absorption) कम हो पाता है जिसके फलस्वरूप पौधा कम प्रभावित होता है क्योंकि जिन पौधो मे नत्रजन

कम दिया जाता है उनमें सिलिका का अवशोषण अधिक देखा गया है फलत: पौधा प्रतिरोधी रहता है। फासफोरस एवं पोटाश का अकेले में या नाईट्रोजन के साथ मिश्रण करने पर ब्लास्ट के ऊपर कोई असर नहीं पड़ता है (Krishnaswamy, 1952 and Ganguly et al; 1954)। प्रभाव्यपन तथा प्रतिरोधन खादों की अपेक्षा तापक्रम पर अधिक निर्भर करता है।

कायिकी प्रजातियां(Physi ologic races)–इसफ फूंद की बहुत सी प्रजातियां मिली हैं जिसके फलस्वरूप प्रतिरोधी किस्मों की खोज करना कठिन है। अन्तर्राष्ट्रीय विभेदक पोषक न होने के कारण अलग-अलग जगह अलग विभेदक पोषकं पर नई प्रजातियों का अध्ययन किया गया है। जापान में 13 (Goto, 1963), कोरिया में 10 (Lea and Matsumoto, 1966) तैवान में 19 (Chiu et al; 1963) कोलोम्बियों में 14, अमेरिका मे 25 तथा भारत मे 39 (पदमनाभन, 68) प्रजातियां मालूम की गयी हैं। तदुकान (Tadukan), टि-टेप (Te Tep) एवं जेनिथ (Zenith) किस्में भारत मे पायी जाने वाली सभी प्रजातियों से प्रतिरोधी हैं। ये तीन किस्में प्रतिरोधन का गुण मिलाने के लिए हमारे यहां संकरण (Hybridization) के काम आती है।

भारत मे Zenith, Lacrosse, Caloro, CI 8970 (P) CI 8970 (S), CI 5309, PI 180061, IT 201902, Wag Wag, Raminad Str. 3, Ac 1613, CR 906, Benganen, SM 6 एवं M.A.S. किस्मे प्रजातियां पहचानने के काम आती हैं। इनमे पहली 10 अमेरिकन तथा बाद की भारतीय किस्में हैं। चूंकि यह प्रजातियां हर देश मे विभिन्न विभेदक पोषक पर पहचानी गयी हैं अतः इनमें कोई सीधा सम्बन्ध नही है।

भारत में विभिन्न जगहों पर पायी जाने वाली प्रजातियां

क्रमांक	क्षेत्र	राज्यों के नाम	प्रजातियां
1.	पश्चिमी	त्रिपुरा	आई. आर. 11 सी.]
		पश्चिमी बंगाल	आई. आर. 10, 12, 13, 22, एवं 11 डी.
		बिहार	आई. आर. 3, 8, 11 ए, 11 बी.
		उड़ीसा	11 ई, 19, 27, 28 एवं 30
2.	उत्तरी	जम्मू एवं काश्मीर	आई. आर. 5
		हिमाचल प्रदेश	आई. आर. 17
		उत्तर प्रदेश	आई. आर. 9, 13 एवं 25
		मध्य प्रदेश	आई. आर. 20
3.	पूर्वी	गुजरात	आई. आर. 14
		महाराष्ट्र	आई आर. 11 सी. एवं 26

4.	दक्षिणी	आन्ध्र प्रदेश	आई. आर. 1, 2, 21 एवं 29
		मद्रास	आई. आर. 4, 6, 7, 18 एवं 23
		मैसूर	आई. आर. 15 एवं 24

(Chakrauarti et al, 1966)

इन प्रजातियो मे 11 एवं 12 अमेरीका की प्रजाति 8 एवं 16 क्रमानुसार है तथा IR 13, 14, 15 एवं 16 अमरीकी प्रजाति 25 के जीव प्रारूप (Biotype) हो सकते है। इन सभी प्रजातियों से अचीअशी (Aichi Asahi) प्रभाव्य थी तथा केवल एक प्रजाति 23 से प्रतिरोधी है। ये सभी प्रजातियां भारतीय विभेदक पोषक S 67, Co 4, निनीधेन (Ninidheu) Co 25, CR 906 एवं 907 (कालिम्पोंग के अलावा) पर पहचानी गयी हैं।

रोकथाम (Control)

1. खेत की स्वच्छता एवं सापार्श्विक पोषक का उन्मूलन—सभी सापार्श्विक पोषिताओं को पूर्णतया नष्ट कर दें जिससे कि रोग का प्रसार न होने पाये। इसके अलावा खेत में उपस्थित सभी रोगी पोधो को भी एकत्र कर नष्ट कर दें।

2. बीजोपचार (Seed treatment)—किसी भी पारावर्ती फफूंदनाशी दवा जैसे एग्रोसन जी. एन. (0·2%) से बीजोपचार करें। बीजो को घोल मे 3 से 12 घण्टे तक बुवाई से पूर्व भिगोकर बाद में उनको छाया मे सुखा दें। जापान मे बीजोपचार से इस रोग की रोकथाम होने में बहुत सहायता मिली है। परन्तु हमारे यहां यह रोग बीजोढ नही होने के कारण इसका विशेष महत्व नही है। फिर भी जहां पर यह रोग बीजोढ होता है वहां बीजों का चयन रोग ग्रस्त खेतों से नहीं करना चाहिये। बीजों के साथ अन्य रोगों का भी संचारण होता है। अतः बीजोपचार करना लाभप्रद रहता है। कुलकर्णी (Kulkarni, 1950) ने बोर्डो मिश्रण 5 : 5 : 50, वेंकटेकृष्णाह्नी एवं डोलवी (Venkatakrishnaih and Dolvi, 1960) ने एग्रोसन जी.एन. 0 25% एवं त्रिमुलाचार एवं व्हाइटहैड (1971) ने आरियोफन्जीन 20 से 40 पी.पी.एम. से बीजोपचार कर इस रोग की रोकथाम की। जैन (1958) ने आधा घण्टा बीज को भिगोकर तथा बीजांकुर को शैल कॉपर, कुपराविट एवं पैरेनोक्स (0·3%) से उपचारित करना लाभप्रद बताया।

3. छिड़काव (Spraying)—रोग के लक्षण दिखाई देते ही फफूंदनाशी दवा का छिड़काव जैसे बोर्डो मिश्रण (1%), पेरेनोक्स (0 3%), डायथेन जेड–78 (0 2%), डायथेन एम–45 (0·15%), क्यूप्राविट (0·5%) या वेटेकाल-15 (1/2 किलो/100 लीटर पानी में) लाभकारी सिद्ध हुआ है। कापरवर्ती फफूंदनाशी को औसतन 1 किलो/300 लीटर पानी मानव चलित फुहारे से, 125 ग्राम/80

लीटर लघु आयतन फुहारन से करें। पारावर्गी फफूंदनाशी का छिड़काव भी रोकथाम में अच्छा साबित हुआ है। सेरेसन गीला (wet) का छिड़काव अच्छा पाया गया है। पारावर्गी 27·12 ग्राम पारा/400 लीटर पानी मानव चलित फुहारन से एव 5·42 ग्राम/80 लीटर पानी लघु आयतन या मरकरी धूल 27·12 ग्राम मरकरी/एकड़ के हिसाब से भुरकना भी लाभदायक सिद्ध हुआ है। नर्सरी में बुआई के 15 दिन पश्चात् 600 से 800 मिली लीटर हिनोसान या 1·25 किलोग्राम जिराम या 2-2½ किलोग्राम डायथेन एम. 45 या 0·625 किलोग्राम सेरेसन वेट या 0·1% कासुमिन का छिड़काव भी अवश्य करें। आर्थिक दृष्टि से एक छिड़काव बीजांकुर अवस्था में दो पत्तियों की अवस्था में तथा दो फूल बाहर निकलने के बाद करने पर संक्रमण नही हो पाता है। मानव चलित फुहारन से खर्चा 50.00 रु. आता है परन्तु लघु आयतन फुहारन से 100.0 रु. खर्चा आता है। कई वैज्ञानिकों ने इस रोग हेतु काफी अनुसंधान कर फफूंदनाशी दवा की सिफारिशें की है। (Padamnabhan, 1966), पदमनाभन आदि (Padamnabhan et al., 1956, 62, 63, 66; Vaheeduddim, 1953; Kameshwar Row et al., 1967; Fukanaga, 1963; Tandon and Verma, 1969; Abeygunawardena and Peiris, 1958).

कॉपरवर्गी फफूंदनाशी का देशी किस्मों मे तो प्रयोग कर रहे हैं, परन्तु इनके पादप विषालु (phytotoxic) होने का भय रहता है, इसलिए आजकल ब्लास्ट की रोकथाम के लिये प्रतिजैविक दवायें काम मे ली जा रही हैं। अनुसधानों से पता चला है कि सिफेलोथीसीन (Yoshi, 1949, 50, 53)=इमोटिसिडीन एव एन्टीमाईसिम ए, ब्लास्टीसिडिन ,ब्लास्टीमाईसिन का 20 पी.पी.एम. घोल का छिड़काव लाभदायक सिद्ध हुआ है (Misate et al., 1957)। जापान मे ब्लास्टीसीडिन का इस रोग की रोकथाम हेतु बहुत प्रयोग किया जाता है। केन्द्रीय धान अनुसंधान सस्थान कटक में भी स्ट्रप्टोमाइसिज की एक जाति इसकी रोकथाम में कारगर सिद्ध हुई है। पदमनाभन (1963) ने बताया कि कटक का प्रतिजैविक तथा ब्लास्टीसीडिन इसके रोकथाम मे लाभकारी सिद्ध हुये हैं।

आधुनिक अनुसंधानों से यह भी पता चला है कि कासुमिन, हिनोसन, काइटेजीन, ड्यूटर एवं आरियोफन्जीन के भी ब्लास्ट की रोकथाम मे अच्छे परिणाम मिले हैं। श्रीकान्तएया (Srikantaiya, 1969) तथा मोहन्ती एवं दास (Mohanty and Das, 1971) ने गर्दन संक्रमण के लिये हिनोसान 50% ई.सी. 1·5 मि. लीटर प्रति लीटर दवा का प्रयोग सर्वश्रेष्ठ बताया। कासुमिन 1·5 ग्राम/लीटर एवं एक ग्राम/लीटर का प्रयोग भी अच्छा रहा। इशियामा आदि, (Ishiama et al; 1965) मोहन्ती एवं दास (Mohanty and Das 1971) एवं अबेगुनावर-

देना एवं पेरिस (Abeygunawardena and Peiris, 1958) के अनुसार कार्बनिक फफूंदनाशी दवाएं अकार्बनिक फफूंदनाशी दवाओं से इस रोग की रोकथाम में अच्छी पायी गई परन्तु टण्डन एवं वर्मा (1969) ने अकार्बनिक फफूंदनाशी दवाएं अच्छी बतायीं। उपज में हिनोसान एवं कासुमिन (1 ग्राम/लीटर) के प्रयोग से अधिक वृद्धि हुई (*Srikantaiya, 1969; Ishiyama et al; 1965; Mohanty* and Das, 1971)। कासुमिन का 1·5 ग्राम/लीटर के प्रयोग से उपज में अधिक वृद्धि नहीं हुई परन्तु रोग की रोकथाम में अच्छा था। संभव है कि अधिक मात्रा में इसका प्रयोग पादप विषालु हो (Mohanty and Das, 1971)। हिनोसान एवं कासुमिन के बाद ड्यूटर (2·5 ग्राम /लीटर) एवं ब्रिस्टेनोल (0·440 ग्राम/लीटर) अच्छे पाये गये। सुब्रमनियन एवं रामास्वामी (Subramaniam and Ramaswamy, 1975) ने ब्लास्ट की रोकथाम में कासुमिन 1 ग्राम प्रति लीटर, हिनोसान 1 मि. ली. प्रति लीटर, बेनलेट 4 ग्राम प्रति लीटर एवं डायथेन एम-45, 4 ग्राम प्रति लीटर के हिसाब से छिड़काव लाभप्रद बताया। हेगड़े (1971) ने गर्दन ब्लास्ट की रोकथाम Bla-S से बहुत ही अच्छी एवं 200% उपज अधिक प्राप्त की। कानियान एवं वेंकटराव (Kanniyan and Venkata Rao, 1973) ने पत्ती पर संक्रमण कोसाइड (Kocide) से नियन्त्रित में 9·7% था जबकि बिना उपचारित में संक्रमण 42·4% रहा।

बेनोमिल, एम. एफ. 44, ड्यूटर, ब्रेस्टान एवं हेनोसन का मिट्टी को रोपण के समय उपचारित करना भी इस रोग की रोकथाम में काफी लाभप्रद रहा (Galvez and Castano, 1974)। जापान में राबसाईड (Rabcide–4, 5, 6, 7- tetra chlorophalide) कासुमिन एवं हिनोसन से अच्छी रही।

फूकूनागा आदि (Fukunaga et al., 1965) ने ब्लास्टीसीडिन द्वारा 5–10 ugm/ml के अनुपात से ब्लास्ट की रोकथाम की। कासुगेमाइसीन (Kasugamycin) का 20 से 30 पी.पी.एम. का छिड़काव द्वितीयक संक्रमण एवं फफूंद के बीजाणुकरण के अवरोध में अच्छा रहा (Okamoto, 1968)। टोलीडो आदि (Toledo et al., 1975) ने कासुगेमाइसीन एवं टेटराक्लोरोफथेलाइड के मिश्रण से पेनीकल (panicle) एवं पुष्पण के निकलने पर छिड़काव करने से रोग के नियन्त्रण के साथ उपज में भी काफी वृद्धि हुई। ब्लास्ट की रोकथाम में अभी विकसित काइटाजीन-पी, हिनोसन, इनेजान (Inezan) का छिड़काव भी 4 से 500 पी.पी.एम. पर लाभकारी रहा। इन सभी में काइटाजीन-पी पौधों में सबसे अधिक चलायमान (mobile) है (Kozaka 1969)। 2-3 छिड़काव 450 पी.पी.एम. पर या 5-10 किलो दाने प्रति हेक्टर पानी में मिलाने से रोक नियन्त्रण सम्भव है (*Yoshinaga*, 1969)। दाने तीन दिन बाद सक्रिय होते हैं, तथा 5–7 दिन बाद अधिकतम सक्रिय

एवं 30 दिन तक इसका प्रभाव रहता है। (Langcake and Wickins 1975a, 1975b) ने दैहिक फफूंदनाशी का प्रयोग माधुनिक अनुसंधान में अच्छा बताया।

इसके अलावा पौध की रोपाई करते समय 0·2% फाईटोलान के घोल में 10 मिनट तक डुबो लेना उपयुक्त रहता है।

4. उचित खाद का प्रयोग (Proper use of manure)—अधिक नत्रजन का प्रयोग इसके लिये सुग्राही है अतः प्रभाव्य किस्मों मे तो 30 किलो ग्राम नत्रजन प्रति एकड से अधिक नही देना चाहिये। जापान मे सिलिका को मिट्टी में मिलाने पर भी रोकथाम मे बहुत सहायता मिली है। फास्फोरस एवं पोटाश का प्रभाव्यपन एवं प्रतिरोधन पर कोई असर नही पड़ता है।

5. उचित समय पर बुवाई (Proper time of sowing)—बुवाई उचित समय पर करनी चाहिये जिससे कि कम तापमान, अधिक नमी तथा ओस के जमने को दूर (avoid) किया जा सके।

6. प्रतिरोधी किस्मों का प्रयोग (Use of resistant varieties)—रोग प्रतिरोधी किस्मों का प्रयोग करें परन्तु बहुत अधिक प्रजातियों के होने से यह सब मुश्किल है कि एक किस्म सभी प्रजातियों से प्रतिरोधी हो, इसलिये शलत प्रतिरोधन (vertical resistance) का विशेष महत्त्व नही है, तथा क्षैतिज (Horizontal) प्रतिरोधन द्वारा ही रोकथाम सम्भव है। गोविन्दास्वामी (Govindaswami, 1968) ने बताया कि Co 25, 26, Adt 25 (अधिक समय की किस्में) Co 30 (मध्यम समय की किस्मे) TKM। (कम समय की किस्म) इससे प्रतिरोधी है। Co 425, PTB 90, BK 15, CH 1007 भी इससे प्रतिरोधी हैं। जाया, टैचुंग नेटिव 1 तथा A 67 पर इसका असर कम होता है। 601, 141 उड़ीसा में तथा 67, 90, 200 एवं 249 बम्बई मे, Gs 480, Adt 30, CH 20, CH 13, Sucho BJ 1 बिहार में इससे प्रतिरोधी हैं। माथुर एवं मिश्रा (1961) में बताया कि उत्तर प्रदेश मे 8, 100, 12, 22, 36, 755, 3, T 100, N 12, T 22-A, T 36, H 755, T3 प्रतिरोधी हैं। 6517, 22 का चयन जो Co4 X Co 13 के संकर (Cross) से किया गया वह भी इससे मद्रास राज्य के सभी भागों मे प्रतिरोधी है (Nara Singa Rao 1955)। अद्यन्थैया एवं रंगास्वामी (Adyanthaya and Rangaswami 1952) ने बताया कि प्रतिरोधी किस्मों में सिलिकेटड अधोस्तर लम्बी तथा बाल्बिफोर्म (bulbi form) अधिक होती हैं।

भूरा धब्बा
(Brown Spot)

धान की फसल पर बहुत से रोग लगते है जिनमें भूरा धब्बा साधारण तथा सभी स्थानों में पाया जाता है। 1945 को अकाल जाच आयोग (Famine enquiry

commission) के अनुसार 42-43 में बंगाल के अकाल का प्रमुख कारण इस रोग से फसल का नष्ट होना था। भारत में ही नहीं अपितु सभी धान उगाये जाने वाले देशों में इसका प्रकोप देखा गया है, आक्सफेमिया (Oxfemia, 1922) ने जापान, इटली, फिलीपाइन आदि देशों से भी इस रोग के होने का विवरण दिया।

भारत में सबसे पहले 1918 में गोदावरी एवं कृष्णा के डेल्टा (delta) से तथा सुंदररमन (Sundararaman, 1919) ने मद्रास में इनका वर्णन किया। हमारे यहाँ यह रोग सभी प्रदेशों में पाया जाता है परन्तु आसाम, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, आन्ध्रप्रदेश, केरल, मैसूर एवं उत्तर प्रदेश के धान उगाये जाने वाले क्षेत्रों में भी इसका प्रकोप अधिक होता है। पदमनाभन (1948) के अनुसार 15 से 90 प्रतिशत तक का नुकसान इस रोग से हो सकता है। पंजाब में धान के दानों के वजन में 4·6 से 29% तक का नुकसान देखा गया है (Bedi and Gill, 1960)। स्थानीय (endemic) रूप में उत्तरी बंगाल, आसाम, तथा उत्तर प्रदेश के तराई क्षेत्रों में होता है।

लक्षण (Symptoms)—इस रोग का आक्रमण पौधों की अंकुरण अवस्था से लेकर पकने की अवस्था तक किसी भी समय हो सकता है परन्तु पत्तियों पर लक्षण अच्छी प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं। भ्रूणप्रचोल पर्णच्छद एवं तुष निपत्र भी इससे अधिक प्रभावित होते है।

बीजांकुर अवस्था में पौधा जब 2-3 से. मी. का होता है तब आक्रमण होता है। बीज पत्र (Cotyledon) का शीर्ष भूरे से गहरे रंग का हो जाता है तथा संक्रमण बीजोधर (hypocotyle) पर भी होता है। जिसके कारण वह कमजोर पड़ जाता है। बहुत अधिक प्रभावित नर्सरी दूर से पहचानी जा सकती है जो कि भूरी तथा जली सी प्रतीत होती है।

पत्तियों पर मुख्यतः लक्षण दिखाई देते हैं। पत्तियों की ऊपरी सतह पर तकुए के आकार के छोटे छोटे धब्बे बन जाते हैं, जिनका मध्यवर्ती भाग धूसर रंग तथा किनारे भूरे रंग के हो जाते है। धीरे धीरे गहरे भूरे हो जाते हैं तथा प्रकृति भी बड़ जाती है। धब्बे चारों ओर से पीले प्रभामण्डल (halo) से रहते हैं। धब्बों का प्रकार 0·5-3 मि. मी. से 1-1·4 मि. मी. तक का होता हैं। अधिक धब्बे बनने पर आपस में मिल जाते है तथा अनियमित आकृति के हो जाते हैं फलतः सम्पूर्ण पत्तियां झड़ जाती हैं। पुष्प गुच्छ (Panicles) बहुत अधिक संक्रमित हो जाते हैं इसके कारण पुष्प (blossoms) में बहुत अधिक बन्ध्यता (sterility) हो जाती है। गाँठें काली पड़ जाती है तथा शाखायें जोडो के पास से टूट जाती हैं।

प्रारम्भिक अवस्था में रोगग्रसित पौधो से बालियां नही निकल पाती हैं। यदि निकलती भी है तो उन पर काले धकत्ते बन जाते हैं। बाल की गर्दन ग्रसित हो जाने

पर दाने टेढ़े मेढ़े बनकर सिकुड़ जाते हैं। रोग ग्रसित बीजों का कम अंकुरण तथा पत्तियों पर संक्रमण होने पर प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया धीमी पड़ जाती है फलतः दाने हल्के, कम भरे हुए तथा सिकुड़े बीज (shrivelled) उत्पन्न होते हैं तथा भूसा अधिक मात्रा में पैदा है। संघितम्भ (culms) भी इससे प्रभावित होते हैं तथा पीले पड़कर भूरे और फिर गहरे भूरे पड़ जाते हैं। तुष निपत्र (glumes) पर भी इसका प्रभाव देखा गया है। जब रोग का प्रकोप उग्र रूप से होता है तो दाना ही नहीं बन पाता है तथा बालियाँ बांझ (sterile) हो जाती है। पुष्पण अवस्था सबसे अधिक है तथा अधिक उससे ही नुकसान होता है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle)—यह रोग हेल्मिंथोस्पोरियम ओराइजी (Helminthosporium Oryzae Breda de Haan) फफूंद के द्वारा उत्पन्न होता है जिसकी लैंगिक अवस्था एस्कोमाईसिटीज वर्ग की जाति में मिली है जिसका नाम कोकलिओबोलस मियाबियानस (Cochliobolis miyabeanus Ito and Kuribay.) है। इटो एवं कुरियाबास (Ito and Kuriabayashi, 1927) ने ओफिओबोलस मियाबियानस नाम दिया तथा बाद में 1934 में Drechsler ने कोकलिओबोलस मियाबियानस नाम रखा। भारत में दस्तूर ने इसके वर्गीकृत स्थान (systematic position) का वर्णन किया।

समानार्थक (Synonyms)

1. कोकलिओबोलस (ओफिओबोलस) मियाबियानस Cochliobolus (Ophiobolus) miyabeanus (Ito and Kuribay) Dickson
2. हेल्मिथोस्पोरियम मैक्रोकारपम (Helminthosporium macrocarpum) Thuem
3. हे. ओराईजी (Helminthosporium Oryzae) Miy. and Hori,
4. ड्रेक्सलेरा ओराइजी Drechslhera oryzae (Breda de Haan) Subrmaniam and Jain

कवक जाल अन्तराकोशिक तथा अन्त कोशिक पटयुक्त धूसर, भूरे से गहरे रंग का होता है। कोनिडियोफोर मजबूत (stout) सीधे (erect) पर्णरन्ध्रों से गुच्छे (tufts) में बाहर आते हैं। ये हल्के भूरे से जैतुनी एक केन्द्रिक, अशाखित, पटयुक्त होते हैं। इनकी मुख्यतः विशेषता मुड़ाव (bends) का होना है। कोनिडियोफोर लम्बाई चौड़ाई में बहुत भिन्न होते हैं तथा 680 माइक्रोन लम्बे हो सकते हैं परन्तु

हमारे यहां 175×5-7 माइक्रोन के होते हैं। कोनिडिया जैतुनी भूरे 5 से 10 पट-युक्त, थोड़े मुड़े हुए गोलाकार शीर्ष तथा आधार की तरफ कुछ सिकुड़े 56-104×15-25 माइक्रोन के होते हैं। नीचे वाला कोनिडिया सबसे पुराना होता है। कोनिडिया का अंकुरण अन्त की दोनों कोशिकाओं से जनित नलिका द्वारा होता है। अंकुरण में लगभग 16 घन्टे लगते हैं।

इटो व कुरिबयासी (Ito and Kuribayashi, 1927) ने सर्व प्रथम इसकी लैंगिक अवस्था का वर्णन किया जो केवल एक कोनिडिया से संवर्ध (culture) में बनी जिसका नाम ओफिओबोलस मियाबियानस रखा। उन्होंने पेरीथिसियायों संवर्ध (culture) में ही देखी परन्तु प्रकृति में देखने में असमर्थ रहे। टुलिस (Tullis) ने सर्वप्रथम अमेरिका में प्रकृति में लैंगिक अवस्था देखी। पेरीथिसिया फ्लास्क जैसी आकृति की जो ऊपर से एक मुख द्वारा खुली रहती है। ये गोल, समुख तथा स्यूडो-पेरेन्काइमेटस होती है। ऐस्कस बेलनाकार लम्बी तुर्कुरूपी (Fusiform) कुछ मुड़ी हुई जिसमें 4 से 6 एक कोशिक रंगहीन बीजाणु पाये जाते हैं। इनका अंकुरण भी जनित नलिका द्वारा होता है।

फफूंद विषैला पदार्थ उत्पन्न करती है। ओरसेनिगो (Orsenigo, 1956) ने बताया कि हेल्मिन्थोस्पोरियम ओराइजी प्रयोगशाला में (vitro) में विषैला (toxin) पदार्थ परिमुक्त (liberate) करती है जिससे धान के बीजों की अंकुरण क्षमता कम हो जाती है तथा बीजांकुर में भी कई प्रकार की असमान्यता (abnormalities) उत्पन्न हो जाती है। इसके अलावा जड़ों तथा भ्रूणाग्रचोल (coleoptile) की वृद्धि भी 30 पी पी. एम से कम सान्द्रता (low concentration) होने पर भी रुक जाती है। प्रथक्करण (isolate) होने पर इसका नाम कोकलिओबोलिन रखा (Orsenigo, 1957)। बाद में ओरसोनिगो तथा पवान (Orsenigo and Pavan, 1958) ने बताया कि कोकलिओबोलिन का श्वसन पर भी प्रभाव पड़ता है जो श्वसन के प्रकिण्व पर प्रभाव करके नहीं बल्कि प्रोटोप्लाज्म के भौतिक एवं रासायनिक संतुलन (equilibrium) को नष्ट कर देता है। महादेवन (1967) ने बताया कि बहुत अधिक मात्रा में पेक्टिनोलाइटिक प्रकिण्व भी इस फफूंद संवर्धन (culture) एवं पोषक से बनते है।

वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार (Annual recurrence and spread)—यह रोग बीजोढ़ (Seed borne) तथा मृदूढ़ (Soil borne) है। ओऊ (Ou, 1972) के अनुसार प्राथमिक संक्रमण मुख्यतः बीज द्वारा होता है परन्तु हमारे यहाँ वातोढ़ कोनिडिया का रोग फैलाने से ज्यादा सम्बन्ध है (Venkata Rao et al; 1974)। वपनीय खेत (seed bed) में ग्रसित बीजांकुर बीजोढ़ संक्रमण से होते हैं (Chattopadhyay, 1957)। भ्रूणाग्रचोल में संक्रमण पहले होता है जो पत्ती तक जाकर

छोटे धब्बों के रूप में दिखाई देता है। भूमि से भी संक्रमण हो सकता है (Thomas, 1940)। रोग ग्रसित भूमि में पड़े पोषिताओं में यह वाव्यरचना चिरजीवन कर सकता है परन्तु चटोपाध्याय एव चक्रवर्ती (Chattopadhyay and Chakrabarti, 1954) ने बताया कि फफूंद भूमि में जीवित नहीं रह सकती है तथा ठूंठ (stubbles) में जीवित है। स्क्रूडर (Schroeder) ने फफूंद का कवक जाल भ्रूणों (endosperm) में प्रदर्शित किया। पदमनाभन् तथा उनके साथियों (1953) ने बताया कि यह फफूंद बीजोढ तो है परन्तु मैदानी इलाकों में जहाँ गर्मियों के महीनों में इसकी खेती होती है तब तापमान 28° सें. से अधिक होता है जिसके फलस्वरूप संक्रमण नहीं हो पाता है। मैदानी इलाकों में सम्भवतः घास पोषकों (सापार्श्विक पोषक) तथा जल्दी बोयी जाने वाली धान की फसल पर कोनिडिया हवा में उड़कर पहुँच जाते है, तथा वहां अनुकूल वातावरण न मिलने पर अंकुरित होते हैं। कुछ ही घन्टों में पत्ती की सतह पर आसगाग बन जाते हैं जिस पर कवकसूत्र बनते है। कवकसूत्र क्यूटिकल, अधोस्तर या पर्णरन्ध्रों के द्वारा अन्दर प्रवेश कर जाते हैं। द्वितीयक संक्रमण रोगी पौधों पर प्राथमिक संक्रमण से बने कोनिडिया द्वारा होता है जिसका विकीर्णन हवा द्वारा होता है। घोष तथा उनके साथियों ने (Ghosh et al; 1960) बताया कि हवा में धान के खेतों के पास दूसरे मौसम (of season) में कोनिड़िया उड़ते रहते है। सापार्श्विक पोषक जिन पर इस फफूंद के होने के संकेत मिले हैं, वह इस प्रकार है—बाजरा, इकाईनोक्लोआ कोलोनम, (Echincchloa colonum) लीरासिया हेक्साण्ड्रा (Leera ciahexandra), सिटेरिया इटेलिका (Setarea itatica) तथा साईनोडॉन डेक्टीलोन (Cynodon dactylon) आदि। केन्द्रीय धान अनुसंधान केन्द्र की 1949-51 वार्षिक रिपोर्ट में ई. कोलोनम तथा चटोपाद्ययां एवं चक्रवर्ती (1953) ने बताया कि ली. हेक्साण्ड्रा सापार्श्विक पोषक द्वारा मुख्य रूप से इसका प्रसार होता है।

पूर्ववृत्तिक कारक (Predisposing factors)—तापमान का इस फफूंद की वृद्धि तथा संक्रमण पर बहुत प्रभाव पड़ता है। प्राथमिक संक्रमण भूमि का तापमान 26° सें. से कम होने पर ही हो पाता है (Chakrabrati, 1968)। मित्रा (Mitra, 1931) ने बताया कि संवर्धन (culture) में 25 से 30° सें तापमान वृद्धि के लिये अनुकूलतम है। चटोपाद्ययां एवं गुप्ता (1565) के अनुसार कोनिड़िया बनने के लिये 21-26° सें. अनुकूलतम तापमान है। कोनिड़िया बनने में रुकावट (inhibit) पैदा करता है। 31° सें. पर बीजाणुकरण बहुत ही कम तथा 36° सें. पर बिल्कुल नहीं होता है। कोनिडिया बनने के लिये कम से कम 92·9% आपेक्षिक आर्द्रता होनी चाहिये तथा जैसे जैसे आपेक्षिक आर्द्रता बढ़ती है कोनिडिया अधिक मात्रा में बनते है सदा 100% आर्द्रता पर इससे अधिक बनते हैं। 96·1 से 100% आद्रता अनुकूलतम है।

अंकुरण के लिये अनुकूलतम तापमान 25 से 30° सें. है तथा 2° सें. न्यूनतम एवं 41° सें. अधिकतम तापमान है जिस पर अंकुरण हो सकता है। इस रोग के पूर्वानुमान (forecast) के लिये पदमनाभन (1963) ने बताया कि लगातार बादली मौसम, कम बारिस, अधिक ओस, का बनना तथा 26 से 28° सें. तापमान तथा कम प्रतिशत में धूप (75% से कम) के होने से उत्पात का मालूम किया जा सकता है।

जापान में धान की खेती लाल (sandy) या पीट (peaty) मिट्टी में जहां जल का निकास कम हो वहां इस रोग का प्रकोप देखा गया है। कम या अधिक मात्रा में नत्रजन के प्रयोग का प्रभाव्यपन से सीधा सम्बन्ध है। अधिक नत्रजन का प्रयोग इसके लिये सुग्राही है (चटोपाद्याय एवं डिक्सन, 1967)। जिन मिट्टियों में पोटाश की कमी होती है वहां इसका प्रकोप अधिक देखा गया है (पदमनाभन् तथा उनके साथी, 1962)। इसके अलावा जहां अधिक मानसून के कारण अपक्षालन (leacbing) अधिक होता है वहां पर भी इसका प्रकोप अधिक देखा गया है क्योंकि सभी तत्व घुलकर (leach down) बह जाते है (चक्रवर्ती एवं पदमनाभन्, 1962)। कॉपर, फेरस, बोरोन की कमी के कारण भी इसका प्रकोप अधिक होता है। रोपए के तरीके से खेती करने पर भी फसल ज्यादा प्रभावित होती है (चटोपाद्याय एवं चक्रवर्ती, 1950)।

थोमस (Thomas, 1941) ने बताया कि भूमि के तापक्रम एवं बीजांकुर संक्रमण मे आपसी सम्बन्ध है। 15° सें. पर संक्रमण की प्रतिशतता एवं मरने वाले बीजांकुर की मात्रा क्रमानुसार 60 एवं 42 है, परन्तु 29° सें. पर यह मात्रा 38 एवं 12 क्रमानुसार रह गयी। पदमनाभन् तथा उनके साथियो (1953) के अनुसार बीजोढ [redacted] प्राथमिक संक्रमण 28° सें. तथा उसके ऊपर नहीं होता है। जहां पर मिट्टी में पानी एकत्र रहता है वहां सामान्य मिट्टी की अपेक्षा अधिक प्रकोप रहता है।

वातावरण के अलावा पौधे का भी प्रतिरोधन तथा प्रभाव्यपन पर बहुत असर पड़ता है। जैसे-जैसे पौधे की उम्र बढ़ती है पौधा प्रभाव्य होता जाता है तथा पुष्पण अवस्था या परिपक्व अवस्था सबसे अधिक प्रभावित होती है (पदमनाभन एवं गांगुली 1954)।

रोकथाम (Control)—

1. सार्पाश्विक पोषक का उन्मूलन तथा खेत की स्वच्छता-खेत के खरपतवार एवं फसल के मलवे को एकत्र कर जला दें, तथा सार्पाश्विक पोषक जैसे इकानीरोना कोलेना, सीरसिया हैक्सान्ड्रा का उन्मूलन कर देना उपयुक्त रहता है।

2. बीजोपचार—किसी भी पारावर्गी फफूंदनाशी दवा मे बीजोपचार करना बहुत जरूरी है। जापान मे कार्बनिक पारावर्गी दवाओं जैसे एग्रोसन जी एन., सेरेसन

आदि के 0·2% घोल मे बीजो को 18° सें. पर 6 घन्टे भिगोने से अच्छे परिणाम मिले हैं। येलो क्यूप्रोक्साइड (1/2 किलो yellow cuprocide 280 किलो के हिसाब से) या उपसुलन (upsulun) (1/200 के घोल मे 20° सें. पर 48 घन्टे भिगोने पर) से बीजोपचार करना भी लाभदायक सिद्ध हुआ है। चौधरी (Chowdhury, 1950) को येलो क्यूप्रोक्साइड से उपचारित करने पर 24% अधिक उपज मिली। केन्द्रीय धान अनुसंधान कटक के अनुसार एरेसान (Aresan), फाइगोन (Phygon), क्यूप्रोक्साइड, एग्रोसन, फरनासन, (Fernasan) एवी एफ. 2776 (जुलाई से दिसम्बर) से मुख्य फसल पर बीजोपचार करने से अच्छे परिणाम प्राप्त नही हुए जबकि द्वितीय फसल मे 11 फफूंदनाशी दवा मे एग्रोसन, येलाक्यूप्रोक्साइड लेड़ोसन, फर्जीवोपर, कॉपर सेन्डोज से उपचारित करने पर अधिक उपज प्राप्त हुई मालीकार्जाराव एवं पदमनाभन् (1966) ने बताया बीजो को 8 घन्टे तक ठन्डे पानी मे भिगोकर फिर उसे 52° सें. पर 15-20 मिनट तक गरम पानी से उपचार किया जाये तो इस रोग का प्रकोप नही होता है। पदमनाभन आदि (1962) ने नाइस्टेटिन एवं ग्रीसीयोफलविन से बीजोपचार कर एवं धर्मवीर आदि (1970) ने डायथेन एम-45 से 0·3% बीजोपचार द्वारा इस रोग की रोकथाम की। अग्निहोतरुद्ध (1976) ने डाइफल्टान से 4 ग्राम/1 किलो बीज उपचारित करना लाभप्रद पाया।

कभी-कभी फफूंद बीजो के अन्दर भी रहती है अतः गर्म पानी मे बीजोपचार के पहले ठण्डे पानी मे 8 से 12 घन्टे तक बीजों को भिगोये तथा बाद में 52° सें पर 10 मिनट तक या 54° सें. पर 5 मिनट तक डुबोने से भी फफूंद नष्ट हो जाती है। चौधरी (1946) ने बताया कि 53-54° सें. पर 10 मिनट बीजो को रखने पर फफूंद नष्ट हो जाती है। ग्रसित बीजो को 55° सें पर 10 मिनट तक उपचारित करने पर 100 मे 20% संक्रमण पाया गया (Thomas, 1941)। मिश्रा एवं सिंह (1972) ने धान की प्रभाव्य किस्म B.K. 36 जिस पर इस फफूंद के भूरे धब्बे थे उन्हे बोर्डो मिश्रण, ब्लाइटोक्स 50, फाइटोलान, जिनेब एवं केप्टान से उपचारित किया। सभी फफूंदनाशी दवाएँ बिना ग्रसित उपचारित बीज की तुलना मे अच्छी पाई गयी तथा सबसे बड़ी बीजांकुर (tallest) केप्टान से उपचारित बीजो मे थी।

3. छिड़काव–आमतौर पर इसकी रोकथाम के लिए छिड़काव का सुझाव नही दिया जाता है परन्तु भारत मे छिड़काव के बड़े अच्छे परिणाम मिले हैं। पेरेनोक्स (parenox) 0·4% का छिड़काव करने पर पत्ती एवं दानों का संक्रमण बहुत कम हो जाता है। (चट्टोपाध्याय एवं चक्रवर्ती 1961) बोर्डो मिश्रण 3:3.50 का छिड़काव भी नर्सरी मे तथा रोपण के चार सप्ताह बाद करने पर इसका प्रभाव कम देखा गया है। पदमानाभन (1966), वेहीदुद्दीन (Vaheeduddin, 1953). पदम-

नाभन् (1956) एवं पेडवीक (Padwick, 1956) ने डायथेन जेड-78 (0.2%) के छिड़काव से इसकी रोकथाम की। मुखर्जी एवं बागची ने (1964) फाइटोलान या ब्लाइटोक्स, मरकूलीन एवं डाइथेन एम-32 से छिड़काव कर इस रोग की रोकथाम की।

इस रोग की रोकथाम के लिये प्रतिजैविक दवायें भी काम में आ रही हैं। धान के पौधों को 100 माइक्रो ग्रा/मी.लीटर सल्फोनिलेमाइड् एवं 25 माइक्रोग्राम/मी.लीटर ग्रीसिग्रोफल्विन से जबकि पौधे अन्तक्रमण (inocultion) के दो दिन पहले उपचारित किये जायें तो रोकथाम हो जाती है (श्रीवास्तव, 1966)। प्रतिहोवइड् (1976) ने बताया कि सिरकोबिन 50W (थायोफेनेट) का छिड़काव 300 ग्राम/एकड़ काफी लाभकारी रहा तथा बाद मे क्रम में डाइफल्टान 80W 250 ग्राम/250 लीटर पानी मे प्रति एकड़ छिड़काव करने से नियंत्रण पाया गया।

एकई (Akai, 1950) ने बीजांकुर को कॉपर, फेरस, बोरोन (salt) के कम मात्रा में तथा हारमोन टेट्राफीड्रानेपथोइक एसिड, (N A.A., 1:2:3:4) वाईटोमिन के-3 से उपचारित करने पर भी रोग का प्रकोप नहीं बताया। भारत में भी पदमनाभन (1968) ने पोटेशियम या कैल्सियम या मैगनीज या कम पी.एच. का सही संशोधन (suitable amendment) करने से इसका प्रकोप नहीं देखा। मुखर्जी एवं बागची (Mukherjee and Bagchi, 1965) ने बताया कि विरल तत्व (trace elements) का छिड़काव करना लाभप्रद रहता है तथा 30 पौंड फास्फोरस/एकड़ का प्रयोग करना चाहिये। उत्तर बंगाल, आसाम, मलाबार आदि जगहों पर इस रोग का प्रकोप इसलिये अधिक पाया क्योंकि वहां पर अधिक वर्षा होने के कारण चल तत्व (mobile elements) जैसे पोटेशियम, फेरस, मैगनीज बह (leach) कर चले जाते हैं। फलतः पौधा इस परजीवी से सुग्राही हो जाता है। सेन एवं केशर (1972) ने इस फफूंद के कोनिडिया के अंकुरण पर विभिन्न तृण कन्ध के प्रभाव का अध्ययन किया जिसमें स्टेम एफ-34 ने अकेले एवं 2,4-डी व एम.सी.पी.ए. के साथ अंकुरण का पूर्ण रूप से अवरोध हुआ जबकि 2,4-डी व एम.सी.पी.ए. ने उपयुक्त सभी सान्द्रतायों पर अंकुरण को बढ़ाया।

4. धूलन—आधुनिक अनुसंधानों से पता चला है कि कार्बनिक पारायुक्त धूल के धूलन से जापान में इसकी रोकथाम में बहुत सहायता मिली है (Padwick, 1960)। भारत में भी चट्टोपाध्याय (1961) ने 9-10 किलो प्रति एकड़ की दर से मरकरी के धूलन द्वारा पत्ती एवं दानों के संक्रमण की रोकथाम कर उपज में वृद्धि पाई।

5. उचित मात्रा में खाद का प्रयोग—इस रोग का प्रकोप उन स्थानों पर अधिक देखा गया है जहाँ पोटाश की कमी हो अतः सन्तुलित उवरकों का प्रयोग करना चाहिये। अधिक मात्रा में नत्रजन का प्रयोग इस रोग के लिये सुग्राही है।

मैंगनीज का मृदा में 20 पी.पी.एम. का प्रयोग भी रोग नियन्त्रण में काफी सफल रहा है (Kaur and Padamnabhan, 1974)।

6. प्रतिरोधी किस्मों का प्रयोग—पदमनाभन तथा उनके साथियो (1966) ने बताया कि सी.एन.बी. 45, ए.सी. 135, 1382, 1535, 2045, 2465, 2559, 2966, बी.ए.एम.-10, टी. 498/2 ए., टी. 141, टी. 960, टी. 141 (उड़ीसा) में प्रतिरोधी बताई। टेचुइन्गनेटिव तथा 1 आई.आर. 8 इससे कम प्रभावित होती हैं।

7. इसके अलावा रोगी खेत से स्वस्थ खेत में पानी नही आने दें तथा प्रभावित बीजो का ही प्रयोग करें।

तना गलन
(Stem Rot)

तना गलन भी धान का एक महत्वपूर्ण रोग है। सबसे पहले 1876 में इटली में इसका प्रकोप देखा गया। 1898 में होरी (Hori) ने जापान से इसका विवरण किया। भारत मे सबसे पहले शाह (Shaw) ने 1913 में नोआखली (जोमब पाकिस्तान में है) मे इसका प्रकोप देखा। भारत के अलावा यूरोप, एशिया तथा अमेरीका के देशो मे इससे अधिक क्षति पहुचती है। बटलर (1918) ने बताया कि धान उगाये जाने वाले सभी प्रान्तो मे इसका प्रकोप होता है। फिलिपाइन मे सामान्यतः नुकसान 10% तथा उग्रावस्था में 25 से 80% तक तैवान मे औसतन 30% पंजाब मे 5 से 10% औसतन तथा पादप व्याप्त (epidemic) वर्षो मे 70% तक नुकसान इससे सम्भव है (Ghosh et al; 1962)। मद्रास, काश्मीर, कुर्ग (Coorg) तथा पंजाब मे कुछ वर्ष पूर्व ही यह रोग व्यापक रूप से फैला तथा भारी नुकसान हुआ। लूथरा एव सत्तार (Luthra and Sattar, 1936), पारासर एव लूथरा (Paracer and Luthra, 1944) एवं बेदी (Bedi, 1953) के अनुसार पंजाब मे 50 से 80% तक का नुकसान उग्ररूप से फैलने पर होता है, तथा 5 से 15% तक का नुकसान तो सामान्य है।

लक्षण (Symptoms)—जड़े या तने का आधार तथा पत्तियाँ इससे प्रभावित होती है परन्तु पर्णछद (Leaf sheath) पर संक्रमण अधिकतर होता है पर्णछद पर भूरे से काले गोल कठ-कवक (Sclerotia) उतिक्षयी धब्बे बन जाते है। धीरे धीरे ये धब्बे सम्पूर्ण पर्णछद मे फैल जाते है तथा पर्णफलक (Leaf blade) पीली पड़कर झड़ जाती है। तदुपरान्त ये काली निर्वर्णित (Discoloured) जगह तने पर भी फैल जाती है। प्रारम्भ में तने का आधार इससे प्रभावित होता है। एक या एक से अधिक पोरे (Internode) भी इससे प्रभावित हो सकती है प्रमित तना गल जाता है तदा टूटकर नीचे गिर जाता है। जब प्रसित तने को फाड़कर देखा जाये तो धूसर रंग का कवकजाल अन्दर दिखायी पड़ता है। जब पुष्प गुच्छ (Panicles) भरने लगता है, तब वृन्त उतिक्षयी स्थान से टूट जाता है। प्रारम्भिक अवस्था मे

संक्रमण होने पर बहुत कम दाने भरते हैं तथा वह हल्के होते हैं। यदि शुरू की अवस्था में संक्रमण अधिक हो जाता है तो पौधा ही मर जाता है परन्तु अधिकतर रोग का प्रकोप दोजी की आखिरी अवस्था में होता है।

शाह (Shaw, 1913) के अनुसार इस रोग का मुख्य लक्षण बहुत अधिक दोजी (tillers) का होना है। बटलर (1918) ने भी बताया कि देर की अवस्था में बहुत अधिक दोजी बाहर आते हैं। लूथरा एवं सत्तार (1936) के अनुसार पंजाब में मुख्यतः तने का गलन तथा उसका शक्तिमान (Collapse) होना ही इसके मुख्य लक्षण हैं।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle)—यह रोग स्क्लेरोशियम ओराइजी (Sclerotium oryzae Catt) फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है। कोनिडियल अवस्था हेल्मिथोस्पोरियम सिगमोईडियम (Helminthosporium sigmoideum Cav) समानार्थक-हैं सिगमोइडियम वे. माइक्रोस्फीरोइडस (H. sigmoideum uar microsphae roides)। हे. सिगमोईडियम वे इरेगुलेराई (H. sigmoideum uar sirregularae)।

फफूंद का कवकजाल पटयुक्त अन्दर से सफेद एवं कोशिका के बाहर जैतुनी रंग का होता है। इनमें जैतुनी रंग के आसंगांग (appressoria) बनते हैं। कठकवक काले, गोलाकार चिक्कण चमकीले 230 से 270 माइक्रोन व्यास के होते हैं। कोनिडिया भी कभी कठ-कवक के साथ पाये जाते हैं। परन्तु यह अवस्था अधिकतर नहीं पायी जाती है। कोनिडियोफोर गहरे, पटयुक्त (8 से 10) साधारण (simple) या कभी-कभी शाखित होते हैं। कोनिडिया तुर्करूप (fusiform) कुछ मुड़े हुए 3 पट वाले 55–65×11–14 माइक्रोन के बीच से गहरे भूरे तथा शीर्ष के कोशिका हल्के हरे या रंगहीन होते हैं। अंकुरण जनित नलिका से शीर्ष (apical) कोशिका द्वारा होता है। मुदंकर (1953) ने बताया कि स्क्लेरोशियम ओराइजी फफूंद में रंगीन कवकसूत्र (Coloured hyphae) तथा छोटे चिक्कण कठ-कवक पाये जाते हैं जो कि किण्वभोज (substrate) का रंग बदल देते हैं।

लैंगिक अवस्था ऐस्कोमाइसिटीज वर्ग में पायी गयी है। पेरीथीसिया फ्लास्क की आकृति की काली गोलाकार, औसतन 381 माइक्रोन व्यास की होती हैं। ऐस्कस मुद्गराकार (Clavate) तथा छोटे वृन्त (short stalked) पर होती हैं, जिसमें द्विपंक्तिक (biserially), तकुरूपी, 3 पटवाले 44 से 48 माइक्रोन लम्बे एवं 8 माइक्रोन चौड़े 8 ऐस्कोबीजाणु पाये जाते हैं। ऐस्कोबीजाणु का अंकुरण जनित नालिका द्वारा होता है।

वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार (Annual recurrence and spread)—कठ-कवक अवस्था के रूप में यह फफूंद भूमि में उत्तरजीवी रहती है। संक्रमण घावों (Wounds) के द्वारा पर्णच्छद या तने पर होता है। कभी-कभी जड़ों तथा तने के आधार का भाग जो भूमि के नीचे होता है इसमें भी संक्रमण हो सकता है। कोनिडिया

ग्रसित पत्तियों पर बनते हैं परन्तु वह द्वितीयक संक्रमण का कार्य करते है। कोनिडियल तथा एसीजीरस दोनो अवस्था अधिकतर प्रकृति मे नही देखी गयी हैं। प्राथमिक संक्रमण अधिकतर कठ-कवक के द्वारा ही होता है। एक जगह से दूसरी जगह कठ-कवक सिंचाई के पानी के साथ चले जाते हैं। इस फफूंद की लैंगिक अवस्था (लेप्टोस्फीरीआ सालवीनी) एवं कठकवक ही प्राथमिक अन्तःक्राम का साधन है (सिंह एवं पावगी, 1966, जैन, 1969)।

सिंह एवं पावगी (Singh and Pavgi, 1966) ने बताया कि इस रोग का प्रकोप उन स्थानो पर अधिक होता है जहाँ भूमि भारी हो तथा पानी निकास का अच्छा साधन नही हो। नीचे के स्थानो पर जहाँ पानी अधिक समय के लिए एकत्र होता है वहाँ फसल अधिक प्रभावित होती है। (पारासर एवं लूथरा, 1944 तथा सिंह एवं पावगी, 1966)।

कठ-कवक हवा से सूखी मिट्टी में प्रयोगशाला मे 129 दिन गीली (Moist) धान की मिट्टी में 133 दिन तथा नल के पानी मे 319 दिन तथा बन्द काच नलिका मे (Corked specimen tube) मे 525 दिन तक उत्तरजीवी रहती हैं। परन्तु मिट्टी की गहराई का भी बहुत प्रभाव पडता हैं। कम गहराई पर अधिक गहराई की अपेक्षा शीघ्र नष्ट हो जाती है (Misra et al; 1966)। इसके अलावा खाद का भी बहुत प्रभाव पडता है। अधिक मात्रा मे नत्रजन का प्रयोग इसके लिए सुग्राही है। (पारासर एवं लूथरा, 1944 एवं रामाकृष्णन, 1958)। विशेषतौर से शुरु की अवस्था मे पोटाश प्रतिरोधन का कार्य करता है।

रोकथाम (Control)—

1. खेत की स्वच्छता—ग्रसित पौधो के अवशेषों को एकत्र कर नष्ट कर देना चाहिए। पारासर एवं लूथरा (Paracer and Luthra, 1944) ने बताया कि कटाई के बाद सभी ठूठो (stubbles) को जलादेना, भरे हुए पानी को निकाल देना तथा ताजा पानी का प्रयोग करने से रोकथाम की जा सकती है। इसके अलावा रोगग्रसित खेत से स्वस्थ खेत मे पानी को नहीं आने दें।

2. छिड़काव—मिश्रा एवं दास (1967) ने कॉपर, पारावर्गी तथा डा०-थियोकार्बोमेट का प्रयोग इसकी रोकथाम के लिए किया। कॉपरवर्गी फफूद नाशी दवा में क्यूप्रॉवर 50 (भूमि मे 3500 पी.पी एम. तथा संवर्धन से 110 पी.पी. एम.) पारावर्गी दवा मे मरकरी क्लोराइड ($HgCl_2$) (भूमि मे 190 पी.पी. एम. तथा संवर्धन मे 50 पी.पी. एम.) तथा डाईथियोकार्बमेट मे फरबाम (1500 पी.पी. एम भूमि मे तथा 600 पी.पी एम. संवर्धन मे) अच्छी साबित हुए। सबसे अच्छी फफूद नाशी दवा मरकरी क्लोराइड पायी गयी। जैन (1971) ने हिनोसन एवं कासूगामीन 4.8 लिटर/हेक्टर दवा का छिड़काव इस रोग की रोकथाम मे प्रभावशील पाया। बोस आदि (1970) ने मरक्यूरीन, एडेसन ओ. एन., बेस्टान एवं जैन

(1973) ने बाद में बेनलेट 10 कि /हेक्टर एवं हिनोसन 4.8 लिटर प्रति हेक्टर सर्वश्रेष्ठ रसायन बताये ।

3 बुवाई में परिवर्तन—पारासर एवं लूथरा (1944) ने बताया कि देर से बुवाई तथा रोपण करने पर भी रोग का प्रकोप कम होता है ।

4. गहरी जुताई—गर्मियों के दिनो मे गहरी जुताई करना भी लाभप्रद रहता है ।

5. *रोग प्रतिरोधी किस्मों का प्रयोग—प्रतिरोधी किस्में बोनी चाहिए* । दुर्सार (बगाल) बासमती 370 बासमती–3, मुशकान–7, मुशकान–41 तथा बासा 62 (पजाब) प्रतिरोधी हैं ।

6. उचित मात्रा में खाद का प्रयोग—संतुलित मात्रा में खाद का प्रयोग करना चाहिए । अधिक नत्रजन का प्रयोग इसके लिए ग्राही है तथा पोटाश प्रतिरोधन का गुण लाता है अतः उचित मात्रा मे खाद का प्रयोग करें ।

7. खेत में पानी को भराव नही होने दें तथा अधिक गहरा पानी दें ।

पद गलन
FOOT ROT

विश्व के उष्ण कटिबन्ध (Tropical) तथा शीतोष्ण (temperate) धान उगाये जाने वाले क्षेत्रों मे इसका प्रकोप अधिक होता है । इसको बकाने (Bakanae), फ्यूजेरियम म्ंगमारी, जिबंला म्ंगमारी, दीर्घीकरण (Elongation) आदि नामो से भी जाना जाता है । एशिया से 40% तक के नुकसान का विवरण दिया गया है (Booth and Waterson, 1964) । थोमस (1931-33) ने भारत से इस रोग का विवरण किया । भारत मे वास्तविक नुकसान कितना होता है इसका सही प्रकार तो मालूम नही पड़ा है परन्तु सामान्यतः 5% नुकसान हो जाता है (Cramer, 1967) । सबसे अधिक हानि पूर्वी उत्तरप्रदेश के धान उगाये जाने वाले क्षेत्र मे होती है । 12 से 15% का संक्रमण 1960 मे उत्तर प्रदेश मे देखा गया (Pavgi and Singh, 1964) । धान के अलावा यह फफूंद मक्का, ज्वार, गन्ना एवं गेहूँ पर भी आक्रमण करती है ।

लक्षण (Symptosm)—इस रोग के लक्षण जुलाई एवं अगस्त के महीने मे दृष्टिगोचर होने है । नर्सरी मे ग्रसित बीजांकुर पीले पड़कर मुरझाने लगते हैं । आक्रमण एक विशेष जगह पर नही होता है बल्कि बिखरा हुआ (scattered) होता है । पत्तियां भाड़ियो के समान हो जाती हैं । ग्रसित पौधो की नीचे की गांठों से अस्थानिक जड़ें निकल आता है और उखाड़ कर देखने मे मालूम पड़ता है कि जड़ें काली पड़ गयी हों । रोगग्रसित तनो के नीचे की गांठ (node) विवर्ण (discoloured) भूरी हो जाती हैं जो कि बाद मे गुलाबी (pink) सी प्रतीत होती है ।

जो पौधे इस रोग से उत्तरजीवित रह जाते हैं उनमें पुष्पगुच्छ (panicles) स्वस्थ पौधे से कुछ समय पहले आ जाते हैं। ग्रसित पौधे अपेक्षाकृत छोटे होते हैं तथा बहुत कम अनुशूकी (spiklets) मौजूद रहती हैं। ग्रसित बालियों मे दाना कम व हल्का उत्पन्न होता है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle)—यह रोग जिबरेला फुजिकुरोई (Gibberella fujikuroi) फफूंद से उत्पन्न होता है।
समानार्थक—जिबरेला जी (Gibberella zeae (Schw) Patch.

जि. मोनिलिफोर्मी (G. Monili forma (Scheld) Snyder and Hansen.

जि. रोजियम एफ सिरिएलिस G. roseum f cerealis (Cke) Snyder and Hansen

(Imperfect stage)—फ्यूजेरियम मोनोलिफोर्मी (Fusarium monil forme (Sheld) Snyder and Hansen.

फ. रोजियम एफ सिरिएलिस (F. roseum f. cerealis (Cke). Snyder and Hansen.

कवकजाल रंगहीन शाखित तथा पटयुक्त होता है। इसके बीजाणु मरे हुए पर्णच्छद पर कवकजाल की गुलाबी पर्त (pinkish coating) पर बनते है। माइक्रोकोनिडिया दीर्घवत (oblong), रंगहीन एककोषिक 5-13 × 3-5 माइक्रोन के तथा मेक्रोकोनिड़िया रंगहीन तथा इकट्ठे मे गुलाबी, कोषिक (celled) 16-48 × 2'5-4 माइक्रोन के होते हैं (Thomas, 1933)। कोनिड़िया स्पोरोडोकिया में बनते हैं जो हंसिया की आकृति के शीर्ष से क्रमश: सिकुड़े हुए, बारीक भित्ति रंगहीन, पटयुक्त, 41-60×4'-35'5 माइक्रोन के होते हैं। क्लेमाइडोबीजाणु नहीं पाये जाते हैं।

पेरीथीसिया स्तर (surface) पर बिखरी हुई, नीलवर्ण (purplish) काली व गहरी नीली होती हैं। ऐस्कस बेलनाकार, आधार पर सिकुड़ी हुयी रंगहीन होती है। जिसमें 8 अनियमित कतार में तुर्करूपी, 20-30×4-5·0 माइक्रोन के ऐस्कोबीजाणु पाये जाते हैं।

वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार (Annual recurrence and spread)—यह रोग बीजोढ़ है तथा संक्रमण फूल की अवस्था मे होता है। रोग ग्रसित बीज बोने पर ग्रसित बीजांकुर उत्पन्न होते हैं। बीजोढ के साथ यह रोग मृदुढ़ (soil borne) भी है। ग्रसित भूमि में जब बीज बोया जाता है तो पौधे की जड़ों में संक्रमण हो जाता है परन्तु अधिकतर संक्रमण बीजोढ ही होता है। ठूंठ एवं घास आदि में भी यह फफूंद उत्तरजीवित रहती है।

अधिक तापमान होने पर इसका प्रकोप अधिक होता है । 35° सें. पर जापान में सबसे अधिक प्रकोप देखा गया । शुष्क नर्सरी में नम नर्सरी की अपेक्षा प्रकोप कम होता है (Sunderaraman, 1934) । परन्तु नम मिट्टी रोग की बढ़वार को रोक देती है तथा पानी भरे हुए बपनीय खेत (seedbed) में इसी कारण संक्रमण कम होता है । अधिक नत्रजन के प्रयोग से रोग के अधिक फैलने की सम्भावना रहती है । कोनिड़िया का मरण तापक्रम (thermal death point) 55-56 सें.$^{\circ}$ पर 5 मिनट तथा 54-55° सें. पर 10 मि. है ।

फफूंद की अनुकूलतम वृद्धि के लिये 28° सें. तापमान, 74% आपेक्षिक आर्द्रता एवं ठोस माध्यम पर 4·83 पी. एच. तथा तरल माध्यम पर 5·23 पी. एच. होनी चाहिये ।

रोकथाम—बीजों को बोने से पहले किसी भी पारावर्गी फफूंदनाशी दवा जैसे एग्रोसन जी. एन., सेरेसन, टिलेक्स (0·2%) आदि से उपचारित करना चाहिये । जापान मे फिनाइल मरकरी क्लोराइड से बीजो को उपचारित करने पर अच्छे परिणाम मिले हैं । अतः सबसे पहले बीजों को पानी में भिगोया जाय तथा बाद में 1: 1000 पी. एम. सी. के घोल में 18^{0} सें. पर 6 घण्टे रखकर फिर बोने से बीजोढ़ रोग होने की सभावना नही रहती है (Grist, 1959) । थोमस (1933) एवं सुन्दरम (1933) ने कई शुष्क तथा गीले फफूंदनाशी से बीजों को उपचारित किया । उन्होंने 15 मिनट तक 1% फोर्मलीन का घोल, 0·5% उसपुलन (uspulun) घोल में 30 मिनिट, ग्रेनोसान (1 ग्राम 1/2 किलो बीज) तथा गर्म पानी मे 30 मिनट तक 55^{0} सें. पर उपचार, 30 मिनट तक 2% कॉपर सल्फेट के घोल में सेरेसन (1 ग्राम 1/2 के.) से बीजोपचार किया, इनमे से गीले फफूंदनाशी दवा से उपचारित करने पर बीजों को नुकसान पहुँचा तथा ग्रेनोसन एवं सेरेसन का सूखा उपचार लाभप्रद रहा । सुन्दररमन (Sunderaraman) ने बीजोपचार की उपयोगिता देखी । उन्होंने बीजोपचार कॉपर सल्फेट मे (2% घोल 30 मिनट के लिये) बपनीय खेत (seedbed treatment) में उपचार कॉपर सल्फेट से (1%), बीजांकुर उपचार 4% बोर्डो मिश्रण से रोपण के तुरन्त बाद तथा खेत (field) मे तथा 1/2 किलो कॉपर सल्फेट 1% रोपण के लिये काम मे लिये । बीजोपचार तथा बपनीय खेत उपचारित करने पर परिणाम अपेक्षाकृत अधिक अच्छे मिले ।

2. धान कटने के बाद उसके बचे हुये भागों को खेत से निकालकर नष्ट करें ।
3. फसल चक्र का प्रयोग करें ।
4. अधिक मात्रा में नत्रजन का प्रयोग न करें तथा सन्तुलित उर्वरक काम में लें ।

5. रोग प्रतिरोधी किस्में इस्तेमाल करें। जी. ई. बी. 24, ए. डी. टी. 15 (Adt 15)।

सीग्रो 1 (Co 1), पी टी बी-7 (Ptb 7) इससे प्रतिरोधी है। राजगोपालन (1961) ने भी 6 प्रतिरोधी किस्में बतायीं जिसमें 3 इण्डिका×जापानिका का संकर प्रतिरोधी हैं।

बन्ट रोग
(Bunt)

बन्ट, काला कंड, करनाल कंड तथा आंशिक कंड के नामों से भी जाना जाता है। फिजी (Fiji), सीरा (Sierra), लीयोन (Leone), अमेरिका (USA), मेक्सिको ट्रीनिदाद (Trinidad), घाना (Guyana), सुरीनाम (Surinam), वेनेजुला (Venezuela) एवं भारत में इसका प्रकोप मुख्य रूप से देखा गया है। भारत में आसाम, बंगाल, बिहार एवं उत्तर प्रदेश में इसका प्रकोप अधिक होता है। सबसे पहले इस रोग का प्रकोप जापान में देखा गया। भारत में 17·5% तक संक्रमण कुछ जगहों पर देखा गया है (Chowdhury, 1951)।

1913 में बटलर ने भारत से इस रोग का सर्वप्रथम वर्णन किया तथा रोग कारक जीव टिलेशिया बताया परन्तु बाद में पेडविक एवं खान (Padwick and Khan, 1944) ने बताया कि यह टिलेशिया नहीं निवेशिया (Neovossia) वंश इसका रोगजन है।

लक्षण (Symptoms)—इस रोग के लक्षण रोगी पौधों से बाल बाहर निकलने पर ही दृष्टिगोचर होते हैं। इस रोग की मुख्य विशेषता यह है कि प्रभावित दाने काले चूर्ण में परिवर्तित हो जाते हैं। सम्पूर्ण बालियाँ प्रभावित नहीं होती हैं। कुछ बालियाँ ही प्रभावित होती हैं तथा उनमें भी कुछ दाने ही प्रभावित होते हैं। कंड के बीजाणु लेम्मा (lemma) एवं पेलिया (palea) को पूर्ण रूप से ढक लेते हैं। बन्ट से ग्रसित दाने कटाई तक बिना टूटे रहते हैं तथा ये गहाई के समय फट जाते हैं। जब पौधा दुग्ध अवस्था में होता है तब यदि दाने को दबाया जाये तो उसके अन्दर काला चूर्ण दिखाई पड़ता है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle)— यह रोग निवोसिया होरिडा (Neovossia horrida (Tak) Padwick and Khan) फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है।

समानार्थक टिलेशिया होरिडा (Tilletia horrida Tak).
टि. बरकलेयाना (T. berclayana).
टि. कोरोना (T. corona Anderson).

बीजाणु गोलाकार से उप गोलाकार, 20 से 40 माइक्रोन के, पीले भूरे से जैतुनी भूरे गहरे जालकीय होते है। बहुत अधिक बांझ कोशिका बीजाणु से मिली रहती है। बीजाणुओं का अंकुरण बहुत समय की अवधि के बाद होता हैं। अंकुरण होने पर एक मजबूत प्रकवक बनती है जिस पर 8 या अधिक बीजाणु बनते हैं। बीजाण्वी दानेदार या सूई की आकृति की 38 से 53 माइक्रोन लम्बे होते हैं। इसका ससयन जोड़े में नहीं होता है तथा एच (H) की आकृति की रचना भी नहीं बनाते है (Padwick and Khan, 1944)। बीजाणु की सुप्त अवस्था (Dormancy) परा बैंगनी (Ultra violet) किरणों पर रखने से कम की जा सकती है।

वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार—यह रोग मृदुढ (soil borne) है परन्तु फिलीपाइन में बीजोढ़ (Seed borne) होने के भी संकेत मिले हैं (Rayes, 1933)। भारत में यह रोग बीजोढ नही होता है तथा रोग के चिरजीवन का साधन भूमि के पड़े क्लेमाइड़ोबीजाणु हैं (Chowdhury, 1951)। क्लोमाइड़ोबीजाणु के अंकुरण होने पर बीजाणु बनते है। ये हवा द्वारा पुष्प के योनि छत्र पर पहुंच कर संक्रमण कर देते हैं। अतः प्रसार वातोढ होता है। रोग का प्रभाव केवल स्थानीय (Localised) ही देखा गया है। स्थानिक संक्रमण बीजाण्वी द्वारा धान के फूल में एन्थेसिस (Anthesis) के समय होता है (Chowdhury, 1946, 1951 & Patnaik, 1966)। कम संक्रमण क्लोमाइड़ोबीजाणु के कम अंकुरण के कारण होता है (Narian, 1966)। तरुण सक्रिय वृद्धि (Young actively growing) बीजाण्वी से धान के पौधे में पुष्पक (Florets) पर सबसे अधिक संक्रमण होता है (Chowdhury, 1946; Templeton, 1963, and Narain, 1967)।

अधिक मात्रा में नत्रजन का प्रयोग विशेषतौर पर बाद की अवस्था [redacted] देने पर इसका अधिक प्रभाव होता हैं। भारी (Clay) भूमि में तथा हल्की बारिश एवं नम मौसम, जब पौधे पुष्प अवस्था में हों इसके लिए बहुत सुग्राही हैं (Chowdhury, 1951)।

रोकथाम—चूंकि यह रोग मृदुढ़ है तथा संक्रमण वातोढ होता है अतः प्रतिरोधी किस्मो का प्रयोग ही इसकी रोकथाम का मुख्य साधन है। चौहान एवं वर्मा (1964) ने निम्न किस्मे प्रतिरोधी बतायीं।

शीघ्र पकने वाली—टी. 6, 8, 27, एन.सी एच. 20, 43, Russ 1331, 2877, Hung 2115।

मध्यम पकने वाली—एच.आर. (H.R) 22, बी.जे. (B.J.) 1, एन. 12, एच. 1013, ए. सी.एच. टी. NCH–7 19, एन. 28, टी. 108।

देर से पकने वाली—टी. 10, टी. 22, टी. 23, टी 33, टी. 36, टी. 3?

2. रोग ग्रसित पौधों को एकत्र कर नष्ट करदें।

3. अधिक मात्रा में नत्रजन खाद का इस्तेमाल न करें।

पात कंड
Leaf Smut

सर्व प्रथम इस रोग का वर्णन बटलर (1913) ने तथा रोग कारक जीव Entyloma oryzae (एन्टाइलोमा ओरोइजी) का विवरण सायडो (Sydow) ने 1914 में किया। विश्व में कई जगहों पर जैसे जापान, फारमोसा, फिलीपाइन, अफगानिस्तान, वेनेजुला (Venezuela), अमरीका, चाइना एवं भारत आदि में मुख्य रूप से इस रोग का प्रकोप होता है। भारत में उत्तरप्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र, मद्रास एवं उड़ीसा में फसल को इससे अधिक क्षति पहुँचती हैं। (मुदंकर एवं थिमुं-ताचार, 1952, पायक 1949)। उत्तरी पश्चिमी धान उगाये जाने वाले क्षेत्रों में अपेक्षाकृत अधिक नुकसान देखा गया है।

लक्षण (Symptoms)—सर्वप्रथम काले छोटे धब्बे कोणीय से रेखीय (linear) 0.5–2 मि.मी. ×0.5–15 मि.मी. के पत्तियों पर बनते [redacted] जो अधोस्तर से ढके रहते हैं। परन्तु जैसे ही पत्ती पानी में कुछ समय के लिए रहती हैं अधोस्तर फट जाती है तथा चूर्ण बाहर आ जाता है। जब ये परिपक्व होते हैं तो इनका विकीर्णन हो जाता है। बहुत अधिक संक्रमण होने पर बहुत अधिक सोराई मिलकर समानान्तर क्रम में बढ़ती रहती हैं परन्तु एक दूसरे से मिलती नहीं हैं। नीचे की पत्तियाँ ऊपर की पत्तियों की अपेक्षाकृत कम प्रभावित होती हैं। शीघ्र पकने वाली किस्मों में लक्षण अगस्त के महिने में तथा देर से पकने वाली किस्मों में सितम्बर के पहले सप्ताह में दिखायी देते हैं। 4–5 सप्ताह तक इसका फिर सबसे अधिक प्रभाव रहता है। उग्रावस्था में 100% तक संक्रमण देखा गया है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle)—यह रोग एन्टाई-लोमा ओरोइजी (Entyloma oryzae Syd) फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है।

समानार्थक—एन्टाईलोमा डेक्टीलिडिस (Entyloma dactylidis (Pass) cif इ. लिनिएटम (E. lineatum (cke.) Davis।

बीजाणु काले धब्बे में बनते हैं जो उपगोलाकार, कोणिय तथा अनियमित समूह (Groups) में हल्के जैतुनी से गहरे भूरे, चिक्कण दिवार, के 7–11×8–17 (6 से 9×7.5–11.5) माइक्रोन के होते हैं। बीजाणुओं का अंकुरण उनके बनने के स्थान पर (insitu) होता है। अंकुरण होने पर प्रकवक बनते हैं जिस पर बीजाणवी बनते हैं।

इस फफूंद के टेल्यूटोबीजाणु ग्रसित मिट्टी में बहुत समय तक जीवित रहते है या फसल के अवशेषों (Crop debris) से इनका विकीर्णन होता है। संक्रमण बीजाणवी द्वारा होता है। जो पत्तियां मिट्टी की सतह के पास होती है उनमे पहले संक्रमण हो जाता है।

इस फफूंद का प्रकोप उन जगहों पर अधिक देखा गया है जहाँ नत्रजन का देर की अवस्था में अधिक मात्रा में प्रयोग किया गया हो। भारी मिट्टी में भी इसका प्रकोप अधिक होता है।

रोकथाम (Control)—सिंह एवं पावगी (Singh & Pavgi, 1966) ने बताया कि देर की किस्में टी. 9, एलहर (Aelhor), सी. आर. 2, 3, मध्यम किस्में सी. एच 4 इससे प्रतिरोधी, मध्यम दिनों में पकने वाली किस्में एन. एस. जे. 93,97, टी. 3, आइ. के. 62, सी. एच. 4, टी. 36, एन. एस. जे. 52, 58 सी. इससे प्रतिरोधी हैं।

मिथ्या कंड
False Smut

इस रोग का विवरण सर्वप्रथम भारत में 1878 में कुक (Cooke) ने किया। आस्ट्रेलिया को छोड़कर इसका प्रकोप सभी द्वीप में होता है। बटलर (Butler, 1918) के अनुसार यह रोग विस्तृत रूप से वितरित है। परन्तु इसका इतना महत्त्व नहीं है क्योंकि एक पुष्पगुच्छे (Panicle) में कुछ ही दाने इससे प्रभावित होते हैं। फिलीपाइन, बर्मा, जापान एवं भारत में यह रोग पादप व्याप्त रूप में भी फैला। फिजी में 10% तक का नुकसान इससे हो जाता है। भारत में उत्तर प्रदेश एवं बिहार में मुख्य रूप से इसका प्रकोप होता है।

लक्षण (Symptoms)—केवल बाल तक ही इसके लक्षण सीमित होते हैं जहाँ पर कि दाने अकेले बड़े गोल, मखमली तथा फूले हुए उत्पन्न होते हैं जिसमें कठ-कवक (Sclerotia) पाये जाते हैं। बालियों में सभी दाने प्रभावित नहीं होते हैं बल्कि कुछ दाने ही प्रभावित रहते हैं। रोग ग्रस्त दाने जब फटते हैं तो इनके अन्दर का पदार्थ बीच से सफेद नारंगी पीला तथा परिधी की ओर नारंगी रंग लिए हुए पीला प्रतीत होता है। तुष निपत्र पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

रायचौधरी (1946) ने बताया कि परजीवी या तो फूल खिलने के समय या जब दाने परिपक्व हों तब सक्रमण होता है।

हेतुकी एवं जीवनचक्र (Etiology and life cycle)—यह रोग अस्टीलाजिनोइडिया वाइरेन्स (Ustiloginoidea virens) (Cke) Tak फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है।

समानार्थक—(U. oryzae (Pat.) Bref.
(Ustilago virens (Cooke)
(Tilletia oryzae.)

ब्रीफेल्ड (Brefeld, 1895) ने बताया कि रोग कारक जीव क्लेवीसेप्स (Claviceps) से मिलता जुलता है तथा अपूर्ण अवस्था (Imperfect form) उस

वंश से भिन्न है। अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है। कोनिडिया गोलाकार, कण्टिकायुक्त (echinulate), 4–6 माइक्रोन व्यास के जैतुनी रंग के होते हैं। अंकुरण होने पर ये द्वितीयक बीजाणु बनाते हैं। बीजाणु छोटे हल्के तथा चिकने होते हैं।

कठ-कवक भी इस फफूंद में बनते हैं। ये गोलाकार 5 से 8 मि.मी. व्यास के जैतुनी हरे होते हैं। इनके अंकुरण का विवरण अभी तक किसी ने नहीं किया।

लैंगिक जनन के बारे में अभी कोई पता नहीं चला है।

वार्षिक आवर्तन (Annual recurrence)—कठ-कवक द्वारा चिरजीवन होता है। अण्डाशय का संक्रमण प्रारम्भिक अवस्था में कोनिडिया से होता है। जीवन चक्र क्लेवीसेप्स से मिलता-जुलता है। अधिक बारिस, अधिक आर्द्रता, बादली मौसम



चित्र 2(ग)2 धान के कंड रोग से प्रभावित पौधा व दाने (दायें ओर)

पुष्पण के समय होना इसके लिए सुग्राही है। अधिक मात्रा में नत्रजन का प्रयोग विशेषतौर पर फूल आने के समय किये जायें तो भी इसका प्रभाव अधिक होता है। (Rao, 1964)।



2(ग)3 धान के कंड से ग्रसित बीज (नजदीक से)

Oryzae officinalis (ओराइजी ऑफिसिनैली) (Rao and Venkata Reddy, 1955) तथा विग्रोनाचने कोइनिजी (Govindarao and Reddy, 1956) इसके सापार्श्विक पोषक हैं।

रोकथाम (Control)—चूंकि जीवन चक्र का अभी तक वास्तविक पता नहीं है अतः कोई भी रोकथाम के सुझाव अभी तक नहीं बताये गये हैं। परन्तु फिर भी रोगग्रसित पौधों के अवशेषों को एकत्र कर नष्ट करना, बाल आने के कुछ समय पहले कॉपरवर्गी फफूंदनाशी दवा का छिड़काव तथा कंड-कवक से स्वतन्त्र बीजों को बोने से इसका प्रकोप कम होता है।

फसल चक्र तथा बीजों को मरक्यूरिक क्लोराइड (1:1000 $HgCl_2$) के घोल में 30 मिनट तक डुबोकर रखने के बाद 6 घन्टे तक साधारण जल में भिगोने से फिलीपाइन में अच्छे परिणाम मिले हैं। राव (Rao, 1964) ने 186 किस्में प्रतिरोधी बतायीं।

ओरियन्टल पर्ण छद अंगमारी पत्ती एवं धब्बा
Oriental Sheath Blight and leaf spot

सबसे पहले 1910 में जापान में इस रोग का प्रकोप देखा गया। जापान के अलावा सिलोन, चाइना, तेवान, फिलीपाइन, वियतनाम, भारत आदि में भी इसका अधिक प्रकोप होता है। फिलीपाइन में 25 से 50% तक का नुकसान देखा गया है। यह पर्णछद (Sheath) एवं पत्ती धब्बा रोग दो फफूंदियों से उत्पन्न होता है।

कोर्टिसियम ससकाई (Corticium saskli (Shirae) Matsumoto), राइजोक्टोनिया ओरोइजी (Rhizctonia oryzae Ryker and Gooch). राइजोक्टोनिया सोलनाई (Rhizotonia solani Kuhn Thanatephorus cucumeris (Frank) Donk.

पौधे मुख्यत: दोजिया अवस्था में प्रभावित होते हैं। पर्णछद पर निवर्णित (Discoloured) क्षत स्थल (Lesions) बन जाते हैं जो बड़े, दीर्घवत् (Oblong) या अनियमित लम्बे (Elongate) तथा किनारे से नीललग भूरे (purplish brown) होते हैं। संक्रमित पर्णछद एवं पत्तियां आसानी से अलग की जा सकती हैं। पर्णछद का ऊपरी भाग पहले प्रभावित होता है। बीजांकुर भी नरसरी में प्रभावित हो सकते हैं। संधि स्तम्भ पर पर्णछद से क्षत स्थल (Lesion) छोटे होते हैं। अनियमित आकृति के कठ-कवक कवकजाल की सतह पर पर्णछद पर धब्बे केपास बनते हैं।

यह रोग कोर्टिसियम ससकाई नामक फफूंद से उत्पन्न होता है।

समानार्थक—हाईपोकनस सेसकाई Hypochnus saskii Shirae।

कोर्तिसियम सोलेनाई Corticium solari (Prill and Dal. Bourd and Gal)।

पैलीकुलेरिया ससकाई Pellicularia sasakii।

पैलीकुलरिया फिलामेन्टोसा P filamentosa।

भूरे से काले कठ-कवक 5 मि.मी. व्यास के पर्णछद की सतह पर दिखाई देते हैं। ये गोलाकार तथा कुछ चपटे होते हैं। जब बीजाणुकरण होता है तब हाइमेनोफोर गहरे छिदरे धुसर भूरे कवकसूत्र के बने होते है बाहर की शाखायें बेसीड़िया का कार्य करती हैं तथा 2 से 6 शीर्ष (Apical) स्टेरिगमेटा बनाती है जिस पर अण्डाकार (Ovate) से अण्डाकार दीर्घवत (Ovate oblong) बीजाण्वी बनते हैं। बीजाण्वी अंकुरण होने पर कवकजाल बनाते हैं।

लैंगिक अवस्था का पता नही चला है। 20 प्रभेद तैवान में (Tu, 1967) तथा 3 आकारिकीय समूह (morphological group) कोर्टिसियम सोलेनाई फफूंद का भारत में बताया है (Kohli, 1966)।

वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार (Annual recurrence and spread)—कठकवक या कवकजाल के रूप मे फसलो के ठूंठ आदि मे फसल न होने पर उत्तरजीवित रहती है। इसका आक्रमण बीजांकुर अवस्था में होता है।

अधिक नमी विशेषतौर पर देर की अवस्था में तथा अधिक नत्रजन का प्रयोग गुणाही है। जापान मे पर्णछद अंगमारी का प्रकोप उन स्थानों पर अधिक होता है जहां बुवाई जल्दी हो।

रोकथाम (control)—1 प्रतिरोधी किस्मे बोनी चाहियें। जेनिथ (Zenith) कटाकटरा (Kataktara) फिलिपाइन में प्रतिरोधी हैं।

2–जापान मे मिथाइलेरसीन बिसडाईथियोकार्बेमेट एवं मिथाइलएर्सि सल्फाइड से छिड़काव द्वारा रोकथाम की। अग्नीहोतरडू (1976) ने बताया कि थायोर्सेनेट

मिथाइल (NF 44एवं NF 48) का छिड़काव भी लाभकारी नही है। जापान में आरसेनिकल (arsenicals) फफूंदनाशी काफी प्रभावकारी इस रोग की रोकथाम हेतु पाये गये (Mizukami, 1970)। पोलीऑक्सीन धूल 40 कि.ग्राम प्रति हेक्टर एवं घुलनशील चूर्ण 6.5 पी.पी.एम. सान्द्रता में छिड़काव करने से इस रोग के नियंत्रण में काफी सफलता मिली। केनियान एवं प्रसाद (Kannaiyan, S and N.N. Prasad, 1979) ने बताया कि बेनलेट एवं केप्टान (0·2%) से मिट्टी पिलाना (drenching) काफी लाभप्रद पाया गया। जल कुंभी के पौधों को नष्ट करें।

बीजांकुर अंगमारी
(Seedling Blight)

सबसे पहले इस रोग का प्रकोप फिलीपाइन मे देखा गया उसके बाद मलेशिया, थाइलेन्ड, अमेरीका, मेलोगसी (Malagosy) एवं भारत में भी होने के संकेत मिले। इसका प्रकोप यदाकदा (Sporadic) ही होता है।

इसका प्रकोप खण्डकों (patches) में होता है तथा नरसरी में इससे प्रभावित पौधों की बढ़वार कम तथा पत्तियां पीली पड़ कर सूख जाती हैं। तने का आधार सड़ कर गहरे भूरे रंग का हो जाता है।

यह रोग स्कलेरोशियम रोल्फसाई (Sclerotium rolfsii Sacc) फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है। कवकजाल निवर्णित (Discoloured) तने के आधार पर बनता है। जिसके बाद गोल चिकने हल्के भूरे कठ-कवक बनते है। ये कठ-कवक सरसों के बीज के समान 0·5 से 1 मि.मी. व्यास के होते है।

भूमि में कठ–कवक के रूप में यह फफूंद बहुत समय तक उत्तर्जीवित रहती है। 10 ग्राम/वर्ग मीटर की दर से मिलाने पर इसका प्रकोप कम होता है (माथुर, 1968)।

रोकथाम (Control)—ब्रेसीकोल (पेन्टाक्लोरोनाइट्रोबेन्जीन) को नरसरी की मिट्टी में बुवाई से पूर्व 10 ग्राम वर्गमीटर की दर से मिलाने पर इसका प्रकोप कम होता है (माथुर 1968)।

2. इस रोग का प्रकोप उन स्थानों पर अधिक होता है जहां कि भूमि शुष्क (Dry) हो तथा मिट्टी मे अधिक कार्बनिक पदार्थ हो। अतः बपनीय सेत (Seed bed) को नम रखने से तथा उसमें से सिल्टिंग (Silting) को दूर कर देने से कार्बनिक पदार्थ उपस्थित नहीं रहते हैं।

3. रोग प्रतिरोधी किस्में प्रयोग मे लायें। आइ आर 5–47–2 इससे पूर्व-निर्गमन (Pre emergence) के बाद प्रतिरोधी है (Mathur, 1968)।

संकीर्ण भूरा धब्बा
(Narrow Brown Leaf Spot)

इस रोग का प्रकोप भी विस्तृत रूप से विवरित है (Tullis, 1937)। बीजांकुर अवस्था में इसका प्रकोप नही होता है तथा लक्षण देर से उत्पन्न होते है। पुष्प आने के समय फसल सबसे अधिक प्रभावित रहती हैं। देर की अवस्था मे संक्रमण होने के फलस्वरूप फसल को विशेष हानि नहीं पहुंचती है। भारत से सर्वप्रथम इस रोग का विवरण गांगुली (1956) ने किया। उड़ीसा तथा पूर्वी बगाल मे इसका प्रकोप अधिक होता है।

लक्षण (Symptoms)—सग्रीय रेखीय (Liner) आयताकार (rectangular) दीर्घवत् (Elongated) 5 मि.मी.×1–1 5 मि.मी. चौड़े, लाल भूरे से गहरे भूरे धब्बे सबसे पहले पत्तियों पर दृष्टिगोचर होते हैं। पर्णफलक (Leafblade) पर सबसे अधिक धब्बे बनते हैं तथा उग्रावस्था में धब्बे पर्णछद, संधिस्तम्भ, पुष्प निपत्र तथा दोनो पर भी दिखाई देते हैं।

यह रोग सर्कोस्पोरा ओराइजी (Cercospora oryzae Miyake) फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है। पर्णरन्ध्रों द्वारा रोग्रसित स्थानों से भूरे अकेले या बहुत कम जोड़ों मे 88-140×4·5 माइक्रोन के कोनिडियोफोर बाहर आते हैं। इनके शीर्ष पर बेलनाकार शीर्ष से सिकुड़े 3 से 10 पटयुक्त, 20–60×5 माइक्रोन के कोनिडिया होते हैं। कोनिडिया का अंकुरण जनित नालिका द्वारा होता है।

वार्षिक आवर्तन (Annual recurrence)—यह परजीवी फसलों के अवशेष, खरपतवार आदि मे उत्तरजीवित रहता है। पुष्प निपत्र में भी यह फफूंद प्रवेश करती है अतः बीजोढ़ भी है। परन्तु बीजांकुर अवस्था मे संक्रमण होने के बारे में किसी ने संकेत नही दिया। इस फफूंद की कई प्रजातियां होने का भी पता चला है। राइकर एवं कोवार्ड (Ryker and Coward, 1948) ने इसकी 10 प्रजाति बताई।

रोकथाम (Control)—रोग ग्रसित पौधो के अवशेषों को एकत्र कर नष्ट कर दें।

2. फफूंदनाशी दवा का छिड़काव ज्यादा महत्व नहीं रखता क्योंकि आर्थिक दृष्टि से विशेष लाभप्रद नहीं है।

बीजोढ़ फफूंदिया

धान की बीजोढ़ फफूंदियों मे आल्टरनेरिया पेडविकी *Alternaria padwickii*; एस्पर्जिलस केन्डीडस *Aspergillus candidus* एस्पर्जिलस फ्लेवस ओराइजी *A. flavus oryzae*, कोक्लियोबोलस मियाबियानस *Cochliobolus miyabeanus*, हेल्मिंथोस्पोरियम सिग्मोइडियम वे. इर्रेगुलेराई, *H. sigmodeum var irr-*

Characterstics in germination of conidia produced by the strain showing different pethogenicity. A nn. Phytopath Soc. Japan. 9 : 147–156.

Henry, B.W. and A.L. Anderson (1948) Sporualtion by Piricularia oryzae. Phytopathology 38 : 265–278.

Hingorani, M.K. and N. Prasad (1951) Seedling blight of rice in Sind. Indian Phytopathology 4 : 60-63.

Horino, S. and S. Akai (1966) Influence of amount of nitrog and potassium on host entry and infecion of Helmintl sporium oryzae. Ann Phytopath. Soc. Japan 32 (1 10-13.

International Rice Research Institute (1965). The rice bla disease. Proceedings of a symposium, 517 pp. Oxford ar IBH Publishing Ccmpany, Calcutta.

Ishiyama, T., L. Hare, M. Matosouke, K. Sato, S. Shimada. R. Izawe, T. Hashimato, M. Hamada, Y. Okami, T. Rakeuc and H. Umezanb (1965) Studis on the preventive effect kasugamycin on rice blast. Jour. Antibiotics 18 / 115-119.

Ito, S. and K. Kuribeyashi (1927) Production of the ascigeros stage in cultare of Helminthosporium oryzae Ann. Phyt opath Sac. Japan 2 : 1–8.

Jain, S.S. (1958) A brief note on the research work done in the section of plant pathology, Himachal pradesh, on the cont rol of important disease of crop plants and fruit trees d u ing 1955–57. ICAR Proc. Mycological Res. Workers Conf. held at Simla : 92–94.

..............(1969) Technical report of the central rice research institute..............for the year 1965.

..............(1971) Chemical Control of stem rot disease of rice proc. 58th Science congress part II 780 (Abstr).

..............(1973) Control of stem rot of rice with certain systemic and non systemic fungicides Proc. 60th Indian Science Congress part III 667.

Kahn, R.P. and J.L. Libby (1958) The effect of environmental factors and plant age on the infection of rice by the blast fuugus piricularia oryzae. Phytopathology. 48 : 25-30.

Kameswar Row, K.V.S.R. S.Y. Padmanabhan, G.P. Singh A Subramanian and M.H. Delvi (1967). Use of antibiotics

in the control of blast disease of rice. Abstr. Intern. Symp. Plant Path., New Delhi 53.

Kannaiyan, S. and N. N. Prasad (1979) Control of seedling infection of rice caused by Rhizoctonia solani by fungicidal soil drenching. Indian Phytopath. 32 : 151.

Krishnaswamim C. S. V. Govindaswami and N. R. Adyanthaya (1959) Blast (Piricularia oryzae) and foot rot (Fusasium moniliforme) disease of rice in Madras state ICAR. New Delhi, Res. Ser. No. 21.

Kulkarni, N. B. (1959) Blast disease of rice from Bombay, Poona Agr. Coll. Mag. 50 : 8-29.

Langcke, P and S. G. A. Wickins (1975 a) Physiol Pl Path. 7:113

Langcke, P and S. G. A. Wickins (1975 b) J. gen. Miclobiol. 88 :295.

Misra, A. P. and Abu Mohammad (1964). Pathogen city and varietal reaction of paddy to Sclerotium oryzae, Catt. in Bihar. Indian Phytopathology 17: 168-171.

Misra, A. P. and A. K. Mukherjee (1962) Effect of carbon and nitrogen nutrition on the growth and sporulation of Helminthosporium oryzae Breda de Hann. Indian phytophatology 16 : 175-280.

Misra, A. P. and P. K. Das (1967) Laboratory evaluation of fungicides for the control of stem rot of paddy. Indian Phytopathology 20 (1) 36-41.

Mizukami, T. (1970) Japan Pesticide information No 4: 12-16.

Misra, A. p. and Y. Prasad (1964). The nature of resistance of paddy to Helminthosporium oryzae. Breda de Haan. Indian Phytopathology 17 : 287-295.

Mohanty, N. N. and S. C. Desh (1971) Efficacy of bifferent fungicides and an antibiotic on control of blast of rice. Indian Phytopath 24 : 509-513.

Mukherji, S. Kand B. N. Bagchi (1964) control of secondary air borne infection of Helminthosporium disease of Paddy. Rice Hews Teller 12 : 103-105.

Mukherji, S. K. and B. N. Bagchi (1965) Role of some trace elements in controlling brown leaf spot disease of paddy

(Helminthosporium oryzae Breda de Hann) West Bengal Journ. Agri. 2 : (3) 62-65.

Mundkur, B. B, and M. J. Thirumalachar (1952) Ustilaginales of India. Common, W. Mycol. Inst. Kew England pp 84.

Murty, T. K. and S. S. Subramanian (1959) A note on the metabolic products of Helminthosporium oryzae Curr. Sci. 28 : 282-283,

Naha, P. M. (1962) Effect of flood water submergence on the spread of Helminthosporose of rice. Indian Agri. 6 : 35-38

Nayak, P. and S. Y. pedmanabhan (1967) Induction of mutations for disease reistance in rice. Abstr. Intern. Symp. Plant Path. New Delhi 9-10.

Nishikado,, V. (1923) Effect of temperature on the growth of Heleminthosporium oryzae Breda de Henn. Ann. phytopath. Soc. Japan 1 : 20-30.

O. C. femia, G. O. (1924) The Helminthosporium disease of rice occuring in the southern state and in the Philippines. An. Jour. Bot. 11 : 385-408.

Oresenigo, M. C. (1956) Produzione de tossine da prate di Helminthosporium oryzae Breda de Hann. Parte. Ann. Sper. Agri. N, S. 10 : 1745-1762 (Rev. appl. Mycol 36 : 423).

Orsenigo, M. (1957) Extrazione a puriffiazione della cochliobolina una tossino prodotta da Helminthosporium oryzae Phytopath, Z. 29 : 189-196.

Orsenigo, M. and D. Pavan (1958) Isolamento proprieatae modalita dizyone della cochliobolina una, ossina prodotta da Helminthosporium oryzae Breda de Hann. Ann. Fac. Agri. [redacted]. Curore Ser. 6 : 19-54 (Rev. appl. Mycol 37 : 646).

Ou, S. H. (1974) Plant Disease Reptr 58 : 544.

Ou, S. H., V. A. Auoteru and T. T. Ebron (1974) Plant Disease Reptr 58 : 549.

Padmanabhan, S. Y. (1949) Occurrence of fungi inside rice kerenel. Curr. Sci. 18 : 442-443.

Padmanabhan, S. Y. (1953) Effect of nitrogenous fertilization on the incidence of blast on rice varieties. Curr. Sci. 22 : 271-272.

Padmanabhan, S. Y. (1959) The present position and control of rice diseases in India. Proc. India Acad. Science B. 49 : 349-362.

Padmanabhan, S. Y. (1963). The role of theraupeutic treatment in plant disease control with special reterence to rice diseases. Indian Phytopathology Soc. Bull. I : 79-84.

Padmanabhan, S. Y. (1963) Helminthosporium disease of rice VII. A study of the meterological factors associated with the epiphytotic of 1942 in Bengal. Oryze 1 : (2), 101-110.

Padmanabhan S. Y. (1963). The role of theraupeutic treatment in Plant disease control with special reference to rice disease. Symposium on Role of theraleputic treatment I. P. S. Bull. 1 : 79-83.

Control of blast disease of rice through application of antibiotics. Indian Phytopath. 19 : 131-132.

Padmanabhan, S. Y. (1965) Studies on forecasting outbreaks of blast disease of rice (I. Influence of meterological factors on blast incidence at Cuttack). Proc. Indian Acad. Sci. 62 B : 117-129.

Padmanabhan, S. Y. (1965) Recent advances in the study of blast disease of rice. In S. Krishnawami (Ed.) Advances in Agricultural Sciences and their application. Madras Agricultual Journal, Coimbatore, India 564.583.

Padmanabhan, S. Y. (1965) Physiologic specialization of Piricularia Oryzae Cav. the causal organism of blast disease of rice. Curr. Sc. 34 (10) 307-308.

Padmanabhan, S. Y. (1966) Prospects of control of blast disease by forecasting and direct application of fungicides and antibiotics. Symosia on diseases of rice, maize and millets, Jan. 1 and 2, 1966. I. P. S. Bull. 3 : 121-124.

Padmanabhan, S. Y. (1966) Control of Helminthosporium disease of rice in India. Sympsoium on rice, Maize, Sorghum and Millets, Jan. 1 and 2nd I. P. S. 3 : 115-120.

Padmanabhan, S. Y. (1974) Control of rice diseases in India. Indian Phytopath. 27 (1), 1- 28.

Padmanabhan, S. Y. and D. Ganguly (1953) Testing rice varie-

ties resistant to Helminthosporium and blast. Rice news teller (3) : 107-110.

Padmanabhan, S. Y. and D. Ganguly (1954) Relation between the age of rice plant and its susceptibility to Helminthosporium and blast diseases. proc. Indian Acad. Sci B. 39: 43-50.

Padmanabhan, S. Y. and D. Ganguly (1959) Breeding rice varieties resistant to blast disease caused by Piricularia oryzae I. Selection of resistant varieties from genetic stock Proc Indian Acad. Sci. Sec. B. 50 : 289-304.

Padmanabhan, S. Y., D. Ganguly, and G. H. Chandwani, (1956) Control of blast disease of rice with spray fungicides Indian Phytohology. 2 : 15-22.

Padmanabhan, S. Y., D. Ganguly, G. H. Chandwani, J, Veeraraghavan and C. S. Krishamurty (1962). Control of blast diesease of rice with mercurials. Indian Phytopathology 16 : 55-61.

Padamanabhan, S. Y., K. R. Roychoudhary and D. Ganguly (1948). Helminthosporium disease of rice I. Nature and extent of damage caused by the disease. Indian' Phytopathology. 1 : 34-47.

Padamanabhan, S. Y., K. V. R. Kameswar Row, P. M. Haha and J. Veeragh avan (1962) plospect of control of blast and Helmintho sporium disease with antibiotics Proc of Second AIR RWC held at Kashmir.

Padmanabnan, S. Y. and K. V. S.R. Kameswer (1966) Control of blast disease of rice through application of antibiotics. Symposia on diseases of rice, maize and millets. Jan. 1 and 2nd 1966. I. P. S. Bul. 3 : 125-127.

Padmanabhan, S. Y. and M. P. Jha (1958) Methods of estimation of loss caused by blast disease. Indian J. Agric. Sci.

Padmanabhan, S. Y., N. K. Chakarabarti, C. T. Abhichandani, and S. Patnaik (1962). Studies on Helminthosporium disease of rice VI Nutritional factors and disease expression. Effect of Potassium. Proc. Indian Sci. Congress 1962, Part III 479-482.

Padmanabhan, S. Y., K. P. Roy Choudhary, and D. Ganguly, (1948) Helminthosporium disease of rice 1. Nature and extent of loss caused by the disease. Indian Phytopathology 1 : (1) 34-47.

Padmanabhan, S. Y., N. K. Chakarbarti, S. C. Mathur, J. Veeraraghavan, (1966) Physiologic specialization in Piricularia oryzae Cav. Proc. Indian Acad Sci. Sec. B. 66 B : 63-73.

Padwick, G. W. (1950). Mannual of rice disease. Commonwealth Mycol. Inst. Kew, Surrey, England.

Padwick, G. W. (1956) Disease and pets of rice in Japan. Outlook on Agriculture 1 : 20-23.

Page, B. M. et al. (1947) The effect of temperature and relative humidity on the longevity of the Conidia of Helminthosporium oryzae Mycologia 39 : 158-164.

Paracer, C. S. and J. C. Luthra (1944). Further Studies on the stem rot disease of rice caused by Sclerotium oryzae in the Punjab- Indian J. Agri. Sci, 14 : 144-48.

park. M. and L. S. Bertus (1939) Sclerotial disease of rice in Ceylon. Ceylon J. Sci. A. Bot. 12 : 1-36.

payak, M. M. (1949) Some Parasitic fungi collected in the vicinity of Banaras. Indian Phytopath. 2 : 190-193.

Pushpanden, P. (1957) Ascorbic acid and Helminthosporium of oryzae Sativa. Curr. Sci. 26 : 26.

Ramkrishnan, K. (1948). Studies on the morphology, physiology and parasitism of the genus Piricularia in Madras. Proc. Indian Acad. Sci. 27 B : 174- 193.

(1958) Annual report of the Government Mycologist Madras for the year 1957-58.

Ramakrishnan, L. (1963) Studies in the host parasite physiology in the blast of rice. Doctoral Thesis University of Madras.

Ramiah, K. and K. Ramaswami (1936). Breeding for resistance to Piricularia oryzae in rice. Proc. Indian Acad. Sci. 3B : 450-458.

Ramlingam, A. (1966) Spore dispersal in Piricularia oryzae Cav. Indian Phytopathology 19 : 76-81.

aureofungin dimethyl sulfoxide ,sodium lauryl sulfate Bulltetin Georgia Academy of Science 29 : 253-257 Rev Plant Path 52 : 199-200, 1973.

Tullis, E. C. (1932). Helminthosporium sigmoideum the cordial stage of Sclerotium oryzae. Phytopathology 22 : 28.

Tullis, E. C. (1933) Laptosphaeria alvini the ascigerous stage of Sclerotium oryzae Phytopathology 23: 35.

Tullis, E. C. (1934) Leaf smut of rice in the United States Phytopathology 24 : 1386.

Tullis E. C. (1937) Cercospora oryzae od rice in U. S. Phyto path 27-1005-1008.

..............Tullis E. C. (1940) Diseases of rice U. S. D. A. far mers bulletins 1854.

Tyagi, P. D. (1964) Metabolites of Heminthosporium Spp in relation to disease I. P. S. 2 : 73-82.

Vaheeduddin, S. (1953). Spraying and dusting trials to control blast (Piricularia oryzae) of paddy. proc. Indian Sci Congr. Part III. 8

Venkatachalam, S. (1954). The intake of Silica by the rice plant with reference to blast disease. Madras Agri J. 41: 304-310.

Venkata krishnaiah, N. S. and M. H. Dolvi (1960) Blast disease on rice in Mysore. Fungicidal treatment of rice seeds Mysore Agr. J. 35 : 74-79.

Venkata Rao, A, S. Kannaiyan and N. Ram doss (1974) Abs papers accepte for presentation in the 5th annual Conference of Microbiolo gist of India. p. 59.

Volk, R. J., R. P. Khan and R. L. Weintrub (1958) Silica content of rice plant as a factor influencing its reistance to infection by the blast fungus, Piricularia oryzae. Phytopathology 48 : 179-184.

wei, C. T. and C. K. Lin. (1936) Studies on Helminthosporium disease of rice. Col. Agr. For. U. M V. Hanking Bul. 15

Weintrub, R. J. Volk and R. P. Khan (1958). Chemical stimulation of germination of spores of Piricularia oryzae. Phytopathology 48 : 7-10.

Yoshii, H. (1949) tudies on Cephalothecium as a means of the artificial immunization of Agric ulture crops. Ann. Phytopath. Sco. Japan 14, 3-4 pp 37-40 RAM. XXIX 476, 1950.

Yoshii, H. (1950) Studies on Cephalothecium as a mean of immunization of the agricultural crops. II on the effect of treatment by the dried mycelium powder of Cephalothecium on the development of leaf blast in the rice seedlings. Ann Phytopath Soc. Japan 14 : 9-10.

Yoshii, H (1953) On the influence of Cephalotaecin upon the development of the blast fungus in the cells of the ear neck rice plants. Ann. Phytopath Soc. Japan 18 : 17-21.



(घ) मक्का के रोग

(Maize diseases)

मक्का भारतवर्ष की एक महत्वपूर्ण खाद्यान्न फसल है जो लगभग सभी प्रान्तों में उगाई जाती है। देश में लगभग 58 लाख हैक्टर भूमि में इसकी खेती की जाती है जिससे लगभग 55 लाख टन पैदावार प्रतिवर्ष होती है। इतना क्षेत्रफल होने पर भी मक्का की प्रति हेक्टर उपज अन्य देशों की तुलना में बहुत कम है। कम पैदावार के अनेक कारणों में से रोग प्रमुख हैं। वैज्ञानिकों के सतत् प्रयत्नों के फलस्वरूप नई किस्मों का विकास तो हुआ जो देसी किस्मों की अपेक्षा जल्दी पकने वाली, अधिक उपज देने वाली तथा प्रोटीन (लाइसिन) से युक्त हैं। लेकिन इन पर रोगों का प्रकोप अधिक होता है। रोगों के कारण नुकसान कितना होता है यह तो अनुमान लगाना कठिन है परन्तु प्रतिवर्ष फसल का करीब 10 से 12% भाग तो अवश्य ही इन से नष्ट हो जाता है। जिसका मूल्य 60 रुपये प्रति क्विंटल के हिसाब से लगभग 28 करोड़ रुपया होता है। विश्व के विभिन्न भागों से 60 तरह के रोगों का पता चला है जिनमें से भारत में 30 प्रकार के रोग पाये जाते हैं। ये रोग फफूंद, जीवाणु, विषाणु, गोलकृमि आदि से फैलते हैं, लेकिन यहां पर फफूंदियों से उत्पन्न रोगों का ही वर्णन किया जा रहा है।

क्रमांक रोग का नाम हिन्दी	अंग्रेजी	रोग कारक जीव का नाम हिन्दी	अंग्रेजी
1. मृदुरोमिल	Downy mildew	स्क्लेरोस्पोरा एवं स्क्लेरोफ्थोरा की जातियां	Sclerospora and Sclerophthora & pp.
(क) क्रेजी टॉप	Crazy top	स्क्लेरोफ्थोरा मैक्रोस्पोरा	Sclerophthora macrospora (Sacc) Thir.
(ख) भूरी धारी	Brown stripe	स्क्लेरोफ्थोरा रेसाई वे. जी.	Sclerophthora rayssiae Var zeae Payak & Renf o
(ग) ग्रेमिनिकोला मृदुरोमिल	Graminicola downy mildew	स्क्लेरोस्पोरा ग्रेमिनिकोला	Sclerospora graminicoa (Sacc) Schroet

(घ) जावा मृदुरोमिल Java downy mildew	स्क्लेरोस्पोरा Sclerospora maydis मेड़ीस
(ङ) पत्ती फूटना Leaf splitling मृदुरोमिल downy nildew	स्क्लेरोस्पोरा Sclerospora miscanthi मिस्केन्थाई
(च) फिलीपाइन मृदुरोमिल Phillippire-downy mildew	स्क्लेरोस्पोरा Sclerospora philipp-फिलीपनइनेन्सि inensis weston
(छ) गन्ना मृदुरोमिल Sugarcane downy mildew	स्क्लेरोस्पोरा Sclerospora sacchari सेकराई Miyake
(ज) ज्वार मृदुरोमिल Sorghum downy mildew	स्क्लेरोस्पोरा Sclerospora sorghi सोरगी

2. वृन्त एवं जड़ सड़न रोग (Stalk and root rots)

(क) डिप्लोडिया Dinlodia stalk rot वृन्त सड़न	डिप्लोडिया Diplodia maydis मेडिस (D. zreal (Schw.) Lev.
(ख) जिबरेला Gibberella italk rot वृन्त सड़न	जिबरेला जी Gibberella zeae
(ग) चारकोल सड़न Charcoal rot	मेक्रोफेमिना Macrophomina phaseoli फिजियोलाई (Maubli) Ash by.
(घ) पिथियम वृन्त Pylhium stalk rot सड़न	पिथियम Pythium aphamidermatum एफेनीरमेटम (Edson) Filz.
(ङ) सिफेलोस्पोरियम Cephalosporiune वृन्त सड़न stalk rot	सिफलोस्पोरीयम Cephalosporium-एक्रीमोनियम acremonium पिथियम
(च) पिथियम Pythium जड़ सड़न root rot	ग्रेमीनीकोला एवं Pythium grominicol एरीनोमोनस Subrn. & P. arrhenomans Drechst
3. बीज एवं बीजांकुर रोग Seed and seedling blights	पी.इरेगुलेर Pythium irregularae Buis पी. डीबेरीनम् Pythium debaryanum Hesse डी. मेडिस Diplodia maydis Berk.

4. पर्ण रोग Leaf diseases

(क) भूरा धब्बा Brown spot - फाइसोडर्मा Physoderma zeae maydis जी. मेड़ीस

(ख) मक्का की उत्तरी Northern corn हेल्मिंथोस्पोरियम (Helminthosp- अंगमारी blight टरसीकम turcicum rium Pass,

(ग) मक्का की दक्षिणी Southern Corn हेल्मिंथोस्पोरियम (Helminthosporium अंगमारी blight मेडिस maydis Nisik & Miyake.

(घ) हेल्मिंथोस्पोरियम Hemplrintho- हे. कार्बोनम (Helmithosporium पर्ण अंगमारी sporium Leaf blight Carbonum U. Srup

(ङ) फियोस्पोरिया Phaeosporium फि. की जातियां haeosporism spp पर्ण धब्बा Leaf Spot

(च) सर्कोस्पोरा पर्ण Cercospora अंगमारी Leaf blight

(छ) डिप्लोडिया पर्ण Diplodia leaf धब्बा Spot कोलेटोट्राइकम Colleto trichum gra ग्रमीनीकोलम min colum (ces) wils. डिप्लोडिया Diplodia macrospora मेक्रोस्पोरा

5. किट्ट रोग Rust Diseases

(क) सामान्य किट्ट Common Rust पक्सीनिया सोरग Puccinia sorghi

(ख) दक्षिण मक्का किट्ट Southern Corn rust पक्सीनिया पोलीसोरा Puccinia poly-spora underw

6. कंड रोग Smut Diseases

(क) सामान्य कंड Common smut मस्टीलागो मेडिस Stieago maydis (DC) cele.

(ख) चोटी कंड Head smut स्फेसिलोथिका Sphacelotheca reiliana रिलाइना (Kuhn) Clint.

7. सिट्टा गलन रोग (Ear rot disease)

(क) डिप्लोडिया सड़न Diplodia rot डिप्लोडिया मेडिस Diplodia maydis

(ख) फ्यूजेरियम Fusarium सिट्टा सड़न Car rot फ्यूजेरियम Fusarium moniliforme मोनीलीफोर्मी वे. Var. Subglitinsm सबग्लूटिनान्स Var. Subglutnams Wr. and Reinking

(ग) जिबरेला सड़न Gibberlla rot — जीबरेला जी. Gibberella zea
(घ) धूसर सिट्टा Gray ear rot सड़न — फाइसेलोस्पोरा जी. Physalospora zeae stout.

मृदुरोमिल रोग

(Downy mildew diseases)

मक्का का यह भयानक रोग है जिसके कारण फसल को बहुत नुकसान पहुँचता है। मक्का पर अभी तक कुल 8 तरह के मृदुरोमिल रोगों का पता चला है जिसमें से भारत में चार प्रकार के रोग ही पाये जाते हैं। इन फफूंदियों का प्रभाव उन स्थानों पर अधिक होता है जहां अधिक आर्द्रता तथा तापक्रम कम हो। लगभग सभी एशियाई देशों में इन फफूंदियों का प्रसर देखा गया है। जिन पौधों पर इन रोगों का प्रकोप प्रारम्भिक अवस्था में हो जाता है उन पर भुट्टे नहीं बन पाते हैं। यह रोग स्क्लेरोस्पोरा तथा स्क्लेरोपथोरा वंशज की जातियों से उत्पन्न होते हैं। भारत में स्क्लेरोस्पोरा की तीन जातियां एवं स्क्लेरोपथोरा की एक जाति यह रोग उत्पन्न करती है।

सभी प्रकार की फफूंदियों से पौधों में अलग अलग लक्षण उत्पन्न होते हैं जिनके आधार पर इनको पहचाना जा सकता है। भारत में पायी जाने वाली मृदुरोमिल फफूंदियां इस प्रकार हैं—

1. भूरी धारी मृदुरोमिल—स्क्लेरोपथोरा रैसाई वैरायटी जीई
2. फीलीपाइन मृदुरोमिल—स्क्लेरोस्पोरा फिलीपाइनेनसिस
3. गन्ना मृदुरोमिल—स्क्लेरोस्पोरा सेकराई
4. ज्वार मृदुरोमिल—स्क्लेरोस्पोरा सोरघी।

क्रेजी टाप

Crazy top

इस रोग का अध्ययन सर्वप्रथम इटली (Cugini and Traverso, 1902) में किया गया। कुछ वैज्ञानिकों ने पहले इस रोग का कारण फफूंद न मानकर आनुवंशिक (Genetical) या विषाणु बताया (Karper and Stephens, 1936; Reeves and Stansel, 1940)। मुख्य रूप से इसका प्रकोप आस्ट्रेलिया, कनाडा, इंग्लैंड, इटली, जापान एवं अमेरीका आदि देशों में देखा गया है। हमारे यहां पर इसका प्रकोप बहुत ही कम होता है। भारत में इस रोग का सर्वप्रथम सिंह व उनके साथियों ने सन् 1966 में वर्णन किया किन्तु इसके बारे में अभी मतभेद है। हमारे

यहाँ इसका प्रकोप रागी (Ragi) ज्वार तथा अन्य पोषक पर भी देखा गया है। रोग के उत्पन्न होने के लिये भूमि में पानी का भराव या अंकुरण से जब पौधे 4-6" बड़े हो जायें तब मिट्टी जलमग्न होनी चाहिये, इसीलिये साधारणत: इस रोग [illegible] प्रकोप कम हो पाता है।

लक्षण (Symptoms)—(1) जड़ों को छोड़कर पौधे के सभी भागों पर इस रोग का प्रभाव देखा गया हैं। जब पौधे 8 से 10" बड़े होते हैं तब सर्वप्रथम इस रोग के लक्षण दृष्टिगोचर होते है। एक ही पौधे से बहुत अधिक दोजी या प्ररोह (Tillers) निकलते हैं तथा पौधा छोटा रह जाता है। कई बार तो एक ही पौधे से 6 से 10 दोजी भी निकलकर बढ़ जाते है (Ullustrup 1970)।

(2) पत्तियों का हरा रंग प्रारम्भ में पूर्ण रूप से अथवा आंशिक रूप से पीले तथा बाद में भूरे रंग का हो जाता है जो पीलीमा (Chlorosis) का परिचायक है। यदि ऐसी पत्तियों को प्रकाश के सामने देखा जाये तो बहुत छोटे पारदर्शक बिन्दु से दिखाई पड़ते हैं। उग्रावस्था में पत्तियां चर्म जैसी पट्टक श्रेणी (Streak like) एवं कोलक सतही सी हो जाती है। इन्हीं लक्षणों के कारण इस रोग का नाम क्रेजी टॉप (Crazy top) रखा गया है। यदि रात के समय अधिक ओस पड़े तो दूसरे दिन प्रात. पत्तियों की निचली सतह पर फफूंद की सफेद चूर्ण जैसी वृद्धि दिखाई पड़ती है। (3) पुष्पक्रम तथा कली (Bud) का प्रगुणन (Protiferation) हो जाता है तथा वृद्धि भाग पत्तियों की तरह हो जाते हैं। बल्लर या मञ्जर में पिलोड़ की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसमें कि साधारण पुष्पक्रम के भाग पत्तियों में परिवर्तित हो जाते हैं। रोग ग्रसित पौधों में भुट्टे बहुत छोटे तथा उनमें दाने कम भरे हुए होते हैं उग्रावस्था में पौधों में भुट्टे ही नहीं लग पाते है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle)—

यह रोग स्क्लेरोफ्थोरा मेक्रोस्पोरा (Sclerophthora macrospora (Sacc) Thirum) फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है जो कि अनिवार्य परजीवी है।

समानार्थक (Synonyms)—

1. स्क्लेरोस्पोरा मेक्रोस्पोरा (Sclerospora macrospora) Sacc
2. स्क्लेरोस्पोरा क्रिगियाना (Sclerorpora Kriegeirana) Magnus
3. स्क्लेरोस्पोरा ओराइज़ी (Sclerosoora Oryzae) Brizi
4. नोज़ेमिया मेक्रोस्पोरा (Nozemia macrospora) (Sacc.) Tasugi
5. फाइटोफ्थोरा मेक्रोस्पोरा (Phytophthora mecrospora (Sacc) Janaka

सर्व प्रथम जब इस फफूंद की लैंगिक अवस्था का पता नहीं था, सकार्डो ने इसका नाम स्क्लेरोस्पोरा मेक्रोस्पोरा रखा। तदुपरान्त इटली में (Peglion, 1930;

Peyornel, 1929) बीजाणुधानी का मालुम पड़ा जो कि गेहूँ की पत्तियों से रन्ध्रों द्वारा बाहर आ रहे थे। मक्का पर बीजाणुधानी बहुत ही कम बनते हैं।

वर्धी शरीर (Vegetative body) में अन्तर्कोशिय, पटहीन, बहुकेन्द्रिक, रंगहीन कवकजाल होता है। मक्का की पत्तियों पर बीजाणुधानी जब ही बनती है जबकि वह पूर्ण रूप से पानी में भीगी हुई रहती है। बीजाणुधानीधर परिमित (determinate), माइक्रोन्यूमस (micronemous) तथा शाखाहीन होते है। इनका परिपक्व भी समकालिक (Synchronous) नहीं होता है। जिस स्थान पर बीजाणुधानी जुड़ी रहती है वह भाग कुछ फूला हुआ होता है।

बीजाणुधानी नींबू जैसी आकृति की (lemon shaped) रंगहीन, 60 से 100 माइक्रोन लम्बी तथा 43 से 64 माइक्रोन चौड़ी होती है। (Thrimula Cher, 1953) प्रत्येक बीजाणुधानी के सिरे पर एक उभार होता है जिसके फटने पर अर्धगोलाकार से वृक्काकार (reniform) नग्न, रंगहीन, एककेन्द्रिक तथा द्विपक्षी चल बीजाणु बाहर आते हैं। ये चलबीजाणु कुछ समय तक पत्ती पर पड़ी ओस अथवा पानी में थोड़े समय तक तैर कर स्थिर हो जाते हैं। शीघ्र ही कशाभ समाप्त हो जाते हैं और चल बीजाणु गोलाकार होकर परिपुटन के बाद पर्ण रन्ध्र के द्वारा प्रवेश कर संक्रमण करते है। 28^{0} सें. तापक्रम पर बीजाणुधानी अधिक संख्या में बनती है तथा 40^{0} सें. के नीचे तथा 320^{0} सें. तापक्रम के ऊपर इनका बनना बन्द हो जाता है। 8^{0} सें. तापक्रम पर बीजाणुधानी कम संख्या में बनती है। बीजाणुधानी का सीधा अंकुरण अभी तक नहीं देखा गया। उलस्ट्रप (1970) के अनुसार बीजाणुधानी का सीधा अंकुरण 4^{0} सें. से 32^{0} सें. तापमान के बीच भी नहीं पाया गया।

लैंगिक जनन विषमयुग्मी (Ocgamous) होता है। स्त्रीधानी 50 से 83 (औसतन 65 माइक्रोन) माइक्रोन व्यास की तथा उनकी भित्ति 4 से 5 माइक्रोन मोटी होती है। निषिक्ताण्ड (Oospores) गोल पीले रंग के 42 से 75 (58 माइक्रोन) माइक्रोन व्यास के होते हैं। (Ullstrup, 1952) अंतर्वस्तु दानेदार होती है। तथा कई केन्द्रिका मौजूद होते है। हर एक धानी के साथ एक पुंधानी सम्मिलित रहती है। अंकुरण के समय बारीक सी नलिका बाहर निकलती है जिसके अग्रभाग पर बीजाणुधानी बनते हैं। बीजाणुधानी के अंकुरण होने पर चलबीजाणु बाहर निकलते हैं (Peglion, 1930) चलबीजाणु पत्तियों में रन्ध्रों द्वारा प्रवेश कर संक्रमण कर देते हैं। इस प्रकार इसकी स्त्रीधानी अवस्था स्क्लेरोस्पोरा जैसी ही है केवल निषिक्ताण्ड का अंकुरण बीजाणुधानी द्वारा होता है जिसकी आकृति बीजाणुधानी जैसी ही होती है (Mc Donough, 1946; Peglion 1930)।

रोग का वार्षिक आवर्तन—यह रोग मुख्यतः मृदूढ़ है लेकिन कुछ वैज्ञानिकों ने इसे बीजोढ़ भी बताया है। रोगजन का अधिकांश जीवन खेत की मिट्टी में जहां



(2 प 1) मक्का की भूरी धारी मृदुरोमिल

रहती हैं तथा एक धारी से दूसरी धारी के बीच स्पष्ट अन्तर सा रह जाता है (चित्र 2 प 1)। ये धारियाँ बाद में ऊतिक्षय के कारण पीली जली सी प्रतीत होती हैं। सुबह के समय पत्ती की निचली सतह पर फफूँद की सफेद सी चूर्ण जैसी वृद्धि आसानी से देखी जा सकती है। रोग ग्रसित पौधे कद में छोटे रह जाते हैं तथा दाने छोटे तथा संख्या में कम बनते हैं। उग्रावस्था में तो पौधों में भुट्टे बिल्कुल ही नहीं लग पाते और यदि लगते हैं तो बहुत छोटे तथा बहुत कम भरे हुए होते हैं। वर्षों का पुष्पक्रम के किसी भी भाग में प्रगुणन नहीं होता है। 30 से 75% तक की हानि स्वयं लेखक ने इस रोग से देखी है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle)— यह रोग स्क्लेरोफ्थोरा रेसाई के.जी. (Sclerophthora rayss Variae zeae Payak and Renfro) फफूँद के द्वारा उत्पन्न होता है जो कि अनिवार्य परजीवी है।

कवकजाल पटहीन, अन्तर्कोशीय, बहुकेन्द्रिक अलवणरोधिक तथा रंगहीन होता

है। अलैंगिक जनन बीजाणुधानी के द्वारा होता है। बीजाणुधानी रंगहीन, तर्कुरूपी (Bradly fusiform) नाशपाती जैसी या गोल (ovate) आकृति की 29·5 से 66·5 माइक्रोन लम्बी तथा 18·5 से 26·5 माइक्रोन चौड़ी होती है। बीजाणुधानीधर बहुत छोटे होते हैं जो कवकजाल से उत्पन्न होते हैं। यह उप-पर्णमुखीय वायु स्थानों से पूर्ण रूप से विकसित होने के बाद पर्णरन्ध्र द्वारा 3 से 5 की मात्रा में बाहर आती है। यह प्रक्रम नम दशा में तथा अंधकार मौसम में होता है। प्रत्येक शाखीय बीजाणुधानीधर के अग्र भाग पर बीजाणुधानी होती है। बीजाणुधानी के बनने, अंकुरण तथा संक्रमण के लिये पानी की झिल्ली का होना बहुत ही आवश्यक है। अनुकूल वातावरण होने पर बीजाणुधानी से चल बीजाणु बाहर आ जाते हैं जो कि कुछ समय पश्चात गोलाकार होकर अंकुरित होते हैं। परिपुटन (en custmen) तथा के समय ये गोल रंगहीन 7·5 से 11 माइक्रोन व्यास के तथा पर्ण रन्ध्रों द्वारा पत्तियों में प्रवेश करते हैं। बीजाणुधानी का अंकुरण 18 से 30° सें पर 12 से 30 घन्टे में देखा गया है परन्तु अनुकूलतम तापमान 20 से 22° सें. है। चल बीजाणु का अंकुरण 15 से 30° सें. पर देखा गया है परन्तु अनुकूलतम तापमान 22 से 25° सें है (Singh et al, 1970)।

लैंगिक जनन विषमयुग्मी (oogamous) पुंधानी एवं स्त्रीधानी की सहायता से होता है। निषिक्ताण्ड फसल पकने के समय बनते हैं। शतस्थल धुतिक्षयी होने के बाद ये मिजोफिल ऊतकों में बनते हैं। आकृति में गोलाकार, बारीक भित्ति के 29·5 माइक्रोन से 37·5 माइक्रोन व्यास के 4 माइक्रोन मोटाई के होते हैं। इनका अंकुरण प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों ही प्रकार से देखा गया है (Payak and Renfro, 1967)।

वार्षिक आवर्तन (Annual recurrance)—मुख्यत: यह रोग मृदूढ (Soil-borne) है परन्तु सिंह ने इस रोग को अन्त: बीजोढ़ (Internally seed borne) भी बताया है। मुख्य तौर से इस रोग का एक वर्ष से दूसरे वर्ष आवर्तन खेत में पड़े मलबे आदि के द्वारा होता है जिसमें कि रोगजन निषिक्ताण्ड अवस्था में अपना जीवन व्यतीत करता है। द्वितीयक संक्रमण बीजाणुधानी के द्वारा होता है। सर्वप्रथम जो पत्तियाँ मिट्टी की सतह पर होती है वह संक्रमित होती हैं तथा बाद में ऊपर वाली। बीजाणुधी का विकीरण हवा, बरसात, पानी के सम्पर्क होता है। बीजाणुधानी का सबसे अधिक विकीरण दोपहर में 12 बजे से 4 बजे के बीच देखा गया है। निषिक्ताण्ड का भी हवा तथा जानवरों से विकीरण होता है। (Semenuik and Mankin, 1964)। सिंह (1969) के अनुसार निषिक्ताण्ड भूमि में 3 वर्ष तक जीवित रह सकते हैं।

पूर्ववर्तिक कारक (Predisposing factors)—इस रोग के प्रसार में तापक्रम एवं नमी का बहुत असर पड़ता है। बीजाणुधानी अधिक मात्रा में जब ही बनते

हैं जबकि ठण्डा तापक्रम हो, इसके विपरीत निषिक्तांड गरम तापक्रम में अधिक बनते हैं। बीजाणुधानी के अंकुरण के लिये अनुकूल तापमान 20° से 22° सें. है लेकिन इनका अंकुरण 18 से 30° के बीच मे होता है। रोग की बढ़वार के लिये भूमि में अनुकूलतम तापक्रम 28 से 32·5° सें. वातावरण मे कम से कम 60% आपेक्षिक आर्द्रता का होना अत्यन्त आवश्यक है (Singh et al, 1970) रोग का प्रकोप उन स्थानों पर अधिक देखा गया है जहां की भूमि में जस्त की कमी हो। पौधे की उम्र का भी रोग की बढ़ावार पर बहुत असर पड़ता है पौधे की उम्र बढ़ने के साथ संक्रमण की प्रतिशत कम होती जाती है।

रोकथाम–यह रोग मृदुढ़ तथा बीजोढ़ है अतः दोनों प्रकार से इस रोग की रोकथाम करना आवश्यक है। सिंह व उनके साथियो (Singh et al, 1970) ने इस रोग की रोकथाम के लिये 18 तरह की फफूंदनाशी दवाइयां काम में ली जिनमें ब्लीचिंग पाउडर, राइजोक्टोल, केप्टान, प्लान्टविक्स एवं फेनिट (Fennit) ने बीजाणुधानी के अंकुरण में अवरोध किया। प्लान्टावेक्स तथा केप्टान का 12 दिन के अन्तर पर 1125 लिटर प्रति हेक्टर घोल का छिड़काव करने से रोग की रोकथाम के साथ दानो की उपज में भी वृद्धि हुई। मिट्टी भी कई रसायनो से उपचारित की गयी जिनमे वाइटावेक्स के परिणाम सराहनीय रहे। नेनी एवं सक्सेना (1970) ने बताया कि केप्टान (0·3%) डायथेन एम.-45 (0·3%), जिराम (0·3%), एवं मिल्टॉक्स (0·3%) के छिड़काव से इस रोग की रोकथाम की जा सकती है। मिल्टॉक्स के छिड़काव से उन्होने रोकथाम तो की परन्तु उसके साथ पादपविषालु (Phyto toxic) होने का भी डर बताया क्योंकि इसमें कॉपर मौजूद रहता है। उन्होंने प्लान्टावेक्स, वाइयटावक्स फेनिट, राइजक्टोल आदि दवाओं को प्रयोग में नही लिया।

सिंह (Singh et al, 1970) तथा उनके साथियों ने यह बताया कि इस रोग का प्रकोप उन स्थानों पर अधिक होता है जहाँ कि जस्त की कमी हो अतः यदि जस्ते (Znsoy 0·5) का छिड़काव चूने (lime) के साथ कर दिया जाये तो इस रोग की रोकथाम मे बहुत मदद मिलती है। नाइट्रोजन, फास्फोरस एवं पोटाश के मिश्रण के साथ यदि (zinc) लोह (Iron) बोरोन कॉपर, मोली बोडेनम का भी छिड़काव कर दिया जाये तो रोग की रोकथाम बहुत हद तक हो जाती है। साथ में यह भी बताया कि यदि बुवाई मे तीन दिन पहले ब्लीचिंग पाउडर के प्रयोग से भी रोकथाम हो सकती है। डायथेन एम 45 0·2% का छिड़काव भी लाभकारी पाया गया है।

बीजोपचार—

यह रोग मन्तः बीजोढ़ है अतः यदि बीजों को बोने से पहले 0·2% एक्रीगृनि ' घोल के पेराटोलुन सल्फोनेमाइड (Paratoluene Sulfo namide) में

उपचारित कर बोयें तो बीजोढ़ रोग नष्ट होने की सम्भवना रहती है। (Singh et al, 1970)। रिडोमिल 35 W से इस मृदुरोमिल की बुवाई के 30 दिन तक 4 ग्राम 1 किलोग्राम के अनुपात से उपचारित करने पर रोकथाम हुई तथा 30 दिन बाद एक छिड़काव (225 PPm) और करने पर रोग बहुत सोमा तक नियन्त्रण मे रहा (सगम लाल आदि 1979)।

3. बुवाई के समय में परिवर्तन—बुवाई के समय में यदि थोड़ा परिवर्तन किया तो भी रोकथाम हो सकती है। मई, जून तथा अक्टूबर की बुवाइ मे इस रोग का प्रकोप कम देखा गया है।

4. खेत के पास उगे रहे घास तथा भूमि मे पड़े पौधो के मलवे आदि को एकत्र कर जला देना चाहिए, जिससे कि भूमि में पड़े निषिक्तांड द्वारा संक्रमण न हो सके।

5. मक्का की बुवाई के लिये ऐसे खेतों का चुनाव करें, जहा पानी रुकने की आशंका न हो और पानी के निकास का अच्छा प्रबन्ध हो।

6. रोग प्रतिरोधी किस्में प्रयोग में लानी चाहिये। 2, 3, 5 पर इसका प्रभाव देखा गया हैं परन्तु देशी किस्में जैसे साठी, मालन आदि कम प्रभावित होती हैं।

पोषक पादप (Host Plants)—इस फफूंद से मुख्यतः क्रेब घास (crab grass) एवं डिजीटेरिया सनुगुनोलिस (Digitaria son gunalis) प्रभावित होते हैं।

फिलीपाइन मृदुरोमिल
(Phillippine Downy mildew)

फिलीपाइन के अन्दर इस रोग का प्रकोप बहुत अधिक होता है इसी कारण इस रोग का नाम फिलीपाइन मृदुरोमिल रखा गया है। आम तौर पर 40 से 60 प्रतिशत तक का नुकसान तो इस रोग के कारण होता है, परन्तु उग्रावस्था में 80 से 100% तक फसल भी नष्ट हो जाती है (Weston, 1920, Reyer, 1941 Exconde et al, 1966) सर्व प्रथम इसका विवरण बेकर ने 1916 मे फिलीपाइन मे किया। फिलीपाइन के अलावा इस रोग का प्रकोप भारत, इन्डोनेशिया आदि देशों में भी होता है। उन जगहो पर इसका प्रकोप अधिक देखा गया है जहाँ पर कि बरसात का सम वितरण हो तथा सम्पूर्ण वर्ष मक्का की खेती की जाती है। वेस्टन ने इस रोग पर बहुत ही सराहनीय कार्य किया है।

बटलर (1918) ने इस फफूंद का स्क्लेरोस्पोरा इन्डिका के नाम से विवरण किया किन्तु उप्पल व पटेल ने सन् 1936 मे बताया कि यह फफूंद स्क्लेरोस्पोरा फिलीपाइननेन्सिस से मिलती है।

लक्षण (Symptoms)—

रोग का प्रभाव पौधे की किसी भी अवस्था में हो सकता है परन्तु तीसरी पत्ती से एक महीने की उम्र तक पौधा सबसे अधिक प्रभाव्य रहता है। सर्वप्रथम रोगग्रसित पौधों में नीचे की पत्तियां पीली सफेद वर्णभेद या निवर्णन (discolouration) सी दिखाई पड़ने लगती है तथा बाद में ऊपर की पत्तियां भी इसी प्रकार हो जाती हैं। सुबह के समय पत्तियों पर सफेद सा चूर्ण दिखाई देता है। इस चूर्ण के साथ साथ पत्तियों पर पीली रेखायें भी पड़ जाती हैं तथा मद्धरित सी दिखाई पड़ती है। धीरे धीरे पीली रेखायें भूरी पड जाती है। पत्ती की निचली सतह पर इन पीली रेखाओं के स्थान से बीजाणुधानीधर समूह में रन्ध्रों द्वारा बाहर आ जाते हैं तथा निचली सतह पर भूरी मृदुरोमिल वृद्धि बनाते है। संक्रमित पत्तियाँ विकृत होकर व्याकृत एवं झरीदार हो जाती है। रोग के प्रभाव से पौधे छोटे कद के रह जाते हैं तथा दाने बनने पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle)—

यह रोग स्क्लेरोस्पोरा फिलीपाइनेन्सिस (Sclerospora Phillippinensis weston) फफूंद के द्वारा उत्पन्न होता है। यह फफूंद अनिवार्य परजीवी है। कवकजाल रंगहीनहीन, अपट, अलण्डकोशिक होता है। अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है जो दीर्घवृत्तीय 14·55×8·20 माइक्रोन (औसतन 33·04×13·33) के तथा कोनिडियोफोर 260 से 580 माइक्रोन लम्बे एवं आधार उतक 80 से 175 माइक्रोन का होता है। अनुकूल अवस्था होने पर कोनिडिया का अंकुरण जनित नलिका द्वारा होता है।

निषिक्ताण्ड पत्तियों के ऊतकों में बिखरे रहते हैं तथा बलिक ऊगोनियम (Oogonial) दीवार से ढके रहते हैं। ये रंगहीन या भूरे के रंग के गोलाकार आकृति के, 15·3 से 22·6 (औसतन 19·2 माइक्रोन) माइक्रोन व्यास के होते हैं। ऊगोनियम का व्यास 22·9 माइक्रोन होता है। अंतर्वस्तु दानेदार होती है। पुंधानी एवं स्त्रीधानी निषिक्ताण्ड बनने से पूर्व एक ही कवकसूत्र पर उत्पन्न होते हैं तथा एक दूसरे से संलग्न रहते हैं। इनका अंकुरण एक जनित नलिका के द्वारा होता है (Ex Conde, 1970)।

पत्तियों में इन बीजाणुओं का अंतः कोशीय (Intercellular) प्रवेश रन्ध्रों, जनित नलिका या कवकसूत्र द्वारा होता है। दो घन्टे में आसंजांग (Appressorium) बन जाते हैं। फफूंद की वृद्धि पत्तियों के आवरण तने पर नीचे की तरफ तथा बाद में नीचे की ओर ऊपर दोनों तरफ रहती है। बाद में फफूंद प्ररोह के शीर्ष पर अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करती है (Ex Conde, 1970)।

वार्षिक आवर्तन (Annual recurrence)—

मुख्यतः यह मृदुढ़ रोग है। इस रोग का वार्षिक आवर्तन एक वर्ष से दूसरे

वर्ष खेत मे पडे पौधों के मलवे आदि मे उपस्थित निषिक्तांड द्वारा होता है। इस बात के भी सकेत मिले-हैं कि यह फफूंद मक्का की फसल होने पर खेत के आसपास उगी घासो पर भी उपस्थित रहती हैं तथा अनुकूल वातावरण मिलने पर मक्का को सक्रमित कर देती है। द्वितीयक सक्रमण कोनिडिया द्वारा होता जो कि वायु, जल तथा अन्य माध्यमो द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर बिकीरित होते है।

रोकथाम (Control)—

1. कटाइ के बाद खेत में पडे पौधो के अवशेषों को एकत्र कर जला देना चाहिये क्योंकि प्राथमिक सक्रमण पौधो के मलवे में पड़े बीजाणुओं द्वारा ही होता है।
2. खेत के पास उगे घास पतवारों को नष्ट कर देना चाहिये, विशेष तौर से आसपास मे कोई भी पोषक पादक नही होना चाहिये। (Chona and Suryanarayana, 1953)।
3. उपावस्था मे फफूंदनाशी दवाओं का प्रयोग करना चाहिये। गटानी (Gattani, 1950) ने बताया कि 5: 5: 50 बोर्डो मिश्रण के छिड़काव से द्वितीयक संक्रमण रोका जा सकता है। ओरिला तथा उनके साथियो (Orilla et al; 1964) ने बताया कि कोसोस्प्रे (Kosospray 81·2% गन्धक) 1·0-1·2 किलो/450 लिटर तथा फाइगोन (Phygon XL 50% 2,3-डाइक्लोरो-1,4 नेप्थाक्विनोन) 1/2-·75 किलो/450 लिटर पानी के छिड़काव से रोग का संक्रमण बहुत कम होता है परन्तु इससे अधिक मात्रा मे छिड़काव करना पादपविषालु (Phytotoxic) रहता है।

पोषक पादप (Host Plants)—

एविना सटाइवा (Avena sativa)। यूचेनाना मेक्सिकाना (Euchlaana mexicana tchto) सेकरम स्पोन्टेनियम (S. Sponteneum L.), सोरघम बाइकोलर (Sorghum bicolor (L.) Moences), सोर्घम हेलीपेन्स (Sorghum henlepens L.) Pes)एवं सोरघम प्रोपिन्गम (Sorghum propingun Kunth) (Hitch) आदि।

गन्ने का मृदुरोमिल (Sguarcane Downy mildew)—

सर्व प्रथम इस फफूंद का विवरण 1909 में मियाके ने किया। इसके बाद ल्यू एवं च्यू (Leu and Chu, 1959) ने बताया कि इसका रोग कारक जीव गन्ने से मक्का पर तथा मक्का से गन्ने पर रोग पैदा कर सकता है। इसीलिये इसको मक्का में गन्ने का मृदुरोमिल कहते। तैवान (Taiwan) मे मुख्य रूप से इस रोग का प्रकोप होता है जिसके कारण मक्का की फसल को बहुत क्षति पहुंचती है। तैवान के

अलावा फिलीपाइन, आस्ट्रेलिया फिज्जी आइसलैण्ड, न्यु धाना (New guira) तथा भारत आदि देशो में इस रोग का प्रकोप देखा गया है। सुब्रमण्यम (Subramaniom, 1931 ने बताया कि भारत में भी यह रोग मक्का मे लगता है। इसका विवरण सिह एवं चोबे ने 1968 (Singh anb Chaube, 1968) में किया परन्तु इसका प्रकोप अधिक नही होता है।

लक्षण (Symptoms)—दैहिक तथा स्थानिक दोनो ही प्रकार के लक्षण उत्पन्न होते हैं (Leece, 1941 a; Leu et al 1966 and Chu, 1959; Matsumoto and Yang, 1961 Sunet 1965)-स्थानिक लक्षणों में सर्वप्रथम छोटे अहरिमतायुक्त गोल धब्बे पत्तियो पर दृष्टिगोचर होते हैं तथा बाद मे पत्तियो पर पीली हरी वर्ण भेद (discoloured) सी टेढी मेढ़ी धारियां बन जाती हैं। दैहिक लक्षणों मे पीले से सफेद धारिया पत्तियों के आधार पर मुख्यतः तीसरी व छटी पत्तियो पर बनती है जो कि बाद में बाद की पत्ती के ओर्पं पर भी बन जाती है। अहरिमतायुक्त धारियां मुख्यत: मध्य शिरा तक ही बनती है एवं पूर्ण रूप से पत्तियों मे वर्ण भेद हो जाती है। धारियां बाद में भक्षायी हो जाती हैं। जिस रात्रि में ओस अधिक पड़ती है उसके सुबह के समय पत्ती के निचली सतह पर सफेद चूर्ण जैसी वृद्धि आसानी से देखी जा सकती है। उग्रावस्था में बीजांकुर सूख जाते हैं, बहुत अधिक मात्रा मे दोजी बाहर निकलते है। और पौधा छोटा रह जाता है। संक्रमण प्रारम्भिक अवस्था में ही हो जाने से पौधा बहुत छोटा रह जाता है या अपरिपक्व मृत्यु हो जाती है। परिपक्व पौधों मे असमान्य लम्बे भुट्टे बन जाते हैं तथा कुछ भुट्टे पौधे के बिल्कुल ऊपर लगते हैं। फूल आने के समय मे देरी हो जाती है तथा नर एवं मादा के फूल आने मे अधिक अन्तर रह जाता है जिसके फलस्वरूप जनन क्षमता कम हो जाती है (Shio chi-chong, 1970) प्रभित पौधों में भुट्टे हल्के कम भरे हुए तथा बहुत संख्या में बनते हैं। एक ही पौधे मे 12 तक भुट्टे तक देखे गये हैं।

यह रोग स्क्लेरोस्पोरा सेकराई (*Sclerospora sacchari* Miyake) फफूंद के द्वारा उत्पन्न होता है। कवकजाल अपट, अन्तर्कोशिक, रंगहीन तथा बहुकेन्द्रिक होता है। अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है। कोनिडिया रंगहीन, दीर्घवृत्तीय, बेलनाकार, शीर्ष गोलाकार, 25 से 41×15 से 23 या 49 से 54×17 से 23 माइक्रोन के होते हैं (Sun, 1970) परन्तु कुछ वैज्ञानिकों ने कोनिडिया की माप इससे भी अलग बतायी है (Leece, 1941 b, Matsumoto et al, 1961) कोनिडियोफोर रंगहीन सीधे, अकेले या जोड़ों मे पदपुन, 160 से 170 माइक्रोन लम्बे पर्णरन्ध्र द्वारा बाहर आते हैं। बीज का भाग 2-3 गुना चौड़ा होता है। कोनिडिया का अंकुरण जनित नलिका (Germ tube) द्वारा होता है।

स्त्रीधानी (Ogonium) भूरी से लाल, असमान दीर्घवृत्तीय, 49 से 58 माइक्रो एवं 55 से 73 माइक्रोन चोड़ी होती है। (Sun, 1979)।

वार्षिक प्रावर्तन (Annual recurrence)–मुख्यतः यह मृदुढ़ (Soil borne) रोग है। प्राथमिक संक्रमण प्रायः गन्ने के खेतों से होता है गन्ने के खेत बर्षानुवर्षी (Perennial) निवेष-द्रव्य (Inoculum) का मुख्य साधन है। एक बार जब खेत में संक्रमण हो जाता है तो द्वितीयक संक्रमण कोनिडिया द्वारा होता है। कोनिडिया का वितरण हवा द्वारा होता है।

पूर्व वृतिक कारक (Pre disposing factors)—कोनिडिया के बनने के लिए 20 से 25 का तापमान अनुकूलतम है। 13_0 सें. से कम तथा 31^0 सें. से ऊपर कोनिडिया का बनना बन्द हो जाता है। कोनिडिया का अंकुरण 10^0 सें. से 33^0 सें. तक हो सकता है परन्तु 130 सें.पर अंकुरण 62%, 160 सें. पर 92·7% तथा 19 से 28^0 सें. पर 100% देखा गया है कोनिडिया के बनने तथा अंकुरण के लिए विमुक्त जल (Free water) का होना अत्यन्त आवश्यक है (Matsumoto Alyang, 1961; Yang et al; 1962)।

कोनिडिया की आयुकाल पर नमी का भी बहुत असर पड़ता है। लीस (Leece, 1941 a) ने बताया कि यदि सूखा न हो तो कोनिडियम बहुत कम जीवित रहते हैं। पौधे की उम्र का भी रोग की संक्रमकता पर बहुत असर पड़ता है। बीजांकुर की अवस्था मुख्य रूप से प्रभाव्य है तथा जैसे जैसे बढ़ती है रोग का प्रकोप कम होता चला जाता है।

रोकथाम (Control)—

1. जैसे ही पौधों में रोग के लक्षण दिखाई दें उन्हें तुरन्त निकालकर नष्ट करना चाहिए।
2. (Sun and Lai 1966) ने बताया कि कोनिडिया के अंकुरण एवं अवरोधन में मेनेब का छिड़काव लाभप्रद रहता है। रिडोमिल से (4, 6, 8 एवं 10 ग्राम। कि. में) बीजोपचार करना काफी अच्छा पाया गया परन्तु कम सान्द्रण अपेक्षाकृत कम लाभकारी रहा। 4 छिड़काव 2, 12, 22, 32 दि. प्रकुरण बाद करना भी काफी प्रभावशाली रहा परन्तु बीजोपचार की अपेक्षाकृत यह कम प्रभावशाली रहा (संगम लाल आदि, 1979)।
3. रोग प्रतिरोधी किस्में निकालने की खोज जारी है।

जावा मृदुरोमिल
(Java Downy mildew)

इस रोग का प्रकोप मुख्य तौर से जावा, इन्डोनेशिया, मदुरा आदि जगहों पर देखा गया है सबसे पहले 1913 में इस रोग का वर्णन हमारे यहां बटलर ने किया परन्तु बाद में पता चला कि यह जावा मृदुरोमिल नहीं बल्कि फिलीपाइन मृदुरोमिल है।

लक्षण (Symptoms)—जड़ों को छोड़कर शेष सभी पौधे के भागों पर इस रोग के लक्षण दिखाई देते हैं। परन्तु अधिकतर पत्तियां ही प्रभावित होती हैं। पत्तियां संक्रमित होने पर पहरिमवाहक बन जाती हैं। यदि बीजांकुर पर संक्रमण हो तो

पहली पत्ती से ही महरिमता के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। सुबह के समय पत्तियों की निचली सतह पर फफूंद की सफेद सी वृद्धि भी देखी जा सकती है। पौधों में मुट्टे छोटे तथा कम भरे हुए लगते है तथा उग्रावस्था मे तो पौधो में बिल्कुल भुट्टे नहीं लग पाते हैं।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology & life cycle)—यह रोग स्कलेरोस्पोरा मेडिस (Sclerospora maydis) नामक फफूंद के द्वारा उत्पन्न होता है। दो तरह के कवकसूत्र देखे गये हैं। पहले सीधे तथा बहुत कम शाखायुक्त तथा दूसरे पिंड (Lobed) असमान, शाखायुक्त गुच्छे मे होते हैं। कवकजाल मे बहुत से भासवान बनते है।

अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है। कोनिडिया गोलाकार से अर्धगोलाकार, 12-29×10-23 माइक्रोन व्यास के होते है तथा कोनिडियोफोर 200-550 लम्बे तथा 60 से 180 माइक्रोन के भाधार के ऊतक होते हैं। कोनिडिया का अंकुरण जनित नालिका द्वारा होता है। पत्तबीजाणु का बनना अभी तक नहीं देखा गया है।

कोनिडिया रोगग्रस्त पौधों की पत्तियों मे रात के समय बनते हैं जबकि ओस हो तथा तापक्रम 24° सें. से कम हो। कोनिडियोफोर रन्ध्रों से 11 बजे से 12 बजे रात्रि को बाहर निकलते हैं तथा कोनिडिया का बनना 12 से 2 बजे तक होता है। परिपक्व कोनिडिया का विकिरण सुबह 2 बजे से 3 बजे के बीच होता है (Semangoen, 1970) संक्रमण पूर्ण रन्ध्रों द्वारा होता है तथा भासगांग बनते है। प्राथमिक संक्रमण फफूंद का पत्तियों के आधार से पौधे मे होता है तथा यही नई पत्ती को संक्रमित कर देते हैं इस प्रकार दैहिक स्थानान्तरण होता है। किसी कारणवश यदि फफूंद पौधे के अन्दर नहीं पहुंच जाती है तो दैहिक संक्रमण की जगह स्थानिक संक्रमण ही हो पाता है। (Semangoen, 1970)।

नाइट्रोजन की अधिक मात्रा इस रोग के लिए अनुकूल है जबकि पोटेशियम से इस रोग की संक्रमणता कम हो जाती है (Goor, 1953) इसके अलावा भारी मिट्टी मे इसका प्रकोप अधिक होता है (Jackson, 1958, Rutgers, 1916) यह मुख्यतः मृदुज (Soil borne) रोग है।

रोकथाम (Control)—इस रोग की रोकथाम के लिए रोगग्रसित पौधों को तुरन्त निकालकर नष्ट कर देना चाहिए तथा आसपास के खेत मे पड़े कचरे को भी जला देना उपयुक्त रहता है। रोग प्रतिरोधी किस्मों की खोज जारी है।

ज्वार मृदुरोमिल (Sorghum Downy Mildew)—हमारे यहां इस रोग के कारण मक्का की फसल को बहुत हानि पहुंचती है। दक्षिणी भारत मे इसका अधिक देखा गया है। इसका प्रकोप नमी वाले स्थानों मे अधिक देखा गया है।

लक्षण (Symptoms)—इस रोग के कारण पौधों पर दैहिक लक्षण उत्पन्न होते हैं। संक्रमित पौधे छोटे व उनकी पत्तियां पीली व रेखीय पड़ जाती हैं। रोगी

पत्तियों में रोगी व अरोगी उतकों के बीच के किनारे पैने होते हैं जो कि "आधीरोगी पत्ती" जैसे दिखाई पड़ते हैं। संक्रमित पौधों की पत्तियां स्वस्थ पौधों की अपेक्षा सिकुड़ी व अर्द्ध दिखाई पड़ती है।

रोग के कारण पत्तियों पर स्थानिक लक्षण भी उत्पन्न होते हैं। यह धब्बे साधारणत: लम्बे व संकड़े होते हैं तथा शिराओं के मध्य वाले ऊतकों पर ही दिखाई पड़ते हैं। धब्बे चमकीले पहरित होते हैं जो बाद में ऊतिक्षयी पड़ जाते है। ऐसी पत्तियों पर अलैंगिक अवस्था मुख्यत: निचली सतह पर ही दिखाई पड़ती है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology & Life Cycle)—यह रोग स्केलेरोस्पोरा सोरगी नामक फफूंद से होता है जो ज्वार में भी मृदुरोमिल पैदा करती है। फफूंद का अलैंगिक जनन कोनिडिया व कोनिडियाफोर के द्वारा तथा लैंगिक जनन विषम-युग्मी होता है। इसके निषिक्ताड भूमि में रहते हैं जिनका सीधा अंकुरण होता है।

वार्षिक आवर्तन (Annual recurrence)—यह रोग मृदुढ है। फफूंद के निषिक्ताड खेत की भूमि में पड़े मलवे में जीवित रहते हैं। निषिक्ताड अनुकूल अवस्था में अंकुरित होकर बीजांकुर का संक्रमण कर देते है। द्वितीयक संक्रमण कोनिडिया के द्वारा होता है।

रोकथाम (Control)—यह रोग मृदुढ है अत: बीजों को उपचारित कर बोने से संक्रमण कम किया जा सकता है, परन्तु इससे रोग नियंत्रण पूर्ण रूप से नहीं होता है। यदि पौधों के निषिक्तांड बनने से पूर्व नष्ट कर दिये जायें तो निवेष द्रव्य (Inoculum) की मात्रा में कमी की जा सकती है। विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए ज्वार का मृदुरोमिल।

ग्रेमिनीकोला मृदुरोमिल
(Graminicola Downy Mildew)

इस रोग का प्रकोप हमारे यहां नहीं होता है। मक्का की अपेक्षा बाजरे की फसल मुख्य रूप से इससे प्रभावित होती है। रोगग्रसित पत्तियों का हरा रंग बदल कर सफेद या बादमी हो जाता है। यह सफेद रंग पत्तियों पर सम्बन में लम्बी धारियों के रूप में दिखाई देता है। धीरे धीरे पत्तियों का क्लोरोफिल नष्ट होने लगता है। पत्तियों के नीचे की सतह पर कोनिडियोफोर एवं कोनिडियम के सफेद से रोयें दिखाई पड़ते है। जिन दिनों में रात के समय ओस अधिक पड़ती है यह कोनिडिया उतनी ही मात्रा में आकर बनती है।

यह रोग स्केलेरोस्पोरा ग्रेमीनीकोला (Sclerospora graminicola) नामक फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है जो कि अनिवार्य परजीवी है। कवकजाल अपट, अन्तरकोशिक, अन्तःकोशिय रंगहीन होता है। अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है। कोनिडिया का अंकुरण चलबीजाणु द्वारा होता है। लैंगिक जनन विषमयुग्मी होता है। निषिक्ताड गोलाकार 30 से 60 माइक्रोन व्यास के होते हैं जिनका अंकुरण जनित नलिका द्वारा होता है।

रोगजन का अधिकांश जीवन काल की मिट्टी में निषिक्ताड अवस्था में व्यतीत होता है। चूंकि यह मृदुढ रोग है अत: रोगी पौधों को उखाड़ कर नष्ट कर देना चाहिए तथा सस्ते समय का फसल चक्र प्रयोग में लाना चाहिए। विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए बाजरे के रोगों में बाजरे की हरी बाली या मृदुरोमिल रोग।

भूरा धब्बा रोग
(Brown Spot)

सर्व प्रथम इस रोग का वर्णन 1910 में हमारे देश में किया गया। हा (Shaw,1919), मेकराई (Mc Rae, 1928), पटेल व अन्य (Patel et al 19-49) एवं थ्रिमुलाचार (Thrimulachar, 1955) ने इसका विवरण कई जगहों से किया। मेकराई (1928) ने बताया कि पूसा (बिहार) में 1926–27 में यह रोग महामारी के रूप में आया। राजस्थान के उदयपुर जिले में कई बार इसका महामारी के रूप में प्रकोप देखा गया। आजकल यह रोग उन सभी स्थानों में जहां मक्का बोई जाती है वहां पाया जाता है। मक्का के अलावा टिओसिन्ट (Teosinte) ही अन्य पोषक पादप है जिस पर इस रोग का प्रकोप होता है। अमेरीका में 1912 में बैरेट (Barrete) ने सर्वप्रथम इसका वर्णन किया।

लक्षण (Symptoms)—इस रोग का आक्रमण पौधे के निचले आधे भाग में ऊपर वाले भाग की अपेक्षा अधिक होता है। सर्वप्रथम पत्ती, पर्णाच्छद (Leaf Sheath) एवं संधि स्तम्भ (Culm) पर छोटे छोटे एक मि. मी. के पीले धब्बों के रूप में



2 म·2 मक्का का भूरा धब्बा (पर्णाच्छद व सं. स्तम्भ पर धब्बे)

स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं (चित्र 2 घ·2)। प्रारम्भिक अवस्था में धब्बे बहुत छोटे होते हैं, परन्तु धीरे धीरे एक दूसरे से मिलकर बड़े बड़े क्षत स्थलों (Lesions) के रूप



चित्र 2 घ·3 मक्का का भूरा धब्बा (मुख्य शिरा पर धब्बे)

में गहरे एवं बाद में भूरे लाल से हो जाते हैं। भूरा रंग पोषक ऊतकों के मरने के कारण दिखाई देता है। मुख्य शिरा तथा (चित्र 2 घ 3) पर्णच्छद पर ये धब्बे बड़े व बेडौल आकृति के धाबलेट जैसे दिखाई पड़ते हैं तथा इन धब्बों का व्यास 5 मि. मी. तक होता है। धब्बे बाद पत्तियों पर आते हैं। सभी पेरेन्काइमेटस ऊतक जिन पर कि इसका प्रभाव होता है नष्ट हो जाते हैं तथा केवल नाड़ी (Veins) ही बच पाती हैं। पौधे के आकार में किसी भी प्रकार का असर नहीं पड़ता है। उग्रावस्था में पौधे में भुट्टे नहीं बन पाते हैं तथा बनते हैं वह हल्के होते हैं। कुछ पौधे तो प्रौढ़ (Mature) होने से पहले ही मर जाते हैं। औसतन 3 से 5% तक का नुकसान देखा गया है परन्तु उग्रावस्था में 30 से 50 तक का नुकसान हो जाता है। राजस्थान में उदयपुर, बांसवाड़ा, डूंगरपुर एवं चित्तौड़ जिले में, हिमाचल प्रदेश में

जिनमें से कुछ तो बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। हमारे यहां मैदानी इलाकों में मुख्यतः हेल्मिंथोस्पोरियम की जातियां मुख्य तौर से अंगमारी रोग पैदा करती हैं वह निम्न हैं :—

1. हेल्मिंथोस्पोरियम टरसीकम (Helminthosporium turcicum) (Exscrahilum turcicus (Pass) Leonard & suggs.
2. हे. मेडिस (H. maydis) (Bipolaries maydis)
3. हे. कार्बोनम (H. Carbonum)=(Bipolaris Carbonum)

हेल्मिंथोस्पोरियम टरसीकम अंगमारी

पंजाब, हिमाचल प्रदेश एवं जम्मू कश्मीर के सभी मक्का वाले इलाकों में इस रोग का मुख्य रूप से प्रकोप देखा गया है। इसके कारण 3% या उससे भी अधिक नुकसान होता है। यदि इसका प्रकोप मंजर आने वाली अवस्था के 2-3 सप्ताह में हो तो नुकसान अधिक तथा बाद में हो तो नुकसान कम होता है। मक्का के अलावा इसका प्रकोप सुडान घास, जोनसन घास (Sorghum halepense (L.) Pers), ज्वार (Sorghum vualgare pers.), टियोसिन्ट (Euchlaena Mexicana Schred) आदि पर भी देखा गया है।

लक्षण (Symptoms)—इस रोग के लक्षण बुवाई के 3-4 सप्ताह बाद दिखाई देते हैं। सबसे पहले नीचे वाली पत्तियां प्रभावित होती हैं तथा बाद में धीरे-धीरे ऊपर की पत्तियां भी प्रभावित होने लगती हैं। पत्तियों पर लम्बे असमान दीर्घवृत्तीय 5-8" लम्बे 1-1½" चौड़े धब्बे बनते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में ये धब्बे जलासिक्त (Water soaked) बाद में हल्के जैतुनी (olive) से भूरे तथा अन्त में काले पड़ जाते हैं (Drechsler, 1923, Ullstrup, 1943)। धब्बे टारगेट बार्ड की तरह के से प्रतीत होने लगते हैं तथा ये फसल के पकने समय तक बनते रहते हैं। पत्ती का रोगग्रस्त भाग पतला पड़ जाता है उग्रावस्था में सम्पूर्ण पत्ती झुलसी हुयी सी प्रतीत होती है। मंजर की अवस्था में संक्रमण बहुत कम देखा जाता है। रोग ग्रसित पौधों में भुट्टे बहुत छोटे तथा दाने कम भरे होते हैं।


2 प 5 मक्का का टरसीकम पत्ती अंगमारी

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology & Life Cycle)—यह रोग हेल्मिंथोस्पोरियम टरसीकम (Helminthosporium turcium Pers.) नामक कवक द्वारा उत्पन्न होता है।

सर्वप्रथम इस कवक का विवरण 1876 में दिया गया। कवकजाल पटयुक्त रंगहीन, अन्तःकोशीय (Intercellular) होता है। अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा

होता है। कोनिडियोफोर पर्णरन्ध्र द्वारा पत्तियों के निचली सतह पर 2 से 5 के गुच्छे में बाहर आते है जो जैतूनी, 2 से 4 पटयुक्त, 7–9×150–250 माइक्रोन के होते हैं। कोनिडियोफोर के सिरे पर कोनिडिया बनते हैं। कोनिडिया लम्बे, 3 से 8 पटयुक्त जैतूनी, मध्य से मोटे तथा दोनों किनारों से पतले, 45–132 × 15–25 माइक्रोन के होते हैं। कोनिडिया हवा द्वारा उड़कर उचित पोषक मिलने पर ध्रुवीय (*Polar*) जनित नालिका द्वारा अंकुरित होते हैं। मुख्यतः अंकुरण दोनों किनारों के कोशा द्वारा होता है। सवर्ध तथा व्याधिजनत्व गुणों में फफूंद बहुत अधिक परिवर्ती (Variable) है।

कोनोडिया का अंकुरण तथा प्रवेश 6 से 18 घन्टे में हो जाता है जबकि पत्ती पर पानी हो तथा तापमान 18-27° से. हो। संक्रमण के 7 से 12 दिन बाद पत्तियों पर धब्बे दिखाई देते हैं। लैंगिक अवस्था (Sexual stage) (ट्राइकोमेटास्फेरिया) टर्सिका सीटोस्फेरिया (Setosphaeria turcica (Luttrell) Leonard & sugg (Trichometasphaeria turcica Luttrell) है जिसमें छोटे फ्लास्क की आकृति के पेरीथिसीया बनते हैं। तथा उसके अन्दर ऐस्कस एवं ऐस्कोबीज गु पाये जाते हैं।

वार्षिक आवर्तन (Annual Recurrence)—मुख्यतः यह मृदुज रोग है। पोषक की अनुपस्थिति में कवकजाल रोग ग्रसित पौधों के अवशेषों में अपना जीवन व्यतीत करता है। द्वितीयक संक्रमण कोनिडिया द्वारा होता है। सुडान घास पर यह बीजोढ़ पाया गया है। सिंह (1958) ने बताया कि 30 किलो नाइट्रोजन/एकड़ पर इस रोग का प्रभाव अधिक होता है तथा 15 किलो/एकड़ फासफोरस का रोग की सक्रमकता पर कोई असर नहीं पड़ता है परन्तु 30 किलो / एकड़ देने पर रोग का प्रभाव कम हो जाता है। 10 किलो/एकड़ पोटाश से भूमि में मिलाने पर रोग की सक्रमकता कम हो जाती है। गग एवं मिश्रा (1966) ने बताया कि 60 किलो नाइट्रोजन/एकड़ को भूमि में मिलने पर रोग का प्रभाव सबसे अधिक होता है तथा फास्फोरस पोटाश का कोई प्रभाव नहीं देखा गया।

रोकथाम (Control)—रोग ग्रसित पौधों के अवशेषों को एकत्र कर जला देना चाहिये। बीजोपचार एवं फसल चक्र इसकी रोकथाम में विशेष सहायक नहीं होता है।

2. रोग प्रतिरोधी किस्में उगानी चाहिये। संकर किस्में इससे प्रतिरोधी बतायी जाती थीं परन्तु लेखक ने स्वयं इन पर संक्रमण देखा है। इसमें केवल एक ही जीन प्रतिरोधन का निश्चायक होता है। किस्म YW 2 P C-1, गंगा-2 एवं गंगा 5 इस रोग से प्रतिरोधी है। (भी आदि, 1977)।

3. स्टोनर एवं स्टीवेन्सन (Stoner & Stevenson, 1952) ने 0.2% जिनेब के 15 दिन के अन्तर पर छिड़काव करने से रोकथाम की। हेल्मिंथोस्पोरियम मेडिस को भी इस रसायन से रोकथाम हुयी तथा 30% अधिक उपज प्राप्त हुयी। मोहो तथा उनके साथियों et al, 1966) ने बताया कि कारबनी फफूंदनाशी विषाणु है तथा जिनेब एवं थीरम के छिड़काव से रोग की मे कमी पायी गयी। हेल्मिंथोस्पोरियम ने

सी पत्तियों में धब्बे उत्पन्न होते हैं। इस रोगकारक जीव से उत्पन्न रोग को दक्षिण पत्ती अंगमारी या अंगमारी के नाम से जाना जाता है क्योंकि दक्षिण अमेरिका में इसका प्रकोप अधिक देखा गया है। हमारे यहाँ बिहार राजस्थान व उत्तर प्रदेश के इलाकों में इसका प्रकोप अधिक देखा गया है। राजस्थान में उदयपुर, बांसवाडा, डूंगरपुर, चित्तोडगढ, हिमाचल प्रदेश में ढुलाकुआन (Dhaulakuan) पश्चिमी बंगाल में कालिम्पोंग (Kalimpong) में 70–71 में इसका प्रभाव था मक्का के अलावा टीओसिन्ट (Teosinte) ही अन्य पोषक पादप है जो इससे प्रभाव्य है।

लक्षण (Sympotoms)—

इसके लक्षण बुवाई के 4-5 सप्ताह बाद दृष्टिगोचर होते हैं। सर्वप्रथम पत्तियों पर भूरे, छोटे, समान धब्बे बनते हैं जो धीरे-धीरे $1\frac{1}{2}$ इन्च तक बड़े हो जाते हैं चित्र



(चित्र 2 व 6 मक्का की मेडीस अंगमारी)

2 व 6। कुछ समय पश्चात ये धब्बे आपस में मिल जाते हैं पत्तियों
... धारियां सी दिखाई पड़ती हैं। भुट्टों पर इसका संक्रमण नहीं दे

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and Life cycle)—

यह रोग हेल्मिंथोस्पोरियम मेडिस (Helminthosporium maydis Nisik and Miyake) नामक फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है जिसकी लैंगिक अवस्था कोकलियोबोलस हेटेरोस्ट्रोफस (Cochilobolus hetrcstrophus Dretchs) है।

कोनिडियोफोर पर्णरन्ध्र द्वारा 2 या 3 के समूह में बाहर आते हैं जो 120-160 माइक्रोन लम्बे जैतूनी रंग के होते हैं। कोनिडिया कोनिडियोफोर के सिरे पर बनते हैं जो जैतूनी 30 से 115 माइक्रोन लम्बे तथा 10 से 17 माइक्रोन चौड़े ऊपर से पतले तथा गोल होते हैं। इनका अंकुरण ध्रुवीय (Polar) जनित नलिका के द्वारा होता है। पुराने ऊतकों में फ्लास्क की आकृति की 0·4 मि. मी. व्यास की काली, दीर्घवृत्तीय ऑस्टियोलेट (ostiolate) पेरीथीसिया भी देखी है। ऐस्कस बहुत, छोटी (Stipitte), शीर्ष गोलाकार, 160 से 180 माइक्रोन लम्बे तथा 4 ऐस्को बीजाणु पाये जाते हैं। ऐस्कोबीजाणु लम्बे धागे जैसे समानान्तर होते हैं। प्रकृति में इसकी लैंगिक अवस्था अभी तक नहीं पायी गयी है।

प्राथमिक संक्रमण मुख्यतः रोगग्रसित पौधों के अवशेषों में पड़े बीजाणु द्वारा तथा द्वितीयक संक्रमण कोनिडिया से होता है। अधिक तापक्रम पर इसका अधिक प्रभाव देखा गया है तथा अधिक नत्रजन का प्रयोग भी इसके लिए प्रभाव्य है।

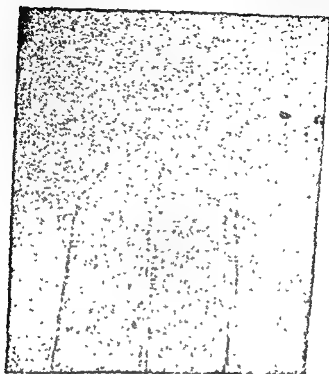
रोकथाम (Control)—

1. रोगग्रसित पौधों के अवशेषों को एकत्र कर नष्ट कर देना चाहिए।
2. रोग प्रतिरोधी किस्में प्रयोग में लानी चाहिए। इसके प्रतिरोधन का गुण कई जीवों (Genes) पर निर्भरक होता है। गंगा 4, गंगा 2 एवं गंगा 5 सबसे कम प्रभाव्य है अतः इन्हें बोयें (भा एवं अन्य 1977)।
3. पौधों पर लक्षण दिखाई देते ही (0.2%) जिनेब का छिड़काव कर देना लाभप्रद रहता है।

हेल्मिंथोस्पोरियम कार्बोनम अंगमारी
(Helminthosporium Carbonum)

हेल्मिंथोस्पोरियम कार्बोनम का भी प्रकोप हमारे यहां देखा गया है। इस फफूंद की दो प्रजातियाँ हैं जिनमें पहली प्रजाति के लक्षण एच. मेडिस के लक्षणों

से कुछ मिलते जुलते हैं परन्तु आकार में उससे भी छोटे (चित्र 2 घ.7) आधा इन्च से एक इन्च तक होते हैं। यह धब्बे वलीय चक्र (Concentric Rings) में दिखाई



चित्र. 2 घ 7 (मक्का का कार्बोनिम)

पड़ते हैं। दूसरी प्रजाति (Race-2) में छोटे, आसमान, चोकलेट से भूरे, 1/4" से 1" तक के धब्बे दिखाई देते हैं। इस फफूंद से भुट्टे भी प्रभावित होते हैं। उग्रावस्था में सम्पूर्ण पत्तियां मुरझाई हुई सी लगती हैं। रोगग्रसित पौधों के भुट्टे हल्के तथा कम भरे हुए होते हैं।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etioloy & life Cycle)—

यह रोग हे. कार्बोनम नामक फफूंद के द्वारा उत्पन्न होता है। सर्व प्रथम इसका वर्णन उलस्ट्रप (Ullustrup) ने 1943-44 में किया। ऊपर वाली दोनों जातियों में कोनिडिया छोटे, सीधे तथा कुछ मुड़े हुए, जैतुनी भूरे अथवा दीर्घवृत्तीय तथा मध्य से चौड़े ऊपर से पतले तथा सीधे गोलाकार 25-100-7-18 माइक्रोन के 2 से 12 पट वाले होते हैं। इसका अंकुरण ध्रुवीय कोश से होता है।

दोनों ही प्रजातियां संवर्धन में रूप, आकार, रंग तथा परिमाण में एक जैसी हैं परन्तु लक्षणों एवं परजीविता के आधार पर इनको पहचाना जा सकता है।

इसकी लैंगिक अवस्था कोकलिओबोलस कार्बोनम (Cochilobolus carbonum) है जो कि कोकलिओबोलस हेटरोस्ट्रोफस जैसी ही है।

वार्षिक प्रावर्तन (Annual recunrence)—

वार्षिक आवर्तन मुख्यतः पौधों मे पड़े अवशेषों द्वारा तथा द्वितीयक संक्रमण कोनिडिया द्वारा होता है। उलस्ट्रप (Ullustrup, 1943) ने 1943 में यह भी बताया कि कभी कभी यह बीजोढ़ भी है। अधिक नत्रजन का प्रयोग इसके लिए भी प्रभावद है।

रोकथाम (Control)—

1. इसमे केवल एक ही जीन (Gene) प्रतिरोधन का निश्चायक है अतः प्रतिरोधी किस्मों के प्रयोग में लाने से इसकी रोकथाम की जाती है। संकर किस्मों में इसका प्रभाव कम देखा गया है।
2. थिराम (0 2%) का बीजोपचार भी लाभदायक रहता है।
3. रोगग्रसित पौधों के अवशेषों को एकत्र कर नष्ट कर देना चाहिए।

हेल्मिंथोस्पोरियम रोस्ट्रेटम पर्णमारी
(Helminthosporium rostratum)

हेल्मिंथोस्पोरियम रोस्ट्रेटम के कारण भी पत्तियों मे धब्बे बनते है। सर्वप्रथम अफ्रीका मे बुंटिंग (Bunting) ने 1927-28 मे इसका वर्णन किया। यंग तथा उनके साथियों (Young et al, 1947) ने इसका प्रकोप मक्का, ज्वार, सुडान घास आदि पर भी देखा। उलस्ट्रप (Ullustrup, 1954) के अनुसार अमेरिका में इस रोग का प्रकोप बहुत कम होता है तथा उससे विशेष नुकसान नहीं होता है। चट्टोपाध्याय एवं दास गुप्ता (1959) ने धान की पत्तियों पर तथा महेन्द्रपाल एवं सूर्यनारायण (Mahendrapal & Suryanarayan, 1964) ने ज्वार की पत्तियो पर इस फफूंद के धब्बे देखे। भौमिक एवं प्रसादा (Bhowmik & Prasada) ने 1965 मे सर्वप्रथम हमारे यहां इस फफूंद का संक्रमण मक्का पर देखा।

लक्षण (Symptoms)—

मुख्यतः पत्तियों पर ही लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। सर्वप्रथम पत्तियों पर छोटे, पीले रंग के दीर्घवृत्तीय (Elongated) धब्बे दिखाई पड़ते है जो बाद मे बढ़कर एक धारी सी दोनो पत्तीय नाड़ियो के मध्य बना लेते हैं। धीरे धीरे ये भूरे रंग के हो जाते है तथा इनका परिमाण 2-40×2-3 मि. मी. होता है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle)—

यह रोग हेल्मिंथोस्पोरियम रोस्ट्रेटम (Helmiinthosporium rostratum Drechs) नामक फफूंद के द्वारा उत्पन्न होता है। कवकजाल पटयुक्त, रंगहीन होता है तथा अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है। कोनिडियोफोर गहरे जैतुनी रंग के

पर्णरंध्र से शाखाधारी अकेले या दो तीन के समूह में बाहर आते हैं। तीन प्रकार की प्रजातियां मिली हैं। जिनके कोनिडिया का परिमाप अलग अलग होता है।

1. आन्ध्र संवर्ध (Isolate) 171·8×5·7 माइक्रोन
2. गगंटोक 2 संवर्ध (Isolate) 260 4×5·7 माइक्रोन
3. कानपुर संवर्ध (Isolate) 85·4×5·5 माइक्रोन

कोनिडिया दीर्घवर्तीय सीधे, मध्य से चौड़े ऊपर से गोलाकार, गहरे जैतुनी रंग के होते हैं। कानपुर संवर्ध सबसे छोटे होते हैं। कोनिडिया का अंकुरण जनित नलिका द्वारा होता है। सबसे अधिक रोग का प्रभाव उस समय होता है जब पौधों को 48 घण्टे की संतृप्त (Saturated) अवस्था में रक्खा जाये तथा तापक्रम 30° सें. हो।

इन चारों जातियों के अलावा मिश्रा एवं सिंह (1971) ने दो अन्य जातियों का विवरण भी सबसे पहले किया जिसके फलस्वरूप पत्तियों में धब्बे बन जाते हैं।

1. हेल्मिथोस्पोरियम टेट्रामेरा (Helminthosporiem tetrameuза Mc Kinney) कोनिडिया-12 से 13 माइक्रोन लम्बे तथा 4 से 12 माइक्रोन चौड़े होते हैं। इनका अंकुरण दोनों सिरों (Bipolar fashion) से होता है।
3. हेल्मिथोस्पोरियम हवाईएन्स (Helminthosporium hawaiiense Bougnicourt) कोनिडिया 12 से 45 माइक्रोन तथा 4 से 10 माइक्रोन चौड़े, 2 से 7 पटयुक्त होते हैं। इनका भी अंकुरण दोनों सिरों (Bipolar fashion) से होता है।

किट्ट रोग

(Rust Diseases)

तीन प्रकार की किट्ट फफूंदियों का मक्का पर प्रभाव होता है, वह निम्न है—

1. सामान्य किट्ट (Normal rust)
2. दक्षिणी किट्ट (Southern rust)
3. उष्ण किट्ट (Tropical rust)

सबसे पहले हमारे यहां भौमिक एवं प्रसादा (Bhowmik and Prasada) ने सामान्य किट्ट का प्रकोप मक्का की पत्तियों पर देखा था। परन्तु हमारे यहां इन किट्टों से इतना नुकसान नहीं होता है जितना कि अन्य देशों में। हमारे यहां मुख्यतः सामान्य किट्ट का, अन्य देशों में दक्षिणी किट्ट तथा पश्चिमी गोलार्द्ध में उष्ण किट्ट का प्रकोप देखा गया है। भारत में यह रोग देश के पहाड़ी क्षेत्रों में और रबी में मक्का उगाये जाने वाले क्षेत्रों जैसे बिहार, दक्षिणी भारत, पूर्वी उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और राजस्थान में मक्का की फसल पर आक्रमण करता है। पौधों में रोग देर से आने के कारण उपज में हानि प्रायः कम होती है।

सामान्य किट्ट—

इस रोग का प्रभाव अन्य दो किट्टों से अधिक होता है। मुख्यतः पत्तियां ही इस रोग से प्रभावित होती हैं। पत्तियों पर गोल से लम्बे भूरे रंग के स्फोट बनते हैं जो कि धीरे धीरे जैसे मक्का पकती है काले होने जाते हैं। ये काले स्फोट टेल्यूटोबीजाणु बनने के कारण होते हैं। प्रारम्भ में ये पत्ती की ऊपरी सतह तथा बाद में दोनों सतहों पर लक्षण दिखाई देते हैं। इस प्रकार के स्फोट पत्तियों के अलावा पौधे के अन्य ऊपरी भागों पर पाये जाते हैं परन्तु अधिकतर पत्तियां प्रभावित होती हैं। प्रारम्भ में ये स्फोट बहुत छोटे हैं। परन्तु धीरे धीरे एक दूसरे से मिलकर बड़े बड़े दागस्थलों के रूप में गहरे रंग के हो जाते हैं तथा पत्तियां मृहरिम हो जाती हैं। मक्का के अलावा (Teosinte) पर भी इस रोग का प्रभाव होता है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र —

यह रोग पक्सीनिया सोरगी (Puccinia (Schw) Sorghi) नामक फफूंद के द्वारा उत्पन्न होता है।

समानार्थक—

पक्सीनिया मेडिस (Puccinia maydisB es)
पक्सीनिया जी (Puccinia zeae Bes)
एसीडियम आक्जेलिडिस (Accidium oxalidis Thum)
डिकोइमा सोर्गी (Dicaeoma sorghi Ktze)

यह भिन्नाश्रयी (Heteroctous) बहुरूपी (Polymorphic) तक अनिवार्य परजीवी है। बेसीडियोबीजाणु मक्का की पत्तियों पर संक्रमण करने में असमर्थ रहते हैं तथा आक्जेलिस (Oxalis) की जातियां एकान्तर पोषक हैं जिस पर कि पिक्नीडियम एवं ईसीडियम अवस्था पायी जाती है। पत्तियों की ऊपरी सतह पर फ्लास्क जैसी रचनायें बनती हैं जिन्हें पीक्नीडियम कहते हैं। जब दो भिन्न पिक्नीडियम के मदाग्र बबमृम स्रावण में मिल जाते हैं तो द्विकेन्द्रिक स्थिति हो जाती है तब पत्तियों की निचली सतह पर ईसीडियम बनाते हैं। ईसीडियम की भीतरी परत मोनोकेरियोटिक (monocaryotic) कवकजाल की बनी होती है जो उपचर्मिस्तर कहलाती है। ईसीडियम पर शृंखला में ईसीडियोबीजाणु बनते हैं। ये बीजाणु कोर में दीर्घवृत्तीय, (Finely Verrucose) तथा पीले रंग के होते हैं। प्रकृति में इन बीजाणुओं का संक्रमण बहुत कम देखा गया है। बाद में बीजाणु हवा द्वारा उड़कर मक्का की पत्तियों पर अंकुरित होकर यूरिडोबीजाणु गोल से दीर्घवृत्तीय, कंटिकानुमा (Echinulate), पीले से भूरे, मध्यमभीत्र अनिय छिद्र वाले 23 से 32 माइक्रोन व्यास के होते हैं। इनका विकीरण हवा द्वारा होता है।

बाद की अवस्था में टेल्यूटोबीजाणु बनते हैं। ये दीर्घवृत्तीय, शीर्ष पर

गोलाकार या कभी कभी चपटे, गहरे भूरे रंग के होते हैं। इनका अंकुरण परिपक्व अवस्था के बाद होता है। अधिकतर शिशीरातिवार करके बेसिडियोबीजाणु बनते हैं तथा इस प्रकार इस फफूंद का फसल चक्र चलता रहता है।

हेतुकी तथा भिन्नाश्रयी आदि पर एलन, (Allen, 1933, 34), आर्थर (Arthur, 1940), ली. रोक्स (Le Roux, 1954), मेन्स (Mains, 1934), पोलइवेन्स (*Pole-Evans, 1923*), जोग (Zogg, 1940) तथा भौमिक एवं प्रसादा (Bhowmik and Prasada, 1965) ने विस्तृत रूप से अध्ययन किया।

यूरिडोबीजाणु के अंकुरण के लिये 4° से न्यूनतम तापक्रम, 17° से अनुकूलतम एवं 32° सें. अधिकतम तापमान है (Weber, 1932) परन्तु यह कई अन्य बातों पर निर्भर करता है। कुशलप्पा हेग्डे (1971) ने न्यूनतम, अनुकूलतम व अधिकतम तापमान (Cardinal temp.) 5°, 18°-20° एवं 35° सें. बताया। अनुकूलतम तापमान पर 2 घण्टे मे 85% बीजाणु का अकुंरण हो जाता है तथा 8 घण्टे मे 98% अंकुरण 2% अगर (Wateagar) पर देखा गया है। अनुकूलतम तापमान पर यूरिडोबीजाणु पत्तियों में 2 घन्टे में अंकुरित होते हैं तथा 4 घंटे में आसंगांग (Appressoria) बना पाते हैं। कायिक आवर्तन यूरिडोबीजाणु द्वारा होता है अधिक नत्रजन का प्रयोग इस रोग के लिए सुग्राही है। (Mains, 1924), (Stakman et al; 1927), (Le Roux et al, 1954) कायिकी विशिष्टीकरण पर अध्ययन किया गया। 15 कायिकी प्रजातियो का पता अभी तक लगा है।

रोकथाम—

1. इस रोग की रोकथाम के लिए रोगग्रसित पत्तियो को एकत्र कर नष्ट कर देना चाहिए।
2. रोग प्रतिरोधी किस्में प्रयोग में लानी चाहिये। जिन क्षेत्रो में इस रोग का प्रकोप अधिक होता है, वहां उन्नत संकर अथवा संकुल किस्में विशेषकर संकर मक्का गंगा–4 को उगाना चाहिये।

दक्षिणी रिट्ट (*Soutoern Rust*)

सर्वप्रथम इस रोग का विवरण मेसाचुसेटस (Massachusets) में 1879 में किया गया। मेक्सिको, मध्य अमेरिका, दक्षिण अमेरिका, पश्चिम वेस्ट इंडीज एवं अफ्रीका आदि देशों में इसका प्रकोप देखा गया है। सामान्य रिट्ट से अधिक तापक्रम पर इसका प्रकोप अधिक होता है।

लक्षण (*Symptoms*)—

यूरेडिया के लक्षण इस रिट्ट में सामान्य रिट्ट से मिलते जुलते होते हैं रंग में कुछ हल्के तथा अधिक गोलाकार होते हैं। अधिचर्म (*Epidermis*) अधिक समय तक सामान्य रिट्ट की अपेक्षा अधिक समय तक अविच्छिन्न रहते है, बाद में टेलूटो-

बीजाणु बनते हैं जिसके फलस्वरूप कत्थई (चोकलेट) भूरे से काले, गोल स्फोट हो जाते है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र—

यह रोग पक्सीनिया पोलीसोरा (Puccinia polysora Underw) नामक फफूंद के द्वारा उत्पन्न होता है परन्तु इसके एकान्तर पोषक का अभी पता नहीं चल पाया है। यूरिडोबीजाणु पीले से सुनहरी रंग के, कांटिकायुक्त गोलाकार तथा सामान्य किट्ट के बीजाणु से थोड़े बड़े होते है। टेल्यूटोबीजाणु च्यवरतमीत (Chest-nut brown) से काले कोणीय दीर्घवतीय तथा सामान्य किट्ट से छोटे तथा थोड़े मोटे होते हैं। बीजाणु द्विकेन्द्रिक होते हैं तथा शीर्ष की दीवार मोटी होती है।

इस रोग का फैलाव उस समय अधिक होता है जब रात में ओस अधिक पड़ती हो।

इसकी रोकथाम के लिये रोग ग्रसित पौधों को एकत्र कर नष्ट कर देना उपयुक्त रहता है।

कंडुवा या कालिमा रोग (Smut Disease)

मक्का पर दो प्रकार के कंड रोग लगते हैं —

1. सामान्य कंड (Common Smut)
2. चोटी कंड (Head Smut)

इन दोनों कंड रोगों मे से हमारे यहां चोटी कंड का प्रकोप अधिक होता है।

सामान्य कंड (Common Smut)—

सर्व प्रथम इस रोग का मालुम 1954 में यूरोप में हुआ था। अमेरिका में इसका विवरण 1822 में किया गया। हमारे देश मे इसका विशेष प्रकोप नहीं होता है तथा केवल कश्मीर तक ही यह सीमित रहता है। मक्का के अलावा केवल टियोसिन्ट (Teosinte) ही अन्य पोषक पादप है जिस पर इस रोग का प्रभाव और देखा गया है।

लक्षण (Symptoms)—

जड़ों को छोड़कर पौधे के लगभग सभी भाग इस रोग से प्रभावित होते है इस रोग की मुख्य पहचान यह है कि संक्रान्त भागों पर पिटोबा (Gall) बन जाते जाते है जो कि अन्य किसी कंड रोग मे नही बनते हैं। ये पिटिका तना, पत्तियों, वायवीय मूलिका, पुष्प तथा पत्तियों पर ही बनाती है। जब इस फफूंद का कवकजाल भ्रूण ऊतियों (embroyonic cells) के बीच मे वृद्धि करता है तो पोषक उतकों के उद्दीपन (Stimulation) से अत्यधिक वृद्धि हो जाती है फलतः पौधे का आकार

बढ़ जाता है (Knowles, 1889)। प्रारम्भ में ये पीटीका चमकीली सफेद हरी झिल्ली से ढकी रहती है। जैसे-जैसे पीटीका बढ़ती है झिल्ली फट जाती है। तथा इसमें से काले चूर्णी बीजाणु बाहर निकल जाते हैं। ये पीटिका मटर से बड़ी आकृति की नहीं होती हैं। इमर एवं क्रिश्टेन्सन (Immer & Christensen, 1931) ने बताया कि उपज में नुकसान इस बात पर निर्भर करता है कि पिटिका का आकार क्या है तथा वह किस जगह पर बनी है। सबसे बड़े परिमाण की पिटिका भुट्टों पर बनती है क्योंकि वहां पर सबसे अधिक भ्रूण ऊतियां मौजूद रहती हैं।

यदि संक्रमण तने पर हो तो उसके कारण उपज में बड़ी कमी आ जाती है बीजांकुर पर संक्रमण होने पर वह अपक्षयी (Atrophy) एवं कमजोर रह जाते हैं तथा पौधे छोटे या मर जाते हैं। मादा पुष्पों में संक्रमण होने पर दाने की जगह पिटीका बन जाती है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle)—

यह रोग अस्टीलागो मेडिस (Ustilago Maydis Dc. cda) नामक फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है।

समानार्थक (Synonyms)—यूरिडो जी मेज (Uredo zeaemays DC)
यूरिडो मेडिस (Uredo maydis DC,)
यूरिडो जी (Uredo zeae Schw Ung.)
यूरिडो मेडिस (Urede maydis Cda.)
अस्टीलागो मेडिस जी (Ustilago moys zeae DC,)

क्लेमाइडोबीजाणु जो कि पिटीका बनाते हैं, भूरे से काले, बहुत अधिक कंटिका युक्त, गोल या दीर्घवृत्तीय, मोटी भित्ति वाले 8 से 10 माइक्रोन व्यास के होते हैं इनका अंकुरण प्रकवक (Promycelium) द्वारा होता है जिस पर छोटे, एक कोशिका वाले रंगहीन, महीन भित्ति के अविरत (Continuous) बीजाणुओं मुकुलन द्वारा बनते हैं। संवर्ध माध्यम में इस फफूंद की वृद्धि अच्छी होती है तथा द्वितीयक बीजाण्वी भी बनते देखे गये हैं परन्तु क्लेमाइडोबीजाणु नहीं बन पाते। द्विकेन्द्रिक अवस्था के बारे में काफी मतभेद रहा है। मेयर्ट (1927) ने किसी प्रकार का समयन नहीं देखा तथा यह बताने में भी असमर्थ रहे कि इस जगह वास्तव में द्विकेन्द्रिक अवस्था उत्पन्न होती है। सर्वप्रथम स्ल्यूमर (Sleumer, 1932) तथा बाद में बोमेन ने बताया कि हर एक बीजाण्वी का केन्द्रक विभाजित होता है तथा हर एक बीजाण्वी में से एक केन्द्रक समयित कोशिका में प्रवेश करता है तथा बाद में वह पट में प्रगमन हो जाता है तथा द्विकेन्द्रिक पट का देखना उत्पन्न हो जाता है प्रत्येक बीजाण्वी अंकुरण द्वारा अंकुरित होते हैं जो बाद में कवकजाल बनाते हैं। पहले ऐसा समझा जाता था कि बीजाणु अंकुरण के लिये शर्करा का विश्राम काल आवश्यक है

परन्तु अब वैज्ञानिकों ने बताया है कि नये पौटिका से बीजाणु का अंकुरण शीघ्र ही हो सकता है।

वार्षिक आवर्तन (Annual recurrence)—

पौधों में मलवे तथा अधिकतर गोबर या कम्पोस्ट के गड्ढो में बीजाणु जीवन व्यतीत करते हैं तथा यहां से अनुकूल अवस्था मिलने पर हवा या पानी के द्वारा जाकर संक्रमण कर देते हैं। बीजाण्वी का विकीरण हवा द्वारा सबसे पहले ब्रिन्फेड ने 1859 में बताया। बीजाणु का कम्पोस्ट के गड्ढों में अंकुरण होता है तथा वहां पर बीजाण्वी की वृद्धि मुकुलन द्वारा खाद के पानी के रस में होती रहती है परन्तु संक्रमण मांझर तक किसी भी अवस्था में हो सकता है। यह भिन्न जालिक फफूंद है अर्थात् एक बीजाण्वी के द्वारा संक्रमण नहीं हो सकता है + तथा एवं–बीजाण्वी के होने पर ही संक्रमण हो सकता है (Stakman & Christensen, 1927, Hanna 1929)। अधिकतर संक्रमण स्थानिक (Local) ही देखा गया है। किन्तु दैहिक संक्रमण भी देरी की अवस्था में होता है (Davis, 1936 and Melhus and Davis, 1931)। सेफर्ट ने 1927 में यह भी बताया पोषक अन्दर परजीवी कवक-जाल में योजी उद्वर्ध (Clamp connection) भी मौजूद रहते हैं। इससे ऐसा लगता है कि द्विकेन्द्रिक अवस्था क्लेमाइडोबीजाणु के बनने से पूर्व ही उत्पन्न हो जाती है।

पहले ऐसा समझा जाता था कि इसके बीजाणु जानवरों के अन्नस्त्रोतस् (Almmentry canal) में जाकर बिना अंकुरण क्षमता खोये आ सकते थे परन्तु आरथर एवं स्टूर्ट (Arthur and Stuart, 1900) तथा फिके एवं मेलचर (Ficke and Melchers 1929) ने इसको निराधार बताया तथा इस विचार पर पहुंचे कि बहुत अधिक मात्रा में ये नष्ट हो जाते हैं, तथा जितने भी बीजाणु अन्नस्त्रोतस में जाने के बाद बचते हैं वह इतनी ज्यादा कम मात्रा में होते हैं कि उनका आवर्तन एवं प्रसार में विशेष महत्व नहीं है। कुछ वैज्ञानिकों का यह भी विचार है कि क्लेमाइडोबीजाणु बीजों के साथ चिपके रहते हैं तथा वार्षिक आवर्तन में सहायता करते हैं परन्तु इस प्रकार के होने के बहुत कम संकेत मिले हैं।

बीजाण्वी का पोषक में प्रवेश पर्णरन्ध्र, घावों (wounds) या सीधे कोशिका भित्ति द्वारा हो सकता है। संक्रमण एवं परिपक्व सोराई के बनने में 7 से 21 दिन तक लगते हैं। यह अन्तर वातावरण पर निर्भर करता है।

पूर्वप्रवृत्तिक कारक (Predisposing Factors)—

इस रोग का प्रकोप उन स्थानों पर अधिक देखा गया है जहां पर कि गोबर की खाद अधिक मात्रा में दी गयी हो। सर्वप्रथम तापक्रम का अंकुरण पर प्रभाव जोन्स (Jones, 1923) ने बताया। अनुकूलतम तापमान 26 से 30° से., अधिकतम

36 से 38° से. तथा न्यूनतम 8° सें. बताया। अच्छी शुष्क मिट्टी तथा समेघ ऋतु में इस रोग का प्रकोप अधिक होता है। इट्ज़रोजिट (Itzerou 1938) बताया कि बीजाणुओं के अंकुरण के लिये 2.5, 4.4 एवं 8.5 क्रमशः न्यूनतम, अनुकूलतम एवं अधिकतम पी. एच. मान है।

बरसात के बाद यदि अच्छा प्रकाश हो जाता है तो इस रोग का फैलाव अधिक नहीं हो पाता है परन्तु यदि बरसात के बाद समेघयुत या थोड़ा साफ सा मौसम हो तो इस रोग का प्रकोप अधिक होता है। जितनी अधिक रोहण ऋतु (Growing season) होती है उतना ही प्रकोप अधिक होता है। इसी कारण जल्दी बोई जाने वाली मक्का पर देरी से बोई जाने वाली की अपेक्षा ज्यादा प्रकोप होता है। इसके अलावा पास-पास बुवाई करने पर भी रोग का प्रभाव अधिक होता है।

कायिकी विशिष्टीकरण (Physiological specialisation) का भी पता चला है (Christensen and stakman 1926 and Stakman et al, 1929, 33, 40) 15 विभिन्न प्रकार के कायिकी प्रजातियों का पता चला है जो कि रंग रूप आदि में भिन्न हैं तथा 7 में आपस में परजीवी अनुक्रमण में विभिन्न है।

रोकथाम (Control)—

1. बीजोपचार इस रोग की रोकथाम के लिये ज्यादा अच्छा नहीं है। फिर भी बीजों से रोग फैलने की सम्भावना को कम करने के लिये बीजों को बोने से पहले 0.2% कैप्टान एवं थिराम से उपचारित कर लेना चाहिये।
2. पलास चक्र अपनाने चाहिये। जिन खेतों में इस रोग का प्रकोप हो वहां 3 वर्ष में एक बार मक्का की बुवाई करनी चाहियें।
3. प्रतिरोधी किस्में प्रयोग में लेनी चाहियें। परन्तु अभी तक कोई भी किस्म पूर्ण प्रतिरोधी नहीं पा यी गयी है।
4. जो खाद कंड से दूषित हो उसका प्रयोग मक्का के खेतों में नहीं करना चाहिये।
5. बुवाई पास-पास में नहीं करनी चाहिये।

चोटी कंडुवा— (Head Smut)

इस रोग का विवरण सबसे पहले 1895 में अमेरिका में किया गया। मक्का के अलावा ज्वार भी इस रोग से प्रभावित होती है। मुख्य रूप से इसका प्रकोप दक्षिणी एशिया, भारत तथा दक्षिणी अमरीका के भागों में देखा गया है। यहां पर इस रोग का प्रकोप काश्मीर, आन्ध्र प्रदेश, मैसूर मध्य प्रदेश, बम्बई, उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान में होता है।

लक्षण (Symptoms)—इस रोग के लक्षण पौधों में भुट्टे तथा मांझर आने के समय दृष्टिगोचर होते हैं। भुट्टे और प्रगुच्छ में बालदण्ड व बालों की जगह काला चूर्ण पैदा हो जाता है तथा एक भी दाना नहीं बन पाता है चित्र 2 घ 8। बाहर से देखने



चित्र 2 घ. 8 मक्का का चोटी कंड

पर भुट्टा प्रायः स्वस्थ दिखाई देता है। प्रारम्भिक अवस्था में बीजाणु एक सफेद रंग-हुयी पतली झिल्ली के द्वारा ढके रहते हैं परन्तु बाद में ये झिल्ली फट जाती है। जिस पौधे में यह रोग लग जाता है उसके सभी भुट्टे व प्रगुच्छ रोगग्रस्त हो जाते हैं। रोगित पौधे स्वस्थ पौधों की अपेक्षा कुछ छोटे, कुबड़े हो जाते हैं। 10 से 15% तक का नुकसान इसके कारण देखा गया है परन्तु अनुकूल अवस्था में यह नुकसान और भी अधिक होने की सम्भावना रहती है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle)—यह रोग स्फेसिलोथिका रिलायना (Sphacelotheca reiliana Kuehn Clint) नामक फफूंद के द्वारा उत्पन्न होता है।

समानार्थक (Synonugms)

1. सोरोस्पोरियम रीलाइनम (Sorosporium reilianum) Kuehan MC Alp.)
2. अस्टीलागो रीलाइना (Ustilago reilana Kuehan.)
3. अस्टीलागो फुलवेरासी (U. Pulveracea Cook.)
4. अस्टीलागो रिलाइना एफ. जी. (V. reilona f zee (Kuehan Pass)
5. *सिन्ट्राक्टिया सोरघी (Cintractia sorghi be Toni.)*

क्लेमाइडोबीजाणु भूरे लाल से काले रंग के, मोटीभित्ति वाले, गोल से दीर्घवृत्तीय, कण्टिकायुक्त (Echinulat) 9 से 12 माइक्रोन व्यास के होते हैं। अंकुरण होने पर प्रकवक बनती है जिस पर बीजाण्वो बनते हैं। बीजाण्वी रंगहीन, छोटे, एक केन्द्रिक बारिक भित्ति वाले होते हैं। अंकुरण होने से पूर्व क्लेमाइडोबीजाणु के दोनो केन्द्रिक सम्मिलित होकर द्विगुणित केन्द्रक बनाते हैं। द्विगुणियुक्त केन्द्रक चार प्रयंक केन्द्रको मे बट जाता है जिसमें 2 केन्द्रक+प्रवृत्ति वाले तथा 2—प्रवृत्ति वाले होते हैं। प्रत्येक कोशिका के पट के पास बीजाण्वी बनते हैं जो कवकसूत्र उत्पन्न करते हैं। द्विकेन्द्रिक कवकजाल जो कि सलयित होने पर बनता है वह बीजांकुर को भेद कर प्रवेश करता है तथा बाद में कवकजाल दैहिक (Systemic) रूप से बढ़ता रहता है। प्रजनन वाले भागों में अधिक संख्या में बीजाणु बनते हैं। यह कंड रोग सामान्य कंड से आसानी से पहचाना जा सकता है क्योंकि इसमें बीजांकुर अवस्था मे संक्रमण होता है तथा दैहिक होता है।

वार्षिक आवर्तन (Annual recurrence) :—यह रोग मृदूढ़ तथा बीजोढ़ है। भुट्टों के सूखने या नष्ट हो जाने पर क्लोमाइडोबीजाणु भूमि पर गिरते रहते हैं तथा फसल कटने के समय अधिक मात्रा में भूमि में प्रवेश कर जाते हैं। अनुकूल अवस्था मिलने पर ये बीजांकुर को संक्रमित कर देते हैं तथा दैहिक संरचण हो जाता है। भूमि के अन्दर ये बीजाणु कम से कम 2 वर्ष तक जीवित रहते हैं।

मृदूढ़ के अलावा क्लेमाइडोबीजाणु बीज की बाहरी त्वचा पर भी चिपके रहते हैं। ये बीज के साथ अंकुरित होकर प्रकवक बनाते हैं। प्रकवक पर बीजाणु बनते हैं। ये बीजाणु अंकुरण के पश्चात द्विकेन्द्रिक कवकसूत्र उत्पन्न करते है। ये कवकसूत्र बीजाणु को संक्रमित कर देते हैं तथा दैहिक स्थानान्तरण होता रहता है परन्तु मुख्यत: वार्षिक आवर्तन का साधन भूमि में पड़े क्लेमाइडोबीजाणु ही है।

पूर्वप्रवृत्तिक कारक (Predisposing factor):—इसके प्रकोप के लिये कम तापक्रम अच्छा रहता है एवं शुष्क भूमि में इसका पौधक में प्रवेश शीघ्र ही हो जाता है।

कार्यिकी विशिष्टीकरण (Physiologic Specialigation).—दो विभुग

अलग व्याधिजन्तव कायिकी प्रजातियों का मालुम पड़ा है जिसमें एक ज्वार को संक्रमित करती है तथा दूसरी मक्का को। अभी तक चार प्रजातियाँ ज्वार में तथा एक मक्का में मालुम पड़ी है।

रोकथाम (Control)—

1. चूँकि यह रोग बाह्य बीजोढ़ है अतः बोने से पहले बीजों को थिराम, सेरेसन, केप्टान आदि से उपचारित कर लेना चाहिए।
2. रोगग्रसित पौधों को उखाड़ कर जला देना उपयुक्त रहता है।
3. जिस खेत में इसका प्रकोप हो वहाँ अगले वर्ष मक्का नहीं बोनी चाहिए।
4. रोग प्रतिरोध किस्मों की खोज जारी है।

जड़ वृन्त एवं भुट्टा गलन

(Root, Stalk and Ear rots)

जहाँ कहीं पर भी मक्का की खेती की जाती है वहाँ पर जड़, वृन्त एवं भुट्टा गलन रोग का प्रकोप देखा गया है। आमतौर पर इनका प्रकोप उन स्थानों पर अधिक होता है जहाँ पर नमी अधिक हो तथा खेतों में जल निकास का अच्छा साधन नहीं है। जब इनका अधिक प्रकोप होता है तो पौधा पूर्ण रूप से परिपक्व होने के 2-3 सप्ताह पूर्व ही मर जाता है। ग्रसित पौधों में भुट्टे हल्के तथा कम भरे हुए पैदा होते हैं। सबसे अधिक नुकसान वृन्त के टूटने (Breakage) पर होता है जबकि तना टूटकर नीचे गिर जाता है तथा जड़ों का अवनयन (Lodging) हो जाता है फलतः कटाई भी मुश्किल हो जाती है जब वृन्त अवनयन होने लगे तथा परिपक्वता देरी से हो तब यह रोग आसानी से पहचाना जा सकता है। इस प्रकार के सड़न रोग कई प्रकार की फफूंदियों से उत्पन्न होते हैं जिसमे डिप्लोडिया, फ्यूजेरियम (जिबरेला), निग्रोस्पोरिक, पीथियम, मेक्रोफेमिना आदि मुख्य हैं।

डिप्लोडिया गलन (Diplodia rot):—मुख्यतः डिप्लोडिया के द्वारा ही गलन रोग का प्रकोप देखा गया है यह जड़ गलन बीजांकुर अंगमारी, वृन्त तथा भुट्टे गलन के रोग उत्पन्न कर सकती है। सर्व प्रथम भुट्टे सड़न के रूप में हील्ड तथा अन्य (Heald et al; 1909) ने 1909 में विवरण दिया।

लक्षण (Symptoms).—जब इस रोग का प्रकोप पौधों की परिपक्व अवस्था से पहले हो जाता है तो पत्तियाँ एक दम धूसर हरी सी हो जाती है तथा दूर से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक पाले के लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हों। वृन्त के नीचे का भाग हरे से भूरे रंग का हो जाता है। कवकजाल की अधिकतम बढ़वार पर्वसंधि तथा वृन्त के मध्य होती है। अधिकतर यह फफूंद नीचे की पर्वसन्धि से वृन्त तथा भुट्टे तक पहुँचती है परन्तु ऊपर से नीचे नहीं जाती है। संक्रमण स्थानिक (Local) ही

होता है। वृन्त सड़न मुख्यतौर से प्रागुन्तक (Adventitous) जड़ों में प्रारम्भ होता है तथा वृन्त तक पहुँच कर परिपक्व होने से पूर्व ही पक जाता है। जड़ों से संक्रमण में भुट्टे खाली लगते हैं। ग्रसित बीजों को बोने से 50% तक ही पौधे रह जाते हैं (Raleigh, 1930) तथा जो रहते हैं वह बहुत कमजोर होते हैं।

यदि ग्रसित वृन्त को फाड़कर देखा जाये तो पिथ (Pith) का विनयोजन (Disintegrated) तथा काला दिखाई पड़ता है जिसमें केवल वेस्कुलर बन्डल ही रह जाते हैं। जब वृन्त मर जाता है तो छोटे काले पिक्नीडिया पर्णछद के नीचे दिखाई पड़ते हैं। इसके अलावा जो पिथ वृन्त सड़न से परिपक्व अवस्था के पहले ही मर जाता है उसमें भोंभर का गिरना दिखाई पड़ता है तथा बाद में उपावस्था में पौधा मुरझा जाता है। वृन्त सड़न के कारण जल तथा पोषक तत्वों का गमनागमन संवाहकता ऊतिका (Conducting tissues.) के कारण रुक जाता है।

इस कफूंद के कारण मुख्यतः भुट्टा सड़न रोग ही होता है। जब भोंभर वाली अवस्था में 2-3 सप्ताह तक आर्द्र मौसम हो इसका प्रकोप अधिक देखा गया है। भुट्टे के नीचे से यह रोग ऊपर की ओर बढ़ता है तथा भुट्टा धूसर भूरा सिकुड़ा तथा हल्का हो जाता है। जब भुट्टे प्रारम्भिक अवस्था में ही सड़ जाते हैं तो सम्पूर्ण पौधा नीलारुण लाल जैसा हो जाता है तथा पौधा परिपक्व अवस्था से पहले में ही मर जाता है। जब देरी से संक्रमण होता है तब बाहर से कोई लक्षण प्रतीत नहीं होते हैं जब तक कि भुट्टे को तोड़ा या कर्नेल (Kernel) को हटाया नहीं जाय। बाद की अवस्था में गहरे भूरे से काले पिक्नीडिया बनते हैं। भण्डारण में भी इसका प्रसार बहुत देखा गया है तथा जब रोगग्रसित बीज बोये जाते हैं तब कफूंद का कवकजाल भी बढ़ता है तथा बीजांकुर परिपक्व की अवस्था से पहले ही मर जाता है। उदाहरणार्थ में तो भ्रूण ही नष्ट हो जाता है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle):—यह रोग डिप्लोडिया जी (Diplodia zeae (Schw) Lev) नामक कफूंद द्वारा उत्पन्न होता है।

समानार्थक:—डिप्लोडिया मेडिस (Diplodia maydis (Berk.) Sacc

स्फेरिया स्ट्रीफोरमिस (Sphaeria Straieformis Var. (Schw)

स्फेरिया जी. (S. zeae (Schw)

स्फेरिया मेडिस (S. maydis)

2. डिप्लोडिया मेक्रोस्पोरा (Diplodia macrospora Earle)

दो प्रकार के कनिडिया बीजाणु बनते हैं। एक तो कपिश भाग, दीर्घवृत्तीय सीधे से थोड़े मुड़े हुए, अंगुली में भूरे रंग के दो कोशिका के होते हैं। इनके जो बहुत कम दिखाई देते हैं वह रम्भीय, थोड़े सिकुड़े हुए धागे की आकृति के होते हैं। दोनों प्रकार के बीजाणु पत्राभ जैसी समभाग आकृति की दीवारदार; प्रतिरोधक

पिक्निडियम मे बनते हैं। पिक्निडियम गहरी भूरी, बेलनाकार (Cylindrical) दीर्घवर्णीय, 1 से 2 पटयुक्त जिसमें 24—33×5—2 माइक्रोन के पिक्निडियोस्पोर होते हैं।

डिप्लोडिया जी. के कोनिडिया 25–30×6 माइक्रोन तथा डि. मेक्रोस्पोरा के 70—80×6—8 माइक्रोन के होते हैं।

जब ये बीजाणु परिपक्व हो जाते हैं तब पिक्निडिया से जीवाणु बाहर आते हैं जो हवा द्वारा पौधों पर जाकर संक्रमण कर देते हैं। लैंगिक अवस्था का अभी पता नहीं चला है। संक्रमण मुख्यतः पौधे के मुकुट से होता है जो बाद में वृन्त तथा जड़ों पर फैल जाता है।

वार्षिक आवर्तन (Annual recurrence)—इस रोग का चिरजीवन बीज, ग्रसित वृन्त तथा भूमि में होता है। पिक्निडियोस्पोर बीजोढ़ होते है। बीजांकुर का संक्रमण बीजोढ़ द्वारा तथा मुकुट (Crown) एवं जड़ों का संक्रमण या तो मिट्टी द्वारा या बीजांकुर के निवेष द्रव्य द्वारा होता है। संवर्ध माध्यम (Culture Media) पर इसी फफूंद की बढ़ावार के लिए 10-15° से. न्यूनतम, 28 से 30° से. अनुकूलन तथा 35 से 40° से. अधिकतम तापमान हैं। परिपक्व बीजाणु का अंकुरण जनिक नलिका द्वारा 5 से 8 घन्टे में होता है। जैसे-जैसे मक्का के पौधे परिपक्व अवस्था में पहुंचते है फफूंद पेरेन्काईमेटस ऊतिका में प्रतिस्थापित (Establish) हो जाती है तथा अन्तःकोशिय (Intercalluar) वृन्त से भुट्टे में पहुंच जाती है। अधिकतर भुट्टे में स्थानिक संक्रमण ही होता है। क्लेटन (Clayton, 1927) मेक्न्यू (Mc New, 1937) तथा यंग (Young, 1926) के अनुसार फफूंद की अग्रधर्षी वृद्धि (Aggressive development) का कायिकी परिपक्वता से सम्बन्ध है।

रोकथाम (Control)—बीजोपचार (Seed treatement), फसल चक्र तथा खेत की स्वच्छता से इस रोग की रोकथाम की जा सकती है। कार्बनिक पारा-वर्गी धूमन से बीजोपचार करना लाभप्रद सिद्ध हुआ है (Hopper, 1945, Raleigh, 1937)।

2. उचित मात्रा में खाद का प्रयोग करना चाहिए। जब पोटाश की कमी हो तथा नाइट्रोजन की मात्रा भूमि में अधिक हो तो इस रोग का प्रकोप अधिक होता है।

3. अधिक मात्रा में जल के होने से भी प्रकोप अधिक देखा गया है तथा बिट्ट तथा पत्ती धब्बे रोग भी इसके लिए पूर्व वृति हैं।

4. जल्दी कटाई कर लेनी चाहिए।

फ्यूजेरियम गलन (Fusarium Rot)—इस फफूंद का प्रकोप कई जगहों पर डिप्लोडिया से भी अधिक देखा गया है। वेल्यू (Valleau, 1920) ने बताया कि

फ्यूजेरियम मोनोलीफोर्मी जड़ एवं वृन्त गलन का मुख्य कारण है। डिक्सन Dickson, 1923) ने तीन जातियों का वर्णन किया है वह फ्यूजेरियम मोनोलीफोर्मी वे. सबग्लयूटिनेनस (*Fusarium moniliforme* Var *subglutinans* Wr. & Reinking) फ्यूजेरियम मोनोलीफोर्मी (*F. Moniliforme*) एवं फ्यूजेरियम ग्रेमीनेरीयम(*Fusarium graminearum* Schw.) है। हमारे यहां सर्व प्रथम आर्या एव जैन(1964) ने इस रोग का वर्णन किया। सिर्फ सेफ्लोस्पोरियम एक्रीमोनियम एवं फ्यू. मोनीलीफोर्मी द्वारा पश्चिमी बगाल, पंजाब, दिल्ली, राजस्थान, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, मैसूर, आंध्र प्रदेश एव सिक्किम में वृन्त सड़न के लक्षण बहुतायत में दिखाई देते है। (पायक एव रेन्फो, 1966)

लक्षण(Symptoms)—इस रोग का प्रकोप पौधे के विकास के किसी भी समय हो सकता है बीजांकुरित होने के बाद बीजोधर (Hypocotyl) के बीजावरण (Seed Caot) तोड़ने के बाद से ही इसका संक्रमण होता है तथा मूलांकुर (Radicle) एवं प्रांकुर (Plumule) सड़ जाते हैं। कवकजाल की ग्रसित भाग पर कवक वृद्धि होती रहती है तथा सम्पूर्ण उत्तक सड़ जाते हैं। प्रांकुर जमावित भूरे (Lesions) बन जाते है (Arya and Jain, 1964)। बीजांकुर तीसरी पत्ती तक वृद्धि करता है तथा फिर हरिमापन (chlorosis) के लक्षण ऊपर से नीचे की ओर दृष्टिगोचर होते हैं, तथा धीरे-धीरे मुरझा कर सूखने लगते हैं। यह मुरझाने की क्रिया अकस्मात या धीरे-धीरे होती है। प्रारम्भिक अवस्था में डिप्लोडिया और इस गलन की पहचानना मुश्किल रहता हैं परन्तु जब वृन्त से खोलकर देखा जाये तो लाल अपवर्णन (Read discolotration) सा ग्रसित भाग दिखाई पड़ता है।

जब इसका प्रकोप बीजोधर एव मूलांकुर पर अधिक होता है तो द्रव्य शोष (Plasmolysis) होता है एवं उतक भूरे पड़ जाते है। रोग ग्रसित पौधों की जड़ें तथा तने के आधार वाले उतक काले रग के दिखाई पड़ते हैं। जड़ों पर काले रंग की धारियां पड़ जाती हैं।

वृन्त गलन के लक्षण परागण (Pollination) के कुछ समय पश्चात् से दिखाई पड़ते हैं तथा जैसे पौधे परिपक्व होते हैं प्रकोप अधिक होता जाता है। प्रारम्भिक अवस्था में डिप्लोडिया जैसे ही लक्षण उत्पन्न होते हैं। जब वृन्त गलन प्रकोप अधिक होता है तब वृन्त टूट जाता है तथा गिर पड़ता है।

भुट्टों में जब प्रारम्भिक अवस्था में ही इस रोग का प्रकोप हो जाता है तो वह पूर्ण रूप से सड़ जाते हैं। मुख्यतः भुट्टा गुलाबी या हीकर सड़ता है।

हेतुकी (Etiology)—यह रोग फ्यूजेरियम की तीन जातियों द्वारा उत्पन्न होता है परन्तु मुख्यतः फ्यूजेरियम मोनीलीफोर्मी (*Fusarium moniliforme*)

(Scheld Wine) का प्रकोप ही देखा गया है। लैंगिक अवस्था जिबावेरेली फ्यूजिकुरोई (*Gibberella fujikuroi* (Saw) Wr) एवं जिबरेला मोनीलीफोर्मी (*Gibberella moniteformlic*(Sheld) Wine) हैं।

कवकजाल पटयुक्त तथा अन्तःकोशिय एवं अन्तर्कोशीय दोनों प्रकार का ही देखा गया है, प्रामयाग (Appressoria) भी बनते देखे गये हैं।

माइक्रोकोनिडिया या तो जंजीर में या अकेले, 1–2, पटयुक्त कोनिडियोफोर के टिप या कूट सिरे (Pseudohead) पर स्पिण्डल या दीर्घवतीय आकृति के, 4·5–11·0×1·5–5 औसतन 7·5×3·5 माइक्रोन के होते हैं (आर्या एवं जैन, 1964)।

मेक्रोकोनिडिया हंसिया (Sickle) की आकृति के 3 से 5 पटयुक्त, 25—30×7–8 (औसतन 28·0×7·5) माइक्रोन के होते हैं (आर्या एवं जैन 1964)।

पेरीथीसिया गोलाकार, चिकने (Smooth) नीले से काले रंग की होती है। इसमें ऐस्को बीजाणु होते हैं जो कि दो नियमित लाइनों में बनते हैं। एस्कोबीजाणु नीचे टिप पर सिकुड़े 1–3 पट वाले होते हैं।

क्लेमाइडोबीजाणु बहुत अधिक संख्या में कवकसूत्र के अग्रीय या मध्य निविष्ट (Intercalary) भाग पर बनते हैं। ये गोलाकार आकृति के 4·5 से 14×4·5 से 12 औसतन 7·0×6 माइक्रोन के होते हैं।

फफूंद पोषक उनको में जड़ों के बालों (Root hairs) के प्रवेश के पास प्रसाधान भी बनते देखे गये हैं।

वार्षिक आवर्तन (Annual recurrence)—यह मृदुढ़ (Soil borne) एवं बीजोढ़रोग है। कवक अधिकतर एक मौसम से दूसरे मौसम में पत्तियों के अवशेषों में पड़ी रहती है। फसल के उगने के समय कवकजाल, कोनिडिया एवं एस्कोबीजाणु उत्पन्न होते हैं। नई फसल पर संक्रमण भूमि में पड़े इन बीजाणुओं द्वारा प्राथमिक संक्रमण होता है।

आर्या एवं जैन (64) ने बताया कि फफूंद की वृद्धि आलू अगर माध्यम पर 18 से 32° से. पर हो सकती है परन्तु 26° से. अनुकूलतम तापमान है। 36° से. पर कोई वृद्धि नहीं देखी गयी परन्तु यदि संवर्ध (Culture) को 72 घण्टे के लिए 26° से. तापमान पर रख दिया जाये तो वृद्धि वापिस हो जाती है। 41° से. पर 3 घन्टे में फफूंद नष्ट हो जाती है। 3·5 से 9·5 पी. एच. मान पर फफूंद की वृद्धि हो सकती है परन्तु 5·5 पी.एच. मान अनुकूलतम है।

रोकथाम (Control)—1. रोगी पौधे तथा उनके अवशेषों को उखाड़ कर नष्ट कर देना चाहिए क्योंकि इसके बीजाणु भूमि में सुप्तावस्था में रहते हैं। गहरी जुताई भी इस रोग की रोकथाम के लिए कारगर सिद्ध हुई है। ब्रेस्टेनोल (bres-

tanol 0·25%) से बीजोपचार पर भी इस रोग की रोकथाम की जा सकती है।

2. फसल चक्र का प्रयोग करना चाहिये।

सिफलोस्पोरियम सड़न (Cephalosporium rot)—इस फफूंद के कारण भी बीजांकुर वृन्त एवं भुट्टे तीनों प्रकार के सड़न के लक्षण उत्पन्न होते हैं। भुट्टे सड़न एवं बीज का संक्रमण सिफलोस्पोरियम एक्रीमोनियम से सम्भवतः वा बटनर (1947) ने आस्ट्रेलिया से कोहलर (Kochler 1942) ने अमरीका से सर्वप्रथम वर्णन किया था। इसका प्रकोप हमारे यहां सभी मक्का उगाये जाने वाले क्षेत्रों में देखा गया है। वृन्त सड़न का प्रकोप राजस्थान एवं मैसूर में 63-64 में देखा गया था। उग्रावस्था में तो इससे सम्पूर्ण फसल ही नष्ट होने का भय रहता है। भारत में धनराज एवं माथुर (65) ने सर्वप्रथम बताया कि यह फफूंद भुट्टा सड़न के लक्षण भी उत्पन्न करती है। इसका प्रकोप उत्तर प्रदेश तराई, राजस्थान और आंध्र प्रदेश में प्रायः काफी उग्र होता है। इस रोग द्वारा उपज में 8 से 42% तक कमी हो सकती है।

लक्षण (Symptoms)—इस रोग का प्रकोप होने पर रोग ग्रसित पौधों के भागों पर छोटे-छोटे सूखे धब्बे दिखाई देते हैं बाद में इन धब्बों के बीच में काला सा रंग नजर आता है तथा अधिक प्रकोप होने पर सम्पूर्ण पौधा सूख जाता है एवं पौधे के जल वाहिनी सम्बन्धी सभी भाग काले पड़ जाते हैं। पौधे फूलने के समय तक सूखने लगते हैं। तने के गूदे में काली धारियां हो जाती हैं। यदि रोग ग्रसित वृन्त को फाड़कर देखा जाये तो काले बंडल (Bundles) दिखाई देते हैं। रोगी पौधे समय से पहले ही सूख जाते हैं और ऐसा लगता है कि पानी की कमी के कारण मर गये हैं।

भुट्टों में बाहर से किसी भी प्रकार के लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होते हैं परन्तु जब भूसी (Husk) को हटाया जाये तो सफेद सी कवकजाल की वृद्धि दिखाई पड़ती है। नीचे के भुट्टे के आधे भाग पर धारियां भी दिखाई देती हैं (Dhan Raj and Mathur 1965)।

हेतुकी (Etiology)—यह रोग सिफेलोस्पोरियम एक्रीमोनियम (*Cephalosporium acremonium* Corda) नामक फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है। मुख्यतः यह मृदुज (Soil borne) रोग है (Kochler and Holbert, 1930, and Paharia, 1956)।

फफूंद में वृद्धि 20 से 30° सें. तापमान पर अच्छी होती है परन्तु अनुकूलतम तापमान 30° ही है। इस रोग की उचित रोकथाम अभी तक ज्ञात नहीं है। निम्नांकित उपायों द्वारा रोग की थोड़ी रोकथाम की जा सकती है।

रोकथाम (Control)—1. भूमि में जल निकास अच्छा होना चाहिये।

2. उत्तम किस्मों के बीजों को प्रयोग में लाना चाहिये जो कि इस रोग के

लिए प्रतिरोधी है मकर 5, रणजीत अथवा संकुल मक्का बोनी चाहिये।

3. रोग ग्रसित पौधों के अवशेषों को एकत्र कर नष्ट कर देना चाहिये। फसल पकते ही काट लें। फसल के कूड़े को जला दें अथवा चारे के रूप में पशुओं को खिला दें।

4. बुवाई से पूर्व बीजों को ब्रिस्टेनोल (Brestenol, 0·25% में उपचारित करने से यह रोग नहीं लगता है। बेनोमिल, थायोफेनेट, कार्बेन्डाजीम, केप्टान थिराम एवं ड्यूटर से बीजोपचार कर भी इस रोग की रोकथाम सम्भव है। (राजू एवं संगम लाल 1977)।

पीथियम गलन (Pythium rot)—पीथियम की जातियाँ मुख्य रूप से बीजों को गलाती हैं तथा बीजांकुर के रोग उत्पन्न करती है। पी. इरेगुलेराई P. Irregularie) पी. डीबेरीनम (*P. Debaryuum*) मुख्य रूप से मक्का पर पायी गयी है।

लक्षण (Symptoms)—फफूंद पौधों की जड़ों को चारों ओर से घेर लेती है और धीरे-धीरे उन्हें सड़ाना शुरू कर देती है। रोगग्रसित पौधे भूमि से सरलतापूर्वक उखाड़े जा सकते हैं क्योंकि जड़ की सभी सहायक शाखायें सूख जाती हैं। ग्रसित पौधों का बढ़ाव बहुत कमजोर होता है। तने का आधार संकुचित हो जाता है तथा तने के पोर जो भूमि की सतह के ऊपर होते हैं, सड़ जाते हैं तथा तना टूटकर नीचे गिर जाता है। संक्रमित बीजांकुर भूमि में बाहर आते ही गिर जाते हैं तथा संक्रमित उत्तक भूरी, मुलायम एवं जलासिक्त हो जाती है। संक्रमित भागों पर सफेद सी फफूंद की वृद्धि भी दिखाई पड़ती है।

हेतुकी (Etiology)—कवकजाल सपट, अकोष्ठकोशिका तथा बहुकेन्द्रिक होता है। कवकजाल पोषक कोशिकाओं में अन्तर्कोशिय व अन्तः कोशिक दोनों प्रकार का होता है। लैंगिक जनन विषमयुग्मी होता है।

यह एक मृदुर फफूंदी है जो जीवित पोषक की अनुपस्थिति में भूमि के अन्दर मृतोपजीवी के रूप में रहती है। इसका प्रकोप उन जगहों पर अधिक होता है जहाँ भूमि का जल निकास अच्छा नहीं हो तथा गोबर का खाद अच्छा सड़ा हुआ नहीं डाला हो। इस कवक के बीजोढ़ होने के प्रमाण भी मिले हैं।

रोकथाम (Control)—1. एरेसन (0·2%) या बेनलेट 0·2% से बीजोपचार करना चाहिए।

2. भूमि में जल निकास का अच्छा साधन होना चाहिए।

3. अच्छी प्रकार सड़े हुए खाद का प्रयोग करना चाहिए।

4. उचित मात्रा में खाद का प्रयोग करना चाहिए तथा फसल चक्र अपनाना चाहिए।

इसके अलावा जड़ गलन, वृन्त व भुट्टा गलन हेल्मिथोस्पोरियम, राइज-क्टोनिया एवं ट्राइकोडर्मा आदि फफूंदियों के द्वारा भी देखी गयी है। निग्रोस्पोरा से भी भुट्टे सड़न के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

References

1. Allen, R.F (1933) The Spermatia of Corn rust, Puccinia sorghi Phytopathology 23 : 923-925.
2. Allen, R.F. (1934) A Cytological study of heterothallism in Puccinia sorghi. Jour. Agr. Research 49 . 1047-1068.
3. Arthur, J C (1904) The aecidium of maize rust. Bot. Gaz. 38 : 64-67.
4. Arthur, J. C. (1929) The Plant Rusts (Uredinales), John Willey & Sons, New York.
5. Arthur, J C and Stuart, W. (1900) Corn smut. Ind. Agr. Exp Sta Ann. Rept. 12 (1898-99).
6. Arya, H.C. and B.L Jain (1964) Fusarium Seedling blight of Maize in Rajasthan. Indian Phytopathology 7 : 51-57.
7. Bhowmik, T.P (1966) *Helminthosporium rostratum drechs.* on Maize, Sudan Grass and Johnson grass in India. Proceedings of the symposium on diseases of Rice, Maize, Sorghum and Millets.I.P.S Bull. 2, 32-36.
8. Bhowmik, T and B. L. Chona (1964) Helminthosporium Carbonum on maize, a new record for India. Indian Phytopathology 17 : 337-338.
9. Bhowmik, T.P. and R. Prasad (1965) Helminthosporium rostratum on maize in India. Indian Phytopathology 18 : 312.
10. Butler, E.J. (1913) The downy mildew of Maize, Sclerospora maydis Mem. Dep. Agric. India, Bot. Ser. 5 : 275-280.

——————(1918) Fungi and diseases in plants. Thacker Spink and Co , Calcutta (India).
11. Bunting, R.H. (1927) Local cereal diseases in the records of the Mycological Division Year Book Dept. of Agric., Gold Coast, 1926 (Bull-7), p p. 25-27.
12. Camps, M.D. (1939) *Helminthosporium turcicum* in Argentina Republic. Lilloa 4 , 5 : 52.

Carangal, V , Claudia, M. and M. Sumayao (1970) Breeding for resistance to maize downy mildew caused by Sclerospora philippinensis in the Philippines. Indian Phytopathology 23 : 285-306.

Chakravarti, B. P. (1968) control of diseases of maize, So ghum and Millets. Proceedings of first Summer Institute on Plant Diseases Control,I A.R. New Delhi.

13 Chathopadhyay, S.B and C. Das Gupta (1959) Heleminthosporium rostratum Drechs. on rice in India. Plant Dis. Reptr. 43 : 1241-1244.

14. Chenulu, V.V. and T.S Hora (1962). Studies on losses due to Herminthosporium blight of maize. Indian Phytopathology 15 : 235-237
Chilton ST. J.P (1940) Delayed reduction of the Diploid nucleous in plomycelia of ustilago zeae. Phytopath. 30 : 622-623.

15. Chona, B.L. and D. Suryanarayana (1955) The occurrence of Sclerospora philippinensis weston on "kans Grass" in India Indian Phytopathology 8 : 209-210.

16 Christensen, J. J. (1963) Corn Smut caused by Ustilago maydis. Monograph No. 2, American Phytopathological Society.

17. Christensen, J J. and E. C. Stakman (1926) Physiologic specialization and mutation in Ustilago zeae. Phytopathology 16 : 979-999.

18 Clayton, E. E. (1927) Diplodia ear rot disease of corn. Jour. Agr. Research 34 : 357-371.

19 Cugini, G. and G. B Traverso (1902) La Sclerospora macrospora Sacc. parassita della zea mays L. Sta. Sper. Agric. Ital 35 : 46-49.

20 Davis, G. N. (1936) Some of the factors influencing the infection and pathogenicity of Ustilago zeae (Beckm) Unger on zea mays L. Iowa Agr. Exp. Sta. Res Bul. 199.

21. Dhan Raj, K.S. and S.B Mathur (1965) Ear rot of maize caused by Cephalosporium acremoneum corda a new record for India. Indian Phytopathology 23 (4) 393.

इसके अलावा जड़ गलन, वृन्त व भुट्टा गलन हेल्मिथोस्पोरियम, राइज-क्टोनिया एवं ट्राइकोडर्मा आदि कफ़ूंदियो के द्वारा भी देखी गयी है। निग्रोस्पोरा से भी भुट्टे सड़न के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

References

1. Allen, R F (1933) The Spermatia of Corn rust, *Puccinia sorghi* Phytopathology 23 : 923-925.
2. Allen, R.F. (1934) A Cytological study of heterothallism in *Puccinia sorghi*. Jour. Agr. Research 49 · 1047-1068.
3. Arthur, J.C (1904) The aecidium of maize rust. Bot. Gaz. 38 : 64-67.
4. Arthur, J. C. (1929) The Plant Rusts (Uredinales), John Willey & Sons, New York.
5. Arthur, J C and Stuart, W (1900) Corn smut. Ind. Agr. Exp. Sta. Ann. Rept. 12 (1898-99).
6. Arya, H.C. and B.L. Jain (1964) Fusarium Seedling blight of Maize in Rajasthan. Indian Phytopathology 7 : 51-57.
7. Bhowmik, T.P (1966) *Helminthosporium rostratum* drechs. on Maize, Sudan Grass and Johnson grass in India. Proceedings of the symposium on diseases of Rice, Maize, Sorghum and Millets.I.P.S Bull. 2. 32-36.
8. Bhowmik, T. and B. L. Chona (1964) *Helminthosporuim Carbonum* on maize, a new record for India. Indian Phytopathology 17 : 337-338.
9. Bhowmik, T.P. and R. Prasad (1965) *Helminthosporuim rostratum* on maize in India. Indian Phytopathology 18 : 312.
10. Butler, E.J. (1913). The downy mildew of Maize, *Sclerospora maydis*. Mem. Dep. Agric. India, Bot. Ser. 5 : 275-280.

    ....(1918) Fungi and diseases in plants. Thacker Spink and Co., Calcutta (India).
11. Bunting, R.H. (1927) Local cereal diseases in the records of the Mycological Division. Year Book Dept. of Agric, Gold Coast, 1926 (Bull-7), p p 25-27.
12. Campi, M.D. (1939) *Helminthosporium turcicum* in Argentina Republic. Lilloa 4 : 5 : 52.

Carangal, V , Claudia, M. and M. Sumayao (1970) Breeding for resistance to maize downy mildew caused by Sclerospora philippinensis in the Philippines. Indian Phytopathology 23 : 285-306.

Chakravarti, B P. (1968) control of diseases of maize, Sorghum and Millets. Proceedings of first Summer Institute on Plant Diseases Control,I A.R. New Delhi.

13. Chathopadhyay, S.B and C. Das Gupta (1959) Heleminthosporium rostratum Drechs. on rice in India. Plant Dis. Reptr. 43 : 1241-1244.

14. Chenulu, V.V. and T.S. Hora (1962). Studies on losses due to Herminthosporium blight of maize. Indian Phytopathology 15 : 235-237.
Chilton ST. J.P. (1940) Delayed reduction of the Diploid nucleous in plomycelia of ustilago zeae. Phytopath. 30 : 622-623.

15. Chona, B.L. and D. Suryanarayana (1955) The occurrence of Sclerospora philippinensis weston on "kans Grass" in India. Indian Phytopathology 8 : 209-210.

16 Christensen, J. J. (1963) Corn Smut caused by Ustilago maydis. Monograph No. 2, American Phytopathological Society.

17. Christensen, J.J. and E. C. Stakman (1926) Physiologic specialization and mutation in Ustilago zeae. Phytopathology 16 : 979-999.

18 Clayton, E. E. (1927) Diplodia ear rot disease of corn Jour. Agr. Research 34 : 357-371.

19 Cugini, G. and G. B. Traverso (1902) La Sclerospora macrospora Sacc. parassita della zea mays L. Sta. Sper. Agric. Ital 35 : 46-49

20 Davis, G. N. (1936) Some of the factors influencing the infection and pathogenicity of Ustilago zeae (Beckm) Unger on zea mays L. Iowa Agr. Exp. Sta. Res. Bul. 199.

21. Dhan Raj, K.S. and S B Mathur (1965) Ear rot of maize caused by Cephalosporium acremoneum corda a new record for India. Indian Phytopathology 23 (4) 393.

ghum Qulgare Pars). and Ragi (Eleusing Coracana *Gaertn). Seeds in Storage. Proceedings of the Symposium* on dis:ases of Rice, Maize, Sorghum and Millets, I. P. S. *Bull 3. 46-49.*

46. Luttrell, E.S. (1957) **Leptosphaeria (Metasphaeria)** Perfect stages for ***Helminthosporium turcicum*** *and* ***Helminthosporium rostratum*** (Abst). Phytopathology 47 : 373.

47. ....(*1958*) ***Helminthosporium*** spp on Cereals and Sugarcane in India. Part I Diseases of *zea mays* and Sorghum *vulgare* caused by *specias of Helminthosporium* Mem. Dep. Agric. India, Bot Seg. 11 : 219-42.

48. Mahendra Pal and D. Suryanarayana (1964) A new leaf spot disease of Jowar *in* India. *Indian* Phytopath. 17 : 188-190.

49. Mains, E.B. (1934) Host Specialization of **Puccinia sorghi** Phytopathology. 24 : 405-411.

50. Matsumoto, T.P.C. Chen and S.M. Yang (1961) Downy mildew of Sugercane in Taiwan (ii) Rept. Taiwan Sugar. Expt. Stat 24 : 7-18.

51. Mc Donough, E. S. (1946) A Cytological study of the development of oospore of ***Sclerospora macrospora*** *Sacc.* Trans. Wis. Acad Sci. 38 : 211-218.

52. *Mc Rae, (1928) Sci. Repts Agric Res. Inst. Pusa 1926-27.*

53. Mc New, G.L. *(*1937)Crown infection of corn by *Diplodia Zeae. Iowa Agr. Exp. Sta. Res. Bul. 216.*
Misra, A. P. and T. B. Singh (1971) Two new leaf spot diceaser of maize in India. Indian Phytophath. 24. 406-407.

54. Mitra, M. (1923) **Helminthosporium** spp on careals and Sugercane in India. I. Diseases of **Zea mays** and Sorghum *vulgare* Caused by species of **Helminthosporium** Mem. Dept. *Agric. India. Bot. 11 : 219.*

55. Melhus, I E. and G.N. Davis (1931) Nodal infection with *the corn smut organism. Phytopathology. 21 : 219.*

56. Moore, C.L. (1970) Developing host resistance in Maize downy miltew caused by **Scleropsphora. Indian** phytopamthology 23 : 380-383:

57. Mukhopadhyay, A.N. (1971) Avirulence of Helminthosporium turcicum on monogenc resistant maize in India. Indian Phytopath. 21 : 725-727.

58. Nene, Y.L. and S. C. Saxena (1970) Studies on the fungicidal control of downy mildew of maize caused by Sclerophthora rayssiae var zeae. Indian Phytopathology. 23 : 216-219.

59. Orillo, F.T. C.R. Exconde, S.A. Raymundo, and F. D. Fuentes (1964) Testing of fungicides for the control of downy mildew of corn. Proc. Ist. Inter Asian corn. Imp. Works. Thailand, 132-150 p.

60. Paharia, K. D. (1956) The effect of cropping sequence on soil microflora in relation to development of root rots of cereals. Diss. Abst. 16 : 2273-2274.

61. Pammel, L. H. (1964) Serious root and stalk diseases of corn Iowa. Agriculturist 15 : 156-158.

62. Patel, M.K. (1949) Production of oospore by Sclerospora sorghi on maize. Indian Phytopathology 2 : 52-57.

63. Patel, M.K. (1949) Production of oospores by Sclerospora sorghi on Maize. Indian Phytopathology 2 : 52-57.

64. Payak, M M. and B.L. Renfro (1966) Diseases of Maize new to India. Proceedings of the symposium of Rice, Maize. Sorghum and Millets. I.P.S. Bull 3 : 14-17.

65. Payak, M. M. and B.L. Renfro (1967) A new downy mildew disease of maize. Phythopathology 57 : 394-397.

66. Payak, M.M. and B.L. Renfro (1968) Diseases of maize in India and their control. Proceedings of first summer Institute on Plant Disease control I.A.R.I., New Delhi.

67. Payak, M.M., Renfro, B L. and Sangam Lal (1970) Downy mildew disease incited by Sclerophthora. Indian Phytopathology, 23 : 183-193.

68. Peglion, V. (1930) a farmazione die conidie la germinazione delle oospore della 'Sclerospora macrospora' Socer. Boll. Della R. Staz. Pato (Veg. Roma N.S. 10 : 153-164.

69. Peyroner, B. (1929) Gli zoosporanginella Sclerospora macrospora Boll. Della. R. Staz. Patol. Veg. Roma, N. S.

ghum Qulgare Pars). and Ragi (Eleusing Coracana Gaertn). Seeds in Storage. Proceedings of the Symposium on diseases of Rice, Maize, Sorghum and Millets. I. P. S. Bull 3. 46-49.

46. Luttrell, E.S. (1957) Leptosphaeria (Metasphaeria) Perfect stages for **Helminthosporium turcicum** and **Helminthosporium rostratum** (*Abst.*). *Phytopathology 47 : 373.*

47. ....(1958) Helminthosporium spp on Cereals and Sugarcane in India. Part I Diseases of zea mays and Sorghum vulgare caused by specias *of* Helminthosporium. Mem Dep. Agric. India, Bot. Seg. 11 : 219-42.

48 Mahendra Pal and D. Suryanarayana (1964) A new leaf spot disease of Jowar in India. Indian Phytopath. 17 : 188-190.

49 Mains, E.B. (1934) Host Specialization of Puccinia sorghi. Phytopathology. 24 : 405-411.

50 Matsumoto, T.P.C. Chen and S.M. Yang (1961) Downy mildew of Sugercane in Taiwan (ii) Rept. Taiwan Sugar. Expt. Stat 24 : 7-18.

51. Mc Donough, E S. (1946) A Cytological study of the development of oospore of Sclerospora macrospora Sacc. Trans. Wis. Acad Sci. 38 : 211-218.

52. Mc Rae, (1928) Sci. Repts Agric Res. Inst. Pusa 1926-27.

53. *Mc New, G.L. (1937)Crown infection of corn by* Diplodia Zeae Iowa Agr. Exp. Sta. Res. Bul. 216.
Misra, A. P. and T. B. Singh (1971) Two new leaf spot diceaces of maize in India. Indian Phytophath. 24. 406-407.

54. Mitra, M. (1923) Helminthosporium spp on careals and Sugercane in India. I. Diseases of Zea mays and Sorghum vulgare Caused by species of Helminthosporium Mem. Dept. Agric. India. Bot. 11 : 219.

55. Melhus, I.E. and G.N. Davis (1931) Nodal infection with the corn smut organism. Phytopathology. 21 : 219.

56. Moore, C.L. (1970) Developing host resistance *in* Maize downy miltew caused by Scleropsphora. Indian phytopamthology 23 : 380-383:

57. Mukhopadhyay, A.N. (1971) Avirulence of Helminthosporium turcicum on monogenc resistant maize in India. Indian Phytopath. 21 : 725-727.

58. Nene, Y.L. and S. C. Saxena (1970) Studies on the fungicidal control of downy mildew of maize caused by Sclerophthora rayssiae var zeae. Indian Phytopathology. 23 : 216-219.

59. Orillo, F.T. C.R. Exconde, S.A. Raymundo, and F. D. Fuentes (1964) Testing of fungicides for the control of downy mildew of corn. Proc. Ist. Inter Asian corn. Imp. Works. Thailand, 132-150 p.

60. Paharia, K. D. (1956) The effect of cropping sequence on soil microflora in relation to development of root rots of cereals. Diss. Abst. 16 : 2273-2274.

61. Pammel, L. H. (1964) Serious root and stalk diseases of corn Iowa. Agriculturist 15 : 156-158.

62. Patel, M K. (1949) Production of oospore by Sclerospora sorghi on maize. Indian Phytopathology 2 : 52-57.

63. Patel, M.K. (1949) Production of oospores by Sclerospora sorghi on Maize. Indian Phytopathology 2 : 52–57.

64. Payak, M.M. and B L. Renfro (1966) Diseases of Maize new to India. Proceedings of the symposium of Rice, Maize. Sorghum and Millets. I.P.S. Bull. 3 : 14-17.

65. Payak, M. M. and B.L. Renfro (1967) A new downy mildew disease of maize. Phythopathology 57 : 394-397.

66. Payak, M.M. and B.L. Renfro (1968) Diseases of maize in India and their control. Proceedings of first summer Institute on Plant Disease control I.A.R.I., New Delhi.

67. Payak, M.M., Renfro, B L. and Sangam Lal (1970) Downy mildew disease incited by Sclerophthora. Indian Phytopathology, 23 : 183-193.

68. Peglion, V. (1930) a farmazione die conidie la germinazione delle oospore della 'Sclerospora macnospora' Socer. Boll. Della R. Staz. Pato (Veg. Roma N.S. 10 : 153-164.

69. Peyroner, B. (1929) Gli zoosporanginella Sclerospora macrospora Boll. Della. R. Staz. Patol. Veg. Roma, N. S.

9 : 353-357.

Pole Evans, Mary (1923) Rusts in South Africa II A sketch of the life cycle of the rust on mealie and Oxalis. Union so. Afeica. Div Bot. Sci. Bul 1-8.

Prasad, N,R.L. Mathur and K.L. Kothari (1961) Physoderma diseases of maize in Rajasthan. Science and Culture Vol. 28 : 187-188

Ragu C. A. and sangam lal (1977), Efficacy of fnangicides in controlling seed borne in fection of cephalosporium acremonium and Fusariummonilifor me in maize. Indian Phytopath. 30 : 17-20.

Raleigh, W. P. (1930) Infection studies on Diplodia zeae (Schw) Lev. and control of seedling blights of corn. Ina Agr. Exp. Sta. Res. Bul. 124.

70. Puranik, S B and D. Suryanarayana (1966) Studies on the zonate leaf spot disease of Jowar in India. Proceedings of the symposium on diseases of Rice, Maize, Sorghum and Millets, I.P.S. Bull 3 : 50-55.

71. Reeves, P. G. and R.H. Stansel (1940) uncontrolled vegetative development in maize and teosinte. Amer. J. Bot. 27 : 27-30.

72. Reyes, G.M. (1941) Notes on disease affecting maize in the Philippines. Philippine J. Agric. 12 : 61-69.

73. Roy, R. K. and A.P. Misra (1966) The influence of soil fertility on the severity of leaf blight of Maize. Indian Phytopathology 19 : 359-363.

74. Rutgers, A.A.L. (1916) De Peronospora Zickta dea mais (omoliyer) Med. Lab. Plziekten 22.

Sangam Lal, S. K. Bhargave and K. P. Singh (1979) chemical control of andsugarc and beown stripe downy mildew of maize through seed treatment and foliar application of Ridomil. Indian Phytopath. 32 : 159.

75. Semangoen, Harzono (1970) studies on downy mildew of maize in Indonesia with special reference to the perennation of the fungus. Indian Phytopathology. 23 : 307-320.

76. Seyfert, R. (1927) Ueber Schnallenbildung in Paarkernmyz l der Brandpilze. Zeitschr. Bot 19 : 577-601.

77. Shin Chi Chang (1970) A review of studies on downy mildew of maize in Taiwan. Indian Phytopathology 23 : (2) : 270-273.

78. Singh, J.P. (1968) Sclerospora sacchari on maize in India. Indian Phytopath. 21 : 121-122.

79. Singh, J. P. (1969) Studies on histopathology and epidemiology of brown stripe downy mildew of maize. Ph. D. thesis I.A.R.I., New Delhi.

80. Singh, J.P., Renfro, B.L. and M.M. Payak (1970) studies on the epidemiology and control of brown stripe downy mildew of maize (Scleropthora rayssiae var zeae.) Indian Phytopathology. 23 : 194-208.

81. Singh, R. S., H.S. Chaube, R.N. Khanna and M.M. Joshi (1967) Internally seed borne nature of two downy mildew on corn. Plant Dis. Reptr. 51 : 1010-1012.

82. Singh, R.S., H.S. Chaube, Singh V.L. Asnani and Rameshwar lal (1970) observations on the effect of host nutri: tion and seed, Soil and foliar treatments on the incidence of downy mildews. I.A. preliminary report. Indian Phytopathology 23 :209-215.

83. Singh, R.S., M.M. Joshi and H.S. Chaube (1968) Further evidence of the seed borne nature of corn downy mildews and their possible control with chemicals Plant, Dis. Reptr. 52 : 446-449.

84 Singh, R S , Y.L. Nene and S.K. Consul (1966) crazy top of maize, A new record for India. Labdev J. Sci. Tech. 4 : 62.

85 Singh, S.P. (1958) Studies on leaf spot of maize caused by H. turcicum. Pass M.Sc. Ag. Thesis Bihar Univ.

86. Sohi, H.S.,S L. Sharma and B.R. Verma (1966) Chemical control of Helminthosporium turcicum blight of maize. Proceedings of the symposium on diseases of Rice. Maize sorghum and Millets, I.P.S. Bull 3 : 3-7.

87. Sparrow, F.K. (1934) The occurrence of true sporangia in

the Physoderma disease of corn. Scenice (N.S.) 79: 563-564

88. Sparrow, F K. (1947) Observations on Chytridiaceus parasites of phanerogams. II a preliminary study of the occurrence of ephemeral sporangia in the *Physoderma disease* of maize Ann. Jour. Bot. 34 : 94-97.

89. Sprague, R. (1950) Diseases of cereals and grasses in North America. The Ronald Press CompaSy 11-13, New York.

90. Srivastva, D N and V R. Rao (1964) **Pythium** Stalk rot of corn in India. Curr. Sci. 33 : 119-120.

91. Stakman, E.C. and J.J. Christansen (1927) Heterothallism in Ustilago zeae. Phytopathology 17 : 827-134.

92. Stakman E. C. et at (1928) Physiologic specialization in *Puccinia sorghi. Phytopathology 18 : 345-354.*

93. Stoner, W.N. (1951 The effect of various phosphours & potassium fertilizer application on the incidence and severity of *H turcicum leaf blight of sweat corn. Proc. Florida* sta. Hort. Soc. 64 : 131-33.

94. Stoner, W.N. and F.V. Stevenson (1952) Annual report of the *Agriculture Experiment Station, Florida,* for the year ending 30th June 1951, 2 77 pp.

95. Sundaram, N.V. B.L. Renfro, J.P. Singh and K.O Rachie (1966) The reaction of world collection of the symposium on Diseases of Rice, Maize, Sorghum and Millets. I. P. S. Bull 3. 56-60.

96. Sun, M.H. (1970) *Sugarcane downy mildew of* maize. *Indian Phytopathology 23 : (2) 262-269.*

97. Sun, M.H and W.Y. Lai (1966) Evaluation of fungicides for protecting corn from downy mildew infection. Paper presented at the IIIrd Inter Asian Maize improvement Workshop, New Delhi, India Oct, 24-29, 1966.

Suryanaryana, D. (1961) Perpetuation of the downy mildew of maize (Sclerospora philippinessis) on Kans. Curr. Sci. 30 : 61.

98. Tisdale, W.H. (1919) Physoderma disease of corn. Jour.

Agr. Research 16 : 137-154.

99. Thrimulachar, M. J., Charles Gardner Shaw and M J.-Narasimhan (1953) The sporangial phase of the downy mildew Eleusive corecane with a discussion of the ind: i tity of Sclerospora macrospora Sacc. Bull Torrey Bot Cl 80 : 229-307.

100. Ullstrup, A. J. (1954) Helminthosporium disease on corn. Plant Dis. Reptr. Suppl. 228-119.

101. Ullstrup, A. J. (1952) observations on crazy top of corns Phytopathology 42 : 675-680.

Ullstrup, A J. (1970) Crazy top of Maize. Indian phytopathology 23 : 250-261

Ullstrup, A J. (1970) Opportunities for International Co-operative research on downy mildew of Maize & Sorghum. Indian Phytopathology 23 386-388.

Ullstrup, A.J and M H. Sun (1969) The Prevalence of Crazy top of corn in 1968. Plant Dis. Reptr. 53 : 246-250.

U.S. Dep. Agric. (1953) Plant diseases. Year Book Agric 1953. U.S. Dept. Agric Washington.

102. Vallean, W.O (1920) Seed corn infection with **Fusarium moniliforme** and its relation to the root and stalk rots. Kentucky Agric. Exper. Stat. Bull 226

103. Valleau, W D. (1925) Seed transmission of Helminthosporium of corn. Phytopathology 25 : 1109-1112.

104 Voorhees, R.S. (1933) Effect of Certain enviornmental factors on the germination of the sporangia of Physoderma zea maydis. Jour. Agr Res. 47 : 609-615.

105. Weston, W. H., Jr (1920) Philippine downy mildew of maize. J. Agric. Res. 19 : 97-122.

106. Yong, S.M , W.Y. Chang and T. Matsumoto (1962) Downy mildew of Sugarcane in Taiwan iv. Rept. Taiwan Sugar Expt. Stat. 27 : 67-78.

107. Young, P.A (1926) Penetration phenomena and facultative parasitism in **Alterneria, Diplodia** and other fungi. Bot Gaz. 81 : 258-279.

108. Young. G. Y., Lefebvre C. L. and A G. Johnson (1947)

Helminthosporium rostratum on corn, Sorghum and pearl millet. Phytopathology 47 : 180-183.
109. Zogg , H. (1949) Untersuchungen Uber die Epidemiologie des Maisroste. Puccinia sorghi, Schw. Phytopathology Zeitschs 15 : 143-190.
110. Zundel, G L. (1253) The Ustillaginales of the world Pennsylvania State Coll , Dep, Bot. Contrib. 176.



जई की फसल के रोग

(Diseases of Oat Crops)

जई चारे की एक प्रमुख फसल है इसकी खेती मुख्यतः पंजाब, देहली, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, हिमाचल प्रदेश तथा उत्तरी-पूर्वी मध्यप्रदेश में की जाती है कई प्रकार के रोगों का इस फसल पर प्रकोप होता है जिसके कारण फसल को काफी नुकसान पहुंचता है। मुख्य रूप से इस फसल पर लगने वाले रोग इस प्रकार हैं—

(1) कड़ुवा (Smut) — श्लथ कंड (Loose smut)
बन्द कंड (Covered smut)

(2) किट्ट (Rust) — क्राउन किट्ट (Crown rust)
तना किट्ट (Stem rust)

(3) पत्तीधारी एवं बीजांकुर अंगमारी (Leaf stiripe and seediling blight)

(4) सेप्टोरिया पत्तीदाग (*Septoria* leaf spot)

(5) हेल्मिन्थोस्पोरियम अंगमारी (Helminthosporium blight)

(6) एन्थ्रैक्नोज रोग (Anthaa crose)

(7) जड़ गलन (Root rot)

(8) मृदुरोमिल (Downy mildew)

(9) चूर्णिल आसिता (Powdery mildew)

(10) फ्यूजेरियम अंगमारी (Fusarium blight)

कंड (Smut)—

जई की फसल पर दो प्रकार के कंड रोगों का प्रकोप होता है जो छिदरा अथवा श्लथ कंड (Loose smut), एवं बन्द अथवा आवृत कंड (Covered smut) के नाम से जाने जाते हैं। दोनों ही प्रकार के कंड रोग जहां पर भी जई की खेती की जाती है वहां पर दिखाई देते है परन्तु बन्द अथवा आवृत कंड का प्रकोप अधिक देखा गया है। फसल पर इन दोनों प्रकार के कंड रोगों को पहचानना मुश्किल है जब तक कि पौधों पर बाली नहीं आये।

श्लथ कंड रोग (Loose smut)—

इस रोग का प्रकोप पौधों में बाली आने के समय दृष्टिगोचर होता है। रोगग्रसित पौधों की बालियां अन्य पौधों की अपेक्षा कुछ पहले निकल आती हैं। दानों के स्थान पर फफूंद का काला चूर्ण बन जाता है। यह काला चूर्ण फफूंद के कड़ बीजाणुओं का समूह होता है। कभी-कभी इसका बीजाणुकरण पर्णच्छद के ऊपरी भाग तथा पुष्प गुच्छ (Panicle) में भी देखा गया है। रोगी पौधों की सभी बालियां तथा बाली के सभी दाने इससे प्रभावित होते हैं परन्तु ऊपर के दाने अधिकतर इससे बच जाते हैं। इस रोग से जई की फसल को काफी नुकसान पहुंचता है।

हेतुकी एवं जीवनचक्र (Etiology and Life cycle)—यह रोग अस्टीलागो ऐवेनी *Ustilago avanse* (Pers.) Rosts नामक फफूंद से उत्पन्न होता है जो कि एक वैकल्पिक मृतोपजीवी फफूंद है।

समनार्थक :

(1) यूरिडो सेगेटम (*Uredo segetum* sub sp *ovenae* Pers.)
(2) यूरिडो कार्बो *Uredo carbovar avanae* Vc.
(3) अस्टीलागो सेगेटम *Ustilago segetum* Ver *avanae* *Jens.*
(4) अस्टीलागो ऐवेनी *Ustilago avanae* Jens.
(5) अस्टीलागो ऐवेनी *U. avanae* (Pers) Jens.

रोगी पौधे पर बना काला चूर्ण फफूंद के अन्तः कोषीय, युग्माद्विक कवकजाल से बने क्लेमाइडोबीजाणु का समूह होता है। क्लेमाइडोबीजाणु गोलाकार से अण्डाकार जैतुनी भूरे, अकेले, एक तरफ से हल्के, कण्टिकायुक्त, 5 से 9 माइक्रोन व्यास के होते हैं। ये बीजाणु एक कोशीय एवं द्विगुणित (deploid) होते हैं। पानी में इनका अंकुरण कुछ घन्टे में हो जाता है तथा अंकुरण के समय बाहरी भित्ति के फटने पर एक मजबूत जनित नलिका (stout germ tube) या प्रकवक बनती है। इस प्रकवक में से समर्ग सूत्र या संक्रमण सूत्र (infection hyphal) निकल कर योनिका नली में प्रवेश करके नीचे की ओर बढ़ते है। बैसीडियोबीजाणु (Sporidia) दीर्घवृत (Oblong) से लम्बाकार (elongate), रंगहीन, एक कोशीय होते हैं। जब बीजाणु योनिछत्र पर पराग के समय गिरते हैं तब अंकुरण होने पर बेसीडियोबीजाणु से कवकजाल बनता है जो पेलिया (Pelea) अथवा परिछद (Pericerd) दोनों पर प्रवेश करता है। संक्रमण द्विकेन्द्रिक कवकसूत्र से बीजांकुर अवस्था में होता है। बीजों के अंकुरण के समय रोगग्रसित भ्रूण में उपस्थित प्रसुप्त कवकजाल भी क्रियाशील हो जाता है तथा पोषक के शीर्ष के साथ-साथ बढ़ता रहता है। कवकजाल शाखायुक्त होकर प्रांकुर (Plumule) के द्वारा पौधे के

तने से चोटी पर पहुंच जाता है तथा बाल निकलने पर बीजाणु उत्पन्न कर देता है।

रोग का वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार (Annual recurrence and Spread)—
यह रोग अन्तः बीजोढ़ होता है क्योंकि फफूंद का प्रसुप्त कवकजाल बीजों का भ्रूण के अन्दर हमेशा बना रहता है। बीजांकुर संक्रमण बीजोढ़ क्लेमाइडो-बीजाणु से दैहिक रूप से होता है। अंकुरण की प्रारम्भिक अवस्था में एवं बीजांकुर वृद्धि के समय संक्रमण हो सकता है। रोगी बालों पर असंख्य क्लेमाइडो-बीजाणु बनते हैं जो हवा में उड़कर जई की स्वस्थ बालों के योनिछत्र पर पराग के समय गिरते हैं और अंकुरनाल द्वारा अंकुरित होते हैं तथा बीजों को संक्रमित कर देते हैं।

पूर्व वृतिक कारक (Predis po sive factors)—इस रोग पर वातावरण का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है (Bartholo mew at Jones, 1923, Read and 1924) चूंकि संक्रमण अधिकतर अंकुरण की प्रारम्भिक अवस्था में होता है अतः भूमि का तापमान एवं आर्द्रता का रोग के प्रसार में बहुत महत्व है। अनुकूलतम तापमान बीजाणुओं के अंकुरण के लिए 15°–28° सेन्टीग्रेड, अधिकतम तापमान 31°–34° से., तथा न्यूनतम तापमान 4-5° से. है। इस प्रकार संक्रमण के लिए अधिक तापमान एवं कम नमी का होना अनुकुल है। यदि भूमि में नमी अधिक होने पर यदि बुवाई जल्दी कर दी जावे तो इस रोग का प्रकोप कम होता है। इसके अलावा गहरी बुवाई के कारण अंकुरण कम होता है, जिसके फलस्वरूप संक्रमण के लिए समय भी बढ़ जाता है। इस प्रकार कोई भी कारक जो पोषक को धीरे बढ़ने में मदद करते हैं इस परजीवी के लिए सहायक है।

बाद की अवस्था में तापमान तथा आर्द्रता का क्या प्रभाव पड़ता है इसके बारे में पूर्णतया पता नहीं है। खाद का इस रोग पर क्या असर होता है इसका ज्ञान भी अपूर्ण हैं।

कायिकी प्रजातियाँ (Physiologic races) रीड़ (Reed,1920) ने सबसे पहले इसकी 2 प्रजातियां प्रदर्शित की। होल्टन एवं रोडनहाइजर (Holton and Roden hiser, 1946) ने 10 विभेदक पोषक लेकर 15 प्रजातियां (A1, A2, A3, A4, A5, A6, A7, A8, A9, A10, A11, A12, A13, A14, एवं A15 बताई। बाद में 5 प्रजातियों के बारे में और मालुम पड़ा (Halisky, 1965)

रोकथाम (Control)—

(1) अधिकतर संक्रमण रोगग्रसित बीजो से होता है अतः बीजोपचार करना अति आवश्यक है। बीजो को वाष्पीकृत (Volatile) फफूंद-

पानी में बीजोपचार करना अच्छा रहता है जैसे 0.5% फार्मलीन में बीजों को 2 घण्टे भिगोकर और एक दम सुखाकर बोने से रोगजन नष्ट हो जाता है। कॉपर कर्बोनेट धूल से बीजोपचार लाभप्रद पाया गया। जिसमें 50% कॉपर हो इसको 3 ग्राम/किलो से उपचारित करने पर 70% तक रोग की संक्रमकता में कमी हो जाती है।

(2) बोने के लिए बीजों का चुनाव ऐसे खेतों से करना चाहिये जिसमें पहले रोग नहीं लगा हो।

(3) जिस खेत से अगली बुवाई के लिए बीज लिया जावे, उस खेत से रोगी बालियों को काटकर जला देना चाहिए। यदि रोगग्रसित क्षेत्र के सभी किसान अपने अपने खेतों में इस प्रकार का उन्मूलन कार्य तीन चार साल तक लगातार करें तो उस क्षेत्र में अगली फसल को इस रोग से कम हानि की आशंका होगी।

(4) रोग प्रतिरोधी किस्मों का प्रयोग करना चाहिये।

जई का बन्द या आवृत कंड रोग
(Covered smut of oats)

जई की फसल का यह भी एक महत्वपूर्ण रोग है तथा प्रायः उन सभी क्षेत्रों में पाया जाता है जहां इसकी खेती की जाती है। इस रोग का प्रकोप बुलन्दशहर



(जई का कंड रोग)

(उत्तरप्रदेश) में 30% देखा गया (Singh and Pathak, 1969) तथा उत्तरप्रदेश कृषि विश्वविद्यालय में भी काफी हानि आंकी गयी (Hene, 1964) इस रोग को ढका कड, आवृत कलिका एवं आवृत कड़ के नामों से भी पुकारते हैं। इस फफूंद पर मुदंकर (1934, 1945), मुदंकर एवं खान (1934) ने विस्तृत रूप से कार्य किया है।

लक्षण—इस रोग के लक्षण भी बाली बाहर हो निकलने पर ही दृष्टिगोचर होते हैं। बालियां हमेशा स्थायी झिल्ली से ढकी रहती है जो परिच्छद (Pericarp) एवं पुष्पनिपत्र (floral bracts) से मिलकर बनती है। पौधों में प्रत्येक बाली तथा प्रत्येक बाली के सभी दाने भी काले चूर्ण में बदल जाते हैं। यहां काले चूर्ण में परिवर्तित दानों का स्थान जो काले बीजाणु ने लेते हैं, उन्हें कड़ सोराई कहते हैं। सोराई मड़ाई (threshing) के समय दबाव पाकर कड़ बीजाणुओं में बिखर जाती है एवं स्वस्थ बीजों की सतह पर चिपक जाती है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiloogy and life cycle)—यह रोग अस्टीलागों कोलेरी (*Ustilago Kolleri* wille) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। समानार्थक (Synonyms) आस्टीलागों होर्डी *U. hordei* (Pers) Lagush
अस्टीलगों एवेनी वे. लेविस *U. avenae ver levis* Kell al sweing
अस्टीलागों लेविस *U. levis* Kell at swing moagn

क्लेमाइडोबीजाणु गोल से दीर्घवृत्तीय, एक कोशीय, एक ओर से हल्के काले भूरे, 5 से 9 माइक्रोन व्यास के होते हैं। मुदंकर (1934) के अनुसार सोराई पत्तियों पर शिराओं (veins) के समानान्तर होती है तथा कोशिकाओं की लम्बाई में बिखराव (Longitudinal shredding) होता है। स्वस्थ बीजो से चिपके क्लेमाइडोबीजाणु बहुत दिनों तक प्रसुप्त अवस्था में पड़े रहते हैं। जब अगलीफ सल बोयी जाती है तब बीज के अंकुरण के समय भी अंकुरित होते हैं। अंकुरण होने पर बाह्य बीजाणु के फटने पर अंकुरनाल बाहर निकलती है जिसे प्रकवक कहते हैं। क्लेमाइडोबीजाणु का द्विगुणित केन्द्रक अर्धसूत्रण द्वारा चार अगुणित केन्द्रिक बनाता है। प्रकवक में समान दूरी पर पट बनते हैं। लैंगिक व्यवहार के अनुसार दो कोशिका एक प्रकार के बेसीडियोबीजाणु या स्पोरीडिया उत्पन्न करती है तथा अन्य दो दूसरे प्रकार के बेसीडियोबीजाणु उत्पन्न करती है। संक्रमण जौ के अद कड की भांति हो जाती है।

बंद कंड के बीजाणु श्यय कड़ से अधिक समय तक जीवनक्षम रहते हैं। ... यदि रोग बाह्य बीजोढ़ है तथा रोगी बीजों के अंकुरण के साथ बीजाणु भी प्रतिवर्ष अंकुरित होते हैं तथा दैहिक रूप से कवकसूत्रों द्वारा संक्रमण होता है।

tica) रे डेह्यूरिका (*R. Dahurica* Palles) रे. लेनसीओलेटा (*R. Lanceolata*, पर Dietz (1926), Melhus et al, 1922 एवं Trenzsegal, (1934 ने बतायी। यूरिडियल एवं टेल्यूटो अवस्था जई पर देखी गयी है। कवकजाल पट्टयुक्त एवं अन्तरकोशिय (inter cellular) होता है।

नारंगी रंग के यूरिडोसोराई पत्ती के दोनों तरफ अनियमित बिखरे रहते हैं। यूरिडोबीजाणु गोलाकार से उप अंडाकार (obovate), नारंगी पीले रंग ■ कांट का युक्त, एक कोशीय, 18-27 × 16-24 माइक्रोन के होते हैं। यूरिडोबीजाणु के बाह्य जनित पर 3-4 अनियमित जनित छिद्र होते हैं। पोषिता की सतह पर नमी की उपस्थिति होने पर जनित छिद्र से अंकुरण होकर अंकुरित होते हैं।

टेल्यूटोबीजाणु पर्णफलक या पर्णच्छद पर अधोस्तर से बहुत समय तक बन्द रहते हैं, परन्तु जब ये यूरिडोबीजाणु से बनते है तो बन्द नहीं होते। टेल्यूटोबीजाणु भूरे एवं चिकने (Smooth) होते हैं तथा ऊपर की कोशिका बहुत चौड़ी होती है तथा सिर से चपटी होती है जहां पर 5-7 गहरे रंग के अंगुली जैसे बेसीडियोबीजाणु को मुकुट (Crown) की आकृति का बना देते हैं। ये बीजाणु 35-60×1-22 माइक्रोन के होते है। टेल्यूटोबीजाणु छोटे तथा मोटाई (thickness) वृन्त पर लगे रहते हैं। टेल्यूटोबीजाणु के अंकुरण के समय प्रकवक बाहर निकलती है। प्रकवक कोशिका से एक छोटी अंगुलकार रचना बनाती है जिन्हे बीजाणुसूत्र कहते हैं। इन अंगुलकार रचनाओं पर एक गोल बीजाणवी बनता है। प्रत्येक बीजाणवी एक केन्द्रिक तथा अलग-अलग प्रभेदो के होते है। बेसीडियोबीजाणु अलग होकर ये एकान्तर पोषक रेहमनस पर अंकुरित होते है।

ईसीडियल अवस्था अधिकतर मई-जून में दिखाई देती है। पत्ती की निचली सतह पर पीले या बैंगनी धब्बे बनते है जो बिखरे या झुंड मे होते हैं। इसीडियोबीजाणु कंटिकायुक्त (verrucore) नारंगी रंग के उपगोलाकार, 16-25×15-20 माइक्रोन के होते हैं। इनका विकीरण हवा द्वारा होता है तथा ये जई के पौधों पर अंकुरण कर सकते है। अंकुरण के लिए नमी की आवश्यकता पड़ती है।

स्परमेगोनिया पत्ती की उपरी सतह पर फलास्क जैसी रचनाओं के रेहमनस की जातियों पर पाये जाते है। ये पिकिनडिया एवं प्रभेदको के होते हैं। जब दो भिन्न पिकिनडिया के संग्राहक कवकसूत्र आपस मे मिलते है तो युग्माप्टिकरण हो जाता है जिसका केन्द्रिक व्यवहार द्विमूत्रित (2 n) होता है।

वार्षिक आवर्तन एवं संक्रमण (Annual recurrence and infection)

रेहमनस की जतिया इस फफूंद का एकान्तर पोषक है जिस पर यह फफूंद जीवित रहती है। यूरिडोबीजाणु दक्षिण मे शिशिरातिचार करते हैं तथा बसन्त मे दूसरे पौधों पर इसका प्रसार होता है।

यूरिडोबीजाणु के संक्रमण के लिए क्रान्तिक समय बाली बनने के समय से दानों में दुग्ध अवस्था के समय तक होता है। आधुनिक अन्वेषणों से पता चला है कि पत्तियों की कोशाओं में पोषक कोशाओं से फास्फोरिक अम्ल मुक्त (liberation) अन्तराकोशिक स्थान (inter cellular space) में फफूंद के भोजन के लिए होता है। जिस पर संक्रमण निर्भर करता है। पत्तियों में संक्रमण रन्ध्र में होता है तथा प्रवेश करने पर आसंगांग (Appressorium) बनते हैं। प्रतिरोधी तथा प्रभावित दोनों किस्मों में प्रवेश एक जैसा होता है। प्रतिरोधी पोषक में प्रचूषांग (haustoria) के नष्ट होने के बाद प्रवेश नहीं होता है।

बरसात के समय जब तापमान कम होता है प्राथमिक संक्रमण तथा उसकी बढ़ावार अधिक होती है। परन्तु रोग की बढ़ावार अधिक तापक्रम पर चलती रहती है। गर्म, भीगा (moist) जलवायु रोग की शीघ्र बाढ़ावार के लिए प्रभाव्य है। यूरिडोबीजाणु अधिक तापमान को सहन कर सकते हैं। इनकी जीवनक्षमता प्रकाश में रखने पर 23 दिन में समाप्त हो जाती है परन्तु यदि बीजाणुओं को अन्धेरे में रखा जाए तो फिर 79 दिन के बाद भी अंकुरित हो सकते हैं। 5 से 10० सें. एवं 25 से 50% आपेक्षिक आर्द्रता पर यूरिडोबीजाणु सम्पूर्ण वर्ष जीवित रहते हैं परन्तु 15 से 25% आर्द्रता पर केवल 6 महिने तक ही जीवित रहते हैं। परन्तु 15° सें. या इससे अधिक तापमान होने पर किसी भी आर्द्रता होने पर यह मर जाते हैं।

यूरिडोबीजाणु हवा द्वारा उड़कर पास वाली नई फसल को रोगग्रसित कर देते हैं, तथा जब एक बार संक्रमण हो जाता है तो पुनः हवा से उड़कर दूसरे स्थानों पर पहुंच जाते है और रोग को तेजी से फैला देते है।

कायिकी प्रजातियाँ—(Physiologic races)

इस फफूंद की कई प्रजातियों का मालूम पड़ा है (Murphy et al, 1942; Straib, 1937; Vallega 1942) अमरीका में 100 से भी अधिक जातियां पहचानी जा चुकी है। इसमें प्रतिरोधन अकेले (dominant) कारक से नियंत्रित होता है।

सापार्श्विक पोषक—800 प्रकार की घास इस रोग से प्रभावित होती है जिनमें क्वेक घास, रिड घास, रेड टाप, मिडो फेस्कू, राई घास, नीली घास (quack grass, reed grass, red top, meadow fescue, rye grass, blue grass) अधिक प्रभावित होती है।

रोकथाम (Control)

(1) जई की जल्दी पकने वाली किस्मो को उगाना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से फसल की दूधिया अवस्था किट्ट के भयंकर प्रकोप से बच जाती है। इसके अलावा यदि देर से पकने वाली जातियों को समय से कुछ पूर्व बो दी जाये तब भी रोग का प्रकोप कम होता है।

(2) उचित खाद की मात्रा का प्रयोग करना चाहिये। फास्फेटिक खाद से फसल जल्दी पकती है जिसके कारण इस रोग का प्रकोप कम होता है। फसल में आवश्यकता से अधिक नत्रजनयुक्त खाद का प्रयोग नहीं करना चाहिये अन्यथा फसल थोड़ी देर से पकेगी और इसका प्रकोप अधिक होगा। सुग्राहक जातियों में तो अधिक नत्रजन का प्रयोग कभी नही करना चाहिये।

(3) एकान्तर पोषक तथा सापश्विक पोषक का उन्मूलन कर देना लाभप्रद रहता है।

(4) रोगग्रसित पत्तियों को एकत्र कर नष्ट कर देना चाहिये।

(5) रोग प्रतिरोधी किस्में प्रयोग में लानी चाहिये।

तना किट्ट (Stem rust)

जई की फसल पर तना किट्ट रोग भी काफी नुकसान पहुँचाता है। तना इस रोग से सबसे अधिक प्रभावित होता है इसलिये इसका नाम तना किट्ट रखा गया है। पत्तियों, पर्णच्छद पर भी कभी-कभी इसका प्रकोप देखा गया है। प्रारम्भ में स्फोट छोटे-छोटे दिखाई देते है तथा धीरे-धीरे बड़े तथा एक दूसरे से मिले हुए प्रतीत होते है। इस किट्ट के स्फोट क्राउन किट्ट से अधिक गहरे होते है। तथा स्फोट लम्बे बनाते है। शुरू में स्फोट एक झिल्ली से ढके रहते हैं परन्तु बड़े होने पर झिल्ली फट जाती है तथा यूरिडोबीजाणु बाहर निकल जाते हैं। तदुपरान्त ये काले रंग में परिवर्तित हो जाते है जो इस फफूँद की टेल्यूटी अवस्था है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and Life cycle)

यह रोग पक्सीनिया ग्रेमीनिस एवेनी (*Puccinia graminis avenae* Eliks and Henn) नामक फफूँद से उत्पन्न होता है। विस्तृत अध्ययन के लिए गेहूँ का तना किट्ट रोग पढ़ें।

कायिकी प्रजातियां (Physiologic races)—इस किट्ट रोग के अध्ययन से मालुम पड़ता है कि इस फफूँद की अनेक प्रजातियां है।

स्टेकमेन व साथियो, लेवाइन एवम स्मीथ, व न्यूटन व साथियो (Stakman et al, 1935, Levine and Smith, 1937, Neuton et al, 1940) ने 12 कायिकी प्रजातियो का जई की किस्मों के समूह से मालुम किया। कायिकी प्रजाति 8 एवं 10 से बहुत अधिक खतरा प्रतिरोधी किस्मों को है जो विक्टोरिया रिचर्ड के (Victoria×Richl nd) संकरण से बनी है।

नियंत्रण (Control)

(1) एकान्तर पोषक एवं सापश्विक पोषक का उन्मूलन कर देना उपयुक्त रहता है जिससे रोग का प्रसार न हो सके।

(2) जई की फसल पर उचित मात्रा में खाद का प्रयोग करना चाहिये।

फसलों मे आवश्यकता से अधिक नत्रजन युक्तों का खाद से अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिये।

(3) जल्दी पकने वाली किस्मों को उगाना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से फसल की दूधिया अवस्था किट्ट के भयंकर प्रकोप से बच सकती है।

(4) जैसे ही रोग के लक्षण दिखाई दे रोगग्रस्त भाग को तुरन्त निकाल कर नष्ट कर देना चाहिये।

(5) रोग प्रतिरोधी किस्मे प्रयोग मे लानी चाहिये।

पत्तीधारी एवं बीजांकुर अंगमारी
(Leaf stripe and Seedling blight)

पत्तीधारी एवं बीजांकुर अंगमारी रोग जई की फसल का एक महत्वपूर्ण रोग है जिसके कारण फसल को काफी नुकसान होता है। कनाडा, जर्मनी, डेन्मार्क, हॉलेन्ड, बेल्जियम, इटली आदि देशो में इस रोग से काफी हानि होती है। जापान, भारत एवं दक्षिण अफ्रिका मे भी इससे नुकसान देखा गया है। इस रोग के कारण बीजांकुर से प्रापक्व (maturity) अवस्था तक नुकसान होता रहता है।

लक्षण (symptoms)—संक्रमित बीजांकुर की पहली पत्ती जो जमीन के बाहर आती है उसके सिरे पीले से तथा पर्णफलक पर छोटे पीले धब्बे दिखाई देते हैं। धीरे-धीरे यह धब्बे आपस मे मिल जाते हैं तथा पत्तियों पर धारियां भी बना लेते है। इसलिये इसको पत्तीधारी रोग कहते हैं। ग्रसित भाग शीघ्र भूरा हो जाता है। यह धारियां पत्ती के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैली रहती हैं। ग्रसित पौधों की बालो मे दाना कम लगता है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle)

यह रोग हेल्मिंथोस्पोरियम ऐवेनी (*Helminthosporuin avenae*) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है।

समानार्थक (1) H. *teres* forma *avenae-sativee* Bri and cav.
(2) H, *avenae-sateive* Bri and cav.
(3) *Pyrenpohora avenae* Ito and kuribey.

इस फफूंद की लैंगिक अवस्था एस्कोमाइसिटीज वर्ग की जाति में मिली है जिसका नाम पायरेनोफोरा एवेनी है। इसका कवकजाल रंगहीन, पटयुक्त एवं शाखा युक्त होता है। अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है जो कोनिडियोफोर पर उत्पन्न होते है। कोनिडियाफोर गहरे जैतुनी, कुछ, मुड़े हुए तथा आधार से गोल होते है। कोनिडिया बेलनाकार, मध्य से कुछ चौड़े, शुरू मे हल्के रंग के तथा बाद मे पीले, [illegible] से 12 पटयुक्त (अधिकतर 3 से 8) तथा आधार कोनिडिया पर काला धब्बा होता है। कोनिडिया 17.4–147×8.25–28.25 माइक्रोन के होते हैं। इ

अंकुरण अंकुर नाल द्वारा होता है। किसी भी कोश से अंकुरनाल बन सकती है। मुख्यतः अंकुरण कोश के दोनों किनारों से होता है। अंकुर नाल का सिरा फूलकर एक छोटा आसगांग बनाता है जिसमे से एक नली निकल कर सीधी अधोस्तर या रन्ध्रों द्वारा प्रवेश कर जाती है और फिर कोनिडिया उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार यह इस फफूंद की अलैंगिक अवस्था है।

इसकी पेरीथीसियल अवस्था सामान्यतः नही पायी जाती है। यह लैंगिक अवस्था एक छोटे फलास्क जैसी रचना को बनी होती है तथा ऊपर की ओर एक मुख द्वारा खुलती है। प्रारम्भ में यह उप-अधोस्तरीय बाद मे उठे हुए (erumpent) अर्द्ध गोलाकार (semi globose) तरुण अवस्था में तथा बाद मे फलास्क की आकृति हो जाती है। इनमे अनेक एसाई होती हैं। एस्कस जब पूर्ण बन जाती है तब मुग्दराकार (clavate) से बेलनाकार, कुछ मुड़ी हुई, 350–750 माइक्रोन व्यास की होती है। इसमे 2 से 4 एस्कोबीजाणु पाये जाते हैं जो 50–75×17.5-30 माइक्रोन के 5 पट के होते हैं।

वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार (Annual recurrence an l Sprea1)

यह फफूंद बीजोढ़ है तथा सबसे महत्वपूर्ण संक्रमण का स्त्रोत दाने में विश्राम (resting) कवकजाल का होता है। यह फफूंद मिट्टी मे चिरजीवित नही रह सकती हैं क्योकि यह कमजोर प्रतियोगी (competitor) है। कोनिडिया जो बीज के साथ रहते हैं वह 6 महिने तक जीवित रहते हैं। जब रोगग्रसित बीज बोया जाता है तो कोनिडिया अंकुरनाल से अंकुरित होते हैं और बीजांकुर को संक्रमित कर देते हैं। इस रोग का प्रभाव सम्पूर्ण पौधों पर होता है। द्वितीयक सक्रमण प्राथमिक संक्रमण से बने कोनिडया से होता है जिनका विकीरण हवा द्वारा होता है। कोनिडिया नये पौधों पर आक्रमण कर देते हैं, तथा रोग फैलता रहता है। कोनिडिया का पोषक में प्रवेश सीधा रन्ध्रो द्वारा होता है।

पूर्व वृतिक कारक–इस रोग के बढवार के लिये नम भूमि (wet soil) में कम तापमान का होना सुग्राही है। इसका बढ़ावार अधिक तापमान पर भी होता है परन्तु आपेक्षित सूखी (relative drought) हालत मे।

रोकथाम (Control)—

(1) इस रोग का आवर्तन बीज से होता है अतः बीजोपचार करना अतिआवश्यक है। बीजोपचार के लिये सेरेसन, एग्रोसन जी. एन. (2 ग्राम /किलो बीज) या अन्य कोई पारावर्गी रसायन उपयुक्त रहता है।
(2) खेत के खरपतवार एव फसल के मलवे को एकत्र करके जला देना चाहिये
(3) उचित मात्रा मे खाद का प्रयोग करना चाहिये।
(4) रोग प्रतिरोधी किस्मे प्रयोग मे लानी चाहिये। अबेन्डेन्स (Abundence) एडवोकेट (Advocate), एंगेनोइज (Angnoise), बी. ओपस

B opus) बी. एस.-2, बी. एस.-4, ई. सी. 228 द्वितीय, ई. सी. 2283, प्रथम, ई. सी. 3230, ई. सी. 4711, शंकर-1 (Hyb-1), शंकर-2, नोरटन आदि प्रभेद प्रतिरोधी पाये गये जिनका प्रयोग प्रतिरोधन के लिये किया जा सकता है। पान्डे एवं मिश्रा, (Pandey and Misra 1973)

हेल्मिंथोस्पोरियम अंगमारी
Helminthosporium blight

यह रोग जई की उन किस्मों में अधिक पाया जाता है जिनके दित विक्टोरिया है। अधिकतर इस फफूंद के कारण बीजांकुर अंगमारी नमितस्तम्भ (culm) उतिक्षय के लक्षण दिखाई देते हैं; परन्तु जड़ गलन एवं मुकुट (crown) सड़न के लक्षण भी देखे गये है। बीजांकुर पत्तियों का लाल होना तथा उतिक्षय के लक्षण दृष्टिगोचर होना प्रथम लक्षण हैं। धीरे-धीरे धब्बे गहरे भूरे रंग होने लगते हैं तथा पत्तियों परभी दृष्टीगोचर हो जाते हैं। रोग ग्रस्त पत्तियाँ सूख जाती है। रोग के जल्दी आक्रमण होने पर दाने नहीं भर पाते हैं।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle)—यह रोग हैल्मिंथोस्पोरियम विक्टोरी *(Drechslira Victoriae* Mechan and Murphhy) नामक फफूंद से होता है। कवकजाल रंगहीन पटयुक्त होता है। अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है जो कोनिडियोफोर पर उत्पन्न होता हैं। कोनिडियोफोर गहरे जैतुनी कुछ मुड़े हुए तथा आधार से शोवाकार होते हैं। कोनिडिया बीच में से चौड़े होते हैं तथा शीर्ष से छोटे होते हैं। ये कोनिडिया जैतुनी, भूरे, 4 से 11 पट वाले (अधिकतर 8 पट वाले), 70×15 माइक्रोन के होते हैं। अंकुरण अधिकतर द्विध्रुवी (bipolar) होता है। इनका अंकुरण जनित नलिका से होता है। अंकुर नाल का सिरा फूलकर आसंगांग बनता है। तथा उससे एक नली निकल कर अधोस्तर द्वारा प्रवेश करती है।

वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार--(Annual recurrence and spread)

यह फफूंद बिजोढ़ एवं मृदुढ़ दोनो है। हवा द्वारा कोनिडिया के उड़ने से भी प्राथमिक संक्रमण हो सकता है। द्वितीयक संक्रामण रोगी पौधों पर प्राथमिक संक्रमण से बने कोनिडिया द्वारा होता है जिनका विकिरण हवा द्वारा होता है।

रोकथाम (Control)—

(1) चूंकि यह फफूंद बीजोढ़ है अतः किसी वाष्पीकृत फफूंदनाशी से बीजोपचार करें।

(2) यह फफूंद फसलों के मलवे में जीवित रहती है अतः फसल के मलबे खेत के खरपतवार तथा सापार्शिवक पोषकों का उन्मूलन कर देना उपयुक्त रहता है।

जड़ गलन
(Root rot)

जडगलन रोग भी कई प्रकार की फफूंदीयों से उत्पन्न होता है जिसमें पिथियम कालिटोट्राजइकम ग्रेमीनीकोला, हेल्मीन्थस्पोरियम सेटाइवम, हे. विक्टोरियाई, एवेनी, फ्यूजेरियम ग्रमीनेरियम, फ्यूजेरियम कल्मोरम, फ्यूजेरियम निवाले एवं राईजेक्टोनिया सोलेनाई मुख्य हैं। इन फफूंदीयो का प्रकोप उस समय अधिक होता है जब की पोषक के अनुकूल कारक नही हो। किट्ट आदि से प्रभावित पौधा भी इसमे सुग्राही है। नम (wet) मिट्टी मे अधिक तापक्रम परजीवो की वृद्धि के लिए सहायक है। अधिकतर परजीवी शुष्क मिट्टी मे नुकसान करते हैं परन्तु पीथियम से गीली (wet) मिट्टी में नुकसान पाया गया।

यह रोग मृदुढ एवं बीजोढ़ दोनो है। रोग ग्रसित बीजो से अधिकतर आवर्तन होता है।

चूँकि इस रोग का आवर्तन बीजोढ़ होता है अतः बीजोपचार करना आवश्यक है। रोग ग्रसित पौधों के अवशेषो को एकत्र कर नष्ट कर देना चाहिये।

फ्यूजेरियम अंगमारी से बीजांकुर अंगमारी के लक्षण भी जई की कई किस्मों में देखे गये हैं। इसका प्रकोप उत्तरी अमेरिका, कनाड़ा, उत्तरी यूरोप में अधिक होता है।



Agrios, G. N. (1969) Plant patthology. Academic Press New York, 629 pp.

Allen, R. F. A (1932). Cytological study of Heterothallism in Puccinia. coronata. Jour. Agr. Res. 45 : 513-541.

Bartholomew, L. K. and E. S. Jones (1923). Relation of certain soil factors to the infection of oats by loose smut. Jour. Agr. Res. 24 : 569-575.

Brown, C. M. and H. L. Shands. (1954). Beheviour of the interspecific hybrid and amphiploid of Avena abyssinica X A. strigosa. Agron. Jour. 46 : 557-559.

Buller, A. H. R. (1941). The flexunous hyphae of Puccinia graminis and other Uredinales. Phytopathology 31 : 4.

Christensen, J. J. and H. A. Roden hiser. (1940). Physiologic specialization and genetics of the smut fungi. Bot. Rev. 6 : 389-425.

Chochran, G. W., C. O. Johnston, E. G. Heyne, and E. D. Hansing (1945). Inheritance of reaction to smut, stem and crown rust in four oat corsses, Jour. Agr. Res. 70 : 43-61.

Davies, D. W. and E. T. Jones (1931). Grey speck disease of oats. Welsh Jour. Agr. 7 : 349-358.

Dickson, J. G. (1956) Diseases of Field Crops Tata Mc Grew Hill Publishing Co. Ltd. 517 pp.

Dennis, R. W. G. (1935). Notes on the occurence of Pyrenophora avenae Ito, in Scotland. Trans. Brit. Myc. Soc, 19 : 288-290.

Dietz, S. M. (1926). The alternate hosts of crown rust, Puccinia coronata Corda. Jour. Agar. Res. 33 : 953-970. 1926.

Drechsler, C. (1932). some graminicolous species of Helminthosporium. I. Jour. Agar. Res. 24 : 641-739.

Finkner, V. C. (1954) Genetic factors governing resistance and susceptibility of oats to Puccinia coronata Corda var. avenae, F. and L. race 57- Iowa Agr. Exp. Sta. Res. Bul 411 : 1041-1063.

Hane, Y. L. (1954) Flexibility desirable in funycide recommendations for externally seed borne eracad smut disease Control. Plant Dis. Reptr. 48 : 120-121.

stem rust (Puccinia graminis) from Poa ampla, Avena fatua, and Argopyron spicatum in the Pullman, Washington region. Phytopathology 34 : 301–313.

Fischer, G., W., and C. S., Holton (1957). Biology and Control of Sum fungi. The Ronald Press Co. New York.

Greaney, F. G., et al. (1938). Varietal resistance of wheat and oats to root rot caused by Fusarium Gulmorum and Helminthosporium sativum. Sci Agr. 18 : 500–523.

Hiltner, E. (1924) Dei Dorrfleckenkrankeit des hafers and ihre Heliung durch Mangan. Landw. Jabrd. 60 : 689-769.

Hasing, E. D. (1943). Effect of seed treatment on Control oat smut. Phytopathlogy 35 : 1112.

Hosing, E. D. (1953) Seed treatment with new as compared with ol fungi ads for the control of wheat, oats, sorghum smut and Victoria blight of oat in Kansa 1950-52 Preant Diseare Reptr. 37 : 49–58

Hingo rani, M. K. (1952). Factors offeoting the Sus Vival ability ofc ertain Physiologic races of Phuccinia u grominsis avenae Phytopalthlogy. 42 : 526–531

Holtion, C. S. (1934). Hybridization and segregation in the oat smuts. Phytopathology 21 : 835–842.

..............(1935). Studies in the genetics and cytology of Ustilago avenae and U. Levis Min. Agr. Exp. Sta. Tech. Bul. 87.

.................(1936). Origin and production of morphologic and pathogenic strains of the oat smut fungi by mutation and hybridization. Jour. Agr. Res. 52 : 311–317.

.................(1964). Mode of inheritance of pathogenictiy in some race hybrids of Ustilago avenae. Phytopathology 54 : 660–672.

Holton, C. S. (1970) Differential Prevalance and potential Survival of oat Smut specieses U. S. A. Plant Disease Problems I. P. S. 50–54.

Holton, C. S. and P. M. Aalisky (1960). Dominance of avirulemne and monogenic control of virulenca in race hybrids of ustila go avenae. Phytopathology 50 : 766–770.———and

H. A. Rodenhiser. Physiologic specialization in the oat smut fungi with relation to breeding oats for smut resistance. U. S. Dept. Agr. Tech. Bul. 952.

Huskins, C. L. (1931). Blindness or blast of oats Sci. Agr. 12 · 191–199.

ITO, S. and K Kuribyashi (1931). The ascigerous forms of some graminicolous species of Helminthosporium in Japan Jour Fac. Agr. Hokkaido Imp. Univ. Sappro 29 : 85–125.

Jacks, H., I. A M Cruickshank (1956). seed dis infectionce XIII. The effect of fungicidal seed treatment on emergence of covered smut (Ustilago Kolleitri willa) of oats H. Z. J. Sci. Tech. Sect. A 38 : 27–29.

Kehr, W, R., H. K. Hayes, M. B. Moore, and E. C. Stakman (1950). The present status of breeding rust resistant oats at the Minnesota Station. Agron. Jour. 42 · 356–359.

Kihara, H., and I. Nishiyama (1932) The genetics and cytology of certain cereals. III Different compatibility in reciprocal crosses of Avena with special referene to tetraploid hybrids between hexaploid and diploid species. Japan. Jour Boi 6 : 245–305

Ko, S. Y., J. H. Torrie, and J. G Dickson (1946). Inheritance of reaction to crown rust and stem and othe rc harcters in crosses between Bond, Avena bysantina and varieties of A. sativa. Phytopathology. 36 : 226–235.

Konzak, C. F. (1954). Stem rust resistance in oats induced by nuclear radiation. Agron, Jour 46 : 538-540.

Luke, H H. (1964) Identification and distribution of oat smuts of the south eastern U. S. Phytopathology 54 : 792–794.

Leukel, R. W. (1919a) Resuts from Cooperative tests of cereal seed treatments. Plant Diseases Reptr. 33 . 295–299.

Levine, M. N. and D. C Smith (1937) Comparative reaction of oat varieties in the seedling and maturing stages to Physiologic races of Puccinia graminis avene and the distribution of these races in the United states Jour. Agr. 55 : 713–729. (1941).

Maclachian, J. D. (1941). Managense deficiency in soils a crops I Control in oats by spraying: studies of t of soil m isms. Sci. Agr. 22 :. 01–

Meehan, F. L. (1951). *Helminthosporium victories* and other graminicolous species. Iowa state Col. Jour. Sci. 25 : 292 –294.

.... and H. C. Murphy (1946). A new Helminthosporium blight of oats. Science (N. S.) 104 : 413-414.

Melhus, I. E. el. al. (1922). Alternate hosts and biological speciao, ization of crown rust in America. Jowa Agr. Exp. sta. res. Bul. 72.

Metger, R.J. and E. J. Trione (1962) Application of gene relationship hypothesis to the Triticum Tilielia system Phytopathology 52 · 313.

Mundkur, B B (1934) oat smus in India. Indian. J. Agric. Sci. 5 745–46.

.. ..(1945) studies in India Cereal smuts VIII Nomenclature of Indian smut, fungi at probable modes of their transmission. Indian J Agric. Sci. 15 : 108–10.

Mundkur. B. B and M. A. Khan (1934) A dry spray method for treating oat seed against covered smut. Indian. J. Agric Sci. 4 899-905.

Mundukur, B B and M J Thirumalachor (1952) Ustilaginales of India (M I. England 84 pp.



3

बाजरे के रोग

(क) बाजरे के रोग

(Bajra Diseases)

बाजरा (Bajra) ग्रेमीनेसी कुल का सदस्य है। इसे छोटे मिलेट में सम्मिलित किया गया है। यह खरीफऋतु की फसल है। तमिल भाषा में इसे कम्बू, तेलगू मे सजालू या गनतालू, कनाड़ी में सज्जी, मलयालम में कम्पग और हिन्दुस्तानी मे बाजरा के नाम से जाना जाता है। हमारे देश मे खाद्यान्न की यह एक महत्वपूर्ण फसल है। इसकी खेती मद्रास, मैसूर, आन्ध्रप्रदेश, बम्बई, राजस्थान और उत्तरप्रदेश मे प्रमुख रूप से की जाती है। इस फसल पर कई प्रकार के रोगों का प्रकोप होता है जिसमे से कुछ महत्वपूर्ण है :

(1) हरी बाली या मृदुरोमिल (Green ear or Downy mildew)
(2) अरगट (Ergot)
(3) कंड (Smut)
(4) किट्ट (Rust)
(5) पत्ती का ब्लास्ट (Leaf blast)
(6) पत्ती धब्बा रोग (Leaf spot)
(7) हेलमिन्थोस्पोरियम पत्ती धब्बा (Helminthosporium leaf spot)

इन रोगो की विस्तृत जानकारी आगे दी जा रही है।

बाजरे का हरी बाली या मृदुरोमिल (Green ear or Downy mildew)

बाजरे की फसल का यह भयानक रोग है जिसके कारण फसल को बहुत नुकसान पहुंचता है। भारतवर्ष मे इस रोग का प्रकोप उन सभी क्षेत्रों में देखा गया है जहां बाजरे की खेती की जाती है। विशेषतः राजस्थान, महाराष्ट्र, और गुजरात के इलाकों मे इस रोग से बाजरे मे दाना न बनने के कारण बड़ी हानि होती है। सबसे पहले 1907 मे बटलर ने इस रोग का वर्णन किया। भारतवर्ष के अलावा दक्षिणी अफ्रीका (Doidge, 1950) एव पश्चिमी अफ्रीका मे भी इसका विशेष रूप से प्रकोप होता है (उगान्डा एवं तन्जानियाका)। इस रोग के कारण सही नुकसान कितना होता है यह अनुमान लगाना तो कठिन है परन्तु प्रतिवर्ष फसल का लगभग 5 से 10% भाग तो अवश्य ही इससे नष्ट हो जाता है। मित्तर एवं टन्डन (Mitter and Tandon, 1930) ने इसे लगभग 45% नुकसान बताया तथा

चौधरी (Chaudhri, 1932) ने बताया कि अधिक संक्रमण होने पर तो सम्पूर्ण फसल ही नष्ट हो जाती है। सूर्यनारायण (1962) के अनुसार पंजाब, देहली एवं राजस्थान आदि राज्यों में इस रोग से अधिक क्षति होती है तथा साधारणत: 5 से 10 प्रतिशत फसल नष्ट हो जाती हैं। अकेले इस रोग के कारण केवल राजस्थान में 55 45 एवं 45·37 हजार मैट्रिक टन का नुकसान 1962 एवं 1964 में क्रमश: हुआ जिसके कारण 2·02 एवं 2·33 करोड़ रुपये का नुकसान आंका गया (माथुर एवं देलला, 1971)। इन राज्यों के अलावा उत्तरप्रदेश, हरियाणा, गुजरात एवं मध्यप्रदेश में भी काफी नुकसान होता है परन्तु यह नुकसान पर्यावरण पर बहुत अधिक निर्भर करता है। जिन मिट्टियों में पानी का निकास कम हो तथा नीचे क्षेत्रों में हो वहाँ अधिक प्रभाव होता है।

भारतवर्ष में इस रोग पर विस्तृत रूप से अध्ययन किया गया है (*Butler, 1907, 1908; Kulkarni, 1913, Weston, 1920; Uppal and Kamat, 1928; Mitter and Tandon, 1930; Chaudhri, 1932;* Safeeulla and Thirumalachar, 1955; Safeeulla et asl, 1963; Surayanaragan, 52, 56, 60, 62, Arya and Sharma 1962; Tiblari and Arya, 1966; Mathur and Dalela, 1973)। बाजरे के अलावा यह रोग सिटेरिया इटेलिका (Setaria italica), ज्वार आदि पर भी पाया जाता है परन्तु प्रभेद भिन्न है।

इस रोग को मृदुरोमिल एवं हरी बाली दोनों ही नामों से जाना जाता है क्योंकि इससे बाजरे की बाली हरी पड जाती है तथा पत्तियों पर भी मृदुरोमिल जैसे लक्षण दिखाई देते हैं।

लक्षण (*Symptoms*) : इस रोग के लक्षणों को तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है

(1) मृदुरोमिल अवस्था (Downy mildew stage)

(2) हरी बाली अवस्था (Green car stage)

(3) प्ररोह एवं कली विरूपतायें (Shoot and bud deformation)

(1) मृदुरोमिल अवस्था (Downy mildew stage)—इस रोग के लक्षण प्रारम्भिक अवस्था मे भी दिखाई दे सकते हैं। पत्तियां अपना हरा रंग खो देती है। रोगग्रसित पत्तियो का हरा रंग बदलकर सफेद या बादली हो जाता है। यह सफेद रंग पत्तियों पर लम्बान में लम्बी धारियों के रूप दिखाई देता है तथा पत्तियोंका क्लोरोफिल नष्ट होने लगता हैं और उग्र अवस्था में पत्तियों की धज्जियां उड़ जाती है। सुबह के समय पत्ती की निचली सतह पर फफूंद की सफेद सी चूर्ण जैसी वृद्धि आसानी से देखी जा सकती हैं। धीरे-धीरे पत्तियां सिकुड़कर ऐंठने लगती है। रोगग्रसित पौधे कद में छोटे रह जाते हैं तथा दाने छोटे एवं संख्या में कम बनते हैं।

(2) हरी बाली अवस्था (Green ear stage)—

इस रोग के लक्षण मुख्य प्रकार से पुष्पक्रम (inflorescence) पर दिखाई पड़ते हैं। ग्रसित पौधों में या तो बालियां बनती ही नहीं है और यदि बनती है तो बालें हरी पड़ जाती हैं, जिसके फलस्वरूप ही इस रोग का नाम बाजरे का हरी बाली रोग रक्खा गया है। बालों में दाने नहीं बन पाते हैं बल्कि इनकी जगह



चित्र 3 क. 1 बाजरे का हरी बाली रोग

छोटी-छोटी मुड़ी हुई धागे जैसी हरी पत्तियां दिखाई पड़ती है। शूकीवत (Spiklet), बाली के शूक (bristles) अधिवितृति (hypher trophied) होकर एठ जाते हैं। बालियों के पुष्पपत्र तुष (glumes) आदि पत्तियों की तरह हरे हो जाते हैं। पुष्पक्रम का कोई भाग भी ऐसा नहीं बच पाता है जो किसी न किसी तरह विरूप न हो गया हो। अधिकतर सम्पूर्ण बाली पत्ती जैसी रचना में परिवर्तित हो जाती है परन्तु कभी कभी कुछ भाग ही परिवर्तित होता है। जिस पुष्पवृन्त (Pedicel) पर एक अनुशूकी (spiklet) होती है उस पर दो-दो अनुशूकी हो

जाती है इस प्रकार पुष्पकों (Florets) के नम्बर में भी बढ़ोतरी हो जाती हैं तथा पुष्पक के बीच का भाग लम्बी पत्तीदार रचना मे बदल जाता है। रोग के उग्रावस्था होने पर स्त्रीकेसर यदाकदा ही उत्पन्न होते हैं और अगर होते भी हैं तो पत्ती जैसी रचना मे बदल जाते हैं। कभी-कभी स्त्रीकेसर एक छोटे शासित अक्ष (exis) में बदल जाता है, जिसकी रचना सींग जैसी बाह्यवृद्धि (horn like out growth) सी होती है। ग्रसित पौधे बौने रह जाते हैं तथा बहुत अधिक दोजी (tillers) बाहर निकलते हैं।

प्ररोह एवं कली विरूपतायें (Shoot and bud deformation)—

इस रोग से प्रभावित प्ररोह एवं कलियां भी विकृत (deform) हो जाती हैं।

हेतु की एवं जीवन चक्र (Etiology and Life Cycle)—यह रोग स्कलेरोस्पोरा ग्रेमीनीकोला (Sclerospora graminicola (Sacc.) Schroet नामक फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है। यह एक अनीवार्य परजीवी है। दैहिक, अपट कवकजाल, अन्तःकोशिय अधिकतर, रोगग्रसित पौधों के जड़, तना, पत्तियां, पुष्पक्रम आदि पर देखे जा सकते हैं। कवकजाल बहुकेन्द्रिक, रंगहीन, अखण्डकोशिक होता है तथा पेरेनकाइमेटस ग्रतिका में अधोस्तर तथा तन्तुवाही पूलो (fibrio vasculer bundles) में ही मिलता है। पोषक उतियों में भोजन चूसने के लिये गोलाकार प्रचूषांग (haustoria) बनते हैं। तने पर प्रचूषांग पूर्णरुप से विकसित नहीं होते हैं। परन्तु पत्तियों पर पूर्णरूप से विकसित रहते हैं। अलैंगिक जनन बीजाणुधानी द्वारा होता है। आन्तरिक कवकजाल से बीजाणुधानी धर उत्पन्न होते है। यह उप-पर्णरन्ध्रीय (sub stomatal covities) मे पूर्ण रूप से विकसित होने के बाद पर्णरन्ध्र द्वारा 3 से 5 के गुच्छे में बाहर आते है। यह प्रक्रम नम दशा मे तथा अन्धकार मौसम में अधिक होता है। बीजाणुधानीधर रंगहीन, 100 माइक्रोन लम्बे एवं 12 से 15 माइक्रोन चौड़े अपट तथा निचले भाग मे अशाखायुक्त होते हैं। ऊपरी सिरा कुछ मोटा छोटी शाखा में समद्विभाजी बटा होता है। शाखाओं के सिरे पर कुछ अंगुलीकार फूली हुई रचनायें बनती हैं जिन्हें बीजाणुसूत्र (Sterigmata) कहते हैं। इनके सिरे पर बीजाणुधानी बनते हैं। बीजाणुधानी 13 से 34 माइक्रोन लम्बे एवं 12-23 माइक्रोन चौड़े होते हैं। इनका अंकुरण नमी मिलने पर होता है। अंकुरित होने पर 1 से लेकर 8 (3-8) तक चल बीजाणु (zoospore) बाहर आते हैं। बीजाणुधानी के बनने, अंकुरण तथा संक्रमण के लिये पानी की झिल्ली का होना बहुत ही आवश्यक है। चल बीजाणु के बनने तथा मुक्ति (liberation) में 35 से 180 मिनट लगते हैं। केवल पूर्ण परिपक्व बीजाणुधानी ही अंकुरित होती है तथा कोई भी सीधी विधि से अंकुरित नहीं होती। बीजाणुधानी बहुत कम समय तक जीवित रहते हैं तथा कुछ घन्टों में ही अंकुरित हो जाते हैं। पानी की उपस्थिति 1 से 8 घन्टे तक अनुकूल अवस्था में जीवित रहते हैं (20-30°c) बीजाणुधानी का अंकुरण सुबह 7·30

बजे तक होता है तथा पानी की झिल्ली का होना अति आवश्यक है अंकुरण के समय चल बीजाणु के दोनो कशाभ समाप्त हो जाते है तथा चल बीजाणु भित्तियुक्त मोटी दीवार वाले गोलाकार हो जाते हैं। तदुपरान्त ये परिपुट चलबीज णु अंकुर-नाल बनाकर अंकुरित होते हैं। अंकुरनाल पोषक उतियो में रन्ध्रों द्वारा प्रवेश करती है और एक नया जरक उत्पन्न कर देती है। चलबीजाणु का अंकुरण 16^0 से 22^0 से. पर सबसे अधिक होता है तथा 32^0 से. से अधिक एवं 4^0 से. से नीचे तापमान पर इनकी गति (locomotion) कम होती है (Suryanarayna, 1952) 15^0 से. से नीचे बीजाणुधानी का बनना कम हो जाता है। (Uppal and Kamat, 1928; Safeeulla and Thirumalachar, 1956)

चल बीजाणुओं का पोषक से सम्बन्ध प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष (indirect) दोनों प्रकार से होता है। पहली स्थिति में चलबीजाणु सीधे पत्तियों जड़ के मूल पर अवतरण (landed) होते हैं तथा दूसरे में संक्रमण आसगांग या संक्रमण तन्तु में होता है परन्तु दोनों ही तरीकों से प्रवेश संक्रमण तन्तु एवं आसगांग से ही होता है।

लैंगिक जनन विषमयुग्मी (Oogamous) धानी एवं स्त्रीधानी की सहायता से होता है। निषिक्तांड फसल पकने के समय बनते हैं। ये आकृति में गोल होते हैं। इनका बहिर्चोल (exospore) पतला तथा अन्तर्चोल (endospore) मोटा होता है। प्रापक्व निषिक्तांड का व्यास 34 माइक्रोन से 52 माइक्रोन तक एवं स्त्रीधानीय दीवार सहित इसका औसत व्यास 35 माइक्रोन होता है। इनका अंकुरण एक लम्बी विश्राम अवधि के पश्चात होता है। अंकुरण के समय बहिर्चोल टूट जाता है तथा अन्तर्चोल एक अंकुरनाल तथा कभी-कभी एक से अधिक अंकुर-नाल बनाता है। अंकुरनाल रंगहीन एवं अपट होती है जो बाद में एक नया कवकजाल बना देती है। यह कवकजाल नये पोषक पर पत्तियों के रन्ध्रों में प्रवेश करके बनता है। निषिक्तांड के अंकुरण के लिये सूर्यनारायण (1956) के अनुसार अनुकूलन (Weathering) की आवश्यकता पड़ती है। पत्तियों पर असंख्य निषिक्तांड बनते हैं परन्तु विकृत फूलों या बाजरे की बाली पर निषिक्तांड कम बनते हैं।

वार्षिक आवर्तन (Annual recurrence)—इस रोग के वार्षिक आवर्तन की तीन सम्भावनायें हैं :

1. कवकजाल दाने के अन्दर उपस्थिति हो।
2. निषिक्तांड दाने के साथ मिले हो।
3. निषिक्तांड मिट्टी में उपस्थित हो।

यह रोग मुख्यतः मृदूढ़ (Soil borne) है। मेल्हस आदि पौध रोग वैज्ञानिकों के अनुसार रोगजन का अधिकांश जीवन खेती की मिट्टी मे निषिक्तांड अवस्था में व्यतीत होता है तथा पौधो के नवोद्भिजों पर इन बीजाणुओं द्वारा

संक्रमण होता है। उप्पल एवं कामत (1928) ने मिट्टी में निपित्तांड कृत्रिम रूप से अन्तक्रमण करने पर 60% संक्रमण बताया। पादप व्याप्त रूप में इस रोग के फैलने में निपित्ताड़ का सबसे पहले महत्व 1952 में सूर्यनारायण ने बताया। चौधरी (1932) के अनुसार निपित्तांड के निलम्बन (Suspension) को जड़ मूल एवं पत्तियों पर रखने पर संक्रमण हो जाता है परन्तु बाद में सूर्यनारायण (52) के अनुसार पत्तियों पर निपित्तांड रखने पर संक्रमण नहीं होता है, बल्कि यही निपित्ताड मिट्टी या बीजों की बुवाई के समय मिलाई जाये तो संक्रमण हो जाता है। अतः यह जरूर है कि कवक के जीवन चक्र में निपित्तांड का काफी महत्व है। यह 3-4 वर्ष तक मिट्टी में जीवित रह सकते हैं। अंकुरण के पश्चात ये मूल रोमों द्वारा घुसकर सर्वदेही हो जाते है। निपित्तांड की जनित नलिका के प्रवेश को अभी तक प्रदर्शित नहीं किया गया है तथा ऐसा समझा जाता है कि यह जमीन के नीचे भाग में होता है तथा प्रसारवर्धी बढ़ावार (Vegetative growth) के साथ ऊपर के भाग में भी होता रहता है।

बटलर (1918) के अनुसार ग्रसित पौधों के बीच में आन्तरिक कवकजाल नहीं होता है परन्तु तासुगी (Tasugi) के अनुसार इस रोग का संचारण बीजों द्वारा भी होता है। आर्य और शर्मा (1962) एवं तिवारी और आर्य (1966) के अनुसार जो बीज आंशिक रोगी बाली (Partially diseased ear) में बनते हैं, वह इस रोग के वार्षिक आवर्तन में सहायता करते हैं। ह्विरा (Huire) का विचार है कि जड़ो, अंकुरचोल (Coleoptile) तथा प्रकन्द (rhizome) आदि के द्वारा भी यह रोग फैलता है। इस प्रकार यह रोग मृदुड़ एवं बीजोड़ दोनों ही तरह का है।

खेत की अवस्था में निपित्तांड 36 महिने तक जीवित रह सकते हैं, जो कि गर्मियों के अधिक तापमान 46° से. को भी सहन कर सकते हैं। निपित्ताड जो इस अवस्था में खुले छोड़ दिये जाते हैं उनमें संक्रमण हो जाता है परन्तु यदि प्रयोगशाला में कागज की थैलियों में रखे जाये तो संक्रमण नहीं होता है, इससे ऐसा लगता है कि निपित्ताड के अंकुरण के लिये अनुकूलन (weathering) की आवश्यकता पड़ती है (सूर्यनारायण, 1956)।

माइक्रोटोम अध्ययन से पता चला है कि रोगकारक जीव जमीन के नीचे के भाग के तरुण ऊतिका में प्रवेश करके ऊपर की ओर बढ़ता है।

इस प्रकार इस रोग का वार्षिक आवर्तन मिट्टी में या बीज के साथ मिले कवक बीजाणुओं या जानवरों के गोबर से आये बीजाणुओं से होता है। भूमि में निपित्ताड़ बहुत अधिक संख्या में पत्तियों एवं बालों के अन्दर बनते हैं, जो जमीन में गिर जाते हैं एवं पौधों के मलवे के साथ भूमि में मिल जाते हैं। अनुकूल

अवस्था होने पर अंकुरित होकर सक्रमण कर देते हैं। द्वितीयक सक्रमण प्राथमिक पौध फसल की पत्तियां पर प्राथमिक सक्रमण से बने बीजाणुधानी से होता है।

पूर्ववृतिक कारण (Predisposing factors)—इस रोग के फैलाव के लिये न्यूनतम भूमि तापमान 11^{0} से., अनुकूलतम तापमान 20^{0} से. एव अधिकतम तापमान 34^{0} से. हैं। इसके अलावा मुख्य पूर्ववृतिक कारक प्रचुर मात्रा में आक्सीजन मिली वायु का संचार होना है। बीजाणुधानी बनने के लिये अनुकूलतम तापमान 10-25^{0} से. है तथा 28^{0} से. के ऊपर यह नहीं बनते हैं। 75% या इससे अधिक आर्द्रता के होने पर बीजाणुकरण अधिक होता है तथा कम पर नही होता है। प्रकृति में यह अवस्था जुलाई, अगस्त एवं सितम्बर में होती है अतः इसी कारण इन दिनों में बीजाणुकरण अधिक होता है। अक्टूबर के अन्त या नवम्बर में बीजाणुकरण बिल्कुल नहीं होता है क्योंकि आर्द्रता कम हो जाती है परन्तु तापमान तो अनुकूल होता है। 5-33^{0} से. तापमान पर कोनिडिया का अंकुरण हो सकता है।

कायिकी प्रजातियाँ (Physiologic races)—भारत में उप्पल एवं देसाई (1931) ने तथा जापान में तासुगो ने अनेक कायिकी प्रजातियों की खोज की है। बाजरा की प्रभेद केवल बाजरा एवं टिमोसिन्ट पर ही संक्रमण करती है। इसका सिटेरिया तथा ज्वार पर संक्रमण नहीं होता है।

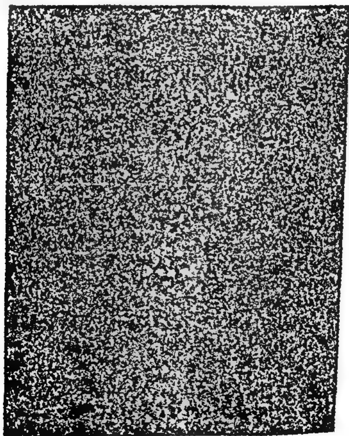
रोकथाम (Control)—

1. संक्रमण मुख्यतः भूमि में उपस्थित निषिक्तांड से होता है। इसलिये पौधों को मिट्टी में न मिलने देने का हर सम्भव प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये निषिक्तांड बनने से पहले ही रोग से प्रभावित पौधों को उखाड़ कर नष्ट कर देना चाहिये।
2. चूंकि इस रोग का वार्षिक आवर्तन बीजोढ़ भी होता है अतः बुवाई से पहले बीजों को किसी कार्बनिक पारदयौगिक (एग्रोसन, सेरेसन आदि) या थाइरम (TMTD) से 1: 150 के अनुपात में मिलाकर उपचार करके नष्ट कर देना चाहिये। डॉ. वेस्टन (1928) के अनुसार बीजों को बुवाई से पहले एक मिनट तक एल्कोहल में तथा उसके पश्चात 10 मिनट तक सांद्र नमक के घोल में डुबोना चाहिये। उसके बाद अम्ल को बहते हुए पानी से धोकर बीजों को सुखाकर बोने के काम में लेने के रोगजन नष्ट हो जाता हैं। वेस्टन ने यह प्रयोग मक्का के मृदुरोमिल रोग की रोकथाम के लिये इस्तेमाल किया था लेकिन वैज्ञानिकों का मत है कि इस रोग की रोकथाम भी इससे हो सकती है।
3. कवक के जीवनचक्र में निषिक्तांड का काफी महत्व है तथा 3–4 वर्ष तक मिट्टी में जीवित रह सकते हैं अतः इससे लम्बे समय का फसल चक्र प्रयोग में लाना चाहिये। फसल सिटेरिया या रागी से परिवर्तित होना लाभप्रद रहता है।

4. स्वस्थ एवं प्रमाणित बीज ही प्रयोग में लायें।
5. चूंकि यह रोग मृदुढ है अतः रोग प्रतिरोधी किस्मों का ही प्रयोग करें। पूसा मोती, टी 15, टी 65 882, हाइब्रीड 1,2 इससे प्रतिरोधी है।

अरगट
(ERGOT)

अरगट भी बाजरे का प्रमुख रोग है। यह रोग अफ्रिका, एवं भारत में कई जगहों से वर्णित किया गया है। सबसे पहले महाराष्ट्र से सन् 1956 में बाजरे पर इस रोग का हमला हुआ। संकर बाजरा अपनाये जाने से पहले इस रोग का प्रकोप केवल महाराष्ट्र में ही होता था। 1966–67 में संकर बाजरा अपनाने से दूसरे राज्यों जैसे मद्रास, मैसूर, दिल्ली, पंजाब, हरियाणा, राजस्थान आदि में भी इसका



चित्र 3 क 2 बाजरे का अरगट रोग

प्रकोप भयंकर हुआ जिसके फलस्वरूप मनुष्य एवं पशु दोनों ही बुरी तरह प्रभावित हुये।

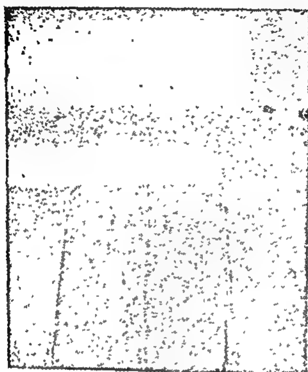
सबसे पहले यह रोग पेनीसीटम होहेनकरी (P hohenackeri) एक जंगली घास पर वर्णित किया गया (Agrekar, 1920) तथा बाजरा में संक्रमण करने पर संक्रमण पाया गया। संक्रमण 5 से 100% तक तथा संक्रमण की तीव्रता 2 से 100% तक होती है। औसतन कुल नुकसान 2 से 3% देखा गया है। संकर किस्में एच बी. 1 एवं 2 इससे बहुत प्रभावित होती है। इस रोग से उपज तो कम होती ही है साथ में इसमें पाये जाने वाला विषैला तत्व मनुष्य और पशु दोनों के लिये घातक सिद्ध हुआ है।

लक्षण (Symptoms)—इस रोग के लक्षण फूल आने पर ही दिखाई देते हैं। प्रारम्भिक लक्षण फूल आने के 10 दिन बाद दिखाई देने लगते हैं। सबसे पहले शहद की तरह का चिपचिपा रसीला पदार्थ फूलों के नीचे की ओर से रिसने लगता है। 5–6 दिन में तुष निपत्रों के बीच दाने की जगह हल्के गुलाबी रंग की छोटी-छोटी बूंदे दिखाई पड़ती हैं, जिसको रोग की मधुरस अवस्था कहते हैं। रोग के अधिक तेज होने पर बाजरे की बाली चिपचिपी तथा गहरे भूरे रंग की या काले रंग की हो जाती है। बालियों पर चिपचिपा रस निकलने के 15–20 दिन बाद अरगट के कड़े दाने बन जाते हैं (चित्र 3क 2)। ये दाने बड़े मजबूत कड़े व हल्के गुलाबी रंग से लेकर गहरे भूरे रंग हो जाते हैं। अरगट के कठकवक जो अण्डाशय को परिवर्तित करते हैं वह 0 5 से 1·0 से. मी लम्बे तथा 1–2 मि. मी. चौड़े होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक फूल में बाजरे के दाने की जगह एक तरह का फफूंद का कड़ा दाना बन जाता है। बाद की गहरे भूरे रंग की अवस्था कठकवक अवस्था (sclerotial stage) कहलाती है। प्रभावित पौधों में बीज का बनना बहुत कम हो जाता है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etilogy & Life cycle)—

यह रोग क्लेवीसेप्स माइक्रोसिफेला (Claviceps microcephala) (Waller) Tul नामक फफूंद से उत्पन्न होता है जो एस्कोमाइसिटीज वर्ग के गोत्र हाइपोक्रिएलीज (Hypo creales) एवं कुल हाइपोक्रिएसी (Hypo-eacee) में आती है। कवकजाल रंगहीन तथा पटयुक्त होता है। अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है। कोनिडिया विशेष रचनाओं के कोनिडियोफोर पर बनते हैं। कोनिडिया रंगहीन, एक कोशिक 13–25×3–6 (18×5) माइक्रोन व्यास के होते हैं। मधुरस जैसी बिन्दुक (droplets) ग्रसित बाली में कोनिडिया के ही होते हैं। कोनिडिया के अंकुरण होने पर द्वितीयक कोनिडिया बनते हैं। कोनिडिया अंकुरनाल बनाकर अंकुरित होते हैं तथा कवकजाल उत्पन्न कर देते हैं। अंकुरित होकर अंकुरण नालिका वर्तिकाग्र या अण्डाशय की पतली तह में घुसकर अण्डाशय को खराब कर देती है।

से कुछ मिलते जुलते है परन्तु आकार में उससे भी छोटे (चित्र 2 घ.7) आधा इन्च से एक इन्च तक होते हैं। यह धब्बे वलीय चक्र (Concentric Rings) में दिखाई



चित्र. 2 घ 7 (मक्का का कार्बोनिस)

पड़ते हैं। दूसरी प्रजाति (Race-2) में छोटे, असमान, चोकलेट से भूरे, 1/4" से 1" तक के धब्बे दिखाई देते हैं। इस फफूंद से भुट्टे भी प्रभावित होते हैं। उग्रावस्था में सम्पूर्ण पत्तियां मुरझाई हुई सी लगती है। रोगग्रसित पौधों के भुट्टे हल्के तथा कम भरे हुए होते हैं।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etioloy & life Cycle)—

यह रोग हे. कार्बोनम नामक फफूंद के द्वारा उत्पन्न होता है। सर्व प्रथम इसका वर्णन उलस्ट्रप (Ullustrup) ने 1943-44 में किया। ऊपर वाली दोनों जातियों से कोनिडिया छोटे, सीधे तथा कुछ मुड़े हुए, जैतुनी भूरे लम्बे दीर्घवृतीय तथा मध्य में चौड़े ऊपर से पतले तथा सीधे गोलाकार 25-100-7-18 माइक्रोन के 2 से 122 पट वाले होते हैं। इनका अंकुरण ध्रुवीय कोश से होता है।

दोनों ही प्रजातियां संवर्धन के गुण, आकार, रंग तथा परिणाम में एक जैसी हैं परन्तु लक्षणों एवं परजीविता के आधार पर इनको पहचाना जा सकता है।

इसकी लैंगिक अवस्था कोकलियोबोलस कार्बोनम (Cochilobolus carbonum) है जो कि कोकलियोबोलस हेटरोस्ट्रोफस जैसी ही है।

वार्षिक आवर्तन (Annual recunrence)—

वार्षिक आवर्तन मुख्यतः पौधों मे पड़े अवशेषों द्वारा तथा द्वितीयक संक्रमण कोनिडिया द्वारा होता है। उलस्ट्रप (Ullustrup, 1943) ने 1943 में यह भी बताया कि कभी कभी यह बीजोढ भी है। अधिक नत्रजन का प्रयोग इसके लिए भी प्रभाव्य है।

रोकथाम (Control)—

1. इसमें केवल एक ही जीन (Gene) प्रतिरोधन का निश्चायक है अतः प्रतिरोधी किस्मो के प्रयोग में लाने से इसकी रोकथाम की जाती है। संकर किस्मों मे इसका प्रभाव कम देखा गया है।
2. थिराम (0 2%) का बीजोपचार भी लाभदायक रहता है।
3. रोगग्रसित पौधों के अवशेषो को एकत्र कर नष्ट कर देना चाहिए।

हेल्मिंथोस्पोरियम रोस्ट्रेटम अंगमारी

(Helminthosporium rostratum)

हेल्मिंथोस्पोरियम रोस्ट्रेटम के कारण भी पत्तियों मे धब्बे बनते है। सर्वप्रथम अफ्रीका में बुंटिंग (Bunting) ने 1927-28 में इसका वर्णन किया। यंग तथा उनके साथियों (Young et al, 1947) ने इसका प्रकोप मक्का, ज्वार, सुडान घास आदि पर भी देखा। उलस्ट्रप (Ullustrup, 1954) के अनुसार अमेरिका में इस रोग का प्रकोप बहुत कम होता है तथा उससे विशेष नुकसान नहीं होता है। चट्टोपाध्याय एवं दास गुप्ता (1959) ने धान की पत्तियों पर तथा महेन्द्रपाल एवं सूर्यनारायण (Mahendrapal & Suryanarayan, 1964) ने ज्वार की पत्तियों पर इस फफूंद के धब्बे देखे। भौमिक एवं प्रसादा (Bhowmik & Prasada) ने 1965 मे सर्वप्रथम हमारे यहां इस फफूंद का संक्रमण मक्का पर देखा।

लक्षण (Symptoms)—

मुख्यतः पत्तियों पर ही लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। सर्वप्रथम पत्तियों पर छोटे, पीले रंग के दीर्घवृतीय (Elongated) धब्बे दिखाई पड़ते हैं जो बाद में बढ़कर एक धारी सी दोनो पक्षीय नाड़ियो के मध्य बना लेते है। धीरे धीरे ये भूरे रंग के हो जाते हैं तथा इनका परिमाण 2-40 × 2-3 मि. मी. होता है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle)—

यह रोग हेल्मिंथोस्पोरियम रोस्ट्रेटम (Helmiinthosporium rostratum Drechs) नामक फफूंद के द्वारा उत्पन्न होता है। कवकजाल पटयुक्त, रंगहीन होता है तथा अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है। कोनिडियोफोर गहरे जैतुनी रंग के

पर्णरन्ध्र से शाखाधारी अकेले या दो तीन के समूह मे बाहर आते हैं। तीन प्रकार की प्रजातियां मिली हैं। जिनके कोनिडिया का परिमाप अलग अलग होता है।

1. आन्ध्र संवर्ध (Isolate) 171·8×5·7 माइक्रोन
2. गगंटोक 2 संवर्ध (Isolate) 260 4×5·7 माइक्रोन
3. कानपुर संवर्ध (Isolate) 85·4×5·5 माइक्रोन

कोनिडिया दीर्घवतीय सीधे, मध्य से चौड़े ऊपर से गोलाकार, गहरे जैतुनी रंग के होते है। कानपुर संवर्ध सबसे छोटे होते हैं। कोनिडिया का अंकुरण जनित नलिका द्वारा होता है। सबसे अधिक रोग का प्रभाव उस समय होता है जब पौधो को 48 घण्टे की सतृप्त (Saturated) अवस्था मे रक्खा जाये तथा तापक्रम 30° से हो।

इन चारो जातियो के अलावा मिश्रा एवं सिंह (1971) ने दो अन्य जातियो का विवरण भी सबसे पहले किया जिसके फलस्वरूप पत्तियो में धब्बे बन जाते है।

1. हेल्मिथोस्पोरियम टेटरामेरा (Helminthosporiem tetrameura Mc Kinney) कोनिडिया-12 से 13 माइक्रोन लम्बे तथा 4 से 12 माइक्रोन चौड़े होते हैं। इनका अंकुरण दोनों सिरो (Bipolar fashion) से होता है।
3. हेल्मिंथोस्पोरियम हवाईएन्स (Helminthosporium hawaiiense Bougnicourt) कोनिडिया 12 से 45 माइक्रोन तथा 4 से 10 माइक्रोन चौड़े, 2 से 7 पटयुक्त होते हैं। इनका भी अंकुरण दोनो सिरो (Bipolar fashion) से होता है।

किट्ट रोग
(Rust Diseases)

तीन प्रकार की किट्ट फफूंदियों का मक्का पर प्रभाव होता है, वह निम्न है–

1. सामान्य किट्ट (Normal rust)
2. दक्षिणी किट्ट (Southern rust)
3. उष्ण किट्ट (Tropical rust)

सबसे पहले हमारे यहाँ भोमिक एवं प्रसादा (Bhowmik and Prasada) ने सामान्य किट्ट का प्रकोप मक्का की पत्तियो पर देखा था। परन्तु हमारे यहा इन किट्टों से इतना नुकसान नहीं होता है जितना कि अन्य देशो मे। हमारे यहा मुख्यतः सामान्य किट्ट का, अफ्रीकी देशो मे दक्षिणी किट्ट तथा पश्चिमी गोलार्द्ध में उष्ण किट्ट का प्रकोप देखा गया है। भारत में यह रोग देश के पहाड़ी क्षेत्रों में और रबी मे मक्का उगायें जाने वाले क्षेत्रों जैसे बिहार, दक्षिणी भारत, पूर्वी उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और राजस्थान मे मक्का की फसल पर आक्रमण करता है। पौधो मे रोग देर से आने के कारण उपज मे हानि प्रायः कम होती है।

सामान्य किट्ट—

इस रोग का प्रभाव अन्य दो किट्टों से अधिक होता है। मुख्यत पत्तियां ही इस रोग से प्रभावित होती हैं। पत्तियों पर गोल से लम्बे भूरे रंग के स्फोट बनते हैं जो कि धीरे धीरे जैसे मक्का पकती है काले होने जाते हैं। ये काले स्फोट टेल्यूटो-बीजाणु बनने के कारण होते हैं। प्रारम्भ में ये पत्ती की ऊपरी सतह तथा बाद में दोनों सतहों पर लक्षण दिखाई देते हैं। इस प्रकार के स्फोट पत्तियों के अलावा पौधे के अन्य ऊपरी भागों पर पाये जाते हैं परन्तु अधिकतर पत्तिया प्रभावित होती है। प्रारम्भ में ये स्फोट बहुत छोटे हैं। परन्तु धीरे धीरे एक दूसरे से मिलकर बड़े बड़े क्षतस्थलों के रूप में गहरे रंग के हो जाते हैं तथा पत्तियां अहरिम हो जाती हैं। मक्का के अलावा (Teosinte) पर भी इस रोग का प्रभाव होता है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र—

यह रोग पक्सीनिया सोरगी (Puccinia (Schw) Sorghi) नामक फफूंद के द्वारा उत्पन्न होता है।

समानार्थक—

पक्सीनिया मेडिस (Puccinia maydisB es)
पक्सीनिया जी (Puccinia zeae Bes)
एसीडियम आक्जेलिडिस (Aecidium oxalidis Thum)
डिकोइमा सोर्गी (Dicaeoma sorghi Ktze)

यह भिन्नाश्रयी (Heterocious) बहुरूपी (Polymorphic) तक अनिवार्य पर-जीवी है। बेसीडियोबीजाणु मक्का की पत्तियों पर संक्रमण करने में असमर्थ रहते हैं तथा आक्जेलिस (Oxalis) की जातियां एकान्तर पोषक हैं जिस पर कि पिक्नीडियल एवं ईसीडियल अवस्था पायी जाती है। पत्तियों की ऊपरी सतह पर फ्लास्क जैसी रचनायें बनती हैं जिन्हें पीक्नीडियम कहते हैं। जब दो भिन्न पिक्नीडियम के सम्प्राहक कवकसूत्र आपस में मिल जाते हैं तो द्विकेन्द्रिक स्थिति हो जाती है तब पत्तियों की निचली सतह पर ईसीडियम बनाते हैं। ईसीडियम की भीतरी परत मोनोकेरियोटिक (monocaryotic) कवकजाल की बनी होती है जो उपअधिस्तर कहलाती है। ईसीडियम पर शृंखला में ईसीडियोबीजाणु बनते हैं। ये बीजाणु गोल से दीर्घवृत्तीय, (Finely Verrucose) तथा पीले रंग के होते है। प्रकृति में इन बीजाणुओं का संक्रमण बहुत कम देखा गया है। बाद में बीजाणु हवा द्वारा उड़कर मक्का की पत्तियों पर अंकुरित होकर यूरिडोबीजाणु गोल से दीर्घवर्तीय, कंटिकायुक्त (Echinulate), पीले से भूरे, मध्यतलीय जनित छिद्र वाले 23 से 32 माइक्रोन व्यास के होते हैं। इनका विकीरण हवा द्वारा होता है।

बाद की अवस्था में टेल्यूटोबीजाणु बनते है। ये दीर्घवृतीय, शीर्ष पर

गोलाकार या कभी कभी चपटे, गहर भूरे रंग के होते हैं। इनका अंकुरण परिपक्व अवस्था के बाद होता है। अधिकतर शिशीरातिचार करके बेसिडियोबीजाणु बनते है तथा इस प्रकार इस फफूंद का फसल चक्र चलता रहता है।

हेतुकी तथा भिन्नाश्रयी आदि पर एलन, (Allen, 1933, 34), आर्थर (Arthur, 1940), लो. रोक्स (Le Roux, 1954), मेन्स (Mains, 1934), पोलइवेन्स (Pole-Evans, 1923), जोग (Zogg, 1940) तथा भौमिक एवं प्रसादा (Bhowmik and Prasada, 1965) ने विस्तृत रूप से अध्ययन किया।

यूरिडोबीजाणु के अंकुरण के लिये 4⁰ सें न्यूनतम तापक्रम, 17⁰ सें. अनुकूलतम एव 32⁰ सें. अधिकतम तापमान है (Weber, 1932) परन्तु यह कई अन्य बातों पर निर्भर करता है। कुशलप्पा हेग्डे (1971) ने न्यूनतम, अनुकूलतम व अधिकतम तापमान (Cardinal temp.) 5⁰, 18⁰-20⁰ एव 35⁰ सें. बताया। अनुकूलतम तापमान पर 2 घन्टे में 85% बीजाणु का अंकुरण हो जाता है तथा 8 घन्टे मे 98% अंकुरण 2% अगर (Wateagar) पर देखा गया है। अनुकूलतम तापमान पर यूरिडोबीजाणु पत्तियो मे 2 घन्टे मे अंकुरित होते हैं तथा 4 घंटे मे आसंगाग (Appressorja) बना पाते हैं। वार्षिक आवर्तन यूरिडोबीजाणु द्वारा होता है अधिक नत्रजन का प्रयोग इस रोग के लिए सुग्राही है। (Mains, 1924), (Stakman et al; 1927), (Le Roux et al; 1954) कायिकी विशिष्टीकरण पर अध्ययन किया गया। 15 कायिकी प्रजातियो का पता अभी तक लगा है।

रोकथाम—

1. इस रोग की रोकथाम के लिए रोगग्रसित पत्तियों को एकत्र कर नष्ट कर देना चाहिए।
2. रोग प्रतिरोधी किस्मे प्रयोग मे लानी चाहिये। जिन क्षेत्रो में इस रोग का प्रकोप अधिक होता है, वहा उन्नत संकर अथवा संकुल किस्मे विशेषकर संकर मक्का गंगा–4 को उगाना चाहिये।

दक्षिणी किट्ट (Soutoern Rust)

सर्वप्रथम इस रोग का विवरण मेसाचूसेटस (Massachusets) मे 1879 मे किया गया। मेक्सिको, मध्य अमेरिका, दक्षिण अमेरिका, पश्चिम वेस्ट इन्डीज एवं अफ्रीका आदि देशो मे इसका प्रकोप देखा गया है। सामान्य किट्ट से अधिक तापक्रम पर इसका प्रयोग अधिक होता है।

लक्षण (Symptoms)—

यूरेडिया के लक्षण इस किट्ट के सामान्य किट्ट से मिलते जुलते होते हैं रग में कुछ हल्के तथा अधिक गोलाकार होते हैं। अधोस्तर (Epidermis) स्फोट से सामान्य किट्ट की अपेक्षा अधिक समय तक अविकल रहते हैं, बाद मे टेल्यूटो-

बीजाणु बनते हैं जिसके फलस्वरूप कत्थई (चोकलेट) भूरे से काले, गोल स्फोट हो जाते हैं।

हेतुकी एवं जीवन चक्र—

यह रोग पक्सीनिया पोलीसोरा (Puccinia polysora Underw) नामक फफूंद के द्वारा उत्पन्न होता है परन्तु इसके एकान्तर पोषक का अभी पता नहीं चल पाया है। यूरिडोबीजाणु पीले से सुनहरी रंग के, कांप्टिकायुक्त गोलाकार तथा सामान्य किट्ट के बीजाणु से थोड़े बड़े होते है। टेल्यूटोबीजाणु ग्वबरत्तपीत (Chest-nut brown) से काले कोणीय दीर्घवतीय तथा सामान्य किट्ट से छोटे तथा थोड़े मोटे होते हैं। बीजाणु द्विकेन्द्रिक होते हैं तथा शीर्ष की दीवार मोटी होती है।

इस रोग का फैलाव उस समय अधिक होता है जब रात में ओस अधिक पड़ती हो।

इसकी रोकथाम के लिये रोग ग्रसित पौधों को एकत्र कर नष्ट कर देना उपयुक्त रहता है।

कंडुवा या कालिमा रोग (Smut Disease)

मक्का पर दो प्रकार के कंड रोग लगते हैं —

1. सामान्य कंड (Common Smut)
2. चोटी कंड (Head Smut)

इन दोनों कंड रोगों में से हमारे यहां चोटी कंड का प्रकोप अधिक होता है।

सामान्य कंड (Common Smut)—

सर्व प्रथम इस रोग का मालुम 1954 में यूरोप में हुआ था। अमेरिका में इसका विवरण 1822 में किया गया। हमारे देश में इसका विशेष प्रकोप नहीं होता है तथा केवल कश्मीर तक ही यह सीमित रहता है। मक्का के अलावा केवल टियोसिन्ट (Teosinte) ही अन्य पोषक पादप है जिस पर इस रोग का प्रभाव और देखा गया है।

लक्षण (Symptoms)—

जड़ों को छोड़कर पौधे के लगभग सभी भाग इस रोग से प्रभावित होते हैं इस रोग की मुख्य पहचान यह है कि संक्रान्त भागों पर, पिटिका (Gall) बन जाते जाते हैं जो कि अन्य किसी कंड रोग में नहीं बनते हैं। ये पिटिका तना, पत्तियों, कक्षस्थ कलिका, पुष्प तथा पत्तियों पर ही बनाती है। जब इस फफूंद का कवकजाल भ्रूण ऊतियों (embroyonic cells) के बीच में वृद्धि करता है तो पोषक उतकों के उद्दीपन (Stimulation) से अत्यधिक वृद्धि हो जाती है फलतः पौधे का आकार

बढ़ जाता है (Knowles, 1889)। प्रारम्भ मे ये पीटीका चमकीली सफेद हरी झिल्ली से ढको रहती है। जैसे-जैसे पीटीका बढ़ती है झिल्ली फट जाती है। तथा इसमें से काले चूर्णा बीजाणु बाहर निकल जाते हैं। ये पोटिका मटर से बड़ी प्राकृति की नही होती हैं। इमर एवं क्रिश्टेन्शन (Immer & Christensen, 1931) ने बताया कि उपज में नुकसान इस बात पर निर्भर करता है कि पिटिका का प्राकार क्या है तथा वह किस जगह पर बनी है। सबसे बड़े परिमाण की पिटिका भुट्टो पर बनती है क्योकि वहां पर सबसे अधिक भ्रूण ऊतियां मौजूद रहती हैं।

यदि संक्रमण तने पर हो तो उसके कारण उपज में बड़ी कमी आ जाती है बीजांकुर पर संक्रमण होने पर वह अपक्षयी (Atrophy) एवं कमजोर रह जाते हैं तथा पौधे छोटे या मर जाते हैं। मादा पुष्पो में संक्रमण होने पर दाने की जगह पिटीका बन जाती है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle)—

यह रोग अस्टीलागों मेडिस (Ustilago Maydis Dc. cda) नामक फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है।

समानार्थक (Synonyms)—यूरिडो जी मेज (Uredo zeaemays DC)
यूरिडो मेडिस (Uredo maydis DC,)
यूरिडो जी (Uredo zeae Schw Ung.)
यूरिडो मेडिस (Urede maydis Cda.)
अस्टीलागो मेडिस जी (Ustilago moys zeae DC,)

क्लेमाइडोबीजाणु जो कि पिटीका बनाते हैं, भूरे से काले, बहुत अधिक कंटिका युक्त, गोल से दीर्घवृतीय, मोटी भित्ति वाले 8 से 10 माइक्रोन व्यास के होते हैं इनका अंकुरण प्रकवक (Promycelium) द्वारा होता है जिस पर छोटे, एक कोशिका वाले रंगहीन, महीन भित्ति के अविरत (Continuous) बीजाण्वी मुकुलन द्वारा बनते हैं। संवर्ध माध्यम मे इस फफूंद की वृद्धि अच्छी होती है तथा द्वितीयक बीजाण्वी भी बनते देखे गये हैं परन्तु क्लेमाइडोबीजाणु नही बन पाते। द्विकेन्द्रिक अवस्था के बारे में काफी मतभेद रहा है। सेफर्ट (1927) ने किसी प्रकार का संलयन नही देखा तथा यह बताने में भी असमर्थ रहे कि इस जगह वास्तव में द्विन्द्रिक अवस्था उत्पन्न होती है। सर्वप्रथम स्ल्यूमर (Sleumer, 1932) तथा बाद मे बोमेन ने बताया कि हर एक बीजाण्वी का केन्द्रिक विभाजित होता है तथा हर एक बीजाण्वी मे से एक केन्द्रिक संलयित नलिका में प्रवेश करता है तथा बाद में वह पट से अलग हो जाता है तथा द्विकेन्द्रिक पट का थेलस उत्पन्न हो जाता है प्रत्येक बीजाण्वी अङ्कुरण द्वारा अंकुरित होते हैं जो बाद मे कवकजाल बनाते हैं। पहले ऐसा समझा जाता था कि बीजाणु अंकुरण के लिये सर्दी का विश्राम काल आवश्यक है

परन्तु अब वैज्ञानिकों ने बताया है कि नये पीटिका से बीजाणु का अंकुरण शीघ्र ही हो सकता है।

वार्षिक आवर्तन (Annual recurrence)—

पौधों में मलवे तथा अधिकतर गोबर या कम्पोस्ट के गड्ढों में बीजाणु जीवन व्यतीत करते हैं तथा वहां से अनुकूल अवस्था मिलने पर हवा या पानी के द्वारा जाकर संक्रमण कर देते हैं। बीजाण्वी का विकीरण हवा द्वारा सबसे पहले ब्रिफेड ने 1859 में बताया। बीजाणु का कम्पोस्ट के गड्ढों में अंकुरण होता है तथा वहां पर बीजाण्वी की वृद्धि मुकुलन द्वारा खाद के पानी के रस में होती रहती है परन्तु संक्रमण मंजर तक किसी भी अवस्था में हो सकता है। यह भिन्न जालिक फफूंद है अर्थात् एक बीजाण्वी के द्वारा संक्रमण नहीं हो सकता है +तथा एवं–बीजाण्वी के होने पर ही संक्रमण हो सकता है (Stakman & Christensen, 1927, Hanna 1929)। अधिकतर संक्रमण स्थानिक (Local) ही देखा गया है। किन्तु दैहिक संक्रमण भी देरी की अवस्था में होता है (Davis, 1936 and Melhus and Davis, 1931)। सेफर्ट ने 1927 में यह भी बताया पोशक अन्दर परजीवी कवक-जाल में योजी ग्रन्थि (Clamp connection) भी मौजूद रहते हैं। इससे ऐसा लगता है कि द्विकेन्द्रिक अवस्था क्लेमाइडोबीजाणु के बनने से पूर्व ही उत्पन्न हो जाती है।

पहले ऐसा समझा जाता था कि इसके बीजाणु जानवरों के अन्नस्त्रोतस् (Almmentry canal) में जाकर बिना अंकुरण क्षमता खोये आ सकते थे परन्तु आरथर एवं स्टूर्ट (Arthur and Stuart, 1900) तथा फिके एवं मेलचर (Ficke and Melchers 1929) ने इसको निराधार बताया तथा इस विचार पर पहुंचे कि बहुत अधिक मात्रा में ये नष्ट हो जाते हैं, तथा जितने भी बीजाणु अन्नस्त्रोतस में जाने के बाद बचते हैं वह इतनी ज्यादा कम मात्रा में होते हैं कि उनका आवर्तन एवं प्रसार में विशेष महत्व नहीं है। कुछ वैज्ञानिकों का यह भी विचार है कि क्लेमाइडोबीजाणु बीजों के साथ चिपके रहते हैं तथा वार्षिक आवर्तन में सहायता करते हैं परन्तु इस प्रकार के होने के बहुत कम संकेत मिले है।

बीजाण्वी का पोषक में प्रवेश पर्णरन्ध्र, घावों (wounds) या सीधे कोशिका भित्ति द्वारा हो सकता है। संक्रमण एवं परिपक्व सोराई के बनने में 7 से 21 दिन तक लगते है। यह अन्तर वातावरण पर निर्भर करता है।

पूर्व वृत्तिक कारक (Predisposing Factors)—

इस रोग का प्रकोप उन स्थानों पर अधिक देखा गया है जहां पर कि गोबर की खाद अधिक मात्रा में दी गयी हो। सर्वप्रथम तापक्रम का अंकुरण पर प्रभाव जोन (Jones, 1923) ने बताया। अनुकूलतम तापमान 26 से 30° से., अधिकतम

36 से 38° से. तथा न्यूनतम 8° सें. बताया। अच्छी शुष्क मिट्टी तथा समेघ ऋतु में इस रोग का प्रकोप अधिक होता है। इट्रोजिट (Itzerou 1938) बताया कि बीजाणुओं के अंकुरण के लिये 2.5, 4 4 एव 8.5 क्रमशः न्यूनतम, अनुकुलतम एवं अधिकतम पी. एच. मान है।

बरसात के बाद यदि अच्छा प्रकाश हो जाता है तो इस रोग का फैलाव अधिक नही हो पाता है परन्तु यदि बरसात के बाद समेघयुत या थोड़ा साफ सा मौसम हो तो इस रोग का प्रकोप अधिक होता है। जितनी अधिक रोहण-ऋतु (Growing season) होती है उतना ही प्रकोप अधिक होता है। इसी कारण जल्दी बोई जाने वाली मक्का पर देरी से बोई जाने वाली की अपेक्षा ज्यादा प्रकोप होता है। इसके अलावा पास-पास बुवाई करने पर भी रोग का प्रभाव अधिक होता है।

कायिकी विशिष्टीकरण (Physiological specialisation) का भी पता चला है (Christensen and stakman 1926 and Stakman et al, 1929, 33, 40) 15 विभिन्न प्रकार के कायिकी प्रजातियों का पता चला है जो कि रंग रूप आदि में भिन्न हैं तथा 7 मे आपस मे परजीवी अनुक्रमण मे विभिन्न है।

रोकथाम (Control)—

1. बीजोपचार इस रोग की रोकथाम के लिये ज्यादा अच्छा नहीं है। फिर भी बीजो से रोग फैलने की सम्भावना को कम करने के लिये बीजों को बोने से पहले 0.2% केप्टान एवं थिराम से. उपचारित कर लेना चाहिये।
2. फसल चक्र अपनाने चाहिये। जिन खेतों मे इस रोग का प्रकोप हो वहां 3 वर्ष मे एक बार मक्का की बुवाई करनी चाहिये।
3. प्रतिरोधी किस्में प्रयोग मे लेनी चाहियें। परन्तु अभी तक कोई भी किस्म पूर्ण प्रतिरोधी नहीं पा यी गयी है।
4. जो खाद कंड से दूषित हो।उसका प्रयोग मक्का के खेतों मे नही करना चाहिये।
5. बुवाई पास-पास मे नही करनी चाहिये।

चोटी कंडुवा— (Head Smut)

इस रोग का विवरण सबसे पहले 1895 मे अमेरिका में किया गया। मक्का के अलावा ज्वार भी इस रोग से प्रभावित होती है। मुख्य रूप से इसका प्रकोप दक्षिणी एशिया, भारत तथा दक्षिणी अफ्रीका के भागो में देखा गया है। यहां पर इस रोग का प्रकोप काश्मीर, आन्ध्र प्रदेश, मैसूर मध्य प्रदेश, बम्बई, उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान में होता है।

लक्षण (Symptoms)—इस रोग के लक्षण पौधों में भुट्टे तथा मांझर आने के समय दृष्टिगोचर होते हैं। भुट्टे और प्रगुच्छ में बालदण्ड व बालों की जगह काला चूर्ण पैदा हो जाता है तथा एक भी दाना नहीं बन पाता है चित्र 2 घ·8। बाहर से देखने



चित्र 2 घ. 8 मक्का का चोटी कंड

पर भुट्टा प्रायः अच्छा दिखाई देता है। प्रारम्भिक अवस्था में बीजाणु एक सफेद रुपहली पतली झिल्ली के द्वारा ढके रहते हैं परन्तु बाद में ये झिल्ली फट जाती है। जिस पौधे में यह रोग लग जाता है उसके सभी भुट्टे व प्रगुच्छ रोगग्रस्त हो जाते है ग्रसित पौधे स्वस्थ्य पौधों की अपेक्षा कुछ छोटे, कुकरे हो जाते हैं। 10 से 15% तक का नुकसान इसके कारण देखा गया है परन्तु अनुकूल अवस्था में यह नुकसान और भी अधिक होने की सम्भावना रहती है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle)—यह रोग स्फेसिलोथिका रिलाइना (Spacelotheca reiliana Keehn clint) नामक फफूंद के द्वारा उत्पन्न होता है।

समानार्थक (Synonugms)

1. सोरोस्पोरियम रीलायनम (Sorosporium reilianum) Kuehan MC Alp.)
2. अस्टीलागो रीलाइना (Ustilago reilana Kuehan.)
3. अस्टीलागो फुलवेरासी (U. Pulveracea Cook.)
4. अस्टीलागो रिलाइना एफ. जी. (V. reilona f zee (Kuehan Pass.)
5. सिन्ट्राक्टिया सोरगी (Cintractia sorghi be Toni.)

क्लेमाइडोबीजाणु भूरे लाल से काले रंग के, मोटीभित्ति वाले, गोल से दीर्घवृत्तीय, कण्टिकायुक्त (Echinulat) 9 से 12 माइक्रोन व्यास के होते हैं। अंकुरण होने पर प्रकवक बनती है जिस पर बीजाण्वी बनते हैं। बीजाण्वी रंगहीन, छोटे, एक केन्द्रिक बारिक भिति वाले होते हैं। अंकुरण होने से पूर्व क्लेमाइडोबीजाणु के दोनों केन्द्रिक संलयित होकर द्विगुणित केन्द्रक बनाते हैं। द्विगुणियुक्त केन्द्रक चार अर्धक केन्द्रकों में बट जाता है जिसमें 2 केन्द्रक+प्रवृति वाले तथा 2—प्रवृति वाले होते हैं। प्रत्येक कोशिका के पट के पास बीजाण्वी बनते है जो कवकसूत्र उत्पन्न करते हैं। द्विकेन्द्रिक कवकजाल जो कि संलयित होने पर बनता है वह बीजांकुर को भेद कर प्रवेश करता है तथा बाद में कवकजाल दैहिक (Systemic) रूप से बढ़ता रहता है। प्रजनन वाले भागों में अधिक संख्या में बीजाणु बनते हैं। यह कंड रोग सामान्य कंड से आसानी से पहचाना जा सकता है क्योंकि इसमें बीजांकुर अवस्था में संक्रमण होता है तथा दैहिक होता है।

वार्षिक आवर्तन (Annual recurrence) :—यह रोग मृदुढ तथा बीजोढ है। भुट्टों के सूखने या नष्ट हो जाने पर क्लेमाइडोबीजाणु भूमि पर गिरते रहते हैं तथा फसल कटने के समय अधिक मात्रा में भूमि में प्रवेश कर जाते हैं। अनुकूल अवस्था मिलने पर ये बीजांकुर को संक्रमित कर देते हैं तथा दैहिक संक्रमण हो जाता है। भूमि के अन्दर ये बीजाणु कम से कम 2 वर्ष तक जीवित रहते हैं।

मृदुढ के अलावा क्लेमाइडोबीजाणु बीज की बाहरी त्वचा पर भी चिपके रहते हैं। ये बीज के साथ अंकुरित होकर प्रकवक बनाते हैं। प्रकवक पर बीजाणु बनते हैं। ये बीजाणु अंकुरण के पश्चात द्विकेन्द्रिक कवकसूत्र उत्पन्न करते है। ये कवकसूत्र बीजांकुर को संक्रमित कर देते हैं तथा दैहिक स्थानान्तरण होता रहता है परन्तु मुख्यतः वार्षिक आवर्तन का साधन भूमि में पड़े क्लेमाइडोबीजाणु ही हैं।

पूर्वप्रवृतिक कारक (Predisposing factor):—इसके प्रकोप के लिये कम तापक्रम अच्छा रहता है एवं शुष्क भूमि में इसका पोषक में प्रवेश शीघ्र ही हो पाता है।

कार्यिकी विशिष्टीकरण (Physiologic Specialigation):—दो बिल्कुल

अलग प्याधिजन्तव कायिकी प्रजातियों का मालुम पड़ा है जिसमें एक ज्वार को संक्रमित करती है तथा दूसरी मक्का को। अभी तक चार प्रजातियां ज्वार में तथा एक मक्का में मालुम पड़ी है।

रोकथाम (Control).—

1. चूंकि यह रोग बाह्य बीजोढ़ है अतः बोने से पहले बीजों को थिराम, सेरेसन, केप्टान आदि से उपचारित कर लेना चाहिए।
2. रोगग्रसित पौधों को उखाड़ कर जला देना उपयुक्त रहता है।
3. जिस खेत में इसका प्रकोप हो वहां अगले वर्ष मक्का नहीं बोनी चाहिए।
4. रोग प्रतिरोध किस्मों की खोज जारी है।

जड़ः वृन्त एवं भुट्टा गलन

(Root, Stalk and Ear rots)

जहां कहीं पर भी मक्का की खेती की जाती है वहां पर जड़, वृन्त एवं भुट्टा गलन रोग का प्रकोप देखा गया है। आमतौर पर इनका प्रकोप उन स्थानों पर अधिक होता है जहां पर नमी अधिक हो तथा खेतों मे जल निकास का अच्छा साधन नहीं है। जब इसका अधिक प्रकोप होता है तो पौधा पूर्ण रूप से परिपक्व होने के 2-3 सप्ताह पूर्व ही मर जाता है। ग्रसित पौधों में भुट्टे हल्के तथा कम भरे हुए पैदा होते हैं। सबसे अधिक नुकसान वृन्त के टूटने (Breakage) पर होता है जबकि तना टूटकर नीचे गिर जाता है तथा जड़ों का अवशयन (Lodging) हो जाता है फलतः कटाई भी मुश्किल हो जाती है जब वृन्त अवशयन होने लगे तथा परिपक्वकता देरी से हो तब यह रोग आसानी से पहचाना जा सकता है। इस प्रकार के सड़न रोग कई प्रकार की फफूंदियों से उत्पन्न होते हैं जिसमें डिप्लोडिया, फ्यूजेरियम (जिबरेला), सिफेलोस्पोरिक, पीथियम, मेक्रोफेमिना आदि मुख्य हैं।

डिप्लोडिया गलन (Diplodia rot):—मुख्यतः डिप्लोडिया के द्वारा ही गलन रोग का प्रकोप देखा गया है यह जड़ गलन बीजांकुर अंगमारी, वृन्त तथा भुट्टे गलन के रोग उत्पन्न कर सकती है। सर्व प्रथम भुट्टे सड़न के रूप में हील्ड तथा अन्य (Heald et al; 1909) ने 1909 मे विवरण दिया।

लक्षण (Symptoms):—जब इस रोग का प्रकोप पौधों की परिपक्व अवस्था से पहले हो जाता है तो पत्तियां एक दम धूसर हरी सी हो जाती है तथा दूर से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक पाले के लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हो। वृन्त के नीचे का भाग हरे से भूरे रंग का हो जाता है। कवकजाल की अधिकतम बढ़ावार पर्णसंधि तथा वृन्त के मध्य होती है। अधिकतर यह फफूंद नीचे की ग्रन्थि से वृन्त तथा भुट्टे तक पहुंचती है परन्तु ऊपर से नीचे नहीं आती है। संक्रमण स्थानिक (Local) ही

होना है। वृन्त सडन मुख्यतोर से आगुन्तक (Adventitous) जड़ो से प्रारम्भ होता है तथा वृन्त तक पहुँच कर परिपक्व होने से पूर्व ही पक जाता है। जड़ों से संक्रमण मे भुट्टे खाली लगते हैं। ग्रसित बीजो को बोने से 50% तक ही पौधे रह जाते है (Raleigh, 1930) तथा जो रहते हैं वह बहुत कमजोर होते है।

यदि ग्रसित वृन्त को फाड़कर देखा जाये तो पिथ (Pith) का विनयोजन (Disintegrated) तथा काला दिखाई पड़ता है जिसमे केवल वेस्कुलर बन्डल ही रह जाते हैं। जब वृन्त मर जाता है तो छोटे काले पिक्नीडिया पर्णछद के नीचे दिखाई पडते है। इसके अलावा जो पिथ वृन्त सडन से परिपक्व अवस्था के पहले ही मर जाता है उसमे भांभर का गिरना दिखाई पड़ता है तथा बाद मे उग्रावस्था मे पौधा मुरझा जाता है। वृन्त सडन के कारण जल तथा पोषक तत्वो का गमनागमन संवाहकता प्रतिका (Conducting tissues) के कारण रुक जाता है।

इस फफूद के कारण मुख्यतः भुट्टा गलन रोग ही होता है। जब मांभर वाली अवस्था मे 2-3 सप्ताह तक आर्द्र मौसम हो इसका प्रकोप अधिक देखा गया है। भुट्टे के नीचे से यह रोग ऊपर की ओर बढता है तथा भुट्टा धूसर भूरा सिकुड़ा तथा हल्का हो जाता है। जब भुट्टे प्रारम्भिक अवस्था मे ही सड जाते हैं तो सम्पूर्ण पौधा नीलारुण लाल जैसा हो जाता है तथा पौधा परिपक्व अवस्था से पहले मे ही मर जाता है। जब देरी से संक्रमण होता है तब बाहर से कोई लक्षण प्रतीत नहीं होते हैं जब तक कि भुट्टे को तोडा या कर्नेल (Kernel) को हटाया नहीं जाय। बाद की अवस्था में गहरे भूरे से काले पिक्नीडिया बनते है। भण्डारण मे भी इसका प्रसार बहुत देखा गया है तथा जब रोगग्रसित बीज बोये जाते है तब फफूंद का कवकजाल भी बढता है तथा बीजांकुर परिपक्व की अवस्था से पहले ही मर जाता है। उग्रावस्था मे तो भ्रूण ही नष्ट हो जाता है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle):—यह रोग डिप्लोडिया जी. (Diplodia zeae (Schw) Lev) नामक फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है।

समानार्थक:—डिप्लोडिया मेडिस (Diplodia maydis (Berk.) Sacc

स्फिरिया स्ट्रीफोरमिस (Sphaeria Straieformis Var. (Schw)
स्फिरिया जी. (S. zeae (Schw)
स्फिरिया मेडिस (S. maydis)

2. डिप्लोडिया मेक्रोस्पोरा (Diplodia macrospora Earle) —

दो प्रकार के अलैंगिक बीजाणु बनते हैं। एक तो अधिक लम्बे, दीर्घवृत्तीय सीधे से थोड़े मुड़े हुए, जैतूनी से भूरे रंग के दो कोशिका के होते हैं। दूसरे जो बहुत कम दिखाई देते है वह रंगहीन, लम्बे सिकुड़े हुए धागे की आकृति के होते हैं। दोनों प्रकार के बीजाणु फ्लास्क जैसी समान आकृति की गोलाकार, आस्टिओलेट

पिक्निडियम मे बनते है। पिक्निडियम गहरी भूरी, बेलनाकार (Cylindrical) दीर्घवतीय, 1 से 2 पटयुक्त जिसमें 24—33 × 5—2 माइक्रोन के पिक्निडोस्पोर होते है।

डिप्लोडिया जी. के कोनिडिया 25–30 × 6 माइक्रोन तथा डि मेक्रोस्पोरा के 70—80×6—8 माइक्रोन के होते हैं।

जब ये बीजाणु परिपक्व हो जाते हैं तब पिक्निडिया से जीवाणु बाहर आते हैं जो हवा द्वारा पौधों पर जाकर संक्रमण कर देते हैं। लैंगिक अवस्था का अभी पता नही चला है। संक्रमण मुख्यतः पौधे के मुकुट मे होता है जो बाद मे वृन्त तथा जड़ों पर फैल जाता है।

वार्षिक आवर्तन (Annual recurrence)—इस रोग का चिरजीवन बीज, प्रसित वृन्त तथा भूमि में होता है। पिक्निडोस्पोर बीजोढ़ होते हैं। बीजांकुर का संक्रमण बीजोढ द्वारा तथा मुकुट (Crown) एव जड़ों का सक्रमण या तो मिट्टी द्वारा या बीजांकुर के निवेप द्रव्य द्वारा होता है। संवर्ध माध्यम (Culture Media) पर इसी फफूंद की बढ़ावार के लिए 10-15° से. न्यूनतम, 28 से 30° से. अनुकूलन तथा 35 से 40° से. अधिकतम तापमान हैं। परिपक्व बीजाणु का अंकुरण जनिक नलिका द्वारा 5 से 8 घन्टे मे होता है। जैसे-जैसे मक्का के पौधे परिपक्व अवस्था मे पहुंचते हैं फफूंद पेरेन्काईमेटस ऊतिका मे प्रतिस्थापित (Establish) हो जाती है तथा अन्तकोशिय (Intercalluar) वृन्त से भुट्टे में पहुंच जाती है। अधिकतर भुट्टे मे स्थानिक संक्रमण ही होता है। क्लेटन (Clayton, 1927) मेक्यू (Mc New, 1937) तथा यंग (Young, 1926) के अनुसार फफूंद की अग्रधर्षी वृद्धि (Aggressive development) का कायिकी परिपक्वता से सम्बन्ध है।

रोकथाम (Control)—बीजोपचार (Seed treatement), फसल चक्र तथा खेत की स्वच्छता से इस रोग की रोकथाम की जा सकती है। कार्बनिक पारा-वर्गी धूलन से बीजोपचार करना लाभप्रद सिद्ध हुआ है (Hopper, 1945, Raleigh, 1937)।

2. उचित मात्रा मे खाद का प्रयोग करना चाहिए। जब पोटाश की कमी हो तथा नाइट्रोजन की मात्रा भूमि मे अधिक हो तो इस रोग का प्रकोप अधिक होता है।
3. अधिक मात्रा में जल के होने से भी प्रकोप अधिक देखा गया है तथा किट्ट तथा पत्ती धब्बे रोग भी इसके लिए पूर्ण वृति हैं।
4. जल्दी कटाई कर लेनी चाहिए।

फ्यूजेरियम गलन (Fusarium Rot)—इस फफूंद का प्रकोप कई जगहों पर डिप्लोडिया से भी अधिक देखा गया है। वेल्यू (Valleau, 1920) ने बताया कि

फ्यूजेरियम मोनीलीफोर्मी जड एवं वृन्त गलन का मुख्य कारण है। डिक्सन Dickson, 1923) ने तीन जातियों का वर्णन किया है वह फ्यूजेरियम मोनीली-फोर्मी वे सबग्लयूटिनेनस (*Fusarium moniliforme* Var *subglutinan*. Wr. & Reinking) फ्यूजेरियम मोनीलीफोर्मी (F. *Moniliforme*) एवं फ्यूजेरियम ग्रेमीनेरीयम(*Fusarium graminearum Schw.*) है। हमारे यहाँ सर्व प्रथम आर्या एव जैन(1964) ने इस रोग का वर्णन किया। सिफैलोस्पोरियम एक्रीमोनियम एवं फ्यू मोनीलीफोर्मी द्वारा पश्चिमी बगाल, पंजाब, दिल्ली, राजस्थान, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, मैसूर, आन्ध्र प्रदेश एव सिक्किम में वृन्त सडन के लक्षण बहुतायत में दिखाई देते है। (पायक एव रेन्को, 1966)

लक्षण(Symptoms)—इस रोग का प्रकोप पौधे के विकास के किसी भी समय हो सकता है बीजाकुंरित होने के बाद बीजोधर (Hypocotyl) के बीजावरण (Seed Caot) तोडने के बाद से ही इसका सक्रमण होता है तथा मूलांकुर (Radicle) एव प्राकुर (Plumule) सड जाते है। कवकजाल की ग्रसित भाग पर कवक वृद्धि होती रहती है तथा सम्पूर्ण उत्तक सड जाते है। प्राकुर जलासिक्त भूरे (Lesions) बन जाते है (Arya and Jain, 1964) । बीजांकुर तीसरी पत्ती तक वृद्धि करता है तथा फिर हरियापन (chlorosis) के लक्षण ऊपर से नीचे की ओर दृष्टिगोचर होते है, तथा धीरे-धीरे मुरझा कर सूखने लगते है। यह मुरझाने की क्रिया अकस्मात या धीरे-धीरे होती है। प्रारम्भिक अवस्था मे डिप्लोडिया और इस सडन को पहचानता मुश्किल रहता हैं परन्तु जब वृन्त से खोलकर देखा जावे तो लाल अपवर्णन (Read discolotration) सा ग्रसित भाग दिखाई पड़ता है।

जब इसका प्रकोप बीजोधर एवं मूलाकुर पर अधिक होता है तो द्रव्य कोष (Plasmolysis) होता है एव उतक भूरे पड जाते है। रोग ग्रसित पौधों की जडें तथा तने के आधार वाले उतक काले रग के दिखाई पड़ते हैं। जड़ो पर काले रंग की धारियां पड जाती हैं।

वृन्त सडन के लक्षण परागण (Pollinalion) के कुछ समय पश्चात् से दिखाई पड़ते हैं तथा जैसे पौधे परिपक्व होते हैं प्रकोप अधिक होता जाता है। प्रारम्भिक अवस्था मे डिप्लोडिया जैसे ही लक्षण उत्पन्न होते हैं। जब वृन्त सडन प्रकोप अधिक होता है तब वृन्त टूट जाता है तथा गिर पडता है।

भुट्टों मे जब प्रारम्भिक अवस्था मे ही इस रोग का प्रकोप हो जाता है तो वह पूर्ण रूप से सड जाते हैं। मुख्यतः भुट्टा गुलाबी सा होकर सड़ता है।

हेतुकी (Etiology)—यह रोग फ्यूजेरियम की तीन जातियों द्वारा उत्पन्न होता है परन्तु मुख्यत: फ्यूजेरियम मोनीलीफोर्मी (*Fusarium monlioforme*)

(Scheld Wine) का प्रकोप ही देखा गया है। लैंगिक अवस्था जिलाबेरेली पयूजिकुरोई (*Gibberella fujikuroi* (Saw) Wr) एवं जिबरेला मोनीलीफोर्मी (*Gibberella moniteformlic*(Sheld) Wine) हैं।

कवकजाल पटयुक्त तथा अन्तःकोशिय एवं अन्तर्कोशीय दोनो प्रकार का ही देखा गया है, आसंगाग (Appressoria) भी बनते देखे गये हैं।

माइक्रोकोनिडिया या तो जजीर मे या अकेले, 1–2, पटयुक्त कोनिडियोफोर के टिप या कूट सिरे (Pseudohead) पर स्पिण्डल या दीर्घवतीय आकृति के, 4·5–11·0×1·5–5 औसतन 7·5×3·5 माइक्रोन के होते हैं (आर्या एवं जैन, 1964)।

मैक्रोकोनिडिया हंसिया (Sickle) की आकृति के 3 से 5 पटयुक्त, 25—30×7–8 (औसतन 28·0×7·5) माइक्रोन के होते हैं (आर्या एवं जैन 1964)।

पेरीथीसिया गोलाकार, चिकने (Smooth) नीले से काले रंग की होती है। एस्कस मे एस्को बीजाणु होते हैं जो कि दो नियमित लाइनो मे बनते हैं। एस्कोबीजाणु सीधे टिप पर सिकुड़े 1–3 पट वाले होते हैं।

क्लोमाइडोबीजाणु बहुत अधिक संख्या में कवकसूत्र के अग्रीय या मध्य निविष्ट (Intercalary) भाग पर बनते है। ये गोलाकार आकृति के 4·5 से 14×4·5 से 12 औसतन 7·0×6 माइक्रोन के होते है।

फफूंद पोषक उतकों मे जड़ो के बालो (Root hairs) के प्रवेश के पास असगांग भी बनते देखे गये है।

वार्षिक आवर्तन (Annual recurrence)—यह मृदुढ़ (Soil borne) एवं बीजोढ़रोग है। कवक अधिकतर एक मौसम से दूसरे मौसम में पत्तियों के अवशेषो मे पड़ी रहती है। फसल के उगने के समय कवकजाल, कोनिडिया एवं एस्कोबीजाणु उत्पन्न होते हैं। नई फसल पर संक्रमण भूमि मे पड़े इन बीजाणुओं द्वारा प्राथमिक संक्रमण होता है।

आर्या एवं जैन (64) ने बताया कि फफूंद की वृद्धि आलू अगर माध्यम पर 18 से 32° से. पर हो सकती है परन्तु 26° से. अनुकूलतम तापमान है। 36° से पर कोई वृद्धि नही देखी गयी परन्तु यदि संवर्ध (Culture) को 72 घन्टे के लिए 26° से. तापमान पर रख दिया जाये तो वृद्धि वापिस हो जाती है। 41° सें. पर 3 घन्टे मे फफूंद नष्ट हो जाती है। 3·5 से 9·5 पी. एच. मान पर फफूंद की वृद्धि हो सकती है परन्तु 5·5 पी.एच. मान अनुकूलतम है।

रोकथाम (Control)—1. रोगी पौधे तथा उनके अवशेषों को उखाड़ कर नष्ट कर देना चाहिए क्योंकि इसके बीजाणु भूमि मे सुप्तावस्था मे रहते हैं। गहरी जुताई भी इस रोग की रोकथाम के लिए कारगर सिद्ध हुई है। ब्रेस्टेनोल (bres-

tanol 0·25%) से बीजोपचार पर भी इस रोग की रोकथाम की जा सकती है।

2. फसल चक्र का प्रयोग करना चाहिये।

सिफ्लोस्पोरियम सड़न (Cephalosporium rot)—इस फफूंद के कारण भी बीजांकुर वृन्त एवं भुट्टे तीनों प्रकार के सडन के लक्षण उत्पन्न होते हैं। भुट्टे सडन एवं बीज का संक्रमण सिफलोस्पोरियम एक्रीमोनियम से संक्रमण का बटलर (1947) ने आस्ट्रेलिया से कोहलर (Kochler 1942) ने अमरीका से सर्वप्रथम वर्णन किया था। इसका प्रकोप हमारे यहां सभी मक्का उगाये जाने वाले क्षेत्रों मे देखा गया है। वृन्त सडन का प्रकोप राजस्थान एवं मैसूर मे 63-64 मे देखा गया था। उग्रावस्था में तो इससे सम्पूर्ण फसल ही नष्ट होने का भय रहता है। भारत मे धनराज एवं माथुर (65) ने सर्वप्रथम बताया कि यह फफूंद भुट्टा सडन के लक्षण भी उत्पन्न करती है। इसका प्रकोप उत्तर प्रदेश तराई, राजस्थान और आंध्र प्रदेश मे प्राय: काफी उग्र होता है। इस रोग द्वारा उपज में 8 से 42% तक कमी हो सकती है।

लक्षण (Symptoms)—इस रोग का प्रकोप होने पर रोग ग्रसित पौधों के भागो पर छोटे-छोटे सूखे धब्बे दिखाई देते है बाद मे इन धब्बो के बीच मे काला सा रंग नजर आता है तथा अधिक प्रकोप होने पर सम्पूर्ण पौधा सूख जाता है एवं पौधे के जल वाहिनी सम्बन्धी सभी भाग काले पड़ जाते है। पौधे फूलने के समय तक सूखने लगते हैं। तने के गूदे मे काली धारियां हो जाती है। यदि रोग ग्रसित वृन्त को फाडकर देखा जाये तो काले बंडल (Bundles) दिखाई देते है। रोगी पौधे समय से पहले ही सूख जाते हैं और ऐसा लगता है कि पानी की कमी के कारण मर गये हैं।

भुट्टों मे बाहर से किसी भी प्रकार के लक्षण दृष्टिगोचर नही होते हैं परन्तु जब भूसी (Husk) को हटाया जाये तो सफेद सी कवकजाल की वृद्धि दिखाई पड़ती है। नीचे के भुट्टे के आधे भाग पर धारियां भी दिखाई देती है (Dhan Raj and Mathur 1965)।

हेतुकी (Etiology)—यह रोग सिफेलोस्पोरियम एक्रीमोनियम (*Cephalosporium acremonium* Corda) नामक फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है। मुख्यत. यह मृदूढ़ (Soil borne) रोग है (Kochler and Holbert, 1930, and Paharia, 1956)।

फफूंद से वृद्धि 20 से 30° सें. तापमान पर अच्छी होती हैं परन्तु अनुकूलतम तापमान 30° से है। इस रोग की उचित रोकथाम अभी तक ज्ञात नही है। निम्नांकित उपायों द्वारा रोग की थोड़ी रोकथाम की जा सकती है।

रोकथाम (Control)—1. भूमि मे जल निकास अच्छा होना चाहिये।

2. उन्नत किस्मों के बीजो को प्रयोग में लाना चाहिये जो कि इस रोग के

लिए प्रतिरोधी है संकर 5, रणजीत अथवा संकुल मक्का बोनी चाहिये ।

3. रोग ग्रसित पौधों के अवशेषों को एकत्र कर नष्ट कर देना चाहिये । फसल पकते ही काट लें । फसल के कूडे को जला दें अथवा चारे के रूप में पशुओं को खिला दें ।

4. बुवाई से पूर्व बीजों को ब्रिस्टेनोल (Brestenol, 0·25% में उपचारित करने से यह रोग नही लगता है । बेनोमिल, थायोफेनेट, कार्बेन्डाजीम, केप्टान थिराम एव डयूटर से बीजोपचार कर भी इस रोग की रोकथाम सम्भव है । (राजू एवं सगम लाल 1977) ।

पीथियम गलन (Pythium rot)—पीथियम की जातियां मुख्य रूप से बीजों को गलाती हैं तथा बीजांकुर के रोग उत्पन्न करती है । पी. इरेगुलेराई *P. Irregulorie*) पी. डीबेरीनम (*P. Debarynum*) मुख्य रूप से मक्का पर पायी गयी है ।

लक्षण (Symptoms)—फफूंद पौधो की जडो को चारों ओर से घेर लेती है और धीरे-धीरे उन्हे सडाना शुरू कर देती है । रोगग्रसित पौधे भूमि से सरलतापूर्वक उखाड़े जा सकते है क्योकि जड की सभी सहायक शाखायें सूख जाती है । ग्रसित पौधों का बढाव बहुत कमजोर होता है । तने का आधार सकुचित हो जाता है तथा तने के पोर जो भूमि की सतह के उपर होते है, सड जाते है तथा तना टूटकर नीचे गिर जाता है । संक्रात बीजांकुर भूमि से बाहर आते ही गिर जाते हैं तथा सक्रान्त उत्तक भूरी, मुलायम एवं जलासिक्त हो जाती है । संक्रात भागों पर सफेद सी फफूद की वृद्धि भी दिखाई पडती है ।

हेतुकी (Etiology)—कवकजाल अपट, अकुण्डकोशिका तथा बहुकेन्द्रिक होता है । कवकजाल पोषक कोशिकाओं मे अन्तर्कोशिय व अन्त. कोशिक दोनों प्रकार का होता है । लैंगिक जनन विषमयुग्मी होता है ।

यह एक मृदुढ फफूदी है जो जीवित पोषक की अनुपस्थिति मे भूमि के अन्दर मृतोपजीवी के रूप मे रहती है । इसका प्रकोप उन जगहो पर अधिक होता है जहां भूमि का जल निकास अच्छा नही हो तथा गोबर का खाद अच्छा सड़ा हुआ नही डाला हो । इस कवक के बीजोढ होने के प्रमाण भी मिले हैं ।

रोकथाम (Control)—1. एरेसन (0·2%) या वेनलेट 0·2% से बीजोपचार करना चाहिए ।

2. भूमि मे जल निकास का अच्छा साधन होना चाहिए ।
3. अच्छी प्रकार सड़े हुए खाद का प्रयोग करना चाहिए ।
4. उचित मात्रा में खाद का प्रयोग करना चाहिए तथा फसल चक्र अपनाना चाहिए ।

इसके अलावा जड़ गलन, वृन्त व भुट्टा गलन हेल्मिथोस्पोरियम, राइज-क्टोनिया एवं ट्राइकोडर्मा आदि कफूंदियों के द्वारा भी देखी गयी है। निग्रोस्पोरा से भी भुट्टे सड़न के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

References

1. Al'en, R F (1933) The Spermatia of Corn rust, **Puccinia sorghi** Phytopathology 23 : 923-925.
2. Allen, R.F. (1934) A Cytological study of heterothallism in **Puccinia sorghi** Jour. Agr. Research 49 : 1047-1068.
3. Arthur, J.C (1904) The aecidium of maize rust. Bot. Gaz. 38 : 64-67.
4. Arthur, J C. (1929) The Plant Rusts (Uredinales), John Willey & Sons, New York.
5. Arthur, J C. and Stuart, W (1900) Corn smut. Ind. Agr. Exp. Sta. Ann. Rept. 12 (1898-99).
6. Arya, H C. and B.L. Jain (1964) Fusarium Seedling blight of Maize in Rajasthan. Indian Phytopathology 7 : 51-57.
7. Bhowmik, T.P (1966) **Helminthosporium rostratum** drechs. on Maize, Sudan Grass and Johnson grass in India. Proceedings of the symposium on diseases of Rice, Maize, Sorghum and Millets.I.P.S. Bull. 2. 32-36.
8. Bhowmik, T. and B. L. Chona (1964) **Helminthosporuim Carbonum** on maize, a new record for India. Indian Phytopathology 17 : 337-338.
9. Bhowmik, T.P. and R. Prasad (1965) **Helminthosporuim rostratum** on maize in India. Indian Phytopathology 18 : 312.
10. Butler, E.J. (1913). The downy mildew of Maize, **Sclerospora maydis**. Mem. Dep. Agric. India, Bot. Ser. 5 : 275-280.

    ——————(1918) Fungi and diseases in plants. Thacker Spink and Co., Calcutta (India).
11. Bunting, R.H. (1927) Local cereal diseases in the records of the Mycological Division. Year Book Dept. of Agric, Gold Coast, 1926 (Bull-7), p p. 25-27.
12. Campi, M.D. (1939) **Helminthosporium turcicum** in Argentina Republic. Lilloa 4 : 5 : 52.

Carangal, V., Claudia, M. and M. Sumayao (1970) Breeding for resistance to maize downy mildew caused by Sclerospora philippinensis in the Philippines. Indian Phytopathology 23 : 285-306.

Chakravarti, B P. (1968) control of diseases of maize, So ghum and Millets. Proceedings of first Summer Institute on Plant Diseases Control,I A.R. New Delhi.

13. Chathopadhyay, S B and C. Das Gupta (1959) Heleminthosporium rostratum Drechs. on rice in India. Plant Dis. Reptr. 43 : 1241-1244.

14. Chenulu, V.V. and T.S Hora (1962). Studies on losses due to Herminthosporium blight of maize. Indian Phytopathology 15 : 235-237.
Chilton ST. J.P. (1940) Delayed reduction of the Diploid nucleous in plomycelia of ustilago zeae. Phytopath. 30 : 622-623.

15. Chona, B.L. and D. Suryanarayana (1955) The occurrence of Sclerospora philippinensis weston on "kans Grass" in India. Indian Phytopathology 8 : 209-210.

16 Christensen, J. J. (1963) Corn Smut caused by Ustilago maydis. Monograph No. 2, American Phytopathological Society.

17. Christensen, J.J. and E. C. Stakman (1926) Physiologic specialization and mutation in Ustilago zeae. Phytopathology 16 : 979-999.

18. Clayton, E. E. (1927) Diplodia ear rot disease of corn. Jour. Agr. Research 34 : 357-371.

19. Cugini, G. and G. B. Traverso (1902) La Sclerospora macrospora Sacc. parassita della zea mays L. Sta. Sper. Agric. Ital 35 : 46-49.

20 Davis, G. N. (1936) Some of the factors influencing the infection and pathogenicity of Ustilago zeae (Beckm) Unger on zea mays L. Iowa Agr. Exp. Sta. Res. Bul 199.

21. Dhan Raj, K.S. and S.B. Mathur (1965) Ear rot of maize caused by Cephalosporium acremoneum corda a new record for India. Indian Phytopathology 23 (4) 393.

22. Dickson, J. G. (1923) Influence of soil temprature and moisture on the development of the seedling blight of wheat and corn caused by **Gibberalla saubineti.** J Agri. Res. 23 : 837-870.

23 Drechsler, C (1923) Some graminicolies species of Helminthosporium. Jour. Agri. Research 23 : 837-870.

24. Eddins, A. H. (1933) Infection of Corn Plants by Physoderma zeal maydis Shaw. Jour. Agri. Res : 46 : 241-253.

25. Exconde, O R., F.T. Orillo, S. A. Raymundo, and F. D. Fuentes (1966) Chemical control of downy mildew of corn in the Philippines. Proc Divisional Meeting Plant Prot. xith Pacific Sci. Congr. Tokyo, Japan, P. 213-246.

26 Exconde, O. R. (1970) Philippine corn downy mildew. Indian Phytopath. 23 : 275-282.

27. Feldman, A.W. (1948) Investigation on the Physiology and Pathogenicity of Ustilago zeae phytopathology 38 : 8.

28. Ficke, C.H. and L E. Melchers (1929) The effect of the digestive processes of animals on the viability of corn and Sorghum smut spores. Jour. Agr. Res. 38 : 633-645.

29. Fischer, G.W and C.S. Holten (1957) Biology and the control of the Smut fungi. The Ronald Press Co., New York. Gattani, M L (1950) control of Secondary infection of downy mildew of maize. Curr. Sci 19 : 90.

30. Goor, G A.W. Vande (1953) Agronomical Research on Maize in Indonesia, Landbouw 24 : 393.

31. Govindu, H. C. Patil Kulkarni B.G. and K G. Ranganthaiah (1970) Present status of downy mildew diseases of Sorghum, millets and Maize in Mysore. Indian Phytopathology 23 : 378-379.

32. Gupta, B. M. and B. L. Renfro (1971) Linear growth of **Cephalosporuim acremoneum** through Soil Indian J. Mycol and Pl. Pathol 1, (1) 64-68.

33. Hanna, W.F. (1929) Studies in the physiology and Cytology of **Ustilago zeae** and **Sorosporium reilianum.** Phytopathology 19 : 415-442.

34. Herd, G. W. (1956) Maize diseases during the 1954-55

season Rhod. Agric. J. 53 : 4 pp. 525-537.

35. Hilu, H.M. and A.L. Hooker (1963) Phytopathology 53 : 909-912.

36. Immer, F.R. and J.J. Christensen (1931) Further studies on reaction of Corn to smut and effect of smut on yield. Phytopathology 21 : 661-674.

37. Jackson, R.I. (1958) Terminal report on the cereal Project in Indonesia. Agric. Div. U.S. Operation Mission to Indon. Int, *Coop. Adm. Djakarta.*
Jha, R. N., Abu Mohemmad and M. Mahmood (1977) Incidence of Helmithosporium leaf blight on maize cultivers in Behar Indian phytopath 30 : 21-23.

38. Jones Edith, S. (1923) Influence of temprature on the spore germination of Ustilago zeae. Jour. Agr. Res 24 : 593-597.

39. Karper, R.E. and J.C. Stephens (1936) Floral abnormalities in sorghum. Heredity 27 : 185-194.

40. Knowles, E.L. (1889) Abnormal structure induced by Ustilage zeae mays Jour. My 5 : 14-18.

41. Kochler, B. and *J.R. Holbert (1930) Corn diseases in Illinois*, their extent, nature and control, Illinois Agric. Expt. State, Bull 354.

42. Laxminarayan C., S K. Sinha, S.S. Aujla, S K. Consul, N.N. Singh, M.M. Payak, Y.L. Nene and B. L. Renfro (1966) Fungicidal seed treatment of maize in India. Proceedings of the Symposium on Diseases of Rice, Maize Sorghum, and Millets, I.P.S. Bull. 3, 18-26.

43. Leece, C.W. (1941) Downy mildew disease of sugarcane and other grasses. Bull. Sug. Expt. Queenseland, Tech. Comm. 405 Lucy Channama, K. A. and M. H. Delvic (1966).

44. Leu, L. S. and T. L. Chu (1959) Transmission of downy mildew from maize to sugercane and Vice Versa. Internat Soc. Sugrcane Tech. Proc. 10th Cong., 1129-1133 pp.
Lucy Channamma, K.A. and M.H. Delvi (1966).

45. Effect of seed treatments on the viability of Jowar (Sor-

ghum Qulgare Pars) and Ragi (Eleusing Coracana Gaertn). Seeds in Storage. Proceedings of the Symposium on dis.ases of Rice, Maize, Sorghum and Millets. I. P. S. Bull 3. 46-49.

46. Luttrell, E.S. (1957) Leptosphaeria (Metasphaeria) Perfect stages for Helminthosporium turcicum and Helminthosporium rostratum (Abst) Phytopathology 47 : 373.

47. ....(1958) Helminthosporium spp on Cereals and Sugarcane in India Part I Diseases of zea mays and Sorghum vulgare caused by specias of Helminthosporium. Mem Dep Agric. India, Bot Seg. 11 : 219-42.

48 Mahendra Pal and D. Suryanarayana (1964) A new leaf spot disease of Jowar in India. Indian Phytopath. 17 : 188-190.

49. Mains, E.B. (1934) Host Specialization of Puccinia sorghi. Phytopathology. 24 : 405-411.

50. Matsumoto, T.P.C. Chen and S.M. Yang (1961) Downy mildew of Sugercane in Taiwan (ii) Rept. Taiwan Sugar. Expt. Stat 24 : 7-18.

51. Mc Donough, E S. (1946) A Cytological study of the development of oospore of Sclerospora macrospora Sacc. Trans. Wis. Acad. Sci. 38 : 211-218

52. Mc Rae, (1928) Sci. Repts Agric Res. Inst. Pusa 1926-27.

53. Mc New, G.L. (1937)Crown infection of corn by Diplodia Zeae Iowa Agr. Exp. Sta. Res. Bul. 216.
Misra, A. P. and T. B. Singh (1971) Two new leaf spot dicceaer of maize in India. Indian Phytophath. 24. 406-407.

54. Mitra, M. (1923) Helminthosporium spp on carcals and Sugercane in India. I. Diseases of Zea mays and Sorghu■ vulgare Caused by species of Helminthosporium Mem. Dept. Agric. India. Bot. 11 : 219.

55. Melhus, I.E. and G.N. Davis (1931) Nodal infection with the corn smut organism. Phytopathology. 21 : 219.

56. Moore, C.L. (1970) Developing host resistance in Maize downy miltew caused by Scleropsphora. Indian phytopamthology 23 : 380-383:

57. Mukhopadhyay, A.N. (1971) Avirulence of Helminthosporium turcicum on monogenc resistant maize in India. Indian Phytopath. 21 : 725-727.

58. Nene, Y.L. and S. C. Saxena (1970) Studies on the fungicidal control of downy mildew of maize caused by Sclerophthora rayssiae var zeae. Indian Phytopathology 23 : 216-219.

59. Orillo, F.T. C.R. Exconde, S.A. Raymundo, and F. D. Fuentes (1964) Testing of fungicides for the control of downy mildew of corn. Proc. Ist. Inter Asian corn. Imp. Works. Thailand, 132-150 p.

60. Paharia, K. D. (1956) The effect of cropping sequence on soil microflora in relation to development of root rots of cereals. Diss. Abst. 16 : 2273-2274.

61. Pammel, L. H. (1964) Serious root and stalk diseases of corn Iowa. Agriculturist 15 : 156-158.

62. Patel, M.K. (1949) Production of oospore by Sclerospora sorghi on maize. Indian Phytopathology 2 : 52-57.

63. Patel, M.K. (1949) Production of oospores by Sclerospora sorghi on Maize. Indian Phytopathology 2 : 52–57.

64. Payak, M.M. and B L. Renfro (1966) Diseases of Maize new to India. Proceedings of the symposium of Rice, Maize. Sorghum and Millets. I.P.S. Bull. 3 : 14-17.

65. Payak, M. M. and B.L. Renfro (1967) A new downy mildew disease of maize. Phythopathology 57 : 394-397.

66. Payak, M.M. and B.L. Renfro (1968) Diseases of maize in India and their control. Proceedings of first summer Institute on Plant Disease control I.A.R.I., New Delhi.

67. Payak, M.M., Renfro, B L. and Sangam Lal (1970) Downy mildew disease incited by Sclerophthora. Indian Phytopathology, 23 : 183-193.

68. Peglion, V. (1930) a farmazione die conidie la germinazione delle oospore della 'Sclerospora macnospora' Socer. Boll. Della R. Staz. Pato (Veg. Roma N S. 10 : 153-164.

69. Peyroner, B. (1929) Gli zoosporanginella Sclerospora macrospora Boll. Della. R. Staz Patol. Veg. Roma, N. S.

9 : 353-357.

Pole Evans, Mary (1923) Rusts in South Africa II A sketch of the life cycle of the rust on mealie and Oxalis. Union so. Afeica. Div. Bot. Sci. Bul 1-8.

Prasad, N,R L Mathur and K.L. Kothari (1961) Physoderma diseases of maize in Rajasthan. Science and Culture Vol 28 : 187-188

Ragu C A. and sangam lal (1977), Efficacy of fnangicides in controlling seed borne in fection of cephalosporium acremonium and Fusariummonilifor me in maize. Indian Phytopath. 30 · 17-20.

Raleigh, W P. (1930) Infection studies on Diplodia zeae (Schw) Lev. and control of seedling blights of corn. Iwa Agr Exp. Sta Res. Bul. 124.

70. Puranik, S B and D. Suryanarayana (1966) Studies on the zonate leaf spot disease of Jowar in India. Proceedings of the symposium on diseases of Rice, Maize, Sorghum and Millets, I.P.S. Bull 3 : 50-55.

71. Reeves, P. G. and R.H. Stansel (1940) uncontrolled vegetative development in maize and teosinte. Amer. J. Bot. 27 : 27-30.

72. Reyes, G.M. (1941) Notes on disease affecting maize in the Philippines. Philippine J. Agric. 12 : 61-69.

73. Roy, R. K. and A.P. Misra (1966) The influence of soil fertility on the severity of leaf blight of Maize. Indian Phytopathology 19 : 359-363.

74. Rutgers, A.A.L. (1916) De Peronospora Zickta dea mais (omoliyer) Med. Lab. Plziekten 22.

Sangam Lal, S. K. Bhargave and K. P. Singh (1979) chemical control of andsugarc and beown stripe downy mildew of maize through seed treatment and foliar application of Ridomil. Indian Phytopath. 32 : 159.

75. Semangoen, Harzono (1970) studies on downy mildew of maize in Indonesia with special reference to the perennation of the fungus. Indian Phytopathology. 23 : 307-320.

76. Seyfert, R. (1927) Ueber Schnallenbildung in Paarkernmyzl der Brandpilze. Zeitschr. Bot 19 : 577-601.

77. Shin Chi Chang (1970) A review of studies on downy mildew of maize in Taiwan. Indian Phytopathology 23 : (2) : 270-273.

78. Singh, J.P. (1968) Sclerospora sacchari on maize in India Indian Phytopath. 21 : 121-122.

79. Singh, J. P. (1969) Studies on histopathology and epidemiology of brown stripe downy mildew of maize. Ph. D. thesis I.A.R.I., New Delhi.

80. Singh, J.P., Renfro, B.L. and M.M. Payak (1970) studies on the epidemiology and control of brown stripe downy mildew of maize (Scleropthora raysisae var zeae.) Indian Phytopathology. 23 : 194-208.

81. Singh, R. S., H S. Chaube, R.N. Khanna and M.M. Joshi (1967) Internally seed borne nature of two downy mildew on corn. Plant Dis. Reptr. 51 : 1010-1012.

82. Singh, R.S., H.S. Chaube, Singh V.L. Asnani and Rameshwar lal (1970) observations on the effect of host nutrition and seed, Soil and foliar treatments on the incidence of downy mildews I.A. preliminary report. Indian Phytopathology 23 :209-215.

83. Singh, R.S , M.M. Joshi and H.S. Chaube (1968) Further evidence of the seed borne nature of corn downy mildews and their possible control with chemicals Plant. Dis. Reptr. 52 : 446-449.

84 Singh, R S., Y.L. Nene and S.K. Consul (1966) crazy top of maize, A new record for India. Labdev J. Sci. Tech. 4 : 62.

85 Singh, S.P. (1958) Studies on leaf spot of maize caused by **H. turcicum** Pass M.Sc. Ag. Thesis Bihar Univ.

86. Sohi, H.S.,S L. Sharma and B.R. Verma (1966) Chemical control of **Helminthosporium turcicum** blight of maize. Proceedings of the symposium on diseases of Rice. Maize sorghum and Millets, I.P.S. Bull 3 : 3-7.

87. Sparrow, F.K (1934) The occurrence of true sporangia in

the Physoderma disease of corn. Scenice (N S.) 79: 563-564.

88. Sparrow, F K. (1947) observations on Chytridiaceus parasites of phanerogams. II a preliminary study of the occurrence of ephemeral sporangia in the Physoderma disease of maize Ann Jour. Bot 34 : 94-97.

89. Sprague, R. (1950) Diseases of cereals and grasses in North America. The Ronald Press CompaSy 11-13, New York.

90. Srivastva, D.N and V R Rao (1964) Pythium Stalk rot of corn in India. Curr Sci 33 : 119-120.

91 Stakman, E.C. and J.J. Christansen (1927) Heterothallism in Ustilago zeae. Phytopathology 17 : 827-134.

92. Stakman E C. et at (1928) Physiologic specialization in Puccinia sorghi Phytopathology 18 : 345-354.

93 Stoner, W.N. (1951 The effect of various phosphours & potassium fertilizer application on the incidence and severity of H turcicum leaf blight of sweat corn. Proc. Florida sta. Hort. Soc. 64 : 131-33.

94. Stoner, W.N. and F.V. Stevenson (1952) Annual report of the Agriculture Experiment Station, Florida, for the year ending 30th June 1951, 2 77 pp.

95. Sundaram, N.V. B.L. Renfro, J.P. Singh and K.O Rachie (1966) The reaction of world collection of the symposium on Diseases of Rice, Maize, Sorghum and Millets. I. P. S Bull 3. 56-60.

96. Sun, M.H (1970) Sugarcane downy mildew of maize. Indian Phytopathology 23 : (2) 262-269.

97. Sun, M.H. and W.Y. Lai (1966) Evaluation of fungicides for protecting corn from downy mildew infection Paper presented at the IIIrd Inter Asian Maize improvement Workshop, New Delhi, India Oct, 24-29, 1966.

Suryanaryana, D. (1961) Perpetuation of the downy mildew of maize (Sclerospora philippinessis) on Kans. Curr. Sci. 30 : 61.

98. Tisdale, W.H. (1919) Physoderma disease of corn. Jour.

Agr. Research 16 : 137-154

99. Thrimulachar, M J., Charles Gardner Shaw and M.J.-Narasimhan (1953) The sporangial phase of the downy mildew **Eleusive** **corecane** with a discussion of the identity of **Sclerospora macrospora** Sacc. Bull Torrey Bot Cl. 80 : 229-307.

100. Ullstrup, A. J. (1954) Helminthosporium disease on corn. Plant Dis. Reptr. Suppl. 228-119.

101. Ullstrup, A. J. (1952) observations on crazy top of corn. Phytopathology 42 : 675-680.

Ullstrup, A.J. (1970) Crazy top of Maize. Indian phytopathology 23 : 250-261.

Ullstrup, A.J. (1970) Opportunities for International Cooperative research on downy mildew of Maize & Sorghum. Indian Phytopathology 23 : 386-388

Ullstrup, A.J. and M. H. Sun (1969) The Prevalence of Crazy top of corn in 1968. Plant Dis. Reptr. 53 . 246-250.

U.S. Dep. Agric. (1953) Plant diseases. Year Book Agric 1953. U.S. Dept. Agric Washington.

102 Vallean, W.O (1920) Seed corn infection with **Fusarium moniliforme** and its relation to the root and stalk rots. Kentucky Agric. Exper. Stat. Bull 226.

103. Valleau, W.D (1925) Seed transmission of Helminthosporium of corn. Phytopathology 25 : 1109-1112.

104 Voorhees, R.S. (1933) Effect of Certain enviornmental factors on the germination of the sporangia of **Physoderma zea maydis**. Jour. Agr. Res. 47 · 609-615.

105. Weston, W. H., Jr (1920) Philippine downy mildew of maize. J. Agric. Res. 19 : 97-122.

106. Yong, S.M., W.Y. Chang and T. Matsumoto (1962) Downy mildew of Sugarcane in Taiwan iv. Rept. Taiwan Sugar Expt. Stat. 27 : 67-78.

107. Young, P.A. (1926) Penetration phenomena and facultative parasitism in **Alterneria**, **Diplodia** and other fungi. Bot Gaz. 81 : 258-279.

108. Young. G. Y., Lefebvre C. L. and A.G. Johnson (1947)

Helminthosporium rostratum on corn, Sorghum and pearl millet. Phytopathology 47 : 180-183.

109. Zogg , H. (1949) Untersuchungen Uber die Epidemiologie des Maisroste. Puccinia sorghi, Schw. Phytopathology Zeitschs 15 : 143-190.

110. Zundel, G. L. (1253) The Ustillaginales of the world. Pennsylvania State Coll , Dep, Bot. Contrib. 176.



जई की फसल के रोग

(Diseases of Oat Crops)

जई चारे की एक प्रमुख फसल है इसकी खेती मुख्यतः पंजाब, देहली, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी उत्तर प्रदेश. हिमाचल प्रदेश तथा उत्तरी-पूर्वी मध्यप्रदेश में की जाती हैकई प्रकार के रोगों का इस फसल पर प्रकोप होता है जिसके कारण फसल को काफी नुकसान पहुंचता है। मुख्य रूप से इस फसल पर लगने वाले रोग इस प्रकार हैं—

(1) कड़ंवा (Smut) — श्लथ कड़ं (Loose smut), बन्द कड़ं (Covered smut)

(2) किट्ट (Rust) — क्राउन किट्ट (Crown rust), तना किट्ट (Stem rust)

(3) पत्तीधारी एवं बीजांकुर अंगमारी (Leaf stiripe and seediling blight)

(4) सेप्टोरिया पत्तीदाग (*Septoria* leaf spot)

(5) हेल्मिंथोस्पोरियम अंगमारी (Helminthosporium blight)

(6) एन्थ्रेक्नोज रोग (Anthaa crose)

(7) जड़ गलन (Root rot)

(8) मृदुरोमिल (Downy mildew)

(9) चूर्णिल आसिता (Powdery mildew)

(10) फ्यूजेरियम अंगमारी (Fusarium blight)

कड़ं (Smut)—

जई की फसल पर दो प्रकार के कडं रोगों का प्रकोप होता है जो छिदरा अथवा श्लथ कड़ं (Loose smut), एवं बन्द अथवा आवृत कडं (Covered smut) के नाम से जाने जाते है। दोनों ही प्रकार के कड़ रोग जहां पर भी जई की खेती की जाती है वहां पर दिखाई देते है परन्तु बन्द अथवा आवृत कडं का प्रकोप अधिक देखा गया है। फसल पर इन दोनों प्रकार के कड़ं रोगों को पहचानना मुश्किल है जब तक कि पौधों पर बाली नही आये।

श्लथ कडं रोग (Loose smut)—

इस रोग का प्रकोप पौधो मे बाली ग्राने के समय दृष्टिगोचर होता है। रोगग्रसित पौधो की बालियां ग्रन्य पौधो की ग्रपेक्षा कुछ पहले निकल ग्राती हैं। दानों के स्थान पर फफूंद का काला चूर्ण बन जाता है। यह काला चूर्ण फफूंद के कड़ बीजाणुग्रो का समूह होता है। कभी-कभी इसका बीजाणुकरण पर्णफलक के ऊपरी भाग तथा पुष्प गुच्छ (Panicle) में भी देखा गया है। रोगी पौधों की सभी बालियां तथा बाली के सभी दाने इससे प्रभावित होते हैं परन्तु ऊपर के दाने ग्रधिकतर इससे बच जाते हैं। इस रोग से जई की फसल को काफी नुकसान पहुंचता है।

हेतुकी एवं जीवनचक्र (Etiology and Life cycle)—यह रोग ग्रस्टीलागों ऐवेनी *Ustilago avanae* (Pers.) Rosts नामक फफूंद से उत्पन्न होता है जो कि एक वैकल्पिक मृतोपजीवी फफूंद है।

समनार्थक :

(1) यूरिडो सेगेटम (*Uredo segetum* sub sp *ovenae* Pers.)
(2) यूरिडो कार्बो *Uredo carbonar avanae* Vc.
(3) ग्रस्टीलागो सेगेटम *Ustilago segetum* Ver *avanae Jens.*
(4) ग्रस्टीलागो ऐवेनी *Ustilago avanae* Jens.
(5) ग्रस्टीलागो ऐवेनी *U. avanae* (Pers) Jens.

रोगी पौधो पर बना काला चूर्ण फफूंद के ग्रन्त: कोषीय, युग्माष्टिक कवकजाल से बने क्लेमाइडोबीजाणु का समूह होता है। क्लेमाइडोबीजाणु गोलाकार से ग्रण्डाकार जैतुनी भूरे, ग्रकेले, एक तरफ से हल्के, कण्टिकायुक्त, 5 से 9 माइक्रोन व्यास के होते हैं। ये बीजाणु एक कोशीय एवं द्विगुणित (deploid) होते हैं। पानी में इनका ग्र कुरण कुछ घन्टे मे हो जाता है तथा ग्र कुरण के समय बाहरी भित्ति के फटने पर एक मजबूत जनित नलिका (stout germ tube) या प्रकवक बनती है। इस प्रकवक मे से संसर्ग सूत्र या संक्रमण सूत्र (infection hyphal) निकल कर योनिका नली मे प्रवेश करके बीजे की ग्रोर बढ़ते हैं। बैसीडियोबीजाणु (Sporidia) दीर्घवृत (Oblong) से लम्बाकार (elongate), रगहीन, एक कोशीय होते है। जब बीजाणु योनिछत्र पर पराग के समय गिरते हैं तब ग्र कुरण होने पर बेसीडियोबीजाणु से कवकजाल बनता है जो पेलिया (Pelea) ग्रथवा परिघ्द (Pericerd) दोनो पर प्रवेश करता है। संक्रमण द्विकेन्द्रिक कवकसूत्र से बीजांकुर ग्रवस्था में होता है। बीजों के ग्र कुरण के समय रोगग्रसित भ्रूण मे उपस्थित प्रसुप्त कवकजाल भी क्रियाशील हो जाता है तथा पोषक के शीर्ष के साथ-साथ बढ़ता रहता है। कवकजाल शाखायुक्त होकर प्रांकुर (Plumule) के द्वारा पौधे के

तने से चोटी पर पहुंच जाता है तथा बाल निकलने पर बीजाणु उत्पन्न कर देना है।

रोग का वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार (Annual recurrence and Spread)—

यह रोग अन्त: बीजोढ होता है क्योंकि फफूंद का प्रसुप्त कवकजाल बीजो का भ्रूण के अन्दर हमेशा बना रहता है। बीजाकुर संक्रमण बीजोढ क्लेमाइडो-बीजाणु से दैहिक रूप से होता है। अंकुरण की प्रारम्भिक अवस्था में एवं बीजाकुर वृद्धि के समय संक्रमण हो सकता है। रोगी वालो पर असंख्य क्लेमाइडो-बीजाणु बनते हैं जो हवा मे उड़कर जई की स्वस्थ बालो के योनिछत्र पर पराग के समय गिरते हैं और अंकुरनाल द्वारा अंकुरित होते है तथा बीजों को संक्रमित कर देते हैं।

पूर्व वृतिक कारक (Predis po sive factors)—इस रोग पर वातावरण का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है (Bartholo mew at Jones, 1923, Read and 1924) चूंकि संक्रमण अधिकतर अंकुरण की प्रारम्भिक अवस्था मे होता है अतः भूमि का तापमान एवं आर्द्रता का रोग के प्रसार में बहुत महत्व है। अनुकूलतम तापमान बीजाणुओं के अंकुरण के लिए 15^{0}–28^{0} सेन्टीग्रेड, अधिकतम तापमान 31^{0}–34^{0} से., तथा न्यूनतम तापमान 4-5^{0} से. है। इस प्रकार संक्रमण के लिए अधिक तापमान एवं कम नमी का होना अनुकुल है। यदि भूमि मे नमी अधिक होने पर यदि बुवाई जल्दी कर दी जावे तो इस रोग का प्रकोप कम होता है। इसके अलावा गहरी बुवाई के कारण अंकुरण कम होता है, जिसके फलस्वरूप संक्रमण के लिए समय भी बढ़ जाता है। इस प्रकार कोई भी कारक जो पोषक को धीरे बढने मे मदद करते है इस परजीवी के लिए सहायक है।

बाद की अवस्था में तापमान तथा आर्द्रता का क्या प्रभाव पड़ता है इसके बारे में पूर्णतया पता नही है। खाद का इस रोग पर क्या असर होता है इसका ज्ञान भी अपूर्ण है।

कार्यिकी प्रजातियाँ (Physiologic races) रीड़ (Reed,1920) ने सबसे पहले इसकी 2 प्रजातियां प्रदर्शित की। होल्टन एव रोडनहाइजर (Holton and Roden hiser, 1946) ने 10 विभेदक पोषक लेकर 15 प्रजातिया (A1, A2, A3, A4, A5, A6, A7, A8, A9, A10, A11, A12, A13, A14, एव A15 बताई। बाद मे 5 प्रजातियो के बारे मे और मालुम पडा (Halisky, 1965)

रोकथाम (Control)—

(1) अधिकतर सक्रमण रोगग्रसित बीजो से होता है अतः बीजोपचार करना अति आवश्यक है। बीजो को वाष्पीकृत (Volatile) फफूंद-

नाशी से बीजोपचार करना अच्छा रहता है जैसे 0.5% फार्मलीन मे बीजो को 2 घण्टे भिगोकर और एक दम सुखाकर बोने से रोगजन नष्ट हो जाता है। कॉपर कर्बोनेट धूल से बीजोपचार लाभप्रद पाया गया। जिसमे 50% कॉपर हो इसको 3 ग्राम/किलो से उपचारित करने पर 70% तक रोग की सक्रमकता मे कमी हो जाती है।

(2) बोने के लिए बीजो का चुनाव ऐसे खेतो से करना चाहिये जिसमे पहले रोग नही लगा हो।

(3) जिस खेत से अगली बुवाई के लिए बीज लिया जाये, उस खेत से रोगी बालियो को काटकर जला देना चाहिए। यदि रोगग्रसित क्षेत्र के सभी किसान अपने अपने खेतो मे इस प्रकार का उन्मूलन कार्य तीन चार साल तक लगातार करें तो उस क्षेत्र मे अगली फसल को इस रोग से कम हानि की आशका होगी।

(4) रोग प्रतिरोधी किस्मों का प्रयोग करना चाहिये।

जई का बन्द या आवृत कड़ रोग
(Covered smut of oats)

जई की फसल का यह भी एक महत्वपूर्ण रोग है तथा प्राय: उन सभी क्षेत्रों मे पाया जाता है जहा इसकी खेती की जाती है। इस रोग का प्रकोप बुलन्दशहर



(जई का कड रोग)

(उत्तरप्रदेश) मे 30% देखा गया (Singh and Patheak, 1969) तथा उत्तरप्रदेश कृषि विश्वविद्यालय मे की काफी हानि आंकी गयी (Hene, 1964) इस रोग को ढ़का कड़, आवृत कलि का एवं आवृत कड के नामो से भी पुकारते है। इस फफूद पर मुदंकर (1934, 1945), मुदकर एवं खान (1934) ने विस्तृत रूप से कार्य किया है।

लक्षण—इस रोग के लक्षण भी बाली बाहर ही निकलने पर ही दृष्टिगोचर होते है। बालिया हमेशा स्थायी झिल्ली से ढ़की रहती है जो परिच्छद (Pericarp) एव पुष्पनिपत्र (floral bracts) से मिलकर बनती है। पौधो मे प्रत्येक बाली तथा प्रत्येक बाली के सभी दाने भी काले चूर्ण मे बदल जाते है। यहा काले चूर्ण मे परिवर्तित दानों का स्थान जो काले बीजाणु ले लेते हैं, उन्हें कड़ सोराई कहते है। सोराई मड़ाई (threshing) के समय दबाव पाकर कड़ बीजाणुओ मे बिखर जाती है एवं स्वस्थ बीजो की सतह पर चिपक जाती है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiloogy and life cycle)—यह रोग अस्टीलागों कोलेरी(*Ustilago Kolleri* wille) नामक फफूद से उत्पन्न होता है। समानार्थक (Synonyms) अस्टीलागों होर्डी *U. horde*, (Pers) Lagush अस्टीलगों एवेनी वे लेविस *U. avenae ver levis* Kell al Aveing

अस्टीलागों लेविस *U. levis* Kell at swing moagn

कलेमाइडोबीजाणु अर गोल से दीर्घवृतीय, एक कोशीय, एक ओर से हल्के काले भूरे, 5 से 9 माइक्रोन व्यासमानान्तर होती है तथा कोशिकाओ की लम्बाई मे बिखराव (Longitudinal splitting) होता है। स्वस्थ बीजो से चिपके क्लेमाइडोबीजाणु बहुत दिनो तक प्रसुप्त अवस्था में पडे रहते है। जब अगलीफसल बोयी जाती है तब बीज के अंकुरण के समय भी अंकुरित होते है। अंकुरण होने पर बाह्यथ बीजाणु के फटने पर अंकुरनाल बाहर निकलती है जिसे प्रकवक कहते है। क्लेमाइडोबीजाणु का द्विगुणित केन्द्रक अर्धसूत्रण द्वारा चार अगुणित केन्द्रिक बनाता है। प्रकवक मे समान दूरी पर पट बनते है। लैंगिक व्यवहार के अनुसार दो कोशिका एक प्रकार के बेसीडियोबीजाणु या स्पोरीडिया उत्पन्न करती है तथा अन्य दो दूसरे प्रकार के बेसोडियोबीजाणु उत्पन्न करती है। संक्रमण जौ के बद कड की भांति हो जाती है।

यदि रोग बाह्य बीजों तथा दैहिक रूप से कवकसूत्रों द्वारा संक्रमण होता है। बंद कड के बीजाणु जोढ़ है तथा रोगी बीजो के अंकुरण के साथ बीजाणु भी प्रतिवर्ष अंकुरित होते। शायद कड से अधिक समय तक जीवनक्षम रहते हैं।

यह कवकसूत्र पौधे के साथ बढ़ता रहता है और अन्त में बाली निकलते समय क्लेमाइडोबीजाणु मे परिवर्तित हो जाता है और दोनों की जगह ले लेता है ।

कायिकी प्रजातियां (Physiologic races)–इस फफूंद की 7 प्रजातियां $K_1, K_2, K_3, K_4, K_5, K_6$ and K_7) अभी तक मालूम पड़ी हैं जो 10 विभेदक पोषक पर पहचानी गयी हैं (Holton and Roden hi ser, 1946) बाद मे एक प्रजाति (K_8) का और मालुम पड़ा ।

इस किट्ट का प्रकोप अम्लीय भूमि मे अधिक होता है। इसके अलावा भूमि की किस्म, बीज की गहराई तथा किस वृद्धि से बीजांकुर की बढ़वार हो रही है, उस पर संक्रमण निर्भर करता है। तापमान एवं आर्द्रता का भी रोग के प्रसार में बहुत महत्व है ।

रोकथाम(Control)

(1) इस रोग का वार्षिक आवर्तन बीजो द्वारा होता है अतः बीजोपचार करना बहुत आवश्यक है। बुवाई से पूर्व 2 ग्राम प्रति किलो के हिसाब से किसी भी पारावर्गी फफूंदनाशी दवा जैसे एग्रोसन जी एन. सेरेसन से उपचारित करना चाहिये। वाष्पीकृत फफूंदनाशी दवा जैसे फार्मलीनि (आधा किलो बराबर के अनुपात [illegible] पानी में) से उपचार करना बहुत ही अच्छा पाया गया है क्योंकि अन्य फफूंदनाशी दवा उपरी खोल (husk) एव दाने (kernel) के बीच मे प्रवेश नहीं कर पाते हैं।

वाष्पीकृत पारावर्गी यौगिक जैसे इथायल मरकरी क्लोराइड, या फास्फेट भी अच्छे पाये गये हैं। इथायल मरकरी फास्फेट से बीजोपचार करने पर जई के अन्य रोग भी समाप्त हो जाते हैं। हेसिंग (Hasing, 1943) ने भी यही बताया कि वाष्पीकृत फफूंदनाशी दवा अच्छी है। ल्यूकेल (Leukel, 1949a) के अनुसार गैर पारावर्गी रसायन उपयुक्त नहीं है।

सिंह एवं पाठक (1969) के अनुसार बीजोपचार स्परगान (0.15%), एग्रोसन 5 डब्ल्यू (0.20%), थ्यूजेरिमोल (0.25%), पेनोजन (2 मि. ली/कि. ग्रा.) एवं 6334 (1 मि. ली./कि. ग्राम) से करने पर रोग की रोकथाम हो जाती है।

(2) ग्रसित बालियों को एकत्र कर जला देना चाहिये।

(3) बीजो का चयन ऐसे खेतों मे से करना चाहिये जिनमे पहले यह रोग मौजूद न हो।

(4) रोग प्रतिरोधी किस्में प्रयोग मे लानी चाहिये।

किट्ट (Rust)

जई की फसल पर किट्ट रोग का भी प्रकोप होता है। यह रोग रतुआ, रोली, गेरू आदि नामों से भी जाना जाता है। प्राचीन समय से ही इस रोग का प्रकोप जई की फसल पर होता आ रहा है एवं अब भी यह रोग उन सभी स्थानो पर बहुतायत

से पाया जाता है जहाँ जई की खेती की जाती है। जई की फसल पर दो प्रकार के किट्ट रोगों का प्रकोप होता है।

(1) क्राउन किट्ट (Crown rust)
(2) तना किट्ट (Stem rust)

क्राउन किट्ट (Crown rust)

इस किट्ट को नारंगी (orange) या पर्ण किट्ट (Leaf rust) भी कहते है। यह किट्ट जई की फसल पर ही अधिक पाया जाता है परन्तु गेंहूँ, जौ एवं राई पर इसका प्रकोप नहीं देखा गया है। कई प्रकार की घास पर इसका प्रकोप देखा गया है जिसके कारण पत्तियां झड़ (de foliation) जाती हैं जैसे राई घास (*Lolium perenne*) एवं एलोपीकुरस प्रेटेनसिस (*Alopecurus Pratensis*) लक्षण (*Symptoms*) इस रोग का प्रकोप अधिकतर पत्तियों पर देखा गया है तथा पर्णच्छद अधिक प्रभावित होते हैं तथा कभी कभी तने एवं डंठलों (Panicle) पर भी इस रोग का प्रकोप पाया गया है। पत्तियों पर चमकीले गोल, गुलाबी-लाल रंग के धब्बे दिखाई देते है जो पत्ती की सतह पर बिखरे रहते है। धीरे-धीरे यह धब्बे बड़े हो कर अधोस्तर को फाड (rupture) देते है तथा यूरिडोबीजाणु बाहर आ जाते है। यह इस रोग की यूरिडोअवस्था कहलाती है। मौसम के अन्त मे काली या सर्द अवस्था बनती है। अधिकतर काले धब्बे अधोस्तर को नहीं फाड़ते है। यह इस रोग की टेल्यूटो अवस्था है।

इस फफूंद की इसीडियल अवस्था रेहमनस (Rhemnus) के पौधों पर पाई जाती है। पहली अवस्था पत्ती की उपरी सतह पर या तरुण टहनियों पर छोटे चमकीले पीले या नारंगी धब्बे बनते है तथा इसके नीचे की सतह पर चमास्क जैसी आकृती बनती है जो इसकी पिक्निडियल अवस्था है।

इस रोग का अधिक सक्रमण होने पर बहुत बुरे गिर (lodge) जाते हैं तथा फसल परिपक्व (Premature) होने से पहले ही पक जाती है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle)—यह रोग पक्सीनीया कोरोनेटा वे. एवेनी (*P. Coronata* var *avena*) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है।

समानार्थक—(Synonyms)

पक्सीनिया कोरोनिफेरा (*P. coronifera*) Eriks
पक्सीनिया लोलाई (*P. Lolii* Hiel)
पक्सीनिया कोरोनेटा (*P. Coronata*(Pers) Corda)
पक्सीनिया कोरोनिफेरा (*P. Colonifere* kleb)

यह एक बहुरूपी फफूंद है तथा साथ ही भिन्नाश्रयी भी है। इस फफूंद को पिक्निडियल एवं इसीडियल अवस्था रेहमनस की किस्में जैसेरे. केथारटिका (*R. Cathar*-

tica) रे डेहयुरिका (*R. Dahurica* Palles) रे. लेनसीओलेटा (*R. Lanceolata*, पर Dietz (1926), Melhus et al, 1922 एवं Trenzscgal, (1934) ने बतायी। यूरिडियल एवं टेल्यूटो अवस्था जई पर देखी गयी है। कवकजाल पटयुक्त एव अन्तरकोशिय (inter cellular) होता है।

नारंगी रंग के यूरिडोसोराई पत्ती के दोनो तरफ अनियमित बिखरे रहते है। यूरिडोबीजाणु गोलाकार से उप अंडाकार (obovate), नारंगी पीले रंग के कंटिका युक्त, एक कोशीय, 18-27 × 16-24 माईक्रोन के होते है। यूरिडोबीजाणु की बाह्य जनित पर 3-4 अनियमित जनित छिद्र होते हैं। पौधिता की सतह पर नमी की उपस्थिति होने पर जनित छिद्र से अंकुरण होकर अंकुरित होते हैं।

टेल्यूटोबीजाणु पर्णफलक या पर्णछद पर अधोस्तर से बहुत समय तक बन्द रहते हैं, परन्तु जब ये यूरिडोबीजाणु से बनते है तो बन्द नही होते। टेल्यूटोबीजाणु भूरे एवं चिकने (Smooth) होते हैं तथा ऊपर की कोशिका बहुत चौड़ी होती है तथा सिर से चपटी होती है जहां पर 5-7 गहरे रंग के अंगुली जैसे बेसीडियोबीजाणु को मुकुट (Crown) की आकृति का बना देते हैं। ये बीजाणु 35-60×1-22 माइक्रोन के होते हैं। टेल्यूटोबीजाणु छोटे तथा मोटाई (thickness) वृन्त पर लगे रहते है। टेल्यूटोबीजाणु के अंकुरण के समय प्रकवक बाहर निकलती है। प्रकवक कोशिका से एक छोटी अंगुलकार रचना बनाती है जिन्हे बीजाणुसूत्र कहते हैं। इन अंगुलकार रचनाओ पर एक गोल बीजाणवी बनता है। प्रत्येक बीजाणवी एक केन्द्रिक तथा अलग-अलग प्रभेदो के होते है। बेसीडियोबीजाणु अलग होकर ये एकान्तर पोषक रेहमनस पर अंकुरित होते है।

ईसीडियल अवस्था अधिकतर मई-जून मे दिखाई देती है। पत्ती की निचली सतह पर पीले या बैंगनी धब्बे बनते है जो बिखरे या झुंड मे होते हैं। इसीडियोबीजाणु कटिकायुक्त (verrucore) नारंगी रंग के उपगोलाकार, 16-25×15-20 माइक्रोन के होते हैं। इनका विकीरण हवा द्वारा होता है तथा ये जई के पौधों पर अंकुरण कर सकते हैं। अंकुरण के लिए नमी की आवश्यकता पड़ती है।

स्पर्मेगोनिया पत्ती की ऊपरी सतह पर फलास्क जैसी रचनाओ के रेहमनस की शिरियों पर पाये जाते है। ये पिक्निडिया एवं प्रभेदकों के होते हैं। जब दो भिन्न पिक्निडिया के संग्राहक कवकसूत्र आपस में मिलते है तो युग्मास्टिकरण हो जाता है जिसका केन्द्रिक व्यवहार द्विगुणित (2 n) होता है।

वार्षिक आवर्तन एवं संक्रमण (Annual recurrence and infection)

रेहमनस की जातियां इस फफूंद का एकान्तर पोषक है जिस पर यह फफूंद जीवित रहती है। यूरिडोबीजाणु दक्षिण मे शिशिरातिचार करते है तथा बसन्त में दूसरे पौधों पर इसका प्रसार होता है।

यूरिडोबीजाणु के सक्रमण के लिए क्रान्तिक समय बाली बनने के समय से दानों मे दुग्ध अवस्था के समय तक होता है। आधुनिक अन्वेषणों से पता चला है कि पत्तियों की कोशाओं मे पोषक कोशाओं से फास्फोरिक अम्ल युक्त (liberation) अन्तराकोशिक स्थान (inter cellular space) में फफूंद के भोजन के लिए होता है। जिस पर सक्रमण निर्भर करता है। पत्तियों मे सक्रमण रन्ध्र से होता है तथा प्रवेश करने पर धासमाग (Appressorium) बनते हैं। प्रतिरोधी तथा प्रभाव्य दोनो किस्मो में प्रवेश एक जैसा होता है। प्रतिरोधी पोषक में प्रचूषांग (haustoria) के नष्ट होने के बाद प्रवेश नही होता है।

बरसात के समय जब तापमान कम होता है प्राथमिक संक्रमण तथा उसकी बढ़ावार अधिक होती है। परन्तु रोग की बढ़ावार अधिक तापक्रम पर चलती रहती है। गर्म, भीगा (moist) जलवायु रोग की शीघ्र बाढ़ावार के लिए प्रभाव्य है। यूरिडोबीजाणु अधिक तापमान को सहन कर सकते हैं। इनकी जीवनक्षमता प्रकाश मे रखने पर 23 दिन में समाप्त हो जाती है परन्तु यदि बीजाणुओं को अन्धेरे मे रखा जाए तो फिर 79 दिन के बाद भी अंकुरित हो सकते हैं। 5 से 100 सें. एवं 25 से 50% आपेक्षिक आर्द्रता पर यूरिडोबीजाणु सम्पूर्ण वर्ष जीवित रहते हैं परन्तु 15 से 25% आर्द्रता पर केवल 6 महिने तक ही जीवित रहते है। परन्तु 15° सें. या इससे अधिक तापमान होने पर किसी भी आर्द्रता होने पर यह मर जाते है।

यूरिडोबीजाणु हवा द्वारा उड़कर पास वाली नई फसल को रोकग्रसित कर देते हैं, तथा जब एक बार सक्रमण हो जाता है तो पुनः हवा से उड़कर दूसरे स्थानों पर पहुँच जाते हैं और रोग को तेजी से फैला देते है।

कार्यिकी प्रजातियाँ—(Physiologic races)

इस फफूंद की कई प्रजातियो का मालूम पड़ा है (Murphy et al, 1942; Straib, 1937; Vallega 1942) अमरीका मे 100 से भी अधिक जातियां पहचानी जा चुकी है। इसमे प्रतिरोधन अकेले (dominant) कारक से नियन्त्रित होता है।

सापार्श्विक पोषक—800 प्रकार की घास इस रोग से प्रभावित होती है जिनमे क्वेक घास, रिड घास, रेड टाप, मिडो फेस्कू, राई घास, नीलो घास (quack grass, reed grass, red top, meadow fescue, rye grass, blue grass) अधिक प्रभावित होती है।

रोकथाम (Control)

(1) जई की जल्दी पकने वाली किस्मो को उगाना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से फसल की दूधिया अवस्था किट्ट के भयंकर प्रकोप से बच जाती है। इसके अलावा यदि देर से पकने वाली जातियों को समय से कुछ पूर्व बो दी जाये तब भी रोग का प्रकोप कम होता है।

(2) उचित खाद की मात्रा का प्रयोग करना चाहिये। फास्फेटिक खाद से फसल जल्दी पकती है जिसके कारण इस रोग का प्रकोप कम होता है। फसल मे आवश्यकता से अधिक नत्रजनयुक्त खाद का प्रयोग नहीं करना चाहिये अन्यथा फसल थोडी देर से पकेगी और इसका प्रकोप अधिक होगा। सुग्राहक जातियों में तो अधिक नत्रजन का प्रयोग कभी नही करना चाहिये।

(3) एकान्तर पोषक तथा सार्पश्विक पोषक का उन्मूलन कर देना लाभप्रद रहता है।

(4) रोगग्रसित पत्तियों को एकत्र कर नष्ट कर देना चाहिये।

(5) रोग प्रतिरोधी किस्मे प्रयोग में लानी चाहिये।

तना किट्ट (Stem rust)

जई की फसल पर तना किट्ट रोग भी काफी नुकसान पहुँचाता है। तना इस रोग से सबसे अधिक प्रभावित होता है इसलिये इसका नाम तना किट्ट रखा गया है। पत्तियों, पर्णच्छद पर भी कभी-कभी इसका प्रकोप देखा गया है। प्रारम्भ मे स्फोट छोटे-छोटे दिखाई देते है तथा धीरे-धीरे बड़े तथा एक दूसरे से मिले हुए प्रतीत होते हैं। इस किट्ट के स्फोट क्राउन किट्ट मे अधिक गहरे होते है। तथा स्फोट लम्बे बनाते हैं। शुरू मे स्फोट एक झिल्ली मे ढके रहते हैं परन्तु बड़े होने पर झिल्ली फट जाती है तथा यूरिडोबीजाणु बाहर निकल जाते हैं। तदुपरान्त ये काले रंग मे परिवर्तित हो जाते हैं जो इस फफूंद की टेल्यूटी अवस्था है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and Life cycle)

यह रोग पक्सीनिया ग्रेमीनिस एवेनी (*Puccinia graminis avenae* Eliks and Henn) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। विस्तृत अध्ययन के लिए गेहूँ का तना किट्ट रोग पढ़ें।

कायिकी प्रजातियां (Physiologic races)—इस किट्ट रोग के अध्ययन से मालुम पड़ता है कि इस फफूंद की अनेक प्रजातियां हैं।

स्टेकमैन व साथियो, लेवाइन एवम स्मीथ, व न्यूटन व साथियो (Stakman et al, 1935, Levine and Smith, 1937, Neuton et al, 1940) ने 12 कायिकी प्रजातियों का जई की किस्मों के समूह से मालुम किया। कायिकी प्रजाति 8 एवं 10 ही बहुत अधिक मनरा प्रतिरोधी किस्मो की है जो विक्टोरिया रिचर्ड (Victoria×Richl nd) संकरण से बनी है।

नियंत्रण (Control)

(1) एकान्तर पोषक एवं सार्पश्विक पोषक का उन्मूलन कर देना उपयुक्त रहता है जिससे रोग का प्रसार न हो सके।

(2) जई की फसल पर उचित मात्रा में खाद का प्रयोग करना चाहिये।

फसलों मे प्रावश्यकता से अधिक नत्रजन युक्तों का खाद से अधिक प्रयोग नही करना चाहिये ।

(3) जल्दी पकने वाली किस्मों को उगाना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से फसल की दूधिया अवस्था किट्ट के भयंकर प्रकोप से बच सकती है ।

(4) जैसे ही रोग के लक्षण दिखाई दे रोगग्रस्त भाग को तुरन्त निकाल कर नष्ट कर देना चाहिये ।

(5) रोग प्रतिरोधी किस्में प्रयोग में लानी चाहिये ।

पत्तीधारी एवं बीजांकुर अंगमारी
(Leaf stripe and Seedling blight)

पत्तीधारी एवं बीजांकुर अंगमारी रोग जई की फसल का एक महत्वपूर्ण रोग है जिसके कारण फसल को काफी नुकसान होता है । कनाडा, जर्मनी, डेन्मार्क, होलेन्ड, बेल्जियम, इटली आदि देशो में इस रोग से काफी हानि होती है । जापान, भारत एवं दक्षिण अफ्रिका मे भी इससे नुकसान देखा गया है । इस रोग के कारण बीजांकुर से प्रापक्व (maturity) अवस्था तक नुकसान होता रहता है ।

लक्षण (symptoms)—संक्रमित बीजांकुर की पहली पत्ती जो जमीन के बाहर आती है उसके सिरे पीले से तथा पर्णफलक पर छोटे पीले धब्बे दिखाई देते हैं । धीरे-धीरे यह धब्बे आपस मे मिल जाते हैं तथा पत्तियो पर धारिया सी बना लेते है। इसलिये इसको पत्तीधारी रोग कहते हैं । ग्रसित भाग शीघ्र भूरा हो जाता है । यह धारिया पत्ती के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैली रहती है । ग्रसित पौधों की बालों मे दाना कम लगता है ।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle)

यह रोग हेल्मिंथोस्पोरियम ऐवेनी (*Helmnthosporuin avenae*) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है ।

समानार्थक (1) H. *teres* forma *avenae-sativee* Bri and cav.

(2) H, *avenae-sateive* Bri and cav.

(3) *Pyrenpohora avenae* Ito, and kuribey.

इस फफूंद की लैंगिक अवस्था एस्कोमाइसिटीज वर्ग की जाति मे मिली है जिसका नाम पायरेनोफोरा एवेनी है । इसका कवकजाल रगहीन, पटयुक्त एवं शाखा युक्त होता है । अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है जो कोनिडियोफोर पर उत्पन्न होते हैं । कोनिडियाफोर गहरे जैतुनी, कुछ, मुडे हुए तथा आधार से गोल होते है । कोनिडिया बेलनाकार, मध्य से कुछ चौड़े, शुरू मे हल्के रग के तथा बाद मे पीले, 0 से 12 पटयुक्त (अधिकतर 3 से 8) तथा आधार कोशिका पर काला धब्बा होता है । कोनिडिया 17. 4–147×8.25–28.25 माइक्रोन के होते हैं । इनका

अंकुरण अंकुर नाल द्वारा होता है। किसी भी कोश से अंकुरनाल बन सकती है। मुख्यत: अंकुरण कोश के दोनों किनारों से होता है। अंकुर नाल का सिरा फूलकर एक छोटा आसगांग बनाता है जिसमे से एक नली निकल कर सीधी अधोत्तर या रन्ध्रो द्वारा प्रवेश कर जाती है और फिर कोनिडिया उत्पन्न हो जाते है। इस प्रकार यह इस फफूंद की अलैंगिक अवस्था है।

इसकी पेरीथीसियल अवस्था सामान्यतः नही पायी जाती है। यह लैंगिक अवस्था एक छोटे फलास्क जैसी रचना की बनी होती है तथा ऊपर की ओर एक मुख द्वारा खुलती है। प्रारम्भ मे यह उप-अधोस्तरीय बाद मे उठे हुए (erumpent) अर्द्ध गोलाकार (semi globose) तरुण अवस्था में तथा बाद में फलास्क की आकृति हो जाती है। इनमे अनेक एसाई होती है। एस्कस जब पूर्ण बन जाती है तब मुग्दराकार (clavate) से बेलनाकार, कुछ मुड़ी हुई, 350–750 माइक्रोन व्यास की होती है। इसमे 2 से 4 एस्कोबीजाणु पाये जाते हैं जो 50–75×17.5-30 माइक्रोन के 5 पट के होते हैं।

वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार (Annual recurrence and Spread)

यह फफूंद बीजोढ है तथा सबसे महत्वपूर्ण संक्रमण का स्त्रोत दाने मे विश्राम (resting) कवकजाल का होना है। यह फफूंद मिट्टी मे चिरजीवित नही रह सकती है क्योंकि यह कमजोर प्रतियोगी (competitor) है। कोनिडिया जो बीज के साथ रहते हैं वह 6 महिने तक जीवित रहते है। जब रोगग्रसित बीज बोया जाता है तो कोनिडिया अंकुरनाल से अंकुरित होते हैं और बीजांकुर को संक्रमित कर देते हैं। इस रोग का प्रभाव सम्पूर्ण पौधों पर होता है। द्वितीयक सक्रमण प्राथमिक सक्रमण से बने कोनिडया से होता है जिनका विकीरण हवा द्वारा होता है। कोनिडिया नये पोधो पर आक्रमण कर देते हैं, तथा रोग फैलता रहता है। कोनिडिया का पोषक मे प्रवेश सीधा रन्ध्रो द्वारा होता है।

पूर्व वृतिक कारक–इस रोग के बढवार के लिये नम भूमि (wet soil) में कम तापमान का होना सुग्राही है। इसका बढवार अधिक तापमान पर भी होता है परन्तु आपेक्षित सूखी (relative drought) हालत मे।

रोकथाम (Control)—

(1) इस रोग का आवर्तन बीज से होता है अतः बीजोपचार करना अनिवार्य आवश्यक है। बीजोपचार के लिये सेरेसन, एग्रोसन जी. एन. (2 ग्राम/किलो बीज) या अन्य कोई पारावर्गी रसायन उपयुक्त रहता है।
(2) खेत के खरपतवार एव फसल के मलबे को एकत्र करके जला देना चाहिये
(3) उचित मात्रा मे खाद का प्रयोग करना चाहिये।
(4) रोग प्रतिरोधी किस्में प्रयोग मे लानी चाहिये। अबेन्डेन्स (Abundence) एडवोकेट (Advocate), एंगेनोइज (Angnoise), बी. ग्रांस

B. *opus*) बी. एस.-2, बी. एस.-4, ई. सी. 228 द्वितीय, ई. सी. 2283, प्रथम, ई. सी. 3230, ई. सी. 4711, शंकर-1 (Hyb-1), शंकर-2, लोरटन आदि प्रभेद प्रतिरोधी पाये गये जिनका प्रयोग प्रतिरोधन के लिये किया जा सकता है। पान्डे एव मिश्रा, (Pandey and Misra 1973)

हेल्मिंथोस्पोरियम अंगमारी
Helminthosporium blight

यह रोग जई की उन किस्मों में अधिक पाया जाता है जिनके पित विक्टोरिया है। अधिकतर इस फफूंद के कारण बीजांकुर अंगमारी सधिस्तम्भ (culm) उतिक्षय के लक्षण दिखाई देते हैं; परन्तु मड गलन एवं मुकुट (crown) सड़न के लक्षण भी देखे गये है। बीजांकुर पत्तियो का लाल होना तथा उतिक्षय के लक्षण दृष्टिगोचर होना प्रथम लक्षण है। धीरे-धीरे धब्बे गहरे भूरे रंग होने लगते है तथा पत्तियों पर भी दृष्टीगोचर हो जाते हैं। रोग ग्रस्त पत्तियां सूख जाती है। रोग के जल्दी आक्रमण होने पर दाने नहीं भर पाते हैं।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle)—यह रोग हेल्मिंथोस्पोरियम विक्टोरी (*Drechslira Victoriae* Meehan and Murphhy) नामक फफूंद से होता है। कवकजाल रंगहीन पटयुक्त होता है। अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है जो कोनिडियोफोर पर उत्पन्न होता हैं। कोनिडियोफोर गहरे जैतुनी कुछ मुड़े हुए तथा आधार से गोलाकार होते हैं। कोनिडिया बीच मे से चौड़े होते है तथा शीर्ष से छोटे होते हैं। ये कोनिडिया जैतुनी, भूरे, 4 से 11 पट वाले (अधिकतर 8 पट वाले), 70×15 माइक्रोन के होते हैं। अंकुरण अधिकतर द्विध्रुवी (bipolar) होता है। इनका अंकुरण जनित नलिका से होता है। अंकुर नाल का सिरा फूलकर आसगांग बनता है। तथा उससे एक नली निकल कर अधोस्तर द्वारा प्रवेश करती है।

वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार--(Annual recurrence and spread)

यह फफूंद बिजोढ़ एवं मृदुढ़ दोनो है। हवा द्वारा कोनिडिया के उड़ने से भी प्राथमिक सक्रमण हो सकता है। द्वितीयक संक्रामण रोगी पौधों पर प्राथमिक संक्रमण से बने *कोनिडिया द्वारा होता है जिनका विकिरण हवा द्वारा होता है।*

रोकथाम (Control)—

(1) चूंकि यह फफूद बीजोढ़ है अत. किसी वाष्पीकृत फफूंदनाशी से बीजोपचार करें।

(2) यह फफूंद फसलों के मलवे मे जीवित रहती हैं अतः फसल के मलबे खेत के खरपतवार तथा सापार्श्विक पोषकों का उन्मूलन कर देना उपयुक्त रहता है।

(3) जहां पर इस रोग का प्रकोप हो फसल चक्र अपनाना चाहिये।
(4) रोग प्रतिरोधी किस्में प्रयोग में लायें। विक्टोरिया की सन्तानें इससे अधिक प्रभावशील है अतः इसका प्रयोग नही करें।

सेप्टोरिया पत्तीदाग
Septoria leaf blotch

जई तथा कई प्रकार की घास पर यह रोग पाया जाता है। पत्तियों पर दाग (blotch) बन जाते है जो गहरे भूरे होते हैं पुष्प निपत्र (floral bracts) पर भी अनियमित दाग दिखाई देते हैं। जैसे-जैसे रोग बढता है बहुत सारे दाग मिलकर पत्ती के लगभग सारे भाग को घेर लेते हैं। अधिकतर इस रोग के लक्षण पत्तियों तक ही सीमित रहते हैं, इसलिये इसका नाम पत्तीदाग रखा गया है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle) यह रोग सेप्टोरिया एवेनी (*Septoria avenae* Frank) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है इसकी लैंगिक अवस्था ऐस्कोमाइसिटीज वर्ग में मिलती है जिसका नाम लेप्टोस्फेरिया ऐवेनेरिया (*Leptosphaeria avenaria* G.F. Webes) है। पिक्निडिया बिखरे हुए, उप अधो-स्तरीय, गोलाकार, 120 माइक्रोन के चिकनी भित्ति (Smooth Walled) के होते हैं। बीजाणु छड़ आकृति (rod Shaped) के 3 पटयुक्त, रंगहीन, 25-45×3-4 माइक्रोन के होते हैं। पेरीथिसिया उप अधोस्तरीय गोल, सम्मुख धरातलीय होते हैं। पेरीथीसिया में कई ऐस्कस होते हैं। ऐस्कस मुग्दराकार (clavate) शीर्ष में गोलाकार, रंगहीन, बारीक भित्ति के 30-100×10-18 माइक्रोन के होते हैं। प्रत्येक ऐस्कस में दरांती के (fusoid) आकृति के सीधे या कुछ मुड़े हुए, 3 पटवाले, 23-48×4-6 माइक्रोन के होते हैं।

वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार (Annual recurrence and spread)

यह फफूंद एक मौसम से दूसरे मौसम तक फसल में कवकजाल या पिक्निडिया के रूप में जीवित रहती है। यह रोग बीजोढ भी हो सकता है। पत्तियों पर संक्रमण कोनिडिया द्वारा होता है। इस रोग की बढ़ोतर के लिये ठंडा नम (wet) जलवायु सुग्राही है तथा पत्तियों पर इसी समय संक्रमण अधिक होता है।

रोकथाम (Control)

(1) खेत में पड़े पौधों के मलबे आदि को एकत्र करके जला देना चाहिये।
(2) चूंकि इस रोग का आवर्तन बीजों से भी होता है अतः पारावर्गी रसायन से बीजोपचार करना उपयुक्त रहता है।
(3) स्वस्थ खेतों से बीजों का चयन करना चाहिये।
(4) फसल चक्र का प्रयोग करना चाहिये तथा ग्रसित पौधों को नष्ट कर देना चाहिये।

(5) रोग प्रतिरोधी किस्मे प्रयोग मे लानी चाहिये।

मृदुरोलिम
(Downy mildew)

जई की फसल पर मृदुरोलिम रोग यूरोप आस्ट्रेलिया एवं अमेरिका आदि देशों मे पाया जाता है। हमारे यहां इस रोग से नुकसान नही देखा गया है। फसल के बोने पर 3-4 सप्ताह बाद इस रोग का प्रकोप देखा जा सकता है। सबसे पहले इस रोग के लक्षण पत्तियो की निचली सतह पर दृष्टिगोचर होते है। पत्तियां प्रारम्भ में पीली पड़ जाती है। प्रातःकाल इस फफूंद की सफेद वृद्धि पत्तियो पर आसानी से देखी जा सकती है।

यह रोग स्कैलेरोफथोरा मैक्रोस्पोरा *Sclerophthora macrospora* Secc. Thir Shaw and Hara's नामक फफूद से उत्पन्न होता है। अलैंगिक जनन जनन कोनिडिया द्वारा होना है। वर्षिक आवर्तन एक वर्ष से दूसरे वर्ष खेत मे पड़े पौधों के मलवे द्वारा होता है। द्वितीयक संक्रमण कोनिडिया के द्वारा होता है जिनका विकीरण हवा के द्वारा होता है। (विस्तृत अध्ययन के लिये मक्का का मृदुरोलिम रोग पढ़ें)

इस रोग की रोकथाम के लिए कटाई के बाद खेत मे पडे पौधो के अवशेषों को एकत्र करके जला देना चाहिये। खेत के आसपास उगे खरपतवारो को नष्ट कर देना चाहिये। प्रमाणित बीज विश्वासपात्र स्त्रोतो से ही खरीदें। रोग प्रतिरोधी किस्मो का प्रयोग करना चाहिये।

चूर्णिल आसिता
Powdery mildew

सामान्यतः चूर्णिल आसिता का जई की फसल पर प्रकोप नही होता है। रीड (Reed, 1920) के अनुसार जई की कई किस्मे इस रोग से प्रभावित होती है। इस रोग के कारण पत्तियों की उपरी सतह पर सफेद तथा भूरे रंग की फफूंद दिखाई देती है। यह सफेद चूर्ण समूह फफूंद का कवकजाल तथा कोनिडियाफार होता है।

यह रोग एरीसाइफी ग्रेमिनिस एवेनी (*Erysiphe graminis avenae* E. marchate) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है जो एक अनिवार्य परजीवी है। अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है जो उपाण्डवत् अथवा दीर्घवर्तीय, ढोलकाकार, रंगहीन, एककोशिक होते हैं। इनका विकीरण हवा द्वारा होता है। विस्तृत अध्ययन के लिये गेहूँ का चूर्णी फफूद रोग पढ़ें)

इस रोग को रोकथाम के लिए भूमि मे पडे पौधो के मलबे को एकत्र कर जला देना चाहिये। गन्धक या गन्धकवर्गीय फफूंद नाशी दवा का प्रयोग लाभप्रद रहता है।

जड़ गलन
(Root rot)

जडगलन रोग भी कई प्रकार की फफूंदीयों से उत्पन्न होता है जिसमे पिथियम कॉलिटोट्राजइकम ग्रेमीनीकोला, हेल्योगस्पोरियम सेटाइवम, हे. विक्टोरियाई, एवेनी, फ्यूजेरियम ग्रमीनेरियम, फ्यूजेरियम कल्मोरम, फ्यूजोरियम निवाले एव राईजेक्टोनिया सोलेनाई मुख्य हैं। इन फफूंदीयो का प्रकोप उस समय अधिक होता है जब की पोषक के अनुकूल कारक नहीं हो। किट्ट आदि से प्रभावित पौधा भी इससे सुग्राही है। नम (wet) मिट्टी मे अधिक तापक्रम परजीवी की वृद्धि के लिए सहायक है। अधिकतर परजीवी शुष्क मिट्टी मे नुकसान करते हैं परन्तु पीथियम से गीली (wet) मिट्टी मे नुकसान पाया गया।

यह रोग मृदुढ़ एवं बीजोढ़ दोनो है। रोग ग्रसित बीजों से अधिकतर आवर्तन होता है।

चूंकि इस रोग का आवर्तन बीजोढ़ होता है अतः बीजोपचार करना आवश्यक है। रोग ग्रसित पौधो के अवशेषो को एकत्र कर नष्ट कर देना चाहिये।

फ्यूजेरियम अगमारी से बीजांकुर अंगमारी के लक्षण भी जई की कई किस्मों में देखे गये हैं। इसका प्रकोप उत्तरी अमेरिका, कनाड़ा, उत्तरी यूरोप मे अधिक होता है।



Agrios, G. N. (1969) Plant pathology. Academic Press New York, 629 pp.

Allen, R. F. A (1932) Cytological study of Heterothallism in Puccinia coronata. Jour. Agr. Res. 45 : 513-541.

Bartholomew, L. K. and E. S. Jones (1923). Relation of certain soil factors to the infection of oats by loose smut. Jour. Agr. Res. 24: 569-575.

Brown, C. M. and H. L. Shands. (1954). Beheviour of the interspecific hybrid and amphiploid of Avena abyssinica X A. strigosa. Agron. Jour. 46 : 557-559.

Buller, A. H. R. (1941). The flexunous hyphae of Puccinia graminis and other Uredinales. Phytopathology 31 : 4.

Christensen, J, J. and H. A. Roden hiser. (1940). Physiologic spercialization and genetics of the smut fungi. Bot. Rev. 6 : 389-425.

Chochran, G. W., C. O. Johnston, E. G. Heyne, and E. D. Hansing (1945). Inheritance of reaction to smut, stem and crown rust in four oat corsses, Jour. Agr. Res. 70 : 43-61.

Davies, D. W. and E. T. Jones (1931). Grey speck disease of oats. Welsh Jour. Agr. 7 : 349–358.

Dickson, J. G. (1956) Diseases of Field Crops Tata Mc Grew Hill Publishing Co. Ltd. 517 pp.

Dennis, R. W. G. (1935). Notes on the occurence of Pyrenophora avenae Ito in Scotland. Trans. Brit. Myc. Soc, 19 : 288–290.

Dietz, S. M. (1926). The alternate hosts of crown rust, Puccinia coronata Corda. Jour. Agar. Res. 33 : 953-970. 1926.

Drechsler, C. (1932). some graminicolous species of Helminthosporium. J. Jour. Agar. Res. 24 : 641–739.

Finkner, V. C. (1954) Genetic factors governing resistance and susceptibility of oats to Puccinia coronata Corda var. avenae, F. and L. race 57- Iowa Agr. Exp. Sta. Res. Bul 411 : 1041-1063.

Hane, Y. L. (1964) Flexibility desirable in funycide recommendations for externally seed borne eraead smut disease Control. Plant Dis. Reptr. 48 : 120-121.

Murphy, H. C. (1935) Physiologic, specialization in Puccinia coronata avence. U. S Dept. Agr. Tech. Bul. 433.

Murphy, H. C. et al. (1942) Breeding for disease rasistance in oats. Jour. Am- Soc, Agron. 34 : 72–89,

Newton, M. et al, (1949). Seedling reactions of Wheat varieties to stem rust and leaf rust and of oat varieties to stem rust and crown rust. Can. Jour. Res. C-18 : 489-506.

Ganduj, S. C and A. P. Misra. (1973). Varietal reaction of Oats to Helmalinthos poriuum avenae. Ind. J. Myes & M. Path. 3 : 214.

Ravn, F. K. (1900). Nogle Helminthosporium arter ogde of dem fremkalte sygdomme hos byg og havre. Bot Tidsskr. 23 : 101-322.

Reed, G. M. (1920). Varietal resistance and susceptibility of oats to powdery mildew. mo. Agr. Exp. Sta. Res. Bul. 37.

Reed, G. M. (1940) Physislogic races of oat smuts. Amer J. Bot. 27 . 135-143..............................and J. A. Faris (1924) Influence of environmental factors on the infection of sorghums and oats by smuts. II. Am. Jour. Bio. 11 : 579-599.

Roemer, T. et. al. (1937). Die Zuchtung resistenter Rassen der Kultur pflanzen. Kiihn-Archiv. 45 : 1-427.

Sameul, G., and C. S. Piper. (1928). Griey speck (Managenanese deficiency) disease of oats. Jour. Dept. Agr. So. Aust 31 : 696-705.

Sanford, G. B. (1935). Colletotrichum (Ces.) Wills, as a parasite of the stem and root tissues of Avena sativa. Sci. Agr. 15 : 370-376.

Simmonds, P. M, (1928). Seedling blight and foot-rots of oats caused by Fusarium Culmorum (W. G. Sm) Sacc. Can. Dept. Agr. Bul. (M. S.) 105.

Singh. G. (1957) Factors affecting to incidents of smuts in oats Ind. J. Agric. Sci. 27 : 185-201.

Singh, R. P. and K. D. Pathak (1969). Fungicidal seed treatment for the control of and covered smut of oat. Indian Phytopatho. 22 : 53-56.

Smith, D. C. (1934). Correlated inheritance in oats of reaction to diseases and other characteristics. Minn. Agr. Exp. Sta. Tech Bul. 102.

Sprague, R. (1934). A. physiologic form of septoria tritici on oats. Phytopathology 24 : 133-143.

Straib, W. (1937).Die Bestimmung der physiologischen Rassen Von Puccinia coronata Cda. auf Hafer in Deutschand. Arb. Biol. Reich Land Forstw. Berlin Dahalam 22 : 121-157.

Tapke, V. F. (1948) Enviornments and Cereal Smuts. Botan. Rev. 14 :359-412.

Tessi, J. L. (1949). presencia 'pesudcmonas coronafaciens' enla Agrgentina Y reacion de algunas variedades de Avena frente a este parastio. Reb. Invest. Agric Buneos Aires. 3 : 319-334.

Thrimulachar, M. J. and M. S. Pavgi (1950). Hotes on some spore germination and mounting tachniques. Indian Phytopathology. 3 : 177-178

Tranzschel, V. (1934). Alternate hosts of the cereal rusts and their distribution in U. S. S R. Bull. Plant Prot. Leningard 5 : 4-40.

Turner, D. M., and W. A, Millard (1931). Leaf spots of oats, Helmin thosporium avenae (Bri. and Cav.) Eidm. Ann. Appl. Biol. 18 : 535-538.

Vallega, J. (1942). Specialization fisilogica be Puccinia coronata avenae en Argentina Anales Inst. Fitot. Santa Catalina 2 : 53-84.

Vaughan, E. R. (1938). A race of Ustilago avenae capable of infecting Black Mesdag oats. Phytopathology 28 : 660-661.

Weber, G F. (1922). Speckled bloth of oats, Phytopathology 12 : 449-470.

Wilson, M. and D. M. Hen derson (1966). British rnst fungi. Cambridge Univ. Press. 384pp.

Zundel, G. L. (1953) The ustilaginales of the world Pen Sylvania. State Coll. Dept. Bot Contrib. 176. 410 pp.

Fishcher, G. W. (1953). Manual of th eNorth Amerlean smut fungi. The Ronald Press Company. New York.(1944).

.................and C. E. Classen (1944). Studies of

stem rust (Puccinia graminis) from Poa ampla, Avena fatua, and Argopyron spicatum in the Pullman, Washington region. Phytopathology 34 : 301-313.

Fischer, G. W. and C. S. Holton (1957). Biology and Control of Sum fungi. The Ronald Press Co. New York.

Greaney, F. G., et al. (1938). Varietal resistance of wheat and oats to root rot caused by Fusarium Gulmorum and Helminthosporium sativum. Sci. Agr. 18 : 500-523.

Hiltner, E. (1924) Der Dorrfleckenkrankeit des hafers and ihre Heliung durch Mangan. Landw. Jahrd. 60 : 689-769.

Hasing, E. D. (1943). Effect of seed treatment on Control oat smut. Phytopathlogy 35 : 1112.

Hosing, E. D. (1953) Seed treatment with new as compared with ol fungi ads for the control of wheat, oats, sorghum smut and Victoria blight of oat in Kansa 1950-52 Preant Diseare Reptr. 37 : 49-58

Hingo rani, M. K. (1952). Factors offeoting the Sus Vival ability ofc ertain Physiologic races of Phicciniau grominsis avenae Phytopalthlogy. 42 : 526-531

Holtion, C. S. (1934). Hybridization and segregation in the oat smuts. Phytopathology 21 : 835-842.

……………(1935). Studies in the genetics and cytology of Ustilago avenae and U. Levis Min. Agt. Exp. Sta. Tech Bul. 87.

………………(1936). Origin and production of morphologic and pathogenic strains of the oat smut fungi by mutation aud hybridization. Jour. Agr. Res. 52 : 311-317.

………………(1964). Mode of inheritance of pathogenicity in some race hybrids of Ustilago avenae. Phytopathology 54 : 660-672.

Holton, C. S. (1970) Differential Prevalance and potential Survival of oat Smut specieses U. S. A. Plant Disease Problems I. P. S. 50-54.

Holton, C. S. and P. M. Aalisky (1960). Dominance of aviulemne and monogenic control of virulenca in race hybrids of ustila go avenae. Phytopathology 50 : 766-770.———and

H. A. Rodenhiser. Physiologic specialization in the oat smut fungi with relation to breeding oats for smut resistance. U. S. Dept. Agr. Tech. Bul. 952.

Huskins, C. L. (1931) Blindness or blast of oats Sci. Agr. 12 · 191–199.

ITO, S. and K Kuiibyashi (1931), The ascigerous forms of some graminicolous species of **Helminthosporium** in Japan Jour Fac. Agr. Hokkaido Imp. Univ. Sappro 29 : 85–125

Jacks, H., I. A. M Cruickshank (1956). seed dis infectionce XIII. The effect of fungicidal seed treatment on emergence of covered smut (**Ustilago Kolleitri** willa) of oats. H. Z. J. Sci- Tech. Sect. A 38 : 27–29.

Kehr, W, R., H. K. Hayes, M. B. Moore, and E. C. Stakman (1950). The present status of breeding rust resistant oats · at the Minnesota Station. Agron. Jour. 42 356–359.

Kihara, H., and I. Nishiyama (1932) The genetics and cytology of certain cereals. III Different compatibility in reciprocal crosses of **Avena** with special referene to tetraploid hybrids between hexaploid and diploid species. Japan. Jour Boi 6 : 245–305.

Ko, S. Y., J. H. Torrie, and J. G Dickson (1946). Inheritance of reaction to crown rust and stem and othe rc harcters in crosses between Bond, **Avena bysantina** and varieties of **A. sativa**. Phytopathology. 36 : 226–235.

Konzak, C. F. (1954). Stem rust resistance in oats induced by nuclear radiation. Agron, Jour 46 : 538-540.

Luke, H H. (1964) Identification and distribution of cat smuts of the south eastern U. S Phytopathology 54 : 792–794.

Leukel, R. W. (1919a) Resuts from Cooperative tests of cereal seed treatments. Plant Diseases Reptr. 33 . 295–299.

Levine, M. N. and D. C Smith (1937). Comparative reaction of oat varieties in the seedling and maturing stages to Physiologic races of **Puccinia graminis avene** and the distribution of these races in the United states Jour. Agr. 55 : 713–729. (1941).

Maclachian, J. D. (1941). Managense deficiency in soils and crops I Control in oats by spraying: studies of the role of soil micro-organisms. Sci. Agr. 22 : 201–207.

Meehan, F. L. (1951) Helminthosporium victories and other graminicolous species Iowa state Col. Jour. Sci. 25 : 292 –294.

.... and H. C. Mnrphy (1946). A new Helminthosporium blight of oats. Science (N. S.) 104 : 413-414.

Melhus, I E. el. al (1922). Alternate hosts and biological speciao, ization of crown rust in America. Jowa Agr. Exp. sta. res. Bul. 72.

Metger, R J. and E. J. Trione (1962) Application of gene relationship hypothesis to the Triticum Tilielia system Phytopathology 52 · 313.

Mundkur, B B (1934) oat smus in India. Indian. J. Agric. Sci. 5 745–46

, . .(1945) studies in India Cereal smuts VIII Nomenclature of Indian smut, fungi at probable modes of their transmission Indian J Agric. Sci. 15 : 108–10.

Mundkur. B. B and M. A Khan (1934) A dry spray method for treating oat seed against covered smut. Indian. J. Agric Sci 4 899-905.

Mundukur, B B and M J Thirumalachor (1952) Ustilaginales of India (M I. England 84 pp.



3

बाजरे के रोग

(क) बाजरे के रोग

(Bajra Diseases)

बाजरा (Bajra) ग्रेमीनेसी कुल का सदस्य है। इसे छोटे मिलेट में सम्मिलित किया गया है। यह खरीफऋतु की फसल है। तमिल भाषा में इसे कम्बू, तेलगू मे सजालू या गनतालू, कनाड़ी में सज्जी, मलयालम में कम्पग और हिन्दुस्तानी मे बाजरा के नाम से जाना जाता है। हमारे देश में खाद्यान्न की यह एक महत्वपूर्ण फसल है। इसकी खेती मद्रास, मैसूर, आन्ध्रप्रदेश, बम्बई, राजस्थान और उत्तरप्रदेश मे प्रमुख रूप से की जाती है। इस फसल पर कई प्रकार के रोगों का प्रकोप होता है जिसमे से कुछ महत्वपूर्ण है :

(1) हरी बाली या मृदुरोमिल (Green ear or Downy mildew)
(2) अरगट (Ergot)
(3) कंड (Smut)
(4) किट्ट (Rust)
(5) पत्ती का ब्लास्ट (Leaf blast)
(6) पत्ती धब्बा रोग (Leaf spot)
(7) हेलमिन्थोस्पोरियम पत्ती धब्बा (Helminthosporium leaf spot)

इन रोगो की विस्तृत जानकारी आगे दी जा रही है।

बाजरे का हरी बाली या मृदुरोमिल (Green ear or Downy mildew)

बाजरे की फसल का यह भयानक रोग है जिसके कारण फसल को बहुत नुकसान पहुंचता है। भारतवर्ष में इस रोग का प्रकोप उन सभी क्षेत्रों मे देखा गया है जहां बाजरे की खेती की जाती है। विशेषतः राजस्थान, महाराष्ट्र, और गुजरात के इलाको में इस रोग से बाजरे में दाना न बनने के कारण बड़ी हानि होती है। सबसे पहले 1907 मे बटलर ने इस रोग का वर्णन किया। भारतवर्ष के अलावा दक्षिणी अफ्रीका (Doidge, 1950) एवं पश्चिमी अफ्रीका में भी इसका विशेष रूप से प्रकोप होता है (उगान्डा एवं तन्जानियाका)। इस रोग के कारण सही नुकसान कितना होता है यह अनुमान लगाना तो कठिन है परन्तु प्रतिवर्ष फसल का लगभग 5 से 10% भाग तो अवश्य ही इससे नष्ट हो जाता है। मित्तर एवं टन्डन (Mitter and Tandon, 1930) ने इसे लगभग 45% नुकसान बताया तथा

चौधरी (Chaudhri, 1932) ने बताया कि अधिक संक्रमण होने पर तो सम्पूर्ण फसल ही नष्ट हो जाती है। सूर्यनारायण (1962) के अनुसार पंजाब, देहली एवं राजस्थान आदि राज्यो मे इस रोग से अधिक क्षति होती है तथा साधारणतः 5 से 10 प्रतिशत फसल नष्ट हो जाती हैं। अकेले इस रोग के कारण केवल राजस्थान मे 55 45 एवं 45·37 हजार मैट्रिक टन का नुकसान 1962 एवं 1964 मे क्रमश हुआ जिसके कारण 2·02 एवं 2·33 करोड़ रुपये का नुकसान आका गया (माथुर एवं देलला, 1971)। इन राज्यो के अलावा उत्तरप्रदेश, हरियाणा, गुजरात एवं मध्यप्रदेश मे भी काफी नुकसान होता है परन्तु यह नुकसान पर्यावरण पर बहुत अधिक निर्भर करता है। जिन मिट्टियो मे पानी का निकास कम हो तथा नीचे क्षेत्रो मे हो वहाँ अधिक प्रभाव होता है।

भारतवर्ष मे इस रोग पर विस्तृत रूप से अध्ययन किया गया है (Butler, 1907, 1908; Kulkarni, 1913; Weston, 1920; Uppal and Kamat, 1928; Mitter and Tandon, 1930; Chaudhri, 1932; Safeeulla and Thirumalachar, 1955; Safeeulla et asl, 1963; Surayanaragan, 52, 56, 60, 62, Arya and Sharma 1962; Tiblari and Arya, 1966; Mathur and Dalela, 1973)। बाजरे के अलावा यह रोग सिटेरिया इटेलिका (Setaria italica), ज्वार आदि पर भी पाया जाता है परन्तु प्रभेद भिन्न है।

इस रोग को मृदुरोमिल एवं हरी बाली दोनो ही नामो से जाना जाता है क्योकि इससे बाजरे की बाली हरी पड जाती है तथा पत्तियो पर भी मृदुरोमिल जैसे लक्षण दिखाई देते हैं।

लक्षण (Symptoms) : इस रोग के लक्षणों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है

(1) मृदुरोमिल अवस्था (Downy mildew stage)
(2) हरी बाली अवस्था (Green ear stage)
(3) प्ररोह एवं कली विरूपतायें (Shoot and bud deformation)

(1) मृदुरोमिल अवस्था (Downy mildew stage)—इस रोग के लक्षण प्रारम्भिक अवस्था में भी दिखाई दे सकते हैं। पत्तिया अपना हरा रंग खो देती है। रोगग्रसित पत्तियो का हरा रंग बदलकर सफेद या चादनी हो जाता है। यह सफेद रंग पत्तियों पर सम्बान मे लम्बी धारियो के रूप दिखाई देता है तथा पत्तियोका क्लोरोफिल नष्ट होने लगता है और उस अवस्था मे पत्तियो की पत्तिया उड़ जाती है। सुबह के समय पत्ती की निचली सतह पर फफूंद की सफेद सी धूल जैसी वृद्धि आसानी से देखी जा सकती है। धीरे-धीरे पत्तियां सिकुडकर ऐंठने लगती है। रोगग्रसित पौधे कद में छोटे रह जाते हैं तथा दाने छोटे एवं संख्या मे कम बनते हैं।

(2) हरी बाली अवस्था (Green ear stage)—

इस रोग के लक्षण मुख्य प्रकार से पुष्पक्रम (inflorescence) पर दिखाई पड़ते हैं। ग्रसित पौधो मे या तो बालिया बनती ही नही है और यदि बनती है तो बालें हरी पड़ जाती हैं, जिसके फलस्वरूप ही इस रोग का नाम बाजरे का हरी बाली रोग रक्खा गया है। बालो में दाने नही बन पाते हैं बल्कि इनकी जगह



चित्र 3 क. 1 बाजरे का हरी बाली रोग

छोटी-छोटी मुड़ी हुई धागें जैसी हरी पत्तियां दिखाई पड़ती है। शरकीवत (Spiklet), बाली के शूक (bristles) अधिवितृति (hypher trophied) होकर एठ जाते हैं। बालियों के पुष्पपत्र तुष (glumes) आदि पत्तियो की तरह हरे हो जाते हैं। पुष्पक्रम का कोई भाग भी ऐसा नही बच पाता है जो किसी न किसी तरह विरूप न हो गया हो। अधिकतर सम्पूर्ण बाली पत्ती जैसी रचना में परिवर्तित हो जाती है परन्तु कभी कभी कुछ भाग ही परिवर्तित होता है। जिस पुष्पवृन्त (Pedicel) पर एक अनुशूकी (spiklet) होती है उस पर दो-दो अनुशूकी हो

जाती है इस प्रकार पुष्पको (Florets) के नम्बर मे भी बढ़ोतरी हो जाती हैं तथा पुष्पक के बीच का भाग लम्बी पत्तीदार रचना में बदल जाता है। रोग के उग्रावस्था होने पर स्त्रीकेसर यदाकदा ही उत्पन्न होते हैं और अगर होते भी हैं तो पत्ती जैसी रचना मे बदल जाते हैं। कभी-कभी स्त्रीकेसर एक छोटे शाखित अक्ष (exis) मे बदल जाता है, जिसकी रचना सींग जैसी वाह्यवृद्धि (horn like out growth) सी होती है। ग्रसित पौधे बौने रह जाते हैं तथा बहुत अधिक दोजी (tillers) बाहर निकलते हैं।

प्ररोह एवं कली विरूपतायें (Shoot and bud deformation)—

इस रोग से प्रभावित प्ररोह एवं कलियां भी विकृत (deform) हो जाती हैं।

हेतु की एवं जीवन चक्र (Etiology and Life Cycle)—यह रोग स्कलेरोस्पोरा ग्रैमीनीकोला (Sclerospora graminicola (Sacc.) Schroet नामक फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है। यह एक अनीवार्य परजीवी हैं। दैहिक, अपट कवकजाल, अन्तंकोषिय अधिकतर, रोगग्रसित पौधों के जड़, तना, पत्तियों, पुष्पक्रम आदि पर देखे जा सकते हैं। कवकजाल बहुकेन्द्रिक, रंगहीन, अखण्डकोशिक होता है तथा पेरेनकाइमेटस ऊतिका में अधोस्तर तथा तन्तुवाही पूलों (fibrio vasculer bundles) मे ही मिलता है। पोषक ऊतियो से भोजन चूसने के लिये गोलाकार प्रचूषांग (haustoria) बनते हैं। तने पर प्रचूषाग पूर्णरूप से विकसित नही होते हैं। परन्तु पत्तियो पर पूर्णरूप से विकसित रहते हैं। अलैंगिक जनन बीजाणुधानी द्वारा होता है। आन्तरिक कवकजाल से बीजाणुधानी धर उत्पन्न होते हैं। यह उप-पर्णरन्ध्रीय (sub stomatal covities) मे पूर्ण रूप से विकसित होने के बाद पर्णरन्ध्र द्वारा 3 से 5 के गुच्छे मे बाहर आते हैं। यह प्रक्रम नम दशा मे तथा अन्धकार मौसम में अधिक होता है। बीजाणुधानीधर रंगहीन, 100 माइक्रोन लम्बे एवं 12 से 15 माइक्रोन चौड़े अपट तथा निचले भाग मे अधशाखायुक्त होते हैं। ऊपरी सिरा कुछ मोटा छोटी शाखा में समद्विभाजी बटा होता है। शाखाओं के सिरे पर कुछ अंगुलीकार फूली हुई रचनायें बनती हैं जिन्हें बीजाणुवृन्त (Sterigmata) कहते हैं। इनके सिरे पर बीजाणुधानी बनते हैं। बीजाणुधानी 13 से 34 माइक्रोन लम्बे एवं 12-23 माइक्रोन चौड़े होते हैं। इनका अंकुरण नमी मिलने पर होता है। अंकुरित होने पर 1 से लेकर 8 (3-8) तक चल बीजाणु (zoospore) बाहर आते हैं। बीजाणुधानी के बनने, अंकुरण तथा मुक्ति के लिये पानी की झिल्ली का होना बहुत ही आवश्यक है। चल बीजाणु के बनने तथा मुक्ति (liberation) में 35 से 180 मिनट लगते हैं। केवल पूर्ण परिपक्व बीजाणुधानी ही अंकुरित होती है तथा कोई भी सीधी विधि से [illegible] नहीं होती। बीजाणुधानी बहुत कम समय तक जीवित रहते हैं तथा कुछ [illegible] में ही अंकुरित हो जाते हैं। पानी की उपस्थिति 1 से [illegible] घन्टे तक अनुकूल [illegible] जीवित रहते हैं (20-30°c) बीजाणुधानी का अंकुरण सुबह 7.30

बजे तक होता है तथा पानी की झिल्ली का होना अति आवश्यक है अंकुरण के समय चल बीजाणु के दोनों कशाभ समाप्त हो जाते है तथा चल बीजाणु भित्तियुक्त मोटी दीवार वाले गोलाकार हो जाते हैं। तदुपरान्त ये परिपुट चलबीज णु अंकुर-नाल बनाकर अंकुरित होते हैं। अंकुरनाल पोषक उतियों में रूध्रों द्वारा प्रवेश करती है और एक नया जरक उत्पन्न कर देती है। चलबीजाणु का अंकुरण 16^0 से 22^0 से. पर सबसे अधिक होता है तथा 32^0 से. मे अधिक एवं 4^0 से. से नीचे तापमान पर इनकी गति (locomotion) कम होती है (Suryanarayna, 1952) 15^0 से. से नीचे बीजाणुधानी का बनना कम हो जाता है। (Uppal and Kamat, 1928; Safeeulla and Thirumalachar, 1956)

चल बीजाणुओं का पोषक से सम्बन्ध प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष (indirect) दोनों प्रकार से होता है। पहली स्थिति मे चलबीजाणु सीधे पत्तियों जड़ के मूल पर अवतरण (landed) होते हैं तथा दूसरे में *संक्रमण भासगांग या संक्रमण तन्तु से* होता है परन्तु दोनों ही तरीको मे प्रवेश संक्रमण तन्तु एवं भासगाग से ही होता है।

लैंगिक जनन विषययुग्मी (Oogamous) उधानी एवं स्त्रीधानी की सहायता से होता है। निषिक्तांड फसल पकने के समय बनते हैं। ये आकृति मे गोल होते हैं। इनका बहिर्चोला (exospore) पतला तथा अन्तर्चोल (endospore) मोटा होता है। प्रापक्व निषिक्तांड का व्यास 34 माइक्रोन से 52 माइक्रोन तक एवं स्त्रीधानीय दीवार सहित इसका औसत व्यास 35 माइक्रोन होता है। इनका अंकुरण एक लम्बी विश्राम अवधि के पश्चात होता है। अंकुरण के समय बहिर्चोल टूट जाता है तथा अन्तर्चोल एक अंकुरनाल तथा कभी-कभी एक से अधिक अंकुर-नाल बनाता है। अंकुरनाल रंगहीन एवं अपट होती है जो बाद में एक नया कवकजाल बना देती है। यह कवकजाल नये पोषक पर पत्तियों के रन्ध्रों में प्रवेश करके बनता है। निषिक्ताड के अंकुरण के लिये सूर्यनारायण (1956) के अनुसार अनुकूलन (Weathering) की आवश्यकता पड़ती है। पत्तियों पर असंख्य निषक्ताड़ बनते हैं परन्तु विकृत फूलों या बाजरे की बाली पर निषिक्ताड़ कम बनते हैं।

वार्षिक आवर्तन (Annual recurrence)—इस रोग के वार्षिक आवर्तन की तीन सम्भावनायें हैं :

1. कवकजाल दाने के अन्दर उपस्थिति हो।
2. निषिक्तांड़ दाने के साथ मिले हो।
3. निषिक्तांड़ मिट्टी में उपस्थित हो।

यह रोग मुख्यतः मृदुढ़ (Soil borne) है। मेल्व्हस आदि पौध रोग वैज्ञानिको के अनुसार रोगजन का अधिकांश जीवन खेती की मिट्टी में निषिक्तांड अवस्था में व्यतीत होता है तथा पौधों के नवोद्भिजों पर इन बीजाणुओ द्वारा

संक्रमण होता है। उप्पल एवं कामत (1928) ने मिट्टी में निपित्ताड़ कृत्रिम रूप से अन्तक्रमण करने पर 60% संक्रमण बताया। पादप व्याप्त रूप में इस रोग के फैलने में निपित्ताड़ का सबसे पहले महत्व 1952 में सूर्यनारायण ने बताया। चौधरी (1932) के अनुसार निपित्ताड के निलम्बन (Suspension) को जड़ मूल एवं पत्तियों पर रखने पर संक्रमण हो जाता है परन्तु बाद में सूर्यनारायण (52) के अनुसार पत्तियों पर निपित्तांड रखने पर संक्रमण नहीं होता है, बल्कि यही निपित्तांड मिट्टी या बीजों की बुवाई के समय मिलाई जाये तो संक्रमण हो जाता है। अतः यह जरूर है कि कवक के जीवन चक्र में निपित्ताड का काफी महत्व है। यह 3-4 वर्ष तक मिट्टी में जीवित रह सकते हैं। अंकुरण के पश्चात ये मूल रोमों द्वारा घुसकर सर्वदेही हो जाते है। निपित्तांड की जनित नलिका के प्रवेश को अभी तक प्रदर्शित नहीं किया गया है तथा ऐसा समझा जाता है कि यह जमीन के नीचे भाग में होता है तथा प्रसारवर्धी बढ़वार (Vegetative growth) के साथ ऊपर के भाग में भी होता रहता है।

बटलर (1918) के अनुसार ग्रसित पौधों के बीच में आन्तरिक कवकजाल नहीं होता है परन्तु तासुगी (Tasugi) के अनुसार इस रोग का संचारण बीजों द्वारा भी होता है। आर्य और शर्मा (1962) एवं तिवारी और आर्य (1966) के अनुसार जो बीज आंशिक रोगी बाली (Partially diseased ear) में बनते हैं, वह इस रोग के वार्षिक आवर्तन में सहायता करते हैं। ह्विरा (Hulre) का विचार है कि जड़ो, अंकुरचोल (Coleoptile) तथा प्रकन्द (rhizome) आदि के द्वारा भी यह रोग फैलता है। इस प्रकार यह रोग मृदुढ एवं बीजोढ़ दोनों ही तरह का है।

खेत की अवस्था में निपित्ताड 36 महिने तक जीवित रह सकते हैं, जो कि गर्मियों के अधिक तापमान 46° से. को भी सहन कर सकते हैं। निपित्ताड जो इस अवस्था में खुले छोड़ दिये जाते हैं उनमें संक्रमण हो जाता है परन्तु यदि प्रयोगशाला में कागज की थैलियों में रखने जाये तो संक्रमण नहीं होता है, इससे ऐसा लगता है कि निपित्ताड के अंकुरण के लिये अनुकूलन (weathering) की आवश्यकता पड़ती है (सूर्यनारायण, 1956)।

माइक्रोटोम अध्ययन से पता चला है कि रोगकारक जीव जमीन के नीचे के भाग के तरुण नलिका में प्रवेश करके ऊपर की ओर बढ़ता है।

इस प्रकार इस रोग का वार्षिक आवर्तन, मिट्टी में या बीज के साथ मिले बीजाणुओं या जानवरों के गोबर में पाये बीजाणुओं से होता है। भूमि में ये बहुत अधिक संख्या में पत्तियों एवं बाली के अन्दर बनते हैं, जो नीचे गिर जाते हैं एवं पौधों के मसले के साथ भूमि में मिल जाते हैं। अनुकूल

अवस्था होने पर अंकुरित होकर संक्रमण कर देते हैं। द्वितीयक संक्रमण प्राथमिक पौध फसल की पत्तियाँ पर प्राथमिक संक्रमण से बने बीजाणुधानी से होता है।

पूर्ववृतिक कारण (Predisposing factors)—इस रोग के फैलाव के लिये न्यूनतम भूमि तापमान 11° से., अनुकूलतम तापमान 20° से. एवं अधिकतम तापमान 34° से हैं। इसके अलावा मुख्य पूर्ववृतिक कारक प्रचुर मात्रा में आक्सीजन मिली वायु का संचार होना है। बीजाणुधानी बनने के लिये अनुकूलतम तापमान 10-25° से. है तथा 28° से. के ऊपर यह नहीं बनते है। 75% या इससे अधिक आर्द्रता के होने पर बीजाणुकरण अधिक होता है तथा कम पर नहीं होता है। प्रकृति में यह अवस्था जुलाई, अगस्त एवं सितम्बर में होती है अतः इसी कारण इन दिनों में बीजाणुकरण अधिक होता है। अक्टूबर के अन्त या नवम्बर में बीजाणुकरण बिल्कुल नहीं होता है क्योंकि आर्द्रता कम हो जाती है परन्तु तापमान तो अनुकूल होता है। 5-33° से. तापमान पर कोनिडिया का अंकुरण हो सकता है।

कार्यिकी प्रजातियाँ (Physiologic races)—भारत में उप्पल एवं देसाई (1931) ने तथा जापान में तासुगो ने अनेक कार्यिकी प्रजातियों की खोज की है। बाजरा की प्रभेद केवल बाजरा एवं टिओसिन्ट पर ही संक्रमण करती है। इसका सिटेरिया तथा ज्वार पर सक्रमण नहीं होता है।

रोकथाम (Control)—

1. संक्रमण मुख्यतः भूमि में उपस्थित निपित्ताड़ से होता है। इसलिये पौधों को मिट्टी में न मिलने देने का हर सम्भव प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये निपित्ताड़ बनने से पहले ही रोग से प्रभावित पौधों को उखाड़ कर नष्ट कर देना चाहिये।
2. चूँकि इस रोग का वार्षिक आवर्तन बीजोढ़ भी होता है अतः बुवाई से पहले बीजों को किसी कार्बनिक पारदयोगिक (एग्रोसन, सेरेसन आदि) या थाइरम (TMTD) से 1: 150 के अनुपात में मिलाकर उपचार करके नष्ट कर देना चाहिये। डॉ. वेस्टन (1928) के अनुसार बीजों को बुवाई से पहले एक मिनट तक एल्कोहल में तथा उसके पश्चात 10 मिनट तक सांद्र नमक के घोल में डुबोना चाहिये। उसके बाद अम्ल को बहते हुए पानी से धोकर बीजों को सुखाकर बोने के काम में लेने के रोगजन नष्ट हो जाता है। वेस्टन ने यह प्रयोग मक्का के मृदुरोमिल रोग की रोकथाम के लिये इस्तेमाल किया था लेकिन वैज्ञानिकों का मत है कि इस रोग की रोकथाम भी इससे हो सकती है।
3. कवक के जीवनचक्र में निपित्तांड का काफी महत्व है तथा 3–4 वर्ष तक मिट्टी में जीवित रह सकते हैं अतः इससे लम्बे समय का फसल चक्र प्रयोग में लाना चाहिये। फसल सिटेरिया या रागी से परिवर्तित होना लाभप्रद रहता है।

4. स्वस्थ एव प्रमाणित बीज ही प्रयोग मे लायें।
5. चूंकि यह रोग मृदुढ है अतः रोग प्रतिरोधी किस्मों का ही प्रयोग करें। पूसा मोती, टी 15, टी 65 882, हाइब्रीड 1,2 इससे प्रतिरोधी है।

अरगट
(ERGOT)

अरगट भी बाजरे का प्रमुख रोग है। यह रोग अफ्रिका, एवं भारत में कई जगहों से वर्णित किया गया है। सबसे पहले महाराष्ट्र से सन् 1956 में बाजरे पर इस रोग का हमला हुआ। संकर बाजरा अपनाये जाने से पहले इस रोग का प्रकोप केवल महाराष्ट्र मे ही होता था। 1966–67 मे संकर बाजरा अपनाने से दूसरे राज्यों जैसे मद्रास, मैसूर, दिल्ली, पजाब, हरियाणा, राजस्थान आदि में भी इसका



चित्र 3 क 2 बाजरे का अरगट रोग

प्रकोप भयंकर हुआ जिसके फलस्वरूप मनुष्य एवं पशु दोनों ही बुरी तरह प्रभावित हुये।

सबसे पहले यह रोग पेनीसीटम होहेनकरी (P hohenackeri) एक जंगली घास पर वर्णित किया गया (Agrekar, 1920) तथा बाजरा में अन्तःक्रमण करने पर सक्रमण पाया गया। सक्रमण 5 से 100% तक तथा संक्रमण की तीव्रता 2 से 100% तक होती है। औसतन कुल नुकसान 2 से 3% देखा गया है। मकर किस्में एच. बी. 1 एवं 2 इससे बहुत प्रभावित होती है। इस रोग से उपज तो कम होती ही है साथ में इसमें पाये जाने वाला विषैला तत्व मनुष्य और पशु दोनों के लिये घातक सिद्ध हुआ है।

लक्षण (Symptoms)—इस रोग के लक्षण फूल आने पर ही दिखाई देते हैं। प्रारम्भिक लक्षण फूल आने के 10 दिन बाद दिखाई देने लगते है। सबसे पहले शहद की तरह का चिपचिपा रसीला पदार्थ फूलो के नीचे की ओर से रिसने लगता है। 5–6 दिन मे तुष निपत्रों के बीच दाने की जगह हल्के गुलाबी रंग की छोटी-छोटी बूंदे दिखाई पडती हैं, जिसको रोग की मधुरस अवस्था कहते हैं। रोग के अधिक तेज होने पर बाजरे की बाली चिपचिपी तथा गहरे भूरे रंग की या काले रंग की हो जाती है। बालियो पर चिपचिपा रस निकलने के 15–20 दिन बाद अरगट के कड़े दाने बन जाते हैं (चित्र 3क 2)। ये दाने बड़े मजबूत कड़े व हल्के गुलाबी रंग से लेकर गहरे भूरे रंग हो जाते हैं। अरगट के कठकवक जो अण्डाशय को परिवर्तित करते है वह 0 5 से 1 0 से. मी लम्बे तथा 1–2 मि. मी. चौड़े होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक फूल में बाजरे के दाने की जगह एक तरह का फफूंद का कड़ा दाना बन जाता है। बाद की गहरे भूरे रंग की अवस्था कठकवक अवस्था (sclerotial stage) कहलाती है। प्रभावित पौधो में बीज का बनना बहुत कम हो जाता है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etilogy & Life cycle)—

यह रोग क्लेवीसेप्स माइक्रोसिफेला (*Claviceps microcephala*) (Waller) Tul नामक फफूंद से उत्पन्न होता है जो एस्कोमाइसिटीज वर्ग के गोत्र हाइपोक्रिएलीज (Hypo creales) एवं कुल हाइपोक्रिएसी (Hypo–o eacee) मे आती है। कवकजाल रंगहीन तथा पटयुक्त होता है। अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है। कोनिड़िया विशेष रचनाओ के कोनिडियोफोर पर बनते हैं। कोनिडिया रंगहीन, एक कोशिक 13–25×3–6 (18×5) माइक्रोन व्यास के होते हैं। मधुरस जैसी बिन्दुक (droplets) ग्रसित बाली में कोनिडिया के ही होते हैं। कोनिड़िया के अंकुरण होने पर द्वितीयक कोनिड़िया बनते हैं। कोनिड़िया अंकुरनाल बनाकर अकुरित होते है तथा कवकजाल उत्पन्न कर देते हैं। अंकुरित होकर अकुरण नालिका वतिकाग्र या अण्डाशय की पतली तह मे घुसकर अण्डाशय को खराब कर देती है।

जब कठकवक को काट कर देखा जाये तो मध्य का भाग सफेद तथा कवक-
तन्तु के तन्तु-गुच्छा (hyphal strand) का बना होता है। कठकवक 1 महिने मे
अंकुरित होते हैं जिसमें 1 या 2 छत्रकुल (stipes) बन जाती है जिस पर एस्कस
बनती है। लैंगिक जनन मे ऐस्कोबीजाणु फलास्क जैसी रचना से बाहर आते हैं
तथा हवा द्वारा उड़कर स्वस्थ फूलो पर पहुंचते हैं। वर्तिकाग्र (stigma) पर थोड़ी
देर विश्राम करने के पश्चात ऐस्कोबीजाणु के अंकुरण होने पर एक संक्रमण सूत्र
निकलता है जो वर्तिका (style) के अन्दर प्रवेश करके नीचे की ओर बढ़ता है
तथा अण्डाशय के बीजाण्डो के रास्ते से भ्रूण (embroys) मे पहुंच जाता है तथा
यह संक्रमण सूत्र कवकजाल बनाता है।

इस फफूंद मे विषैले क्षारीय तत्व की मात्रा अधिक होती है तथा इसके
खाने से मदाक रोग उत्पन्न हो जाता है। मदाक विष का मुख्य लक्षण पेट में दर्द
होना, सिर चकराना, उल्टी आना आदि है। परन्तु यह सूक्ष्म मात्रा मे दवाई का
कार्य भी करती है। अरगट काय (bodies) मे एल्कोलाइड की मात्रा 0 6 से
1·07% होती है। (सुन्दरम, 1968)

वार्षिक आवर्तन (Annual recurrence) -यह रोग मुख्यतः मृदुढ है।
अरगट के दाने जब जमीन पर गिरते हैं तो कठकवक विश्राम की अवस्था में रहता
है। अरगट एक वर्ष से भी ज्यादा जीवित रह सकते हैं तथा यही वह अवस्था है
जिससे कवक प्रतिकूल वातावरण को भी सहन कर सकती है। रोग के फैलने में
इनका महत्वपूर्ण योगदान है अनुकूल अवस्था मिलने पर पेरीथीसियम अवस्था को
जन्म देते हैं जिसमे करोड़ो ऐस्कोबीजाणु बन जाते हैं। यह भी कोनीडिया की तरह
फूलों को संक्रमित करते हैं। मृदुढ के साथ यह रोग बीजोढ़ (seed borne) भी
है। द्वितीयक संक्रमण प्राथमिक संक्रमण से बने कोनिड़िया से मधुरस बनने के बाद
अनेक कीड़े भी इसमे आकर्षित होते हैं तथा रोग के फैलाने में सहायक होते हैं।

इस रोग की व्यापकता के लिये मौसम मे अधिक नम तथा ठंड बादलयुक्त
मौसम होना चाहिये।

कठकवक की जीवन क्षमता इस बात पर निर्भर करती है कि वह मिट्टी में
किस गहराई तक रहते हैं (कुलकर्णी 1967) जो कठकवक भूमि के पास होते
हैं वह धूप के कारण अपनी जीवन क्षमता शीघ्र नष्ट कर देते हैं। कुलकर्णी के
(1967) अनुसार 5 से. मी. गहराई पर 1 से 2 महिने, 10 से. मी पर 3-6
महिने, 15 से मी. पर 5 से 8 महिने तक वह जीवनक्षम रहते हैं। गहराई के
अलावा कठकवक की आकृति (size) एव उसके वजन का भी जीवनक्षमता पर
बहुत प्रभाव रहता है। 10 से 15 मि. ग्राम के 4 5-5 मि. मी. आकृति के
कठकवक 2 से 4 घनकाय सिर (stromatic bead) 16 से 20 मि. ग्रा. के
·5 मि मी. आकृति के कठकवक 3 से 6 घनकाय सिर एवं 21 से 25 मि ग्रा.
मि मी आकृति के 6 से 8 घनकाय सिर कठकवक बनाते हैं। इससे यह

निष्कर्ष निकलता है कि कठकवक की आकृति एवं वजन का घनकाय सिर (stromatic heed) बनने पर बहुत प्रभाव पड़ता है (कुलकरनी–67)

बाजरे के अलावा अन्य घासों पर जैसे पे. पुरपुरियम (P. purpureum) पे. रेपेलाई (P. reppelii) पे. एलोपीक्यूरोस (P. alopecuros) पे. पोलीस्टेकाइग्रोन (P. polystachyon) से. सिलिएरिस (Cenchurus ciliaris) से. सेटीजीरस (C. setigerus) आदि।

रोकथाम (Control)—

इस रोग का प्रभाव पुष्पक्रम के समय होता है अतः पूर्ण रूपेण रोकथाम तो सम्भव नहीं है परन्तु फिर भी रोग की संक्रमकता को कम किया जा सकता है।

1. जैसा कि ऊपर बताया गया है कि जैसे-जैसे मिट्टी मे गहराई बढ़ती है; कठकवक की जीवन क्षमता बढ़ती जाती है अतः रोकथाम के लिये फसल कटने के बाद तुरन्त गहरी जुताई कर देनी चाहिये।
2. निवेश द्रव्य को कम करने के लिये रोगी बालो को तुरन्त काटकर नष्ट कर दें तथा इन बालियों को खाद के गड्ढे मे नही डाले।
3. बाजरे की बुवाई मे इस प्रकार से परिवर्तन करे कि फसल में फूल आने के समय मौसम अधिक नम या ठण्डा न हो सके।
4. बुवाई के पूर्व बीज के साथ मिले अरगटों को 20% नमक के घोल मे डुबोकर अलग कर दें। बीजो को डुबोने से कठकवक पानी की सतह पर ऊपर आ जाते हैं, जिनको आसानी से निकाला जा सकता है। बाद में स्वस्थ बीजों को 2–3 बार फिर पानी से निकाल कर छाया में सुखाकर थाइरम या केप्टान के 1:150 के अनुपात से उपचार कर लें।
5. रोग ग्रस्त क्षेत्रों में सिरे निकलने से पूर्व कॉपर फफूंदनाशी दवाओ का प्रयोग करना चाहिये। 1/2 किलो कॉपर दवाई एव 1 किलो जिनेब मिलाकर 5 दिन के अन्तर पर 2–3 बार छिड़क दें।
6. कीड़े भी रोग फैलाने में सहायक होते हैं अतः डाइमेक्रोन जैसी कीटनाशक दवाइयों का 0 03% का छिड़काव कर दें।
7. जिन खेतो मे यह रोग लग गया हो वहाँ अगले वर्ष बाजरे की फसल नहीं उगानी चाहिये एवं उसकी जगह ज्वार, मक्का, मूंग या और कोई दूसरी फसल लें।
8. बाजरे का दाना निकलने के बाद रोगग्रस्त बाजरे में बचे हुये भूसे के ढेर को तुरन्त जला दें।
9. स्वस्थ एवं प्रमाणित बीजों को ही प्रयोग मे लायें।

10. रोग प्रतिरोधी किस्में प्रयोग में लें। संकर–1 इससे बहुत प्रभाव्य है तथा उसके पितृ टिफट 23 ए एवं बिल बी 3 भी उतने ही प्रभाव्य है, संकर–2 भी इससे प्रभावित होती है। इसका संक्रमण पे. पुरपुरियम–पे. रेपेलाई, पे. होहेनकेरी (P. hohenackeri) पे. ऐलोपीक्यूरोस (P. alopecuros) पे. पोलीस्टेकायोन (P. polystechyon) सेनचरस सिलेएरिस (C. celiaris) एवं से. सिटीजिरस (C. setigerous) पर भी होता है अतः बाजरे के पास उगे इन पौधों को नष्ट कर दें।

बाजरे का कंड रोग
(Bajra smut)

बाजरे की फसल का यह भी एक प्रमुख रोग है, जिसका प्रकोप लगभग उन सभी क्षेत्रों में पाया जाता है जहाँ बाजरे की खेती की जाती है। इस रोग को कालिमा, कंड, कण्वा आदि नामों से भी जाना जाता है। उत्तरी भारत में इस रोग का प्रभाव अधिक देखा गया है तथा दक्षिण भारत में यदा-कदा (sporadic) ही इसका प्रकोप होता है तथा इससे अधिक हानि नहीं होती है। बम्बई, मद्रास में इस रोग से बहुत हानि होती है। भारत के अलावा पाकिस्तान, मिश्र एवं अफ्रीका में भी इसका प्रकोप देखा गया है।

लक्षण (Symptoms)—रोग के लक्षण पौधे से बाली बाहर निकलने पर ही दृष्टिगोचर होते हैं। इस रोग से केवल अण्डाशय ही संक्रमित होते हैं। इस रोग की उत्पत्ति मिट्टी में पड़े बीजाणुओं के उगने से होती है। ये बीजाणु बालों में जाकर फूलों को संक्रमित करते हैं। शुरू की अवस्था में कंड से प्रभावित दाने बाल के ऊपर जहाँ-तहाँ दिखलाई पड़ते हैं। कभी-कभी केवल एक दाना तथा कभी समूह में दृष्टिगोचर होते हैं। संक्रमित बालों में दानें गहरे हरे, गोल एवं स्वस्थ दानों से लगभग आकृति में दुगुने हो जाते हैं। प्रारम्भ में दानों का रंग गहरा हरा धानीट रंग के समान होता है जो बाद में काला दिखलाई पड़ता है। दानों में सोराई गर्भाशय में बनती है तथा इसमें क्लेमाइडोबीजाणु भरे रहते हैं। इनकी भित्ति मजबूत एवं मसृण होती है। रोग की तीव्रता (intensity) बालों के बहुत कम बिखरी हुयी सोराई से 100% तक हो सकती है। सोराई 3–4 मि. मी लम्बी एवं 2–3 मि मी चौड़ी होती है। फूल के तुष (glumes) इस रोग से संक्रमित नहीं होते है। इस रोग का प्रभाव स्थानीय होता है। (चित्र 3 क. 3)

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology & Life cycle)—यह रोग टोलीपोस्पोरियम पेनीसिलेरि (Tolyposporium penicillarae) नामक फफूंद से होता है। फफूंद का जीवन चक्र केवल रोगी पुष्पों के गर्भाशयों तक ही सीमित है। कवकजाल पटयुक्त, तथा अन्तकोशिय होता है। रोगी बालियों पर बना



चित्र 3 क 3 बाजरे का कंड रोग

काला चूर्ण फफूंद के अन्तकोषिय युग्माष्टिक कवकजाल से बने क्लेमाइडोबीजाणु का समूह होता है। कई क्लेमाइडोबीजाणु से मिलकर रोग को बीजाणु–गेंद (spore ball) बनी होती है जो लगभग 40–150 माइक्रोन व्यास की होती है। क्लेमाइडोबीजाणु आपस में बड़ी मजबूती से जुड़े रहते हैं तथा पानी में रखने पर भी बड़ी मुश्किल से अलग होते हैं। बीजाणु गेंद में स्तम्भिका (coulmella) नहीं होती है। क्लेमाइडोबीजाणु भूरे, गोल से कोणाकार, द्विकेन्द्रिक, 8 से 12·5 माइक्रोन व्यास के मजबूत तथा खुरदरी दीवार वाले होते हैं।

क्लेमाइडोबीजाणु का अंकुरण बहुत मुश्किल तथा कम होता है अंकुरण होने पर चार कोशिका वाली प्रकवक बनती है। अंकुरण होने से पूर्व क्लेमाइडो-बीजाणु के दोनो केन्द्रक सलयित (fuse) होकर एक द्विगुणित (deploid) केन्द्रिक बनाते हैं। द्विगुणित केन्द्रक चार अर्धक केन्द्रकों (haploid nuclei) में बट जाते हैं इनमे से दो केन्द्रक (+) प्रवृति वाले एवं दो केन्द्रक (–) प्रवृति वाले होते हैं। प्रत्येक कोषा के पट के पास से बेसीडियोबीजाणु बनता है जो अंतस्थ तथा पार्श्विक (lateral) दोनों ही प्रकार का होता है। इस फफूंद की यह विशेषता है कि प्रत्येक कोषा टूटकर अलग-अलग बीजाण्वी बनाती है और फिर ये बीजाण्वी जमीन पर से ऊपर की ओर उठने वाली हवा के साथ फूलों के योनिछिद्रों पर पहुंच कर आक्रमण करती है तथा गर्भाशयों में पहुंचने से पहले डाइकेरियोटिक कवकसूत्र उत्पन्न कर देती है।

संक्रमण एवं वार्षिक आवर्तन (Infection & annual recurrence)—

संक्रमण फूलों से ही केवल होता है। दूसरे तरीकों से संक्रमण बीजांकुर, स्थानिक, तना (shoot) भी अध्ययन किया गया परन्तु बीजाणु तथा कवकजाल दोनो

ही पौधों के अन्दर प्रवेश करने में असमर्थ रहे। कवकजाल से जड़ों पर संक्रमण नही हुआ (भट्ट, 1943)/अस्टीलागो न्यूडा (U. nuda) में संक्र (anthesis) की अवस्था में होता है जबकि इस फफूंद मे पराग (pollination) मध्य से पहले ही हो जाता है तथा पराग के बाद कोई संक्रमण नही हो है। छोटे पुष्प पर बाहरी निशान योनिछत्र (stigma) के नही दिखाई दे या परागकोश (anthers) सबसे अधिक प्रभाव्य है। बटलर (Butler, 1918) के अनुसार स्वस्थ पुष्प जमीन पर अंकुरित बीजाणुओं से बनने वाली बीजाणवी द्वारा रोगग्रसित होता है। भट्ट (1946) ने बताया कि यह रोग वातोढ (air borne) है क्योंकि बीजाणु गेंदे (spore ball) जमीन मे पड़ी रहती है और बाल बनने के समय अंकुरित होती हैं तथा बहुत सारे बीजाणवी पैदा कर देती हैं जो कि वायु द्वारा पुष्प के योनिछत्र में पहुंच जाते हैं। इस प्रकार रोग की उत्पत्ति भूमि मे गिरे बीजाणुओं के उगने से होती है। ये बीजाणु बालों मे जाकर फूलो को संक्रमित कर देते हैं। इस रोग का प्रभाव स्थानीय होता है तथा नवोद्भिज (seedling) ग्रसित नही होते हैं। बीजोढ़ से रोग के प्रसार के कोई संकेत नही मिले हैं। सोरस में बनने वाले बीजाणु मजबूती से बन्द रहने के कारण फैल नही पाते हैं परन्तु फिर भी सोराई फटने से यदि किसी प्रकार क्लेमाइडोबीजाणु उड़कर स्वस्थ पुष्पों के योनिछत्रों पर पहुच जाये तो उनमे रोग प्रारम्भ कर सकते हैं।

संक्रमण की तीव्रता पर पर्यावरण का प्रभाव देखा गया है। शुष्क मौसम मे नम मौसम की अपेक्षाकृत कम प्रभाव देखा गया है क्योंकि वातावरण में नमी कम होने की वजह से क्लेमाइडोबीजाणु का अंकुरण अच्छी प्रकार से नही हो पाता है।

रोग नियन्त्रण—

1 रोग का नियन्त्रण थोड़ा मुश्किल है क्योंकि रोगकारक जीव भूमि के अन्दर रहता है तथा संक्रमण वातोढ़ होता है परन्तु फिर भी रोग की सक्रमता को कम करने के लिये निम्न विधियाँ काम मे लानी चाहिये।

(अ) रोग प्रतिरोधी किस्मो का प्रयोग करें। पूसा मोती इससे प्रतिरोधी है। Tf 23A×J 129 एवं Tf 23A×J 275 के संकरण से तैयार की गई किस्म पर इसका कम प्रभाव पड़ता है। संकर किस्म 1 तथा 2 दोनों ही इससे प्रभावित होती देखी गयी है।

(ब) रोगी बालों को नष्ट कर देना चाहिये।

(स) 2–3 वर्ष का फसल चक्र प्रयोग करना चाहिये।

(द) बुवाई के लिये निरोग बीज ही काम मे लायें।

(इ) गर्मी में खेत की गहरी जुताई करें।

2. रसायनों का प्रयोग (use of chemicals)—अभी तक इस रोग की

रोकथाम रसायनों द्वारा करना सम्भव नहीं थी परन्तु दैहिक फफूंदनाशी के अभिस्ताव से अब इसकी रोकथाम करना सम्भव हुआ है। एफ 461-75 डब्ल्यू (वाइटावेक्स) के प्रयोग से कडवां के संक्रमण में कमी पायी गयी। (मौमिक, 1968) वेल्स (Wells, 1966) ने भी बताया कि वाइटावेक्स एवं प्लान्टावेक्स के प्रयोग से कडंवा रोगों की रोकथाम की जा सकती है। कुछ वैज्ञानिकों का यह भी विचार है कि सिट्टे निकलने से पहले कॉपर फन्जीसाइड (1/2 किलो) और जाइनेब (1 किलो) मिलाकर 3–5 दिन के अन्तर पर छिड़काव कर दें परन्तु ऐसा करने से दूसरों का मत है कि कड़ंवा रोग पर इसका कोई असर नही पडता है।

टॉलीपोस्पोरियम सेनेगेलिन्स (Tolyposporium senegalense speng) फफूंद का भी बाजरे पर कभी-कभी प्रकोप देखा गया है।

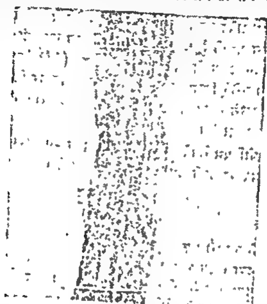
बाजरे का किट्ट
(Bajra rust)

बाजरे की यह भी एक मुख्य बीमारी है। 1904 में सबसे पहले इस रोग का प्रकोप देखा गया। इस रोग का प्रकोप मद्रास, बम्बई, मध्यप्रदेश, राजस्थान एवं बिहार के लगभग सभी क्षेत्रो में देखा गया है। उत्तरी भारत की अपेक्षा दक्षिणी भारत मे इस रोग से हानि अधिक होती है। भारत के अलावा इस रोग का प्रकोप दक्षिणी, मध्य एव पश्चिमी अफ्रिका मे भी होता है। अधिकतर इस रोग का प्रकोप पुष्पण (flowering) के समय होता है अतः विशेष हानि नही होती है (Butler, 1918) परन्तु रामाकृष्णनन् एव सोमिनी (Ramakrishnen and Soumini, 1948) ने बताया कि यह रोग पुष्पण के पहले ही आ जाता है। मिश्रा एव प्रसाद (1979) के अनुसार बीजांकुर अवस्था (seedling stage) भी इससे प्रभावित हो जाती है जिससे पत्तियां बाली आने से पूर्ण ही सूख जाती हैं फलतः काफी नुकसान होता है।

लक्षण (Symptoms)–स्फोट (pustule)—अधिकतर पत्तियो पर बनते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में स्फोट बहुत छोटे आकार के होते हैं जो धीरे-धीरे बड़े तथा एक दूसरे से मिले हुए प्रतीत होते हैं। पत्तियो पर ये स्फोट दाने के रूप मे लम्बे अक्ष मे बनते हैं। पत्तियां समय से पहले सूखने लगती है। कुछ समय बाद पत्ती की खाल से ढके काले स्फोट दिखने लगते हैं। जो इस फफूंद की टेल्यूटो अवस्था है। (चित्र 3 क 4) कभी-कभी फफोले तने पर भी दिखाई देते हैं। किट्ट से प्रभावित पौधों में पानी की आवश्यकता अधिक पडती है। वास्पोत्सर्जन एवं श्वसन क्रियाएं बढ़ जाती है तथा प्रकाश संश्लेपण की क्रिया धीमी पड जाती है।

बैंगन (Brinjal) तथा अन्य चार सोलेनेसी कुल के पौधों के ऊपर इस

फफूंद की दो अवस्थाएं पिक्नीड़ियल एवं इसीड़ियल पायी जाती है। पत्तियों पर सुन्दर नारंगी रंग के धब्बे दिखाई देते हैं जो धीरे-धीरे बढ़ते हैं तथा उनका परिमाण बढ़ जाता है। धब्बों के चारों तरफ चमकदार सा क्षेत्र बन जाता है।



चित्र 3 क 4 बाजरे का किट्ट रोग

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Eliology and life cycle)—यह रोग पक्सीनिया पैनीसिटाई (Puccinia pennisetizimm) नामक फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है जो एक अनिवार्य परजीवी है। यह एक बहुरूपी फफूंद है जिसके जीवन चक्र में कई प्रकार के बीजाणु बनते हैं तथा साथ-साथ भिन्नाश्रयी भी है अर्थात इस रोग की यूरीडियल तथा टेल्यूटो अवस्था बाजरे पर पायी जाती है तथा शेष अवस्थाएं एकान्तर पोषक पर होती है। रामाकृष्णनन् एवं सोमिनी (1948) ने सबसे पहले इस फफूंद का एकान्तर पोषक कृत्रिम संक्रमण से बैंगन बताया। बाद में रामाकृष्णनन् तथा सुन्दरम (1956) ने यह अवस्था प्रकृति में भी देखी परन्तु यह अवस्था सामान्य नहीं थी। बैंगन के अलावा उन्होंने चार और एकान्तर पोषक बताये जो इस प्रकार है: सोलेनम टोरवम (Solonum torvum, सोलेनम प्यूबेसेन्स (S. pubescens), सोलेनम मेलान्जीना वेरा-इनसेनम (S melongena varinsenum) सो. जेन्थोकारपम (S xanthocarpum) इनमें से पहले तीन पर प्रकृति में यह फफूंद पायी गयी है। उत्तरी भारत में सबसे पहले दलेला एवं माथुर ने (1970) में प्रकृति में एकान्तर पोषक बैंगन पर संक्रमण देखा।

पिक्नीडियल अवस्था जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि इसके एकान्तर पर बनती है। बैंगन की पत्तियों के ऊपर यह अवस्था पायी जाती है।

पत्तियो की ऊपरी सतह पर छोटे गोल पीले रंग के एक या एक से अधिक धब्बे दिखाई देते है जो धब्बे धीरे-धीरे बढ़ते है। पिक्निडिया उपबोस्तरीय बनते है जो 100×100 माइक्रोन व्यास के होते है। पिक्निग्रोबीजाणु दीर्घवद (oblong) या दीर्घवृत्तीय (elliptic) रंगहीन 4-8×2-3 माइक्रोन के होते हैं। अंकुरण के समय इन बीजाणुओं से एक नली निकलती हैं जिसे जनित नलिका कहते है। ये पत्तियो की उत्तक मे प्रवेश करके कवकजाल बनाते हैं। ये कवकजाल कई स्थानो पर अधोस्तर के ऊपर व नीचे एकत्र होकर घना जाल बना देते हैं। इसीडियल अवस्था नीचे की सतह पर बनते है। इसीडियम पीले नारंगी रंग के होते है। बाहरी दिवार कीलकी (verrucose), रंगहीन, 23×20(16–30×14-25) माइक्रोन के होते हैं। ईसीडियोबीजाणु जजीर मे बनते है जो गोल से कोणाकार, पीले से नारंगी, बारीक भिति के 21×18(16–25×12–21) माइक्रोन की आकृति के होते हैं। यूरिडोबीजाणु द्विकेन्द्रिक कवकजाल पर बनते हैं जो अण्डाकार, एककोशिक, डाईकेरियोटिक, 35×25 (25–42×21–30) माइक्रोन व्यास के होते हैं। भिति मोटी होती है तथा दो स्तरो की बनी होती है। इसमें बाहरी परत एक्सीन काटेदार, पीली भूरी होती है एवं बाहरी भिति मे चार जनित छिद्र होते हैं जो मध्यतलीय रहते हैं। परिपक्व यूरिडोबीजाणु अनुकूल अवस्था मिलने पर एक या दो अंकुरनाल द्वारा अंकुरित होते हैं। जो पोषक के उत्तक मे पर्णरन्ध्र के द्वारा प्रवेश करते हैं। बसु चौधरी (1955) ने आगरा मे बताया कि यूरिडो-बीजाणु 41–42° से पर 8 घंटे तथा 10° से. पर 150 दिन तक जीवन क्षम रहते हैं। उनके अनुसार बीजाणु 45·8° से. या उससे ऊपर जीवित नही रहते है। टैल्यूटोबीजाणु फसल के पकने के समय यूरिडोपुंज वाले कवकजाल पर ही बनते हैं। बीजाणु भूरे से काले, ऊपर के सिरे पर चौड़े एवं नीचे के सिरे पर बारीक होते हैं जिनका परिमाण 49×21 माइक्रोन होता है। इन बीजाणुओ का शीर्ष गोल अथवा नोकिला होता है। टेल्यूटोबीजाणु की रचना यूरिडोबीजाणु से बिल्कुल भिन्न होती है। ये बीजाणु कुछ समय के विश्राम के बाद तीन पटयुक्त चार कोशिका प्रकवक द्वारा अंकुरित होते है जिन पर चार बेसीडियोबीजाणु (हर एक कोशा पर एक) बनते हैं। कुलकरणी (1953) के अनुसार टेल्यूटोबीजाणु अंकुरण होने पर दो कोशिकायुक्त बेसीडिया बनती है जिस पर केवल दो बेसीडियोबीजाणु बनते हैं जो द्विकेन्द्रिक (binucleate) होते है। परन्तु बाद मे चतुकोशिका (quadrinucleate) बन जाते हैं। जेकसन (1931) के अनुसार द्विकोशिक बेसीडिया लघु चक्र (short cycling) से साहचर्य (associated) है परन्तु बेसीडियोबीजाणु से अन्तक्रमण करने पर विपरीत नतीजे प्राप्त हुए। कुलकरणी (1956) ने डिप्लाडाइजेशन का तरीका कोशिका के सायुज्न से क्रिस्टेमेन टाइप (christmen type) बताया। टेल्यूटोबीजाणु (fresh) 1·24 शर्करा के घोल में मे प्रयोगशाला मे 72 घन्टे मे अंकुरित हो जाते हैं। प्रसादा (1948) के अनुसार

10–20° से. पर 12 घन्टे में अकुरण हो जाता है तथा शुष्क अवस्था में 5–7° से. पर रखने पर 9 महिने तक जीवन क्षम रहते हैं, परन्तु 45–50° से. पर 36 घन्टे में ही मर जाते हैं।

वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार—

उत्तरी भारत में यह रोग हर वर्ष सितम्बर माह में दिखाई देता है। जो दक्षिण भारत में बाजरे की फसल से यूरिडोबीजाणु के द्वारा दक्षिण पश्चिम की हवा से उड़कर आते हैं तथा फसल को रोगग्रसित कर देते हैं (दसेला, 1959)। इस फफूंद के एकान्तर पोषक पर भी इसीडियोबीजाणु प्रकृति में पाये गये हैं तथा इस पोषक से बाजरे की फसल पर संक्रमण हो सकता है, बाजरे पर इसीडियोबीजाणु से यूरिडिया बनने में 8 दिन का समय लगता है।

रोकथाम—

1 रोग ग्रसित पत्तियों को नष्ट कर देना चाहिये।

2 लक्षण दिखाई देते ही जिनेब+कॉपर ऑक्सीक्लोराइड 1 से 1½ किलो ग्राम प्रति हैक्टर के हिसाब से छिड़काव कर देना चाहिये। आवश्यकता पड़ने पर 10–15 दिन बाद दुबारा छिड़काव कर देना चाहिये। दसेला (1962) ने छिड़काव तथा भूमि में दवा मिलाकर कई दवाओं का प्रयोग किया तथा बताया कि संक्रमण 2,4 डी (10 पीपीएम) से अन्तक्रमण के 24 घन्टे बाद तथा सल्फाडाइजिन (1000 पीपीएम) एवं स्ट्रैप्टोमाइसिन (1000 पीपीएम) अन्तक्रमण के 24 घन्टे पहले या बाद करने पर संक्रमण की मात्रा कम हो जाती है। उन्होने भूमि में कई दवाओं का प्रयोग किया परन्तु अच्छे परिणाम प्राप्त नहीं हुए। अभी किये अनुसंधानों के अनुसार अन्तक्रमण के समय या 24 घन्टे पूर्व जिराम, बयूनामार, डायथेन एम 31, एम-45 एवं ओ–पिनाक्रोनीन आदि में से किसी एक के छिड़काव करने से संक्रमण बहुत कम हो जाता है।

इस रिट्ट का नियन्त्रण जैविक विधी से भी किया गया जिसमें 40% नियन्त्रण ट्राइकोडरमा कोनिनजी (Trichoderma kuenigi), एस्पर्जिलस जापोनिकस (Aspergillus japonicus) से तथा 70 से 80% किटोमियम ग्लोबोसम (Chaetomium globosum) से हुआ।

3. रोग प्रतिरोधी किस्मों का प्रयोग करना चाहिये। सकर 1 एवं 2 इस रोग से बहुत अधिक प्रभाव्य है पी. टी. 8, 14, 13, नम्बर के सर्वे इस रोग से प्रतिरोधी है।

ब्लास्ट
(blast)

बाजरे के ब्लास्ट का सबसे पहले 1952 मे कानपुर में वर्णन किया गया (मेहता, et al 1952) 1971–72 से इस रोग का प्रकोप राजस्थान में काफी देखा जाने लगा है।

लक्षण (Symptoms)—

इस रोग के लक्षण सर्वप्रथम पौधे की निचली पत्ती पर दृष्टिगोचर होते हैं। पत्तियो पर छोटे-छोटे हल्के भूरे धब्बे दिखाई देते हैं तथा धीरे-धीरे धब्बे आपस गहरे भूरे गोलाकार 0·2 से. मी. व्यास के हो जाते हैं। कभी यह धब्बे 1 से. मी के भी देखे गये हैं। कभी-कभी यह धब्बे आपस में मिल जाते हैं और लम्बे तथा विशेप आकार के नहीं रह पाते।

धब्बे के चारो ओर 2 से 7 एककेन्द्रक वलय (Concentric rings) हल्के भूरे से गहरे भूरे रंग की बन जाती है जो मंडल (zone) की आकृति की सी दिखाई देती है। कोनिडियोफोर तथा कोनिड़िया इन एककेन्द्रक वलय में ही बनते है। यह रोग बाजरे के अन्य रोगों से एककेन्द्रक वलय को गोल धब्बों पर बनने से पहचाना जा सकता है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle)—यह रोग पिरीकुलेरीया पेनीसीटाई (Pyriculria penniseti Prasad and Goyal) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। कवकजाल पटयुक्त, शाखायुक्त होता है। बीजाणु शीर्ष आकृति (top shaped) के रंगहीन अधिकतर 3 कोपा वाले सीधे या कुछ मुड़े हुए 17·6–3·8 × 5·9–8·8 माइक्रोन के तथा छोटी उपाग (appendages) चौड़ी कोशिका पर होती है। धब्बों के दोनों ओर बीजाणु बनते है तथा ये वृश्चिकाय (scorpiod) मे कोनिडियोफोर पर बनते है। कोनिडियोफोर भूरे, पटयुक्त होते हैं जो धब्बो के बीच से पर्णरन्ध्रों द्वारा बाहर निकलते हैं।

बाजरे के प्रभेद धान के उपर तथा धान के प्रभेद का बाजरे के उपर अन्तः क्रमण किया गया लेकिन किसी भी प्रकार के लक्षण आपस मे उत्पन्न नही हुए। सफल सक्रमण पोपक पर 4 से 6 दिन में हो जाता है।

पत्ती-धब्बा रोग
Leaf Spot

बाजरे की फसल पर इस रोग का भी प्रकोप देखा गया है। इससे पहले इस रोग का मालुम 1920 मे उत्तर-पश्चिम में हुआ। कई जगह पर यह रोग काफी नुकसान पहुंचाता है।

Mitter, J H and R N. Tandon (1930). A note on Sclerospora graminicola (Sacc) Schroet. In Allahabad. J. Indian Bot. Soc. 9: 243.

Mundkur, B B. (1940) A contribution to our knowledge of Indian Ustilaginales. Trans Brit Mycol. Soc. 24: 325.

....and M J Thirumalachar (1952). Ustilaginales of India. Common W. Mycol. Inst Kew.

Narayanan, S A (1963) The genus Sclerospora in India. Mycopath et Mycol. appl 20: 315–317.

Patel, M.K and M V Desai (1959). Use of Polythene bags to secure high infection by Tolyposporium penicillariae Bref in Pennisetum typhoides Curr. Sci 28: 248–249.

Prasada, R (1948). Studies on the formation and germination of teliospores of rusts I. Indian Phytopath 1: 119 126

Remacher, P (1965) Taxonomy of Puccinia penniseti J Indian Botan Soc 44: 21 –223.

Ramakrishan T.S. (1952). Adm Rep. Govt Mycol Madras Agri Dept 51–52

Ramakrishan, T S (1963). Diseases of Millets ICAR Monograph.

Ramakrishan, T S and C K. Soumini (1948) Studies on cereal rusts I Puccinia penniseti and its alternate host Indian Phytopath 1: 97–103

....and N.V. Sundaram (1956). Further studies on Puccinia penniseti Proc. Indian acad. Sci. B–43: 190–196.

Safeeullah, K.M. and M J Thirumalachar, (1956). Periodicity factor in the production of a sexual phase in Sclerospora graminicola (Sacc.) Schroet on Pennisetum typhoides stapf, and Hubbard. Indian Phytopath 5: 66–75.

Singh, H. and K.K. Pusphapaurthy (1965), Morphological and histological changes induced by Sclerospora graminol-

cola (Sacc) Schroet. in Pennisetum typhoides Stapf. et. Hubbard. Phytomorphology 15: 338–353.

Singh, R S. (1968) Plant Diseeses Ind. ed. Oxford and I.B.H. Publishing Co. Calcutta 494 pp.

Sinha, S. and R G. Kapooria (1966). An aspect of microbial control of Bajra rust. Proceedings of the Symposium on diseases of Rice, Maize and Sorghum and Millets I.P.S. Bull 3: 61–64.

Sundaram, N.V. (1968). Control of ergot disease of Sorghum and Bajra Proceedings of First Summer Institute in Plant Disease control I A.R.I., pp. 164.

..................Control of rust and other leaf spot diseases of Sorghum and Bajra. Proceedings of First Summer Institute in Plant Disease control, I A R.I. pp 166.

Suryanarayana, D. (1962). Infection caused by oospore of Sclerospora graminicola on Pennisetumt typhoides Indian Phytopath 5: 66–75

Suryanarayana, D.(1956). Oospore germination of Sclerospora graminicola (Sacc) Schroet on Bajra (Pennisetum typhoides stapf and Hubbard) Indian Phytopath 9: 182–185.

..................(1962). Infectivity of oospore material of Sclerospora graminicola (Sacc) Schroet, the green ear pathogen. Indian Phytopath 15: 247–249.

..................(1966). Studies on the downy mildew diseases of millets in India. Proceedings of the symposium on Diseases of Rice, Maize, Sorghum and Millets I. P S. Bull. 3: 72–78.

Thomas, K.M., T.S. Ramakrishanan and K V. Sadasivan (1945). The natural occurrence of ergot in south India. Proc. Indian Acad Sci. B–21: 93–100.

Tiwari, M.M. and H.C. Arya (1966). Studies on green ear disease of Bajra caused by Scler spora graminicola (Sacc) Schroet. Indian Phytopath 19 : 125(Abstr.)

Uppal, B.N. and M.K. Desai (1931). Physiologic specialization in Sclerospora graminicola Phytopathology 21 : 337–8.

.... and M.N. Kamat (1928). Artificial infection of Pennisetum typhoideum by Sclerospora graminicola. Agric. J. India 23: 300–310.

Vasudeva, R S. and M.R.S. Iyenger (1950). Secondary infection in the Bajra smut disease caused by Tolyposporium penicillariae. Bref. Curr. Sci. 19: 123.

Weston, W.H. (1924). Nocturnal production of conidia by Sclerospora graminicola. Jour. Agri Res. 27: 771–784.

Weston, W.H. and B.N. Uppal (1932). The basis for Sclerospora sorghi as a species. Phytopathology 22: 573–586.

(ख) ज्वार के रोग

(Jowar Diseases)

उष्ण कटिबंधीय धान्य की फसलों मे ज्वार का प्रमुख स्थान है। इसकी खेती साधारणतया भारत, चीन, अफ्रीका, दक्षिणी यूरोप, अमेरिका, आस्ट्रेलिया व दक्षिणी पूर्वी एशिया वाले राज्यों के सूखे व गर्म क्षेत्रो मे की जाती है। बारानी क्षेत्रों में भी ज्वार की फसल भली प्रकार उगायी जा सकती है। देश मे लगभग 1,80,000,00 हैक्टर भूमि में इसकी खेती की जाती है जिससे लगभग 10,000,00 टन खाधान्न का उत्पादन होता है। भूमि के अनुसार सभी धान्य फसलो में ज्वार का स्थान दूसरा तथा उत्पादन मे तीसरा है। प्रत्येक दस भारतीय किसानों में चारे का यह मुख्य साधन है। नौ राज्यों मे अन्य फसलो की अपेक्षा ज्वार ही अधिक भूमि में उगायी जाती है। ज्वार की प्रति एकड़ उपज बहुत कम है तथा चावल, गेहूं की अपेक्षा इसकी औसत और भी कम है। कम पैदावार के कारणों मे से रोग प्रमुख है।

ज्वार पर कई प्रकार के रोग लगते हैं, जो पौधे के किसी भाग को या सम्पूर्ण पौधे को नुकसान पहुंचाते हैं। फसल की सभी प्रकार के रोगों से हानि के आकड़े तो प्राप्त नही है। बटलर (1918) के अनुसार किन्ही क्षेत्रों मे केवल दाना कडुंवा (Grain smut) रोग से 25 प्र. श. उपज तक नष्ट हो जाती है। ज्वार की फसल पर होने वाले मुख्य रोग तथा उन रोगकारक जीव इस प्रकार है:—

रोग का नाम	रोगकारक जीव
(1) (क) मृदुरोमिल (Downy mildew)	स्कलेरोस्पोरा सोरगी Sclerospora sorghi (Kulk) Weston and Uppal.
(ख) क्रेजी टाप मृदुरोमिल (Crazy top)	स्कलेरोफ्थोरा मेक्रोस्पोरा Sclerophthora macrospora Sacc.
(2) कंड रोग (Smut diseases)	स्फेसिलोथिका सोरगी Thirum Shaw and Hares Sphacelotheca sorgi (Link) Clint
(क) दाना कंड (grain smut)	स्फेसिलोथिका क्रुयन्टा S. cruenta (Kuhn) Clint

(ख) छिदरा कंड (Loose smut)	स्फेसिलोथिका रिलाइना S. reiliana (Kuhn) Clint
(ग) चोटी कंड (Head smut)	
(घ) लम्बा कंड (Long smut)	टोलीपोस्पोरियम एहरनबर्गी Tolypotium ehrenbergii (Kuhn) Pat.
(ङ) अन्य कंड रोग (Other smut diseases)	स्फेसिलोथिका होलसी S. holci Jackson; आस्टिलागो केन्जियाना Ustilago kengiana Ito; सोरोस्पोरियम इन्ड्रोपोगोनिस सोरगी Sorosporium andropogonis sorgi Ito.
(3) किट्ट	पक्सीनिया पुरपुरिया Puccinia purpurea Cooke
(4) पत्ती धब्बा (Leaf spot)	
(क) भूरा पत्ती धब्बा Gray leaf spot	सरकोस्पोरा सोरगी C. sorghi Ellad Evar
(ख) लाल पत्ती धब्बा Red leaf spot	कॉलिटोट्राइकम ग्रेमीनीकोलम C. graminicolum (Ces) Wilson
(ग) मध्य शिरा धब्बा Mid rib spot	ग्लोमेरेला ट्यूकूमेनसिस Glomerella tucumensis (Speg.) Arx and Mueller
(घ) जोनेट पत्ती धब्बा Zonate leaf spot	ग्लीयोसरकोस्पोरा सारगी Gloeocercospora sorghi Bain and Edgerton
(5) खुरदरा पत्ती धब्बा	ऐस्कोकाइटा सोरगी Ascochyta sorghi.
(च) भूटी स्ट्राइप (Sooty stripe)	रेमुलिस्पोरा सोरगी R. sorghi
(छ) अनियमित पत्ती धब्बा Irregular leaf spot	फाइलोस्टिक्टा सोरघीना Phyllosticta sorghina Sacc
(ज) टार्गेट धब्बा (Target spot)	हैल्मिन्थोस्पोरियम सोरगीकोला Helminthosporium sorghicola Lefebvre Sherwin

) पत्ती झुलसा (Leaf blight)

(1) ट्राइकोमेटास्फिरिया टरसीका

	Trichometesphaeria tuscica (Pass.) = Sctophacrıa turcıca Leoonard and suggs
(2) है. केटेनेरियम	H. catenarium Drechsl. Dreehslera catenaria
(3) है. हेलोड्स	H. halodes Drechsl
(4) है. रोस्ट्रेटम	H. rostratum Drechsl Exserobilum rostratum
(5) है. टेरीस	H. teres Sacc. Drechslera teres
(6) है. सेटाइवम	H. sativum (P. K and B) (Bıpolarıs sorakinrana)
(7) है. विक्टोरिया	H. victoriae Mechon and Murphy
(7) गलन (Rots)	
(क) वृन्त गलन (Stalk rot)	मैक्रोफेमिना फेजियोलाई Macrophomina phaseoli (Maubl) Asthoby
	जिबरेला फुजीकरोई Gibberella Fugıkurai (Saw.) Wollenw.
(ख) जड़गलन (Root rot)	पेरीकोनिया सिरसेनेटा Periconia circinata (Mensıs) Secc.
	राइजक्टोनिया सोलेनाई Rhizctonia solani
(ग) बीज एवं प्राकुंर गलन (Seed and seedıng rot)	पीथियम की जातिया Pythium spp
	फ्यूजेरियम मोनोलीफार्मी F. monoliforme Sheldon
	फ कलमोरम F. culmorum (W G. Sm) Sacc.
	पेनीसीलियम ग्राक्सेलिकम Penicillium oxalicum (Curive and Thom)
(8) शर्करा रोग (Sugary disease)	स्फेसिलिया सोरगी Sphacelia sorghi

मृदुरोमिल
(Downy Mildew)

ज्वार का यह एक प्रमुख रोग है, जिसके कारण फसल को बहुत नुकसान पहुंचता है। दो प्रकार के मृदुरोमिल रोग इस फसल पर लगते हैं जो क्रमशः पत्ती शीर्ण (Shredding) व क्रेजी टॉप के नाम से जाने जाते हैं।

पत्तीशीर्ण रोग (Leaf shredding) :—

ज्वार का यह रोग अफ्रिका, केन्या, युगांडा, अमेरिका तथा भारत में मुख्य रूप से होता है। भारत में यह रोग प्रमुखतः दक्षिणी भारत में तथा उत्तरी भारत में भी इसका प्रकोप नमी वाले स्थानों में ही पाया गया है। मैसूर, मद्रास, आन्ध्र-प्रदेश, बम्बई, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, राजस्थान आदि राज्यों से इसके होने के संकेत मिले हैं। चारे वाली ज्वार पर दाने वाली ज्वार की अपेक्षा इस रोग का प्रकोप अधिक देखा गया है क्योंकि इसमें पौधों की संख्या अधिक होती है जिससे खेत में अधिक नमी व तापमान कम रहता है।

लक्षण (Symptoms)—ज्वार पर स्थानीय व दैहिक दोनों ही प्रकार के लक्षण उत्पन्न होते हैं। स्थानीय लक्षण पौधे पर 2–3 सप्ताह बाद से जलांसिक्त धब्बों के रूप में दिखाई देने लगते हैं जो बाद में गहरे बैंगनी रंग के हो जाते हैं। धब्बे साधारणतः आयताकार होते हैं जिनका आकार 5×30 मिली मीटर तक होता है। पत्ती की अपाक्ष (Abaxial) सतह पर इन धब्बों पर फफूंद के कोनिडिया व कोनिडियोफोर बनते है जो नमी वाले मौसम में प्रातः अच्छी प्रकार देखे जा सकते है। स्थानीय संक्रमण पौधे की प्रारम्भिक अवस्था में अधिक तथा परिपक्व अवस्था में कम होता है, साथ ही परिपक्व पौधे में यह बाद में दैहिक संक्रमण भी नहीं कर पाता। संक्रमित पत्तियां विकृत होकर व्याकृत एवं झुर्रीदार हो जाती हैं।

इस रोग के कारण ज्वार पर कई प्रकार के दैहिक लक्षण उत्पन्न होते हैं जो पौधे की वृद्धि पर निर्भर करते हैं। जिन पौधे में पर मृदुरोमिल फफूंद दैहिक रूप से प्रारम्भिक अवस्था में ही लग जाती है उनके लक्षण पुष्प विभेदीकरण के बाद लगे मृदुरोमिल फफूंद के लक्षणों से भिन्न होते है। संक्रमित बीजांकुरों की पत्तियां हल्की पीली व सिकुड़ी रह जाती है उनकी दोनों सतहों पर फफूंद के कोनिडिया व कोनिडियोफोर की मृदुरोमिल वृद्धि दिखाई पड़ती है। इस प्रकार के बीजांकुर वृद्धि तो करते रहते हैं किन्तु उनकी ऊपरी पत्तियां फैल नहीं पाती। इनकी पत्तियों पर सफेद धारियां बन जाती है जो बाद में भूरी पड़ जाती हैं। रोग के प्रभाव से पौधे छोटे रह जाते हैं तथा दाने बनने पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। उग्रावस्था में तो पौधे में बालें बिल्कुल ही नहीं बन पाती हैं।

दूसरे प्रकार के दैहिक लक्षण जब पौधा 2 महिने का होता है तब दिखाई देने लगते हैं। पौधे की इस अवस्था में रोग के कारण पौधे की ऊपरी पत्तियां और

कुछ नीचे की पत्तिया सफेद पीली पड़ जाती हैं। कुछ समय बाद इन्ही पत्तियो पर भूरी धारिया दिखाई पडने लगती है। अन्त मे पत्तिया पूर्ण या अपूर्ण रूप से बिखर जाती हैं। ऐसे पौधो की बालिया छोटी व वन्धय होती है और उन पर दाने कम सख्या पर मे लगते हैं। पटेल तथा अन्य (1950) ने रोग के कारण सब प्रथम हरी बाली के लक्षण भी देखे किन्तु उन्होने यह नही बताया कि यह स्कलेरोस्पोरा सोरगी के कारण थे।

हेतुकी एव जीवन चक्र (Etiology and life cycle)

यह रोग स्कलेरोस्पोरा सोरगी *Sclerospora sorghi* (Weston and Uppal) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। सर्वप्रथम यह फफूंद स्कलेरोस्पोरा ग्रेमिनीकोला के नाम से प्रस्तावित की गई। कुलकरनी (1913) के अनुसार यह फफूंद बाजरा या सिटेरिया पर लगने वाली फफूंद से भिन्न है। अतः उन्होने इस फफूंद का नाम स्कलेरोस्पोरा ग्रेमिनीकोला प्रभेद एन्डोपोगोनीस-सोरगी रखा। इसके पश्चात वेस्टन व उप्पल ने सन् (1932) मे बाजरा, सिटेरिया व ज्वार की मृदुरोमिल फफूंद का विस्तृत अध्ययन किया और इसका नाम स्कलेरोस्पोरा सोरगी (S sorghi) बताया

इस फफूंद के गुण बाजरे के स्कलेरोस्पोरा ग्रेमिनीकोला नामक फफूंद से मिलते हैं किन्तु इसकी बीजाणुधानीधर की अन्तिम शाखाएं बडी (16 माइक्रोन की) होती है। फफूंद का कवकजाल अपट, अन्तरा कोशिक, एहौन व बहुकेन्द्रिक होता है जो कि पेड व तनें के पेरनकाइमेटस् ऊत्तको तथा पत्ती के मध्यपर्णोति (Mesophyll) उत्तको मे रहता है। फफूंद अगुंली जैसी प्रकृति के प्रचूषाग द्वारा भोजन प्राप्त करती है।

अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है जो पत्तियो के पर्णरन्ध्र (Stomata) से निकले हुए कोनिडियोफोर पर बनते है। कोनिडियोफोर की लम्बाई 200 माइक्रोन होती है तथा इनके निचले भाग पर एक या दो पट पाये जाते है। कोनिडिया रंगहीन, गोल, 15–19 माइक्रोन व्यास के बिना शीर्ष पेपीला (Apical papilla) वाले होते हैं। कोनिडिया एक या दो जनित नलिकाओ द्वारा सीधे अंकुरित होते हैं।

फफूंद का लैंगिक जनन विषमयुग्मी होता है जिसके फलस्वरूप गहरे भूरे, गोल, 32 (25–43–माइक्रोन) माइक्रोन के निषिक्ताड बनते है। इनकी भित्ति 4 माइक्रोन के लगभग मोटी होती है। अकुरण होने पर एक या अधिक जनित नालिका बनती हैं।

वार्षिक आवर्तन व प्रसार (Annual recurrence and spread)

मुख्यतः यह मृदढ रोग है। निषिक्ताड अकुरित होकर प्रांकुरो मे संक्रमण कर देते हैं। संक्रमण 11 से 34° से. के मध्य होना है। संक्रमण के लिए अनुकूलतम तापमान 20° से० होता है। निषिक्ताण्ड भूमि में पड़े मलबे के साथ 3–4 वर्ष तक

अंकुरण क्षम रहते हैं। सूर्यनारायण (1954) के अनुसार फफूंद के निपिण्ड खेत में रखने पर 15 महिने पश्चात् भी अंकुरण नहीं कर पाते। अन्तः क्रमण के 12–15 दिन पश्चात् रोग के प्रथम लक्षण दिखाई देने लगते हैं। पौधे में संक्रमण सर्वप्रथम भूमि के नीचे वाले भागो में होता है, जो बाद में दैहिक रूप से ऊपर की ओर बढ़ता है। द्वितीयक संक्रमण कोनिडिया द्वारा होता है जो वायु व कीड़ों द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते हैं।

रोग साधारणतः नमी वाले स्थानो पर अधिक देखा गया है। कार्बनिक खादों का उपयोग पौधे को इस रोग के प्रति अधिक सुग्राही बना देता है।

रोकथाम (Control) : फफूंद के निपिण्ड भूमि में पड़े मलबे में रहते हैं अत इसकी रोकथाम करना कठिन है।

1. संक्रमित बीजो का किसी पारावर्गी फफूंदनाशी दवा से उपचार कर बोने से निवेष द्रव्य की मात्रा कम की जा सकती है। बीजाणुधानी द्वारा उत्पन्न द्वितीयक संक्रमण को एक या दो छिड़काव जिनेब या मेनेब 0.2% के 15–20 दिन के बीजाकुर होने पर करने से नियन्त्रित किया जा सकता है (सुन्दरम, 1976)।
2 कटाई के बाद खेत में पेड़ पौधों के अवशेषों को एकत्र कर जला देना चाहिए क्योंकि प्राथमिक संक्रमण पौधो के मलबे में पड़े बीजाणुओं द्वारा होता है।
3. खेत के पास उगे घास खरपतवारों को नष्ट कर देना चाहिए, विशेष तौर से आसपास कोई भी पोषक पादप जैसे मक्का एवं टिमोसिनट आदि नहीं होने चाहिए। दैहिक रूप से ग्रसित पौधो को समय-समय पर निकाल कर नष्ट कर दें। ग्रसित पौधे न तो खाद के गड्ढो में डालें न जानवरों को खिलायें।
4 रोग रोधी किस्मों द्वारा भी इस रोग की रोकथाम की जा सकती है। नागराजन आदि (Nagarajan et al, 1970) ने ज्वार E 3981 किस्में जो विश्व के सभी भागों से ली गई थी उनके परीक्षण किए फलस्वरूप 1909 किस्में रोग रोधी पायी गई। इस दिशा में अभी प्रयत्न जारी हैं। ज्वार की किस्म सी एस एच–1 व वाई एस–84 विभिन्न क्षेत्रों में साधारण रोग रोधी पाई गई हैं। गोविन्दु आदि (Govindu et al, 1970) के अनुसार मैसूर से ज्वार की 12 किस्मों में सी एस एच–2, सी एस 2–3–1 पर 90% से कम संक्रमण पाया गया जब कि सी एस एच–1 पर 25% था।
5. पोटाश खाद के प्रयोग से इस रोग का संक्रमण कम होता है। (सुन्दरम, 1976)

क्रेजी टॉप (Crazy top)—व्हाइटहेड ने सन् 1957 में सर्वप्रथम इस रोग को देखा था। आस्ट्रेलिया, कनाडा, भारत, इजराइल, इटली, जापान तथा अमेरिका मे 46 जातियो पर इस फफूंद का प्रकोप देखा गया है। भारत में क्रेजी टॉप रोग सर्वप्रथम बम्बई क्षेत्र मे पटेल आदि द्वारा देखा गया (Patel et al 1950) इन्होने फफूंद का विवरण नहीं दिया किन्तु ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि रोग पैदा करने वाली फफूंद स्कलेरोस्पोरा मेक्रोस्पोरा ही थी। हमारे यहा इस रोग का प्रकोप बहुत ही कम होता है।

लक्षण (Symptoms)—रोग से कारण फसल पर दैहिक प्रकार के लक्षण उत्पन्न होते हैं। रोगी पौधे की बालियां असामान्य हो जाती हैं। जड़ों को छोड़कर पौधे के सभी भागो पर इस रोग का प्रभाव देखा गया है। एक ही पौधे से बहुत अधिक दोजी या प्ररोहण निकलते हैं तथा पौधा छोटा रह जाता है। इसके लक्षण मक्का के क्रेजी टॉप व बाजरे के हरित बाली रोग से बहुत कुछ मिलते हैं। ग्रसित पौधों में दाने हल्के तथा बहुत छोटे बनते हैं।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and Life Cycle)—यह रोग स्कलेरोस्पोरा मेक्रोस्पोरा नामक फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है। विस्तृत अध्ययन के लिए पढ़िए मक्का का क्रेजीटॉप।

कंड़
(Smut)

ज्वार पर 4 प्रकार के कंड़ रोग मुख्य रूप से लगते है।

1. दाना कंड़ (Grain smut)
2. छितरा कंड़ (Loose smut)
3. चोटी कंड़ (Head smut)
4. लम्बा कंड़ (Long smut)

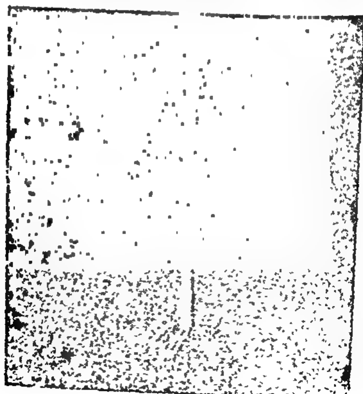
दाना कंड़ रोग (Grain smut) - दाना कंड़ रोग ज्वार की फसल का एक महत्वपूर्ण रोग है। भारतवर्ष मे यह रोग मुख्यतया आन्ध्रप्रदेश, मैसूर, महाराष्ट्र, गुजरात, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश आदि राज्यो मे होता है। 3 से 40% तक का इस रोग से औसतन नुकसान आकां गया है। भारतवर्ष के अलावा यह रोग अमेरिका मचूरिया, बर्मा, तंगानिया, दक्षिणी व पश्चिमी अफ्रिका, इटली, वेनेज्यूएला आदि देशो में ज्वार की फसल को नुकसान करता है। इस रोग से हानि के कुछ आकड़े इस प्रकार हैं।

देश का नाम	वार्षिक नुकसान	सन्दर्भ
1. भारत	25%	बटलर (1918)
2. अमेरिका	$ 2,000,000	मेलचरस, (1925)

3. मचूंरिया	20–30%	टाकासूगीव मुकेर्जी (1933)
4. तंगानिया	25%	वालेस (1934)
5. इटली	30–60%	गोयड्रतिच एवं स्कारदोवी (1946)
6. वेनेज्यूएला	30%	सिवकारोन व माला गुटी (1940)

इस रोग को ढका कड, छोटा कंड करूणा कंड आदि नामों से भी जाना जाता है।

लक्षण (Symptoms)—रोग के लक्षण बालियों मे दाना बनने के समय ही दिखाई पड़ते हैं। रोगी बाली में लगभग सभी दाने अण्डाकार या लम्बे बेलनाकार भूरे रंग की थैली जैसे हो जाते हैं, जिनमें काला चूर्ण भरा रहता है (चित्र 3 ख 1)। इनका आकार फसल की किस्मो पर निर्भर करता है। कभी-कभी यह नुकीली



(चित्र 3 ख 1)

होती हैं इनकी लम्बाई 5–15 मि. मी. तथा चौड़ाई 3–4 मि. मी. होती है। बाहरी दीवार मजबूत व सटी हुयी होती है, जो कवक व पोषक उत्तकों से मिलकर बनती हैं। यह सोराई नीचे की ओर तुषों से घिरी रहती हैं। पुंकेसर (Stamens) साधारणत: या तो वृद्धि नहीं करते या फिर सोरस में बदल जाते हैं जो इसके बाहर की तरफ उठे हुये से नजर आते हैं। कुक्षि (Stigma) में कोई परिवर्तन नहीं होता है। सोरस के अन्दर स्तम्भिका (Columella) होती है। स्तम्भिका (Columella) व बाहरी भित्ति के बीच में असंख्य काले चूर्ण रूपी बीजाणु भरे रहते हैं। तुषों को छोड़कर पुष्पाक्ष के अन्य सभी भाग बीजाणु चूर्ण में परिवर्तित हो जाते है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle)—यह रोग स्फैसिलोथिका सोरगी (Sphacelotheca sorghi (Link) clint) नामक फफूंद द्वारा फैलता है।

समानार्थक (Synonyms) सोरोस्पोरियम सोरगी (Sorosporium sorghi Link)

टिलेशिया सोरगी-वलगेरिस (Tilletia sorghi vulgaris Tul.)

सिनट्रैक्टिया सोरगी-वलगेरिस (Cintractia sorghi vulgaris (Tul) unt)

इस फफूंद के बीजाणु गहरे भूरे रंग के चूर्ण के रूप में भरे रहते है। क्लैमाइडो बीजाणु आकार में गोल या अण्डाकार जैतुनी भूरे (Olive brown) चिकनी सतह के होते हैं। इनका व्यास 5–9 माइक्रोन होता है। बीजाणु समूह के बीच में वन्ध्य कोषायें (Sterile cells) घिरी रहती हैं।

बीजाणुओं का अंकुरण बिना सुप्त अवस्था के तुरन्त या फिर उनके 6½ घण्टे के लिए सूखे वातावरण में रखने से हो जाता है। फिशर (1936) के अनुसार बीजाणुओं की अंकुरण क्षमता उनके एकत्र करने के समय की परिपक्वता पर निर्भर करती हैं। यहां तक की 13 वर्ष पूर्व एकत्रित किये हुये प्रादर्श (Specimen) से लिये गये बीजाणु अंकुरण क्षम पाये गये। साधारणत: सूखे वातावरण में रखे गये बीजाणु बहुत अधिक समय तक अंकुरणक्षम रहते है।

बीजाणुओं को अंकुरण जनित नलिका व स्पोरिडिया दोनों के द्वारा ही होता है। चार कोशाओं में से 2 में (+) केन्द्रिक व 2 में (−) केन्द्रिक होता है। अंकुरण होने पर 4 कोशिका वाली प्रकवक बनती है, जिनमें एक-एक केन्द्रिक होता है। इन कोषाओं पर मुकुलन द्वारा स्पोरिडिया बनते है जो 12×5×2–3 माइक्रोन के होते हैं।

स्पोरिड़िया अंकुरित होने पर जनित नलिका बनाते है। डाइकेरियोटाइजेशन दो विपरीत प्रभेद वाली अंकुरनालो के सलदित होने से होता है। जिसके फलस्वरूप आगे की वृद्धि वाली प्रत्येक कोशिकाओं में दो केन्द्रिक हो जाते है। यह कवक जाल

अंकुरित बीज के अधोबीजपत्र (Hypocotyl) को भेद कर भ्रूणाग्राचोल मे पहुंच जाता है और पौधे की वृद्धि के साथ वृद्धि करता रहता है तथा अन्त मे पुष्पो के अण्डाशयों में पहुच जाता है। यहा पर प्रत्येक कोष क्लेमाइडो बीजाणु के रूप मे परिवर्तित होकर सोरस के रूप मे दिखाई देने लगता है। फफूंद का कवकजाल पटयुक्त, शाखायुक्त अन्तर्कोषिय होता है जो उत्तको मे दैहिक रूप से फैला रहता है।

वार्षिक आवर्तन (Annual recurrence)—यह फफूंद बाह्य बीजोढ (Externally seed borne) है। फफूंद के क्लेमाइडो बीजाणु बीज की बाहरी सतह पर चिपके रहते हैं। फसल की गहाई के समयं सोराई टूट जाती है, जिससे कि बीजाणु स्वस्थ बीजो पर चिपक जाते हैं। बीजों के अंकुरण के पश्चात् फफूंद के बीजाणु भी अकुरित हो जाते हैं और भ्रूण-मूल (Redicle) के अन्दर घुस जाते हैं। पौधो की वृद्धि के साथ फफूंद का कवकजाल दैहिक रूप में ज्वार के पौधो के अन्दर बढ़ता रहता है और अण्डाशय मे पहुंच जाता है। संक्रमण की तीव्रता पर पर्यावरण का प्रभाव देखा गया है। कुलकरनी (1922) ने बताया कि संक्रमण व उसके प्रसार मे तापक्रम का बहुत प्रभाव पड़ता है। संक्रमित बीजो के अंकुरण के लिये 25° सें. तापमान पर रखने से 50–60 संक्रमण देखा गया जबकि 40° सें. पर पौधे स्वस्थ रहे। रीड व फेरिस (Reed and Faris, *1924 a) के अनुसार तापक्रम का कंड के संक्रमण पर प्रभाव ज्वार की किस्म पर निर्भर करता है। संक्रमण पर भूमि की नमी की मात्रा का प्रभाव पड़ता है। साधारणतया कंड के संक्रमण के लिये भूमि में कम नमी की आवश्यकता होती है और जैसे नमी बढ़ती जाती है संक्रमण की तीव्रता कम होती जाती है। प्रभावी संक्रमण के लिए भूमि में नमी 20% तक होनी चाहिये। क्षारीय भूमि की अपेक्षा अम्लीय भूमि में रोग का प्रभाव अधिक होता है।

गोयीडनिक व स्कारडोवी (Goidanich and Scardovi; 1946) के अनुसार केल्शियम सायनेमाइड व सुपर फास्फेट से संक्रमण कम होता है जबकि नत्रजन का रोग से कोई सीधा सम्बन्ध नही पाया गया।

कार्यकी विशिष्टिकरण (Physiologic Specializatian)—इस फफूंद की 8 कार्यकी प्रजातियां भारत मे तथा अन्य प्रदेशों में पाई गयी हैं। (Vaheedudein, 1950 Das Gupta and Narain, 1960)। प्रजाति 6,7,8 भारत में मुख्यतः विद्यमान है।

सर्वप्रथम इस फफूंद की 5 प्रजातियां अमेरिका से वर्णित की गयी। इसके पश्चात वहीदुदीन (1940, 50) ने इसकी तीन नई प्रजातियां बताई जो नं. 6,7 व 8 है। ये प्रजातियां 10 विभेदक पोषकों पर उनके व्याधिजनक आचरण के अनुसार पहचानी गयी हैं।

रोकथाम (Control)—यह रोग बाह्य बीजोढ है तथा फफूंद के बीजाणु

भूमि में अधिक दिनों तक जीवित नही रह पाते हैं (बटलर, 1918), अत रोग की रोकथाम के लिये बीज स्वस्थ बालियो से ही लें जिनमे कंडा सोराई न हो।

2. बीजोपचार—यह रोग बाह्य बीजोढ़ है, अतः बीजोपचार करना अति आवश्यक है। बीजोपचार निम्नविधियो से किया जा सकता है।

(क) नीले थोथे में भिगोना (Copper Sulphate soak)–बीजो को नीले थोथे के 2% घोल मे 15–20 मिनट भिगोकर, सुखाने के बाद बुवाई के काम मे लावें।

(ख) फार्मलीन में भिगोना (Formalin soak)–0 5% फार्मलीन के घोल मे बीजो को 2 घण्टे तक भिगोये तथा बाद मे फिर इसे तुरन्त सुखा लें।

(ग) फफूंदनाशी दवा से—बीजो को पारावर्गी रसायन जैसे एग्रोसन जी. एन, सेरेसन, टिलेक्स, केपटान आदि से 100 ग्राम प्रति 40 किलो बीज के हिसाब से उपचारित करें। उप्पल व देसाई (1931) के अनुसार बम्बई मे इस रोग का नियन्त्रण बीजों को 120–150 ग्राम प्रति 40 किलो बीजो को गंधक के उपचार से, सफलता पूर्वक किया जा सकता है।

उपरोक्त दवाओं के अलावा कॉपर यौगिक मे क्युप्रस ऑक्साइड, बेसिक कॉपर सल्फेट, कॉपर कार्बोनेट आदि से भी बीजोपचार किया जा सकता है। इन सब मे कॉपर कार्बोनेट से अच्छे परिणाम प्राप्त हुये हैं।

(घ) सौरताप उपचार (Solar heat treatment)–मध्यप्रदेश में इस रोग की रोकथाम सौरताप उपचार द्वारा की गयी हैं (अस्थाना, 1947)। इसके लिये बीजो को रात्रि में 4–10 घण्टे भिगोकर दिन मे 10–12 घण्टे तक फैलाकर सुखाते हैं। परन्तु यह उपचार सभी क्षेत्रों मे उपयुक्त नही पाया गया।

3. इजिप्ट (Egypt) मे रोग का नियन्त्रण बीजो से विशेष विधि से बुवाई कर किया जाता है। इनमे या तो बुवाई से पूर्व या इसके पश्चात खेत को पानी से भर दिया जाता है। इसका मुख्य कारण भूमि मे नमी को अधिक करना है। जिससे कि रोग उग्रता कम हो जाती हैं।

4. रोग रोधी किस्में—कुलकरनी (1924) के अनुसार अमेरिकन किस्मे माइलो (Milo) व फेटेन्टा (Fetenta) पूना में रोग रोधी पाई गयी। अदलाखा व मुंजल (Adlakha and Munjal 1963) के अनुसार 29/1, पी. जे. 7 के. पी. जे. 23 के, नन्दपाल व बीली चीगन (Bili Chigan) रोग रोधी किस्मे हैं।

श्लथ या छिदरा कंड (Loose smut)–छिदरा कंड विश्व के सभी ज्वार वाले क्षेत्रों में पाया जाता है। किन्तु इसका प्रकोप दाना कंड की अपेक्षा कम होता है। यह रोग चीन, ईरान, दक्षिणी यूरोप, अफ्रीका व अमेरिका आदि देशो मे होता है। भारत मे यह रोग आन्ध्र प्रदेश, मैसूर, मद्रास, महाराष्ट्र व गुजरात राज्य में विभिन्न उग्रता मे देखा गया है। दाना कंड की अपेक्षा यह रोग कंड दानों के साथ-

साथ पौधे की वृद्धि पर भी प्रभाव करता है। इसके कारण चारा व दाना दोनो की ही उपज मे कमी आ जाती है।

लक्षण (Symptoms)—पौधे पर बालियों के निकलने से पूर्व ही रोग को पहचाना जा सकता है। जिन पौधो में यह रोग होता है, वह ऊँचाई में करीब एक फुट छोटे तथा पतले तने वाले होते हैं। उनमें स्वस्थ पौधों की अपेक्षा कई प्ररोह होते हैं। रोगी पौधे मे बालियां पहले ही निकलना शुरू हो जाती हैं। रोग के कारण सभी धनुशूकी (Spikelet) संक्रमित होती हैं। रोगी बालियां खुली हुई होती हैं। तुष निपत्र की अतिवृद्धि होती हैं और उनकी लम्बाई 2-5 मि. मीटर तक हो जाती है। कंड बीजाणुओं का समूह तुष निपत्र अनुशूकी के सभी भागो पर जैसे डठले आदि मे भरा रहता है।

स्त्रीकेसर (Pistil), पुंकेसर (Stamen) आदि सभी सोरस में बदल जाते हैं। सोराई की लम्बाई 3 से 18 मि. मी. तथा चौड़ाई 2-4 मि. मीटर होती है। रोगी पौधे की सभी बालिया कंड चूर्ण मे परीणित हो जाती हैं और जो बचती है। वह चपटी होकर फैल जाती हैं। पौधों में दानों के स्थान पर फफूंद के बीजाणु भरे रहते हैं। इन बीजाणुओं पर एक पतली झिल्ली होती है जो कि बाली निकलते समय फट जाती हैं।

हेतुकी एवं जीवनचक्र—यह रोग स्फेसिलोथिका क्रूयेंटा (Sphacelotheca cruenta (Kuhn) Potter) फफूंद से फैलता है। सर्वप्रथम कुहन (Kuhn) ने इस फफूंद का अस्टिलोगो क्रूयेंटा के नाम से विवरण दिया। फफूंद के क्लेमाइडो बीजाणु गोल से दीर्घवृतीय, गहरे भूरे रंग के, कंटिकायुक्त (echinulate) भिति वाले 5-10 माइक्रोन व्यास के होते हैं। यह अण्डाशय में सोराई के भीतर बनते हैं। सोराई की भिति भूरी फफूंद कोषाओं से बनी होती है जो कि 10-25 माइक्रोन तक मोटी होती हैं। सोराई के अन्दर ठोस स्तम्भिका होती है जो कि एस. सोरगी की अपेक्षा अधिक लम्बी तथा शंकु (Conical) आकार की होती हैं। सोराई की भिति तथा स्तम्भिका के मध्य क्लेमाइडो बीजाणु भी रहते हैं। क्लेमाइडो बीजाणु अंकुरण के पश्चात 4 कोषाओं वाली प्रकवक बनती है। प्रकवक पर स्पोरीडिया बनते हैं। कभी कभी प्रकवक वृद्धि कर सीधे शाखा या प्रशाखा युक्त कवकजाल में परिणित हो जाते हैं। क्लेमाइडो बीजाणु का अंकुरण 4-38° से तापमान पर होता है, किन्तु 28-32° से. तापमान पर अंकुरण अधिक होता है। क्लेमाइडो बीजाणु से कम तापमान पर बीजाण्वी (Sporidia) तथा अधिक तापक्रम पर सीधे कवकतन्तु बनते हैं। परन्तु माल्ट घोलपर बीजाण्वी ही बनते हैं। टाकासूजी व एकेसी (Takasugi and Akaishi, 1933) के अनुसार क्लेमाइडो बीजाणु का अंकुरण 12° से. व 43° से. पर नहीं होता।

स्फेसिलोथिका क्रूयेंटा, एस. सोरगी व एस. रिलियाना के साथ संकरित होता

है। एस. सोरगी के साथ संकरण में सोराई एस. क्रूयेंटा जैसी तथा एस. रिलियाना के साथ टालोपोस्पोरियम एस. ए हरेनबरगी जैसी बनती हैं।

वार्षिक आवर्तन (Annual recurrence)—फफूंद के बीजाणु भूमि मे अथवा बीजों के साथ रहते हैं अतः यह रोग मृदुढ व बाह्य बीजोढ दोनो ही प्रकार का होता है।

फफूंद के बीजाणु सूखी अवस्था में 4 वर्ष तक अंकुरणक्षम रहते हैं किन्तु मंचूरिया मे भूमि मे अगली फसल तक अंकुरणक्षम नही पाये गये (Takasugi and Akaish, 1933)।

रोग के संक्रमण के लिये कम तापमान, कम आर्द्रता व गहरी बुवाई अच्छी पायी गयी। फास्फोरस व पोटाश की कमी में रोग की उग्रता अधिक होती है। फफूंद डाइकेरियोटाइजेशन के बाद बीजांकुरों मे भ्रूणमूल (Radicle) मिजोकोटायल (Mesocotyl) या एपीकोटायल (Epicotyl) से घुसती है। इसके बाद फफूंद दैहिक रूप से बढ़ती है। रोग का प्रारम्भिक व द्वितीयक संक्रमण दोनो ही होता है। फेरिस व रीड (1925) ने ऐसी बालियां देखी जो पूर्ण रूप से कण्ड से ग्रसित नहीं थी यह द्वितीयक संक्रमण के कारण माना गया।

इस फफूंद की 3 प्रजातियां ज्ञात है, (Melchers and Johnston 1932)

नियन्त्रण : (control)

1. बीजो का चयन स्वस्थ खेत से करना चाहिये।
2. रोग ग्रस्त बालियों को एकत्र करके जला दें, उन्हें गहाई में न लें।
3. बीजो द्वारा सक्रमण रोकने के लिए दाना कण्ड रोग ग्रस्त की रोकथाम के लिये बतायी गई बीजोपचार विधियां प्रयोग मे लायें।
4. मृदुढ निवेश द्रव्य की मात्रा कम करने के लिए खेत की सफाई व फसल चक्र पर उचित ध्यान दें।
5. रोग रोधी किस्में बोयें। मायलों व फेटेरिया के प्रभेद रोग रोधी पाये गये हैं। भारत वर्ष में इस दिशा मे प्रयत्न जारी हैं।

लम्बा कंड
Long smut

इराक, इजिप्ट, पाकिस्तान, तंजानिया आदि देशो में इस रोग का प्रकोप होना है परन्तु यह आर्थिक दृष्टि से विशेष महत्व नही रखता हैं (Kamat, 1933 Kulkarani, 1918)। भारत में यह रोग तमिलनाडू, मैसूर, आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश एवं उत्तर प्रदेश आदि राज्यों में होता हैं।

लक्षण (Symptoms)—इस रोग के लक्षण भी बाली आने पर ही दृष्टिगोचर होते हैं अकेले तथा बहुत कम दाने ही कड सोराई मे परिवर्तित होते हैं। हर एक सोराई स्वस्थ दानें से घिरी रहती हैं। सोराई गर्भाशय में बनती हैं एवं

पोषक पर जब फूल आते हैं तो उसी समय फफूंद गर्भाशय को संक्रान्त कर सोराई मे बदल देती है। सोराई लम्बी बेलनाकार, सफेद से हल्की पीली, चौड़ी भित्ति की तथा कुछ मुड़ी हुयी होती है। यह 4 से. मी. लम्बी तथा 6–8 मि. मी. चौड़ाई की होती है। सोराई का शीर्ष फटने पर भूरे हरे बीजाणु गेन्द बाहर आते हैं, तथा 8–10 गहरे भूरे तन्तु का गुच्छा (Filaments) बन जाता है। सोराई, दाना कद एवं डीले कड़ से लम्बी होती है।

हेतुकी एव जीवन चक्र (Etiology and life cycle)—यह रोग टोलीपोस्पोरियम एहरन्बर्गी (*Tolyposporium ehrenbergii (kuhn) Pat*) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। बीजाणु गेंद मे बीजाणु मुड़े हुये होते हैं। बीजाणु गोलाकार से कोणीय, भूरे, हरे 12 से 16 माइक्रोन व्यास के द्विकेन्द्रिक तथा कण्टिकायुक्त होते हैं। बीजाणुओ का अकुरण उसी स्थान पर (In situ) होता है तथा अकुरण होने पर प्रकवक बनती हैं। अकुरित होने से पहले क्लेमाइडो बीजाणु का अकुरण दोनो केन्द्रक सलयित होकर एक द्विगुणित केन्द्रिक बनाते हैं। द्विगुणित केन्द्रक चार अर्धक केन्द्रको मे बट जाते हैं जिनमें से 2 केन्द्रक + (Plus) प्रवृत्ति वाले व अन्य 2 केन्द्र – (minus) प्रवृत्ति वाले होते हैं। बीजाण्वी (Sporidia) बहुत अधिक मात्रा मे अकेले या जजीर बनते हैं।

कामत (Kamat, 1933) ने बताया कि बीजाणुओं का अकुरण 15 से 36° से पर ही हो सकता है तथा अनुकूलतम तापमान 28° से. है।

वार्षिक आवर्तन (Annual recurrence)—यह रोग वातोढ (Air borne) है क्योंकि बीजाणु गेंदे जमीन में पड़ी रहती हैं तथा बाल बनने के समय पर अकुरित होती हैं। बहुत मात्रा में बीजाण्वी भूमी में उत्पन्न हो जाते हैं जो वायु द्वारा पुष्प के योनिछत्र पर पहुंच जाते हैं। जब बीजाणु शुष्क (dry) अवस्था में होते हैं तब 2 वर्ष तक जीवनक्षम रहते हैं। बीजाणुओं के अंकुरण के लिये अनुकूलतम तापमान 28°–30° से. ग्री है। बीजाण्वी पुष्प के भागो में प्रवेश कर 12 से 15 दिन बाद कड़वा सोराई बना देते है।

द्वितीय सक्रमण प्राथमिक सक्रमण से बने बीजाणुओं द्वारा होती है।

प्रसाद (1945) के अनुसार न तो फूल और न बीजो से संक्रमण होता है। वासुदेवा एव इयगंर (Vasudeva and Iyenger, 1950) ने यह सिद्ध किया कि सक्रमण वातोढ बीजाण्वी से होता है।

रोकथाम (Control)—रोग की रोकथाम करना थोड़ा कठिन है क्योंकि सक्रमण भी हवा के द्वारा होता है तथा रोगजन जमीन में रहता है। इसलिये रोग प्रतिरोधी किस्मों का प्रयोग सबसे अच्छा है। दक्षिण में इरूगू (Irungu) किस्म इस रोग से प्रतिरोधी पायी गयी।

2. फसल चक्र तथा खेत की सफाई रखने से भी रोग का प्रभाव कम किया जा सकता है।

3. बुवाई का तरीका समायोजन (Adjust) करने से रोग का असर नही होता है।

चोटी कंड
(Head smut)

ज्वार का चोटी कंड रोग विकीर्ण रूप मे संसार के उन सभी भागो मे पाया जाता है जहाँ ज्वार की खेती की जाती है। भारत मे यह रोग आर्थिक दृष्टि से महत्व नही रखता है। इस रोग का प्रकोप तमिलनाडु, मद्रास, आन्ध्र प्रदेश, मैसूर, बम्बई, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, पंजाब, राजस्थान आदि राज्यो मे पाया जाता है। भारत वर्ष के अलावा इस रोग का प्रकोप अफ्रीका, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, एशियाई देशों तथा दक्षिणी यूरोप में भी होता है। इस कड रोग का आक्रमण मक्का पर भी देखा गया है। काश्मीर मे मक्का पर आर्थिक दृष्टि से यह रोग महत्वपूर्ण है।

लक्षण (Symptoms)—रोग के लक्षण बालो पर ही दिखाई पडते है।



चित्र 3 ख 2 ज्वार का चोटी कंड रोग

साधारणतः पुष्पक्रम पूरी तरह से क्षति ग्रस्त कर सोरस (Sorus) में परिवर्तित हो जाता है। सोरस (Sorus) लगभग 4 इन्च लम्बी व 2" चौड़ी होती है जो प्रारम्भिक अवस्था मे सफेद पतली झिल्ली से ढकी रहती हैं। परन्तु आवार (Boot) से बाहर निकलते समय यह झिल्ली फट जाती है, तथा फफूंद के बीजाणु बाहर काले चूर्ण के रूप मे दिखाई पड़ने लगते हैं (चित्र 3 ख 2)। बीजाणु समूह मे गहरे तन्तुओं का समूह फंसा रहता है जो कि बीजाणुओं के बिखर जाने के बाद भी वैसा ही रहता है। कभी रोग के लक्षण छोटी-छोटी सोराई (Sori) के रूप में पत्ती व डंठल पर भी दिखाई पड़ते हैं।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle)—

यह रोग स्फेसिलोथिका रेलियाना (कुहन) क्लींटोन (Sphacelotheca reiliana (kuhn) clint) नामक फफूंद द्वारा फैलता है। फफूंद के क्लेमाइडोबीजाणु गोल से कोणाकार (round to angular) भूरे लाल से काले रंग के, कण्टिकायुक्त (echinulate) छोटी कोषा भित्ति धारक वाली, 10 से 16 माइक्रोन व्यास के होते हैं। बीजाणु प्रारम्भ मे ढीली गेंद के रूप मे तथा परिपक्व अवस्था मे अलग-अलग रहते हैं। बीजाणु के अंकुरण पर चार कोषा वाली प्रकवक बनती है जिस पर कि चार स्पोरिडिया बनते हैं। स्पोरिडिया के अंकुरण के पश्चात दो विपरीत प्रभेद वाली अकुरनाल संगमित होकर डाइकेरियोटाइजेशन प्रक्रिया द्वारा द्विकेन्द्रिक कवक तन्तु बनाती है। अन्त मे इन कवक तन्तुओं की प्रत्येक कोषा क्लेमाइडोबीजाणु बनाती है। इस फफूंद की चार प्रजातियाँ ज्ञात हैं (अलसोहेली व मैरिन, 1960)। भारत मे इस फफूंद की दो प्रजातियाँ पाई जाती है जो क्रमशः मक्का व ज्वार पर लगती हैं। किन्तु ज्वार की प्रजाति मक्का पर व मक्का की प्रजाति ज्वार पर रोग पैदा नहीं करती है। कहीरुद्दीन (1952) के अनुसार एस. क्रूयेटा व एस. रिलियाना का अन्तर्जातिय संकरण सफल रहा। इससे उत्पन्न संकर की बीजाणु पुंज टालीपोस्पोरियम एहरेनबर्गी जैसी होती है।

वार्षिक आवर्तन—यह रोग मृदूढ व बाह्यबीजोढ दोनों ही प्रकार का है किन्तु साधारणतया बीजाणु भूमि मे ही रहते हैं (रामाकृष्णन, 1952)। भूमि मे बीजाणु 2 वर्ष तक अकुरणक्षम रहते हैं। पौधे प्रारम्भिक अवस्था में ही रोग ग्राही होते हैं। बीजाणु के अकुरण के समय भूमि के तापक्रम व नमी का इस रोग पर अत्यन्त प्रभाव पड़ता है। तापमान 28° सें. तथा भूमि में 15% नमी रोग के लिये अनुकूलतम होते हैं।

रोकथाम (Control)—

सांकेतिक रूप से रोग की रोकथाम बीजोपचार द्वारा की जा सकती है। दक्षिणी भारत में संक्रमण भूमि के पड़े बीजाणुओं द्वारा होता है अतः यह ज्यादा प्रभावपूर्ण नहीं पाया गया (रामाकृष्णन, 1952)। इस रोग की रोकथाम के लिये रोग की

सफाई तथा फसल चक्र आदि पर ध्यान देना चाहिये। यह रोग बहुधा कम लगता है अतः बीजाणु बिखरने से पूर्व ही रोगी बालों को काटकर जला देना उपयुक्त रहता है।

अन्य कंड रोग—

ज्वार पर कंड रोग निम्न फफूंद के द्वारा भी पैदा होता है।

1. स्फेसिलोथिका होलसी (Sphacelotheca holci Jackson)
2. अस्टिलागो केंजिआना (Ustilago kenjiana Ito)
3. सोरोस्पोरियम एण्ड्रोपोगोनिस-सोरघी (Sorosporium andropogoni-sorghi Ito)

किन्तु भारत में अभी ये फफूंद नहीं पाई जाती हैं।

किट्ट

(Rust)

ज्वार की फसल का यह एक प्रमुख रोग है जो कि सभी जगह पाया जाता है। भारत में यह रोग सिंचित व सूखी दोनों प्रकार की फसलों में देखा गया है किन्तु साधारणतः इसका प्रकोप गर्म क्षेत्रों में अधिक होता है। रोग की उग्रता ज्वार की किस्म तथा रोग लगने के समय पर अधिक निर्भर करती है वैसे तो भारत वर्ष में सभी प्रदेशों में जहां ज्वार होती है कम या अधिक रूप में यह रोग देखा गया है। आन्ध्र प्रदेश, मैसूर, महाराष्ट्र, गुजरात, मध्य प्रदेश व राजस्थान आदि प्रान्तों में रोग प्रतिवर्ष 2 से 10% तक पाया जाता है। पौधे की प्रारम्भिक अवस्था में रोग लगने पर पैदावार कम होती है तथा चारा भी न के बराबर मिलता है, किन्तु रोग के देर से लगने पर पैदावार में हानि कम होती है।

लक्षण (Symptoms)—रोग पौधे की सभी अवस्थाओं में लग सकता है किन्तु साधारणतः इसके लक्षण जब पौधे 2 महीने के हो जाते हैं तब ही दिखाई पड़ने लगते हैं। पौधे की नीचे की पत्तियां जल्दी प्रभावित होती हैं और इनके ऊपरी हिस्से पर लक्षण पहले दिखाई पड़ते हैं। फफोले भूरे, लाल, गोल या अण्डाकार व 1 से 2 मि. मीटर व्यास वाले होते हैं। फफोलों का रंग पौधे की किस्म में उपस्थित एंथोसायनिन (Anthocyanin) पर निर्भर करता है। फफोले समूह में भी पाये जाते हैं तथा एक दूसरे से मिलकर पत्तों का अधिक भाग घेर लेते हैं। (चित्र 3 ख 3)। समय के साथ (करीब दिसम्बर-जनवरी में) इन फफोलों का रंग गहरा भूरा या काला पड़ जाता है। यह टेल्यूटोस्फोट होते हैं जो कि पौधे की निश्चित सतह पर ही बनते हैं। रघुवीर प्रसाद (1948) के अनुसार शिमला में टेल्यूटोबीजाणु पौधे की सभी अवस्थाओं में बनते हैं। रोग के कारण पत्तियां समय से पूर्व ही सूख जाती हैं तथा पौधे छोटे रह जाते हैं।

टेल्यूटोबीजाणु यूरिडोबीजाणु के साथ उन्ही स्फोट या फफोलो मे या अलग टेल्यूटोस्फोट में बनते हैं। टेल्यूटोबीजाणु करीब 100 माइक्रोन वृन्त वाले, हल्के कत्थई या भूरे लाल रंग, मोटी भित्ति, दो कोषायुक्त, दोनो सिरे से गोलाकार तथा विभाजक भिति की जगह सिकुड़े हुए होते हैं। प्रत्येक कोषा मे एक-एक जनित छिद्र होता है। इनका आकार 40–50×22–30 माइक्रोन होता है। बीजाणुओं का अंकुरण 26 से 28° से. तापक्रम पर पानी या सुक्रोज के 1 प्रतिशत घोल में रखने पर 24 से 48 घण्टे मे हो जाता है। प्रसादा (1948) के अनुसार इनका अंकुरण 10–20° से. पर 12 घण्टे में पाया गया है। टेल्यूटोबीजाणु अंकुरण होने पर चार कोषाओं वाली प्रकवक (Promycelium) बनती है जिसके प्रत्येक कोष पर एक-एक बेसिडियोबीजाणु होता है। शुष्क अवस्था में टेल्यूटोबीजाणु 1 महीने तक अंकुरण क्षम रहते हैं किन्तु 35° से तापक्रम पर रखने से इनकी अंकुरक्षमता पर प्रभाव पड़ता है।

फफूंद की अन्य दो बीजाणु अवस्थाएं, एसिडिया व पिकिनडिया, एकान्तर पोषक आक्जेलिस कार्निकुलेटा (Oxalis corniculata) पर पाई जाती है।

रोग का वार्षिक आवर्तन—फफूंद के एकान्तर पोषक की रोग के वार्षिक आवर्तन मे उपयोगिता अभी ज्ञात नही है, क्योंकि यूरिडोबीजाणु का पुनरावृत्ति चक्र चलता रहता है। साथ ही फफूंद के यूरिडोबीजाणु जंगली ज्वार व मानसून या सुडान घास पर पाये जाते हैं किन्तु इनकी उपयोगिता भी अभी ज्ञात नही है।

दक्षिण भारत के कुछ प्रदेशों कोयम्वतूर आदि मे इसकी खेती पूरे वर्ष ही की जाती है जिससे कि उन पर यूरिडोबीजाणु अवस्था लगातार पायी जाती है। अतः रोग के आवर्तन में सापार्श्विक पोषकों (Collateral hosts) व ज्वार की फसल पर उत्पन्न यूरिडोबीजाणु की उपयोगिता हो सकती है।

नियन्त्रण :—

1 किट्ट का नियन्त्रण रोधी किस्मो के उपयोग द्वारा ही अच्छी प्रकार से सम्भव है। जोनसन व मेन्स (1931) के अनुसार मायलो ज्वार रोग रोधी पाई गई है। मिलेट ब्रीडिंग स्टेशन, कोयम्वतूर व अन्य क्षेत्रों मे किये गये अनुसंधान मे ज्वार की कुछ किस्में रोग रोधी पाई गई हैं।

2. फफूंदनाशी दवाइयां जैसे गन्धक (35 Kg/hectare) या जाइनेब (0.2%) के उपयोग से भी रोग की रोकथाम की जा सकती है।

पत्ती धब्बा (Leaf spots)

भूरा पत्ती धब्बा रोग (Grey Leaf spot) :

भूरा पत्ती धब्बा (Greyleaf spot) या सर्कोस्पोरा पत्ती धब्बा रोग भारत, चीन, घाना, पूर्वी अफ्रीका, इटली, अमेरीका आदि देशो मे ज्वार पर बहुतायत रूप में देखा गया है। इसके कारण फसल को 5% तक नुकसान होता है

(Porter, 1926)। भारत में यह रोग आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, मैसूर, मध्यप्रदेश आदि राज्यो मे मुख्य रूप से देखा गया है। इसका प्रकोप महाराष्ट्र मे सबसे अधिक होता है। साधारणतः यह रोग बालिया बनने के समय ही पत्तियो पर लगता है जिससे पैदावार मे कमी हो जाती है। यह रोग जानसन, सूडान घास व एम्फिलोफिस पेटूंसा (Amphilophis pertusa) पर भी लगता है।

लक्षण :—रोग के कारण पौधे की पत्तियां पर्णच्छद व वृन्त ही प्रभावित होते हैं साथ ही सर्वप्रथम नीचे की पत्तियो पर रोग जल्दी दिखाई पड़ता है जो कि ऊपर की ओर बढ़ता है। रोग के कारण असिमित या आयताकार, दबे हुए, लाल से गहरे भूरे रंग के धब्बे बनते हैं जो कि शिराओ से बंधित रहते हैं (चित्र 3 व. 4)। इनका आकार 5–15×3–5 मि. मीटर का होता है। कभी-कभी बहुत से धब्बे मिलकर धारी का आकार धारण कर लेते हैं। परिपक्व धब्बों में बीच का हिस्सा हल्के रंग का होता है जिस पर की फफूंद की भूरी-सफेद वृद्धि दिखाई पड़ती है।



(चित्र 3 व 4 ज्वार का भूरा पत्ती धब्बा रोग)

हेतुकी एवं जीवन चक्र :—यह रोग सर्कोस्पोरा सोरघी (Cercosposa sorghi) (Ellis and Eveb) नामक फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है। कवकजाल रंगहीन या हल्का भूरा, पटयुक्त अखण्डकोशिक होता है तथा ऊतक मे अन्तः कोशिक या अन्तर्कोशीय दोनों प्रकार से प्रवेश करता है। अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है। कोनिडियोफोर पर्णरन्ध्र द्वारा पत्तियो की निचली सतह पर गुच्छे (3–16) मे बाहर आते हैं जो भूरे 0–5 पटयुक्त, साधारण या कभी कभी शाखित, 71.5×4.5 (39–120 माइक्रोन×2.5–7.5 (माइक्रोन के होते हैं। कोनिडियोफोर के सिरे पर कोनिडिया बनते हैं। कोनिडिया बारिकभित्ति के अभियुद्गराकार (Obclavate), पटयुक्त 30–132×3–7 माइक्रोन के होते हैं। कोनिडिया एकदम अंकुरित होते हैं। कुछ कोनिडिया मे सीधे जनित नलिका एक या अधिक कोणों से निकलती है। पत्तियो मे कोनिडिया की जीवन-क्षमता 5 महिने में नष्ट हो जाती है। क्लेमाइडोबीजाणु अगौर मे बनते भी देखे हैं (रामाकृष्णन, 1931)

पत्तियां हर अवस्था मे इस रोग से प्रभावित हो सकती हैं। संक्रमण से पत्ती मे धब्बे उत्पन्न होने मे 8 दिन का समय लगता है। ज्वार के अलावा यह पर्ण एम्फीलोफिस परटूसा (Amphilophis pertusa Stepf.) पर भी पायी गयी है। रोग के बीजोढ़ एवं बाजोढ़ होने के संकेत मिले हैं।

रोकथाम (Control)—

1. दक्षिणी भारत में इस रोग का प्रभाव देर की अवस्था मे पाया गया है उसको फफूंद नाशी दवा के छिड़काव कर रोकथाम की जा सकती है। जिनेव, जिराम या वेटेवल गन्धक के छिड़काव से इसकी रोकथाम में काफी मदद मिली है। समय तथा छिड़काव की संख्या पर्यावरण के अनुसार समायोजित करनी चाहिये। यदि अधिक नमी बहुत समय तक रहे तो छिड़काव उसी समय कर देना चाहिये। प्रतिरोधन कोनसपीकम (Conspicum) निग्रीकेन्सस, जीरा जीरास्व सुदानेन्स (Sudenense) ग्रुप में पाया गया है।

2. रोगग्रसित पौधे के अवशेषों को एकत्र कर जला देना चाहिये।

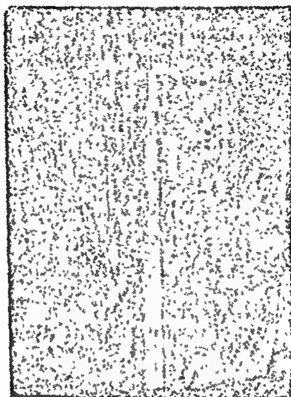
एन्थ्रेक्नोज (Anthracnsoe)

यह रोग संसार के लगभग सभी ज्वार उगाये जाने वाले क्षेत्रो मे पाया जाता है। इस रोग के कारण मुख्यतः पत्ती धब्बा के ही लक्षण उत्पन्न होते है परन्तु इसके अलावा जड़गलन, कॉलर गलन तथा वृन्तसड़न के लक्षण भी उत्पन्न हो सकते हैं। परिपक्वता के समय इसके लक्षण अच्छी प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं। स्यू (Su, 1934) के अनुसार वर्मा में इस रोग से बहुत अधिक नुकसान होता है। ज्वार के अलावा जोनसन घास, सुडान घास, मक्का, गेहूँ, जौ एवं राई की फसल भी इससे प्रभावित होती है।

लक्षण (Symptoms) : सर्वप्रथम इसके लक्षण पत्तियों पर दृष्टिगोचर होते हैं। पत्तियो पर छोटे गोल से दीर्घवृत्तीय 1/16 से 1/18" व्यास के धब्बे बनते हैं। ये धब्बे किनारे से घिरे रहते हैं। धीरे धीरे ये धब्बे बढ़कर सम्पूर्ण पत्तियों को घेर लेते हैं (चित्र 3 व 5)। नीचे की पत्तियां सबसे पहले प्रभावित होती हैं, तथा बाद में संक्रमण ऊपर की ओर बढ़ता है। बीच मे से धब्बे सफेद से रग के तथा किनारे लाल, बैंगनी या भूरे होते है। पुरानी पत्तियो पर ही अधिकतर सक्रमण हो पाता है। नई पत्तियों पर बहुत ही कम संक्रमण होता है।

पुराने धब्बो मे व्याधिजन एसरवुलाई बनाता है जो काले रग के बिन्दु के समान प्रतीत होते हैं। बाद मे धीरे-धीरे सक्रमण तने पर भी दिखाई देता है जहाँ पर लाल सी धारियां दिखाई पड़ती हैं। यदि छोटे बीजांकुर ही इससे प्रभावित हो जायें तो अंगमारी के लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle) : यह रोग कोलेटोट्राइकम ग्रेमीनीकोलम (Colletotrichum graminicolum (Ces) Wilson फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है।



(चित्र 3 स 5 ज्वार का एन्थ्रैक्नोज रोग)

समानार्थक (Synonyms) को लिनिओला (Colletotrichum lineola)
को सीरीएले (C cereale Manns.

कवकजाल पटयुक्त रंगहीन, अन्तः कोशिक होता है कवकजाल के कवक तन्तु एक दूसरे से सटकर एसरवुलस पर्णान्तर के नीचे बनाते हैं। एसरवुलस से कुछ लम्बे काटों जैसी पटयुक्त रोम जैसी रचनायें बनती हैं, जिन्हें सीटी (Setae) कहते हैं जो पर्णान्तर द्वारा बाहर आ जाती हैं। सीटी 175 माइक्रोन चौड़ी, काली, पटयुक्त होती हैं। इन एसरवुलस में कोनिडियोफोर एक दूसरे से सटे हुये बनते हैं। कोनिडियोफोर के सिरे पर कोनिडिया लगे होते हैं जो रंगहीन, एक कोशिक, दात्राकार अथवा हंसियाकार आकृति के होते हैं। इनका सिरा पतला होता है।

कोनिडिया अंकुरित होने पर दोनों सिरों से जनित नलिका बनाते हैं। अंकुरण के समय एक पट बन जाता है। कोनिडिया के अंकुरण के लिये अनुकूलतम तापमान -32° है। फफूंद पौधे में सीधी पर्णान्तर से प्रवेश करती है। रोग का

आक्रमण कम तापक्रम (15–20°) पर अधिक तापक्रम (30–35° से.) की अपेक्षा अधिक होता है।

रोकथाम (Control)

1. रोग ग्रसित पौधों के अवशेषों को एकत्र कर जला देना चाहिये।
2. रोग प्रतिरोधी किस्में प्रयोग में लायी जायें। पहले ऐसा विचार था कि पत्तियों के उत्स्वेद- (Exudates) जैसे कुछ अमिनो एसिड, ट्रिप्टोफेन एवं फिनाइल एलेनाइन प्रतिरोधी किस्मों में होते हैं। आधुनिक अनुसंधानों से पता चला है कि हाइड्रोजन रासायनिक अम्ल भी प्रतिरोधन को नियन्त्रित करता है। प्रतिरोधी किस्मों में यह अम्ल (16·42% 10 मि. ग्राम) बहुत मात्रा में तथा प्रभाव्य किस्मों में कम (1·46% 1 मि. ग्राम) मात्रा में रहता है। किस्म सी. ओ. 12–148/8 ए CHS–1 CHS–2 इससे प्रतिरोधी है।
3. वातोढ संक्रमण की रोकथाम हेतु फसल पर जिनेब, जिराम या बिसड़ायथेन का छिड़काव कर देना लाभप्रद रहता है।

कज्जल धारी
(Sootystripe)

चाइना, मनचूरिया, अमेरिका आदि देशों में ज्वार की फसल को यह रोग बहुत नुकसान पहुंचाता है। भारत में भी इस रोग के होने के कई जगह से संकेत मिले हैं। परन्तु इतनी अधिक आर्थिक हानि नहीं होती है। उत्तर प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश एवं मद्रास में यह रोग पाया गया है तथा कभी कभी यह भीषण रूप में भी आता है (Ramakrishnan, 1963)। भारत में इस रोग का वर्णन सबसे पहले मेहता एवं बोस ने किया (Mehta and Bose, 1946)।

ज्वार के अलावा यह रोग जोनसन एवं सुदान घास पर भी पाया जाता है।

लक्षण—इस रोग के लक्षण अगस्त से नवम्बर तक कभी भी देखे जा सकते हैं। सर्वप्रथम पत्तियों पर लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। पत्तियों पर से धब्बे दीर्घवृत्तीय, उपाण्डवत (Elliptical), पहले बीच से धूसर रूप के तथा किनारे लाल से दिखाई पड़ते हैं। धीरे धीरे सतह चूर्ण बनकर कज्जल रंग की कठ कवक (Sclerotia) के बनने से हो जाती है। उग्रावस्था में दाने नहीं बन पाते हैं तथा जो बनते हैं, वह हल्के उत्पन्न होते हैं।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle) : रोग रेमूलीस्पोरा

सोरगी (Ramulispora sorghi Ellis and Eve. Olive and Lefebvre) नामक फफूंद के द्वारा उत्पन्न होता है जो ट्यूबरकुलेरीएसी ग्रुप में आती है।

समानार्थक–सेप्टोरेला सोरगी (Septorella sorghi Fuand Ev.)

रेमूलीस्पोरा एण्ड्रोपोगोनिस (Ramuliospora andropogonis Miura)

कवकजाल अन्तर्कोशिय रंगहीन पटयुक्त होता है। अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है। कोनिडियोफोर सीधे आन्तरिक कवकतन्तुओं से उत्पन्न होते हैं जो पत्तियों के निचली सतह पर मूल (Fasicles) में रन्ध्रों द्वारा बाहर आ जाते हैं। धब्बों में कोनिडिया बहुत अधिक संख्या में बनते हैं। कोनिडिया सूत्राकार (Filiform), शाखित (एक से 3 शाखा) रंगहीन, मुड़े हुये तथा शीर्ष से सिकुड़े, 3 से 8 पटयुक्त 38 – 86 × 19 – 3 माइक्रोन के होते हैं। (Olive et al 1946), कठकवक धब्बों के बीच में बनते हैं जो परिगोही (Amphigenous) बिखरे, उपगोलाकार गले 100 – 250×56 – 190 माइक्रोन के होते हैं।

कोनिडिया के अंकुरण के लिए अनुकूलतम तापमान 28° से. है। (Bain, 1942)।

यह रोग बाह्य बीजोढ है। द्वितीयक संक्रमण कोनिडिया द्वारा होता है।

रोकथाम (Control)

1 बीजों को बुवाई से पहले एग्रोसन जी एन., सेरेसन या किसी परावर्गी फफूंद दवा से बीजोपचार करने पर बीजजनित संक्रमण नष्ट हो जाता है।

2 रोग ग्रसित पौधे के अवशेषों को एकत्र कर नष्ट करदें।

इसके अलावा एक पत्ती धब्बा रोग और रेमूलीस्पोरा सोरगीकोला (R. sorghicola Harris) नामक फफूंद से वर्णित किया गया है। जो अन्यत धारी फफूंद सोरगी से भिन्न है। नाइजेरिया में इस फफूंद से बहुत नुकसान होता है। (Harris, 1960)। टार (Tarr, 1952) ने इसे रोग का प्रकोप सूडान, न्यासालैंड (Nyasaland), घाना, उगाण्डा द्वीप, पश्चिमी पाकिस्तान से भी वर्णित किया है। भारत में इस रोग के होने क संकेत सबसे पहले हैदराबाद में नागराजन तथा उनके साथियों (Nagrajan etal. 1971) ने बताये।

लक्षण (Symptoms) पत्तियों की दोनों सतहों पर बारीक जलसिक्त धब्बे बनते हैं। ये धब्बे धीरे धीरे गोल या दीर्घवृत्तीय हो जाते हैं तथा इनके किनारे गहरे भूरे रंग के तथा बीच में धूसर रंगों के होते हैं (चित्र 3 व 6)। धीरे धीरे संक्रमण अधिक होने पर 2–3 धब्बे आपस में मिल जाते हैं तथा अंगमारी के लक्षण प्रतीत होने लगते हैं। धब्बे 2 × 6.5 मि. मी. आकार के होते हैं। पुराने धब्बों में बारीक काले स्क्लेरोशिया बन जाते हैं।



(चित्र 3 ल 6) ज्वार का रेमुली-स्पोरा सोरगी कोला पत्ति धब्बा रोग

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle)–कवकजाल अण्डकोशि., रंगहीन, पटयुक्त होता है। अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है। कोनिडियोफोर पत्तियो की निचली सतह पर गुच्छो मे रन्ध्रो द्वारा बाहर आ जाते हैं। कोनिडियोफोर 7·5 से 13 माइक्रोन लम्बे होते है। धब्बो की निचली सतह से बहुत अधिक मात्रा मे 6 से 10 के जोड़ो मे कोनिडिया बनते हैं। कोनिडिया सूत्राकार (Filiform) थोडे से मुडे हुये, 1·5–3 × 45 0 से 93 माइक्रोन (औसतन 2·4 × 74) के होते है जिसमे 6 से 10 अनुप्रस्थपट (Transverse septa) होते है।

कठकवक एक धब्बे मे 10 तक बनते हैं जो गोलाकार से अर्धगोलाकार गहरे भूरे 42–84 0 माइक्रोन (औसतन 52 15 माइक्रोन) व्यास के होते है। कठकवक के अंकुरण होने पर 12 तक छोटी स्थूल (Stout), सीधी, गहरी भूरी, 2 से 5 पट-युक्त सीटी बनती है जो 12·5 माइक्रोन लम्बी एवं 3·5 माइक्रोन चौडी होती है।

इस रोग की रोकथाम के लिये भी बीजो को बुवाई से पूर्व उपचारित करे तथा प्रतिरोधी किस्में प्रयोग मे लाये।

खुरदरे धब्बे
(Rough spots)

इस रोग का प्रकोप सबसे पहले इटली मे देखा गया। बाद मे यह रोग अमेरिका के अलबामा तथा जोर्जिया से भी वर्णित किया गया। भारत मे उत्तर प्रदेश मे इसका विशेष प्रभाव होता है। कानपुर मे जुलाई के मध्य से सितम्बर के मध्य तक इसका विशेष प्रकोप देखा गया (Singh et, al 1951)।

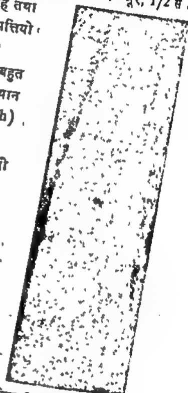
चारे वाली ज्वार पर दाने वाली ज्वार की अपेक्षा इस रोग का प्रकोप अधिक होता है। ज्वार के अलावा सुडान घास एवं जोनसन घास भी इससे प्रभावित होती हैं।

लक्षण (Symptoms) : इस रोग के फलस्वरूप गोलाकार से दीर्घवृत्तीय हल्के रंग के धब्बे सबसे पहले पत्तियों पर दिखाई देते हैं। इसके बाद लाल या लालपीला रंग द्रव्य (Pigment) किस्म के अनुसार बन जाता है। इसके थोड़े ही बाद छोटी काली फलन-काय (Fruiting body) धब्बों के बीच बन जाती है (चित्र 3 स 7) पुरानी पत्तियों पर धब्बे गोलाकार या दीर्घवृत्तीय, धूसर से पीले भूरे, 1/2 से 1" लम्बे, 1/16 से 1/4" चौड़े बनते हैं। सिंह तथा अन्य (Singh et, al 1951) के अनुसार पत्तियों का 15% भाग इस रोग से घिरा रहता है।

इस रोग का सबसे महत्वपूर्ण गुण बहुत अधिक मात्रा में काली फलकाय का प्रसित स्थान पर बनना है जिसके कारण धब्बे रुक्ष (Rough) से दिखाई पड़ते हैं।

पर्णच्छद (Leaf sheath) एवं वृन्त भी इससे कभी कभी प्रभावित होते हैं।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle)—यह रोग एस्कोकाइटा सोरघी (Ascochyta sorghi Sacc.) नामक फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है। इसकी में पिक्निडियल अवस्था एसीजिरस (Ascigerous) अवस्था से सम्बन्धित (Associated) रहती है तथा इसको स्फीरेला सीरीस (Sphaerella ceres Sacc.) कहते हैं।



चित्र 3 स 7 ज्वार का खुरदरा पत्ती धब्बा रोग

पिक्निडिया समूहरोही (Gregarious) गोलाकार, पेपीलेट, 204 से 338 माइक्रोन व्यास की ओस्टियोलेट होती है। पिक्निडियल दीवार के नष्ट होने से पिक्निडोबीजाणु बाहर आते हैं। जो रंगहीन, दीर्घवृत्त (Oblong), दीर्घवृत्तीय (Ellipsoid) एवं पट के $15 \cdot 6 \times 5 \cdot 5$ माइक्रोन के होते हैं। यह मृदूढ़ रोग है।

रोकथाम :—

1. रोग ग्रसित पौधों के अवशेषों को नष्ट कर दें।
2. केप्टान के छिड़काव से इस रोग की रोकथाम अच्छी प्रकार हुयी। थायरियोफ्लीन एवं डायथेन एम-45 भी अच्छे पाये गये।
3. अधिक मात्रा में नत्रजन फास्फोरस एवं पोटाश के प्रयोग से रोग की गम्भीरता अधिक पायी गयी। अतः उचित मात्रा में ही इनका प्रयोग करें।

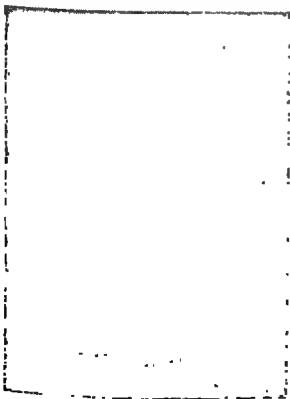
पत्ती-अंगमारी

(Leaf blight)

संसार के लगभग सभी ज्वार उगाये जाने वाले क्षेत्रों में यह रोग पाया जाता है। इससे कितना नुकसान होता है इसका तो सही अनुमान नही है, परन्तु 2–5 प्रतिशत फसल का भाग तो अवश्य ही इससे नष्ट हो जाता है। डिक्सन (Dickson, 1956) के अनुसार दाने वाली फसल मे कम तथा जोनसन एवं सुदान घास पर इसका विशेष प्रभाव होता है। हिन्दुस्तान मे सर्वप्रथम इस रोग का प्रकोप बटलर (1918) ने देखा। बाद मे मितरा (1923) ने पंजाब से वर्णित किया तथा बताया कि यह प्रभेद मक्का के प्रभेद से भिन्न है।

लक्षण (Symptoms) :—

इस रोग के लक्षण बुवाई के 3–4 सप्ताह बाद दृष्टिगोचर होते है। सबसे पहले नीचे वाली पत्तिया प्रभावित होती हैं तथा बाद में धीरे-धीरे ऊपर की पत्तिया भी प्रभावित होने लगती हैं। पत्तियों पर लम्बे तुर्काकार (Spindle) आकृति के



चित्र 3 ख 8 ज्वार का पत्ती अंगमारी रोग (H. turcicum)

कई से. मी. लम्बे तथा 1 से. मी. चौड़े बीच से धूसर (Straw) रंग के धब्बे दिखाई देते हैं। (चित्र 3 स 8)। मक्का की अपेक्षाकृत इनके धब्बों के किनारे पर रंग द्रव्य (Pigmentation) अधिक होता है। भुट्टों पर इसका संक्रमण नहीं देखा गया है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle) :—

यह रोग हे. टरसीम कम (H. turcicum Pass C=Exserohilum turcicum) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। कोनिडियोफोर पर्णरन्ध्र द्वारा अकेले या गुच्छे में बाहर आते हैं जो लम्बे पटयुक्त, जैतूनी रंग के 150 – 250 × 7 – 9 माइक्रोन के होते हैं। कोनिडिया तुर्काकार (Spindle) आकृति के, जैतूनी भूरे, 3 से 8 पटयुक्त 45 – 132 × 15 – 25 माइक्रोन के होते हैं। इनका अंकुरण एकदम अंतिम नालिका द्वारा अन्त कोशाओं से होता है। मिश्रा एवं मिश्रा (1971) ने इसके चार प्रभेद का अध्ययन किया जो ISV 49 (65 – 130 × 13 – 22 μ एवं 3 – 11 पटयुक्त), ISV 526 (43–130 × 15–22μ एवं 3 – 9 पटयुक्त) आई. एस. वी. ISV 69 (48 – 145 × 15 – 14 μ एवं 2 – 8 पटयुक्त) एवं आई. एस. वी.-74 (62 – 106 × 15 – 60 – 24μ एवं 5–9 पटयुक्त थे)।

कोनिडिया का बनना कम तापक्रम पर अधिक होता है। ज्वार की फफूंद मक्का तथा मक्का की ज्वार को संक्रमित नहीं करती है। लूट्रेल (Luttrell, 1957, 58) ने इस फफूंद की लैंगिक अवस्था ट्राइकोमेटास्फेरिया टरसीका (Trichometesphaeria turcica) बताया।

लूटरेल (1957,58) के अनुसार 20-25° से. तापक्रम पर 4 सप्ताह में गेंचये में परीथिसिया बनी। पेरीथिसिया काली, गोलाकार 359–721 माइक्रोन 345–597 माइक्रोन चौड़ी होती है। इसमें एस्कस एवं एस्कोबीजाणु बनते हैं। एस्कस मुगदराकार (Clavate), बेलनाकार, 176 – 249 × 24 – 31 माइक्रोन की होती है। एस्कोबीजाणु रंगहीन, 3 पट के थोड़े से मुड़े हुए होते हैं, जिनका अंकुरण अंतिम नलिका द्वारा होता है।

यह रोग मृदूढ एवं बीजोढ है। हवा तथा वर्षा कोनिडिया के विकिरण में सहायता करती है।

लेफेबवरे एवं शेरविन (Lefebvre and Sherwin, 1945) तथा मित्र (Mitra, 19_3) ने बताया कि कायिकी विशिष्टीकरण जातियों (Species) के अन्दर होता है।

रोकथाम (Control)

बोर्डोरयार बुवाई से पहले बीजों को फफूंद नाशी दवा से उपचारित करें। बीजोपचार के लिए थिराम 0.2% केप्टान 0.15% या सेरेसन 0.2% आदि का प्रयोग में आ सकते हैं।

2. द्वितीयक संक्रमण की रोकथाम हेतु रोग के लक्षण दिखाई देते ही डायथेन 78 (0.2%) का छिड़काव करें।

3. बुवाई थोड़ी दूर-दूर करने से भी संक्रमण कम पाया गया है।

4. रोग प्रतिरोधी किस्मे प्रयोग मे लायें। टिफ्ट सूदान (Tift Sudan) इससे प्रतिरोधी है।

टारजेट स्पोट
Target Spot

इसके लक्षण भी मुख्यतः पत्तियो पर ही दृष्टिगोचर होते हैं तथा कभी-कभी तुष निपत्र (Glumes) पर भी पाए जाते हैं। सर्वप्रथम पत्तियों पर छोटे गोल धब्बे दिखाई पड़ते हैं जो बाद में जोनेट (Zonate) सी आकृति बना लेते है। यह मध्य से हल्के रंग के तथा बाहर से गहरे रंग के होते है। धब्बे 1 से 15 मि. मी. लम्बे तथा 1 से 6 मि. मी. चौड़े होते हैं।

यह रोग हे. सोरगिकोला (Helminthosporium sorghicola Lefebvre and Sherwin) से उत्पन्न होता है। कवकजाल पटयुक्त, रंगहीन होता है। अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है। कोनिडियोफोर साधारण (Simple) या शाखित, जैतुनी रंग के 115–700 माइक्रोन × 5–7 माइक्रोन चौड़े अकेले या 4 से जोड़ में पूर्णरन्ध्र से बाहर आते हैं। कोनिडिया सुनहरी पीले से जैतुनी, 2 से 8 पटयुक्त, 20–105 माइक्रोन × 8–21 माइक्रोन के होते हैं। कोनिडिया बीच से मोटे तथा नीचे एवं ऊपर से सिकुड़े होते हैं। इनका अंकुरण जनित नालिका द्वारा होता है।

इस रोग की रोकथाम के लिए बुवाई से पहले बीजो को थिराम, केप्टान या सेरेसेन से उपचारित करें तथा रोग प्रतिरोधी किस्मे प्रयोग मे लाएं।

इन दोनों किस्मों के अलावा हेलमिन्थोस्पोरियम की अन्य जातिया भी ज्वार पर लगती है वह इस प्रकार है।

1. हे. केटेनेरियम	(H. Catenarium Drechsler) (=Drechslera catenaria Drechs)
2. हे. हेलोडस	(H. halodes Drechsler) (=D. halodes (Drechs.) Sulr & Jain.
3. हे. रोस्ट्रेटम	(H rostratum Drechsler) (=Exserohilum rostratum (Drechs.) Leonard & Suggs
4. हे. सेटाइवम	(H. sativum P. K. and B.) (=Bipotaris sorokiniana (sacc.)

5. हे टेरीस (H. teres Decc)
(=D. teres (Sacc.) Shoem.
6 हे. विक्टोरिआई (H. Victorie Mechen and Murphy)

गलन
(Rots)

चारकोल गलन, वृन्त गलन, अंगमारी या हॉलोस्टेम

जहा कही भी ज्वार की खेती की जाती है वहां पर अधिकतर इस रोग का प्रकोप देखा गया है। इस फफूंद से बीजांकुर अंगमारी तथा वृन्त सड़न दोनो ही प्रकार के लक्षण उत्पन्न होते हैं। अमेरिका मे ज्वार की यह मुख्य बीमारी है। भारत मे सबसे पहले यह रोग मद्रास राज्य मे वर्णित किया गया। हमारे यहां तमिलनाडु तथा महाराष्ट्र में इसका प्रकोप विशेष होता है। ग्रसित पौधों मे भुट्टे या तो बनते ही नही हैं और यदि बनते हैं तो हल्के एवं कम भरे हुए होते हैं।

शुष्क गर्म मौसम मे इसका विशेष प्रकोप देखा गया है। इसी कारण रबी मे बोयी जाने वाली फसलें ज्यादा प्रभावित होती हैं। ज्वार के अलावा 30 अन्य पोषक पादप जैसे मक्का, आलू, कपास, सूरजमुखी, चौला, जूट, हैम्प, सोयाबीन आदि फसलें भी इससे कम नमी तथा अधिक तापक्रम पर प्रभावित होती हैं।

लक्षण (Symptoms)—जब तक पौधा परिपक्व नही होता तब तक इसके लक्षण अच्छी प्रकार दृष्टिगोचर नही होते हैं। इस रोग से प्रभावित वृन्त सूख जाता है तथा वह अवशयन (Lodge) हो जाता है प्रभावित दाने कम भरे हुए, हल्के तथा परिपक्वता से पहले ही पक जाते हैं। जब ग्रसित वृन्त को फाड़कर देखा जाए तो पिथ का विघटन (Disintegration) काला दिखाई पड़ता है। जिसमें केवल वेस्कुलर बंडल ही रह जाते हैं। पिथ मे छोटे काले कठकवक दिखाई पड़ते हैं। वृन्त सड़न के कारण जल तथा पोषक तत्वो का गमनागमन सवांहकता ऊतिका के कारण रुकजाता है।

अतिक्रमण होने पर तना जमीन के पास से गिर जाता है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle)—यह रोग मेक्रोफोमिना फेजिओलाई [Macrophomina phesceoli (Maubl) Ashby] नामक फफूंद से उत्पन्न होता है।

समानार्थक (Synonyms)

1. फेजिओलिना (M. phaseolina (Tassi)
2. बोटरोईडिप्लोडिया फेजिओलाई (Botryodiplodia phaseoli (Mauble) Thi.
3. डोथिओरेला फेजिओलाई (Dothiorella phaseoli (Mauble. Petrek and Sydow.)

4. स्क्लेरोशियम बटाटीकोला (Sclerotium bataticola Taubenhaus.)

5. मे. फेजिग्रोलिना (M. phaseolina (Tassi)

कवकजाल शुरू मे रंगहीन तथा धीरे-धीरे जैतुनी भूरा हो जाता है। कवकजाल जड़ तथा मुकुट (Crown) मे प्रवेश करता है। कठकवक अधिकतर छोटे परन्तु आकृति मे भिन्न गोलाकार होते हैं। पिक्निडियम गोल से दीर्घवृत्तीय, 40–220 माइक्रोन व्यास की छोटी ग्रोस्टिग्रोलेट होती है। पिक्निग्रोस्पोर गोल से दीर्घवृत्तीय, रंगहीन, एक कोशिक, 10–24 × 6–10 माइक्रोन के होते हैं। तथा अकुरित होने पर एक या अधिक जनित नलिका बनती हैं। कुछ कवक वैज्ञानिक राइजक्टोनिया बटाटीकोला (Rhizoctonia bataticola (Taub) Soler.) एवं स्क्लेरोशियम बटाटीकोला को एक मानते हैं (Thirumalachar, 1953)।

फफूंद की वृद्धि के लिए अनुकूलतम तापमान 30–37° से. है। कम मात्रा में मिट्टी की नमी पौधे की वृद्धि मे रूकावट डालती है परन्तु बीजांकुर अगमारी तथा वृन्त सड़न का प्रकोप अधिक होता है।

वार्षिक आवर्तन (Annual recurrence)—यह रोग मुख्यत: मृदूढ़ है। रोगजन का फैलाव अधिकांश खेत की मिट्टी में जहां पर संक्रमिक मलबा पड़ा रहता है वहा से होता है। फफूंद का प्रवेश जड़ों द्वारा होता है तथा प्रसार जल्दी कार्टिकल ऊत्तिका मे हो जाता है,

रोकथाम (Control) :—

1. फसल चक्र, उचित मात्रा मे खाद का प्रयोग, उचित मात्रा मे मिट्टी में नमी तथा अधिक तापक्रम के न होने पर इस रोग का प्रभाव कम होता है (Living ston, 1945 Norton, 1953)

2. होफमास्टर एवं टुलिस (Hoffmaster and Tullis, 1944) ने विभिन्न प्रकार की ज्वार को प्रतिरोधन के आधार पर निम्न प्रकार से रखा है। माइलोस (Milos), डार्सो (Darso), सूडान घास, फटरीट, लेगारी (Legari), काफिर (Kaffir), मीठी ज्वार (Sweet sorghums).

पेरीकोनिया जड़ गलन
Periconia Root Rot

इस रोग का अमेरिका, मेक्सिको, दक्षिणी अफ्रीका आदि देशों में मुख्य रूप से प्रकोप होता है। 1925 मे सबसे पहले इस रोग का पता चला। पहले वैज्ञानिकों का ऐसा विचार था कि यह रोग पीथियम, फ्यूजेरियम तथा राइजक्टोनिया आदि की जाति से उत्पन्न होता है। परन्तु बाद में ल्यूकल (Leukal, 1948) ने बताया कि यह रोग पेरीकोनिया सिरसिनेटा नामक फफूंद से उत्पन्न होता है।

लक्षण (Symptoms) :—

इस रोग का प्रभाव बुवाई के 3–4 सप्ताह बाद दिखाई देता है। रोग ग्रसित पौधों की वृद्धि रुक जाती है तथा पत्तियां मुड़ सी जाती है। पत्तियों के शीर्ष पीले पड़ जाते हैं और सूखने लगते हैं। पौधा बिना भुट्टे लगे मर जाता है। पौधे के ऊपरी भाग पर लक्षण दिखाई देने से पूर्व जड़ें प्रभावित होती हैं। फफूंद पौधों की जड़ों को चारों ओर से घेर लेती है तथा जड़ों को सड़ाना शुरू कर देती है। रोग ग्रसित पौधे भूमि से सरलतापूर्वक उखाड़े जा सकते हैं क्योंकि जड़ की सारी सहायक शाखाएं सूख जाती हैं। जड़ों के बीच का हिस्सा लाल या भूरा हो जाता है।

हेतुकी (Etiology)

यह रोग पेरीकोनिया सिरसिनेटा (*Periconia circinata* Margin Sacc.) नामक फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है। अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है। कोनिडिया जंजीर में बनते हैं जो गोलाकार काले, 15–17 माइक्रोन व्यास के होते हैं।

यह रोग मृदूढ है।

रोकथाम (Control)

1. रोग ग्रसित पौधों के अवशेषों को नष्ट कर दें।
2. फसल चक्र अपनाएं।

वृन्त गलन, अंगमारी या टॉप गलन
(Stalk rot or seedling blight or Top Rot)

भारत में इस रोग का प्रकोप कई स्थानों पर देखा गया है। बीजांकुर, जड़, वृन्त, तथा बाली की किसी भी अवस्था में इस फफूंद से संक्रमण हो सकता है। यदि संक्रमण देर की अवस्था में हो तो टॉप गलन अन्यथा वृन्त सड़न या बीजांकुर अंगमारी के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

लक्षण (Symptoms)

इस रोग का प्रकोप पौधे के विकास के किसी भी समय हो सकता है। बीजांकुर अंगमारी के लक्षण अंकुरण के समय या शुरू की अवस्था में दिखाई देते हैं। बीजांकुर के अंकुरित होने के बाद बीजोपर (Hypocotyl) के बीजावरण तोड़ने के बाद से ही इसका संक्रमण होता है तथा मूलांकुर एवं प्रांकुर सड़ जाते हैं। संक्रमण तने तक बढ़ता है। जब वृन्त को फाड़कर देखा जाए तो लाल बैंगनी ग्रसित भाग दिखाई पड़ता है। पिथ पर जलासिक्त से धब्बे पड़कर सड़ जाता है। धीरे-धीरे बाद में तना टूट जाता है।

ग्रसित पौधों की पत्तियां अच्छी प्रकार से नहीं निकलती हैं तथा वो तुड़ी-मुड़ी सी रहती हैं ग्रसित पौधों में पुष्पक बहुत ही कम होते हैं।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle):—

यह रोग फ्युजेरियम मोनीलीफोर्मा (Fusarium moniliforme) नामक फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है। कवकजाल पटयुक्त अन्तर्कोशीय होता है।

मेक्रोकोनिडिया बहुत कम बनते हैं। ये गुच्छे मे कवक शाखाओ पर या स्पोरोडोकिया (Sporodochia) में बनते हैं। ये हंसिया आकृति के, दोनो तरफ से सिकुड़े, 3–5 पटयुक्त, 20–90×2–45 माइक्रोन के होते हैं। क्लेमाइडो बीजाणु नही बनते हैं।

माइक्रोकोनिडिया या तो जंजीर में या अकेले, एक कोशिक तथा कभी-कभी द्विकोशिक, गोलाकार से फूंजीफोर्म 4–20×1.5–4.0 माइक्रोन के होते है।

पैरीथीसिया बहुत ही कम बनती हैं। ये भरे हुए वृन्त पर बनती है। गोलाकार विकेन (चिवकरण) 250–390×180–400 माइक्रोन की होती है। एस्कस 66–129×7–14 माइक्रोन की होती है। एस्कस में 8 एस्कोबीजाणु पाए जाते हैं। एस्कोबीजाणु सीधे अधिकतर पटवाले दो अनियमित लाइनो मे 10–24×4–9 माइक्रोन के होते हैं। एस्कोबीजाणु का अंकुरण जनित नलिका द्वारा होता है।

यह रोग मृदूढ एव बीजोढ है।

रोकथाम (Control) :—

1. बीजो को बुवाई से पूर्व स्परगान से उपचारित करे।
2. रोग ग्रसित पौधो के अवशेषो को एक कर एकत्रित कर नष्ट करदें।
3. फसल चक्र अपनायें।

शर्करा रोग
(Sugary Disease)

भारत, बर्मा, अफ्रिका एवं इटली, आदि देशो मे ज्वार की फसल को यह रोग काफी नुकसान पहुचाता है। देशी किस्मो मे इस रोग से कम हानि होती थी परन्तु संकर किस्मों के आने से हानि बहुत अधिक होने लगी है। सर्व प्रथम मेकराय (McRae, 1927) ने 1927 में मद्रास राज्य से इस रोग का वर्णन किया जो केवल कोनिडियाल अवस्था थी परन्तु बाद मे रामकृष्णन (1948) ने सबसे पहले कठकवक अवस्था बताई। ज्वार के साथ अब बाजरे पर भी यह रोग नुकसान पहुंचाता है। 1967 में पहली बार व्यापक रूप मे बहुत अधिक मात्रा मे कठकवक ज्वार की फसल पर महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश एवं मद्रास मे देखे गए।

दक्षिण भारत में इस रोग का प्रकोप सर्दी (अक्टूबर–जनवरी) मे विशेषतः होता है। इस रोग के फलस्वरूप उपज भी कम होती ही है साथ ही इसमें पाया जाने वाला विषैला तत्व मनुष्य और पशु दोनो के लिए भी घातक सिद्ध हुआ है।

लक्षण (Symptoms) :—

रोग के प्रारम्भिक लक्षण पुष्प लगने के 10 दिन बाद दिखाई देने लगते

हैं। केवल अकेले शूक (Spiklet) ही इससे प्रभावित होते हैं। सबसे पहले शहद की तरह का चिपचिपा रसीला पदार्थ फूलों के नीचे की ओर से रिसने लगता है। रोग की सक्रमणता अधिक होने पर दाने चिपचिपे तथा गहरे भूरे या काले रंग के हो जाते हैं। आन्ध्र प्रदेश से कठकवक शूकी में वर्णित किए गए (Ramakrishnan, 1948) कठकवक अवस्था तो बहुत ही कम देखी गई है परन्तु मधु रस अवस्था तो सामान्य रूप से पाई जाती है (चित्र 3 ख.9)।



चित्र 3ख.9 ज्वार की शर्करा रोग

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle) :—

यह रोग स्फेसिलिया सोरगी (Sphacalia sorghi McRae) नामक फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है। यह रोग अधिकतर अलैंगिक अवस्था के रूप में ही अधिक जाना जाता है क्योंकि कठकवक सामान्य तौर से नहीं बनते हैं। (Arjreker, 1926) ने कठकवक का बनना बताया हैं। रामकृष्णनन (1948)

भी ग्रसित बालो मे बहुत अधिक कठकवक आन्ध्र प्रदेश में वर्णित किए। कोयम्बटूर आदि जगहों पर स्केसिलिया 'सोरगी से ही अधिकतर फसल प्रभावित होती है। परन्तु कुछ अधिक प्रभाव्य किस्मे जैसे के० 60–ए० में कठकवक भी बनते देखे गए हैं।

फफूंद का कवकजाल रंगहीन तथा पटयुक्त होता है। अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है। कोनिडिया रंगहीन, दीर्घवृत्तीय बारीक भित्ति के 12–19 × 5–8 माइक्रोन परिमाप के होते हैं। कोनिडिया अंकुरनाल बनाकर अंकुरित होते हैं तथा कवकजाल उत्पन्न कर देते हैं।

कठकवक 1 से 2.5 से. मी. लम्बे एवं 4.6 मि मी चौडाई के होते हैं। सक्रमण वातोढ़ केनिडिया से ही होता है। केनिडिया 3 घण्टे मे अकुरित होकर बारीक जनित नालिका बनाते हैं जिसमे नीचे के आधे हिस्से पर पट बन जाता है तथा अकुरण होने पर लम्बी जनित नलिका बना देते हैं। कठकवक 30 दिन तक विभिन्न तापक्रमो पर रखने पर भी अकुरित नही होते हैं।

यह फफूंद वर्तिका (Style) के ऊपर प्रवेश करके नीचे की ओर बढती है तथा अण्डाशय के बीजाण्डो के रास्ते से भ्रूण (Embroyo) मे पहुंच जाती है।

मधुरस जनने के बाद सैकड़ो कीट इसकी ओर आकर्षित होते हैं जो कि कवक बीजाणुओ को अपने शरीर से चिपका कर एक स्थान तथा एक पौधे से दूसरे पौधे तक के जाते हैं। रोग का प्रसार नम तथा बादलयुक्त मौसम मे अधिक होता है।

रोकथाम (Control) :—

1 यदि कठकवक हो तो बीज के साथ मिले इन कठकवक को 20 प्रतिशत नमक के घोल मे डुबोकर अलग कर लेना चाहिए। बाद मे बीज को पानी से अच्छी तरह धोकर तथा छाया मे सुखादें। जिराम से उपचार करें।

2. निर्देश द्रव्य को कम करने के लिए मधुरस अवस्था वाली बालियो को नष्ट कर देना चाहिए।

3 रोग के लक्षण दिखाई देते ही नेबम या जिराम का 0·2 प्र.श छिड़काव अवश्य कर दें।

4 फसल कटने के बाद तुरन्त जुताई करनी चाहिए।

5. रोग प्रतिरोधी किस्में प्रयोग मे लाए। 952 किस्मो को परीक्षण करने पर भारतीय ज्वार 2444, 4530, 5285, 3248, 7239 इससे सहनशील (Tolerant) पाई गई (Sundaram, 1968.)

Adlakha, K. L. and R. L. Munjal (1963). Reaction of some varieties of Sorghum vulgare to Sphacelotheca sorghi Indian J. Agric. Sci. 33(1) : 8–10.

Ajrekar, S. L. (1926). Observations on a disease of Jowar (Sorghum vulgare) caused by Sphacelia (conidial stage of Claviceps). J. Indian bot. Soc. 5: 56–61.

Al sohaily, I. A and C. J. Makin (1960). Races of head smut of sorghum. Phytopathology 50: 627 (Abstract).

Asthana, R. P. (1947). Cheap and simple control of grain smut of sorghum. Mag. Agric. Coll : Nagpur 22: 6–9

Bain, D C. (1950). Fungi recovered from seed of Sorghum vulgare Pers. Phytopathology 40: 521–522.

Briton—Jones, H. R. (1922). The smuts of Millet. Bull. Minist. Agric, Egypt, 18 p.

Butler, E. J. (1918), Fungi and Diseases in Plants. Thacker Spink & Co., Calcutta.

Christensen, J. J. (1926). The relation of soil temperature and soil moisture to the development of head smut of sorghum. Phytopathology 16: 353–357.

Das Gupta, S. N. and A. Narain (1960). A note on Physiologic races of Sphacelotheca sorghi. Curr. Sci 29. 226-27.

Dickson, J. G. (1956). Diseases of Field Crops.
2nd ed, Mc Graw—Hill Book Co., New York.

Faris, J. A. and C. M. Reed (1925). Mode of infection of Sorghum by loose Kernel Smut. Mycologia 17: 50–67.

Ficke, C. H. and C. O. Johnston (1930). Cultual characteristics of Physiologic forms of Sphacelothica sorghi. Phytopath. 20: 241–249.

Fischer, G. W. (1936). The longevity of smut spores in herbarium specimens. Phytopathology 26: 1118–1127.

Fisher, G W. and C. S. Holton (1957). Biology and contr of the Smut fungi. The Ronald Press Co., New York.

Frederiksen, R. A., A. J. Bock holt, D. T. Rosenow and J Reyes (1970). Problems and progress of Sorghu downy mildew in the United States. Indian Phytopatl 23. 321–338.

Futrell, M. C. (1966) Downy mildew reaction of grai

sorghums in world Collection. Sols. Afr. II 177–78, 181–182.

Govindu, H. C., B. G. Patil and K. G. Ranaganthaiah (1970). Present status of downy mildew diseases of Sorghum, Millets and Maize in Mysore. Indian Phytopath. 23 : 378–379.

Grewal, J. S. and Dharam Vir (1961). Efficacy of different fungicides. IV Field trials for the control of grain smut of Jowar (Sphacelotheca sorghi). Indian Phytopath. 14. 213.

Johnston, C. O. and E. B. Mains (1931). Relative susceptibility of certain varieties of sorghum to rust Puccinia purpurea. Phytopathology 21: 525–543.

Johnston, C. O., C. L. Lefebvre and E. D. Hansing (1938) Observation in the loose kernel smut of Johnson grass. Phytopathology 28: 151–152.

Jones, G. H. and A. G. Seif El Nasr (1940). The influence of sowing depth and moisture on smut diseases and the propspects of a new method of control Ann Appl. Biol. 27: 35–57.

Kamat, M. N. (1933). Observations on Tolyposporium filiferm cause of long smut of Sorghum. Phytopathology 23: 985–992.

King, S. B and O. J. Webster (1970). Downy mildew of Sorghum in Nigeria. Indian Phytopath. 23: 342–349.

Kulkarani, G. S. (1913). Observations on the downy mildew (Sclerospora graminicola (Sacc.) Sch. of Bajari and Jowar. Mem. Dep. Agric India, Bot. Ser. 5: 268–73.

Kulkarani, G. S. (1918). Smuts of Jowar (Sorghum) in the Bombay Presidency Bull. Agric. Resi. Inst. Pusa. 78.

..................(1922). Conditions influencing the distributions of grain Smut (Sphecelotheca sorghi) of Jowar in India. Agric. J. India 17: 159–162.

..................(1924).Resistance of Sorghum to loose and covered smuts. Phytopathology 14: 288.

..................(1927). Sulphur and Copper carbonate dust as effective fungicide for the control of Sorghum (Abst.) Phytopathology 1 : 52.

..................(1933a). Physiologic specialization of Sphacelotheca cruenta Polter. J. Agric Res. 47: 339–342.

Leukel, R. W (1943). Chemical seed treatments for the control of certain diseases of Sorghum. Tech. Bull. U. S Dep Agric. 849: 24.

..................(1948). Recent Developments in seed treatment. Bot. Rev. 14: 235-269.

..................(1951) Sorghum seed treatment studies in 1951. Plant Dis. Reptr 33. 378–381.

..................and J E. Livingston (1945). Smut control in Sorghum and effect of dust fungicides and storage on emergence Phytopathology 35: 645–653.

Le Roux, P. M. and J G Dicrson (1957). Physiologic specialization and genetics of Puccinia sorghi on Corn and P. purpurea on sorghum. Phytopathology 47: 101–107.

Leukel, R W and J. H Martin (1943). Seed rot and seedling blight of sorghum Tech Bull. U. S. Dep. Agric.

Leukel, R. W., O. J. Webster and R. H. Porter (1954) Sorghum seed treatment in 1945 Plant Dis. Reptr., 38 : 769–770

Melchers, L E (1925) Control of sorghum kernel smut by copper carbonate method Ext. Leafl. Kans. Agric Coll Div 224. 1

..................C. H and C. O. Johnston (1932) A Study of the physiologic forms of kernel smut (Sphacelotheca sorghi) of sorghum J. Agric Res. 44: 1–11

Misra, A. P and B Mishra (1971). Variations in four different isolates of Helminthosporium turcicum from Sorghum vulgare. Indian Phytopath. 24. 3: 514-521.

..................(1971) Studies on three isolates of H. rostratum Drechs from sorghum in India. J. Ind. Bot Soc. 56: 276–284

Mitra, M. (1923) Helminthosporium Spp. in cereals and sugarcane in India Part I (Diseases of Zea mays and Sorghum vulgare caused by a spp. of Helminthosporium. Memo. Dept. Agric India Bot Ser 11) 10: 219–241.

Nagarajan, K., B. L. Renfro, N. V Sundram and V. Saraswathi (1970), Reaction of a portion of the world collection of sorghum to downy mildew (Sclerospora sorghi). Indian. Phytopath. 23: 356–363.

Olike, L. S et al (1946) The fungus that causes sooty stripe of sorghum spp Phytopath 36: 190–200

Patel, M. K., M. N. Kamat, L. B. Kulkarani and M K Desai (1950). Occurence of green ear stage in sorghum Curr Sci. 19: 156–157.

Prasad, N. (1945). Long smut of sorghum–method of infection. Curr. Sci. 14: 239.

Prasada, R. (1948), Studies on the formation and germination of teliospores of rust. I. Indian Phytopath 1: 119–126.

Ramakrishan, T. S. (1947). The natural occurence of ergot in South India. III. Proc. Indian Acad. Sci. B. 26: 126–141.

..................(1948). Ergot sclerotia on Sorghum vulgare Pers. Curr. Sci. 17: 218

Ramakrishan, T. S. (1963). Diseases of Millets. ICAR, New Delhi 31–12.

Reddy G. S. (1949). Artificial infection of sorghum with long smut. Curr. Sci. 18: 418.

Reddy, G. M. (1923). Varietal resistance and susceptiblity of sorghum to Sphacelotheca sorghi (Link) Clinton and S. cruenta (Kuhn) Potter. Mycologia 15: 132–143.

Rodenhiser, H. A (1934). Studies on the possible origin of Physiologic forms of Sphacelotheca sorghi and S. cruenta.

Safeeulla, K. M. and M. J. Thirumalachar (1955). Resistance to infection by Sclerospora sorghi of sorghum and

maize varieties in Mysore State. Phytopathology 45: 128–131.

Shaw, G. C. (1970) Morphology and Physiology of downy mildews significance in toxonomy and Pathology. Indian Phytopath 23: 314–317.

Siddiqui, M. R. (1968). Control of diseases of Maize, Sorghum and Millets Proceedings of First summer Institute in Pl. Disease control. I A. R.I. 179.

Singh, R. S., P R. Mehta and B. Singh (1951). Red spot disease of leaves of Jowar Andropogon sorghum Boot. I. Ascochyta leaf spots Indian Phytopath 4: 45–57.

Soumini, C K. (1949). Investigations on cereal rusts III. Puccinia purpurea cke. Indian Phytopath 2: 35–38.

Sundaram, N. V. (1955). Studies on the leaf smut of Sorghum Madras Agric. J 42· 136–140.

..................(1968). Control of ergot disease of Sorghum Bajra, First Summer Ins itute in Plant Disease control. I. A. R. I., pp 1·4.

..................(1968). Control of rust and other leaf spot disease of sorghum and Bajra Proceedings of First Summer Institute in Pl. Disease Control I. A R. I., pp 166.

..................(1976) Sorghum diseases and their control Pesticides information Session I. 16–21.

..................and S. P. Ray Chaudhri (1971). Disease of sorghum and their Control Tecb. Bull. Dte. of Ext. Govt. of India.

Suryanarayana, D. (1954). Infection caused by the oospores of Sclerospora sorghi (kulk) Weston and Uppal on Sorghum vulgare Pers. Indian Phytopath 7: 72–76.

Takasugi, H. and Y. Akaishi, (1933). Studies on the smut of Sorghum. I. Germination of the spores of loose kernel smut of sorghum. Res. Bull S. Manchuria Rly Co., Agric. Exp. Sta. 11: 216–260.

Tarr, S. A. J. (1962) Diseases of sorghum, Suden grass,

Broom Corn, the Common Health, Mylor. Inst Kew. Survey, 1–380

Tyler, L. J. (1938) Variaties in Sphocelotheca sorghi Minn Agr. Exp. Sta Tech. bull. 133.

Uppal, B. N. and M. K. Desai (1931). The effectiveness of dust fungicides in controlling grain smut of Sorghum. Agric. Livestock India 1: 396–413.

..................(1932) Two new hosts of downy mildew of Sorghum in Bombay. Phytopathology 22: 587–594.

Uppal, B. N. and Patel, M. K. (1943). Long Smut of Sorghum surpuriceum. Indian J. Agric Sci. 13: 520–21.

Vasudeva, R. S. and M. R. S Iyenger (1950). Mode of transmission of the long smut of Jowar. Curr. Sci 79: 123–124.

Veheeduddin, S. (1942). The Pathogenicity and genetics of some Sorghum smuts. Tech. Bull. Minn. Agric. Expt. Sta. 154, 46p.

..................(1951) Two new Physiologic races of Sphacelotheca sorghi. Indian Phytopath 3: 162–164.

Wallace, G. B. (1934) Report of the mycologist Rep. Dep. Agric. Tanganyika, 1933 pp 76–78.

Weston, W. H. and B. N. Uppal (1932). Basis for Sclerospora sorghi a new species, Phytopathology 22: 573-586.

(ग) कांगनी के रोग

(DISEASES OF SETARIA)

कांगनी मिलेट की एक महत्वपूर्ण खरीफ की फसल है, जिसकी खेती जम्मू एवं काश्मीर के पहाड़ी इलाकों में, हिमाचल प्रदेश, पंजाब, उत्तर प्रदेश एवं आसाम मे मुख्य रूप से की जाती है। लगभग 25 लाख एकड़ भूमि में इसकी खेती होती है, जिससे 4 लाख टन उत्पादन होता है। कई प्रकार के रोगों का इस फसल पर प्रकोप होता है जिसके कारण फसल को काफी नुकसान पहुँचता है। मुख्य रूप से इस फसल पर लगने वाले रोग इस प्रकार हैं—

1. मृदुरोमिल या हरी बाली—(Downy mildew or Green ear)
2. कंड (Smut)
3. किट्ट (Rust)
4. ब्लास्ट (Blast)
5. पत्ती धब्बा एवं बीजांकुर अंगमारी (Leaf spot and Seedling blight)

इन रोगो के बारे में संक्षिप्त मे इस अध्याय में बताया जा रहा है।

मृदुरोमिल (Downy mildew)

कांगनी की फसल का यह एक प्रमुख रोग है जिसके कारण फसल को बहुत नुकसान पहुचता है। भारत, चायना, मेनचुरिया, जापान, एशियाई आदि देशों में इस रोग का प्रकोप देखा गया है। भारतवर्ष में इस रोग का प्रकोप उन सभी क्षेत्रों मे देखा गया है जहाँ कांगनी की खेती की जाती है, विशेषतः मद्रास, मैसूर एवं आन्ध्र प्रदेश मे प्रतिवर्ष फसल का 5-10% भाग इसमे नष्ट हो जाता है परन्तु 50% तक का नुकसान इससे आंका गया है। मेलहस एवं साथियों (1928) के के अनुसार यह रोग सभी प्रकार के मिलेट तथा जंगली मिलेट जैसी घास पर पाया जाता है।

लक्षण—इस रोग के फलस्वरूप दो प्रकार का संक्रमण देखा गया है। प्राथमिक संक्रमण बीजांकुर अवस्था मे दैहिक तथा पुराने पौधों पर द्वितीयक संक्रमण स्थानिक होता है। रोगग्रसित पत्तियों का हरा रंग बदलकर सफेद या बादली हो जाता है। सुबह के समय पत्तों की निचली सतह पर कोनिडिया एवं

कोनिडियोफोर की चूर्ण जैसी वृद्धि आसानी से देखी जा सकती है। धीरे-धीरे पत्तियाँ सिकुड़ कर ऐंठने लगती है तथा सिरे से धारियो मे फट जाती है। ग्रसित पौधों में सामान्य बालियां बहुत कम बनती हैं तथा यदि बनती भी हैं तो हरी पत्ती जैसी हो जाती है। बालियो के पुष्पपत्र तुष आदि पत्तियों की तरह हरे हो जाते हैं। पुष्पक्रम का कोई भी भाग ऐसा बच नहीं पाता जो किसी न किसी तरह विरूप नहीं हुआ हो। उग्रावस्था में स्त्रीकेसर यदाकदा ही उत्पन्न होते हैं और अगर होते भी हैं तो पत्ती जैसी रचना मे बदल जाते हैं। ग्रसित पौधे बोने रह जाते हैं तथा बहुत अधिक दोजी बाहर निकल आते हैं।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and Life cycle)—

यह रोग स्केलेरोस्पोरा ग्रेमिनीकोला नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। कवकजाल रगहीन, अपट, अन्तर्कोषिय होते हैं। अलैंगिक जनन कोनिडिया से होता है। मेल्हस एवं अन्य (1928) के अनुसार कोनिडिया 14–23 × 11–17 माइक्रोन के होते हैं। कोनिडियो बनने के लिये तापमान 10–25° सें होना चाहिये तथा अनुकूलतम तापमान 17–18° सें. है एवं न्यूनतम आपेक्षिक आर्द्रता 80–85% होनी चाहिये। कोनिडिया का अकुरण जनित नलिका से होता है।

वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार—यह कवक अनिवार्य परजीवी है तथा इसका प्राथमिक संक्रमण भूमि मे उपस्थित निपित्ताड से होता है। यह निपित्ताड 3–4 वर्ष तक मिट्टी मे जीवित रह सकते हैं। अकुरण के पश्चात ये मूलरोमो द्वारा घुसकर सर्वदेही हो जाते हैं। द्वितीयक संक्रमण प्राथमिक पौध फसल की पत्तियो पर प्राथमिक संक्रमण से बने कोनिडिया के हवा तथा पानी के विकीर्णन से होता है।

मेल्हस एवं अन्य (1928) के अनुसार इस फफूंद का प्रभेद (S. viridis)–मक्का, टिओसिन्ट एवं पेनीकम मिलीएसियम (Panicum miliaceum) पौधो पर संक्रमण कर सकता है। उप्पल एवं देसाई (1931) के अनुसार बाजरा के ऊपर इस प्रभेद के निपित्तांड का आक्रमण नही हो सकता है तथा ये दो विभिन्न प्रकार के प्रभेद हैं।

जैसा कि तासुगी ने बाजरे मे इस रोग का सचारण बीजो द्वारा बताया एवं Yu (1944) ने भी आंशिक रूप से इसे बीजोढ़ ही बताया है। इस रोग के फैलाव के लिये न्यूनतम भूमि तापमान 11° सें., अनुकूलतम तापमान 20° सें. एव अधिकतम तापमान 34° सें. है। इसके अलावा प्रचुरमात्रा मे ऑक्सीजन मिली वायु का संचार होना इसके प्रसार के लिये सहायक है।

रोकथाम—

1. रोगग्रसित पौधों के अवशेषो को एकत्र कर नष्ट कर देना चाहिये तथा निपित्ताड बनने से पहले ही रोग से प्रभावित पौधो को उखाड़ कर नष्ट कर दें।

2. बीजो को 2% कॉपरसल्फेट के घोल मे 10 मिनट तक डुबोने स
निपित्कॉड की जीवन क्षमता नष्ट हो जाती है। चाइना एवं जापान मे
वाष्पीकृत पारावर्गी रसायनों से उपचारित करना भी लाभप्रद पा
गया है, परन्तु हमारे यहाँ पर यह विशेष प्रभावशील नहीं है।
3. फफूद के वार्षिक आवर्तन में निपित्कॉड का काफी महत्व है तथा 3-4
वर्ष तक का फसल चक्र प्रयोग में लाना चाहिये क्योंकि मिट्टी में निपि
त्काड 3-4 वर्ष तक जीवित रह सकते हैं।
4 स्वस्थ एवं प्रमाणित बीज ही प्रयोग मे लाये तथा रोग प्रतिरोधी किस्मे
प्रयोग में ले। चाइना मे Yu (1944) ने Tsinan Nankin
किस्म इससे प्रतिरोधी बतायी है।

कंड (Smut)

कांगनी फसल का यह एक महत्त्वपूर्ण रोग है। दक्षिणी पश्चिमी यूरोप,
उत्तरी चाइना, मेनचुरिया एवं भारत में इस रोग से काफी नुकसान होता है।
मेनचुरिया मे 50% तक तथा चाइना मे 8 से 50% तक दानों की उपज मे कमी
देखी गयी है। भारत मे आंध्र प्रदेश, बम्बई, मैसूर एवं मद्रास राज्य में इस रोग से
नुकसान बहुतायत रूप से देखा गया। आमतौर पर इस रोग के फलस्वरूप 3 से
5% से अधिक नुकसान नही होता परन्तु उग्रावस्था में 50% तक का नुकसान
देखा गया है।

लक्षण—रोग के लक्षण पौधे से बाली बाहर निकलने पर ही दृष्टिगोचर
होते है। ग्रसित दानों के स्थान पर काला चूर्ण बन जाता है। रोगी पौधे मे प्रत्येक
बाली तथा प्रत्येक बाली के सभी दाने काले चूर्ण में बदल जाते हैं। यह काले चूर्ण
में परिवर्तित दानों का स्थान जो काले बीजाणु ले लेते हैं, उन्हें कंडवा सोराई क
हैं। सोराई दानों मे बड़ी होती है तथा 2 से 4 मि. मी. व्यास की होती है
प्रारम्भ में यह एक झिल्ली मे बंधा रहता है, किन्तु परिपक्वता के समय यह
जाती है तथा बीजाणु नगे रह जाते हैं।

हेतुकी एवं जीवन चक्र—(Etiology and Life cycle)—

यह रोग अस्टीलागों क्रेमेरी (Vstilago cremeri korn) नामक फफूद
से उत्पन्न होता है। क्लेमाइडोबीजाणु गोल या कोणाधार आकृति के गहरे
चिकने, भिति के 7–10 माइक्रोन व्यास के होते हैं। बीजाणु का अंकुरण बिना
विश्राम काल के होता है। अंकुरण के समय बाहरी भिति के फटने पर एक प्रकवक
बनती है। प्रकवक पर स्पोरिडिया नही बनते हैं, तथा इसमें से ससंग सूत्र
संक्रमण सूत्र (Infection hyphae) से निकलते हैं। दो विपरीत प्रभेद वाले
संक्रमण सूत्रों की अकुरनाल संयुक्त होकर डाइकेरियोटाइजेशन की क्रिया करके
डाइकेरियोटिक कवकसूत्र उत्पन्न कर देते हैं। अकुरित बीजो के अधोबीजपत्र भाग

में होकर भ्रूणाग्रचोल को वेधकर यह कवक सूत्र अन्दर घुसता है तथा नयी निकलने वाली पत्तियां एवं तनों आदि के अन्दर बढ़ता है। इस प्रकार संक्रमण दैहिक होता है तथा कवक जाल पोषक के भीतर ही भीतर फैलता रहता है।

वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार—

यह रोग बीजोढ़ है तथा शुष्क अवस्था में मृदुढ भी देखा गया है। प्रति वर्ष रोगी बीजो के अकुरण के साथ ही बीजाणु भी अकुरित होता है तथा दैहिक रूप से कवकसूत्र द्वारा संक्रमण होता है। बटलर (1918) ने बताया कि संक्रमण बीजाणु-अवस्था मे होता है। सुन्दरमन (1921) के अनुसार भेदन के बाद कवक-सूत्र मिजोकोटायल सभाग (region) मे कोशिका भित्ति से प्रवेश करते है। वाग (Wang, 1943) ने बताया डाइकेरियोटिक कवकसूत्र 2 दिन की बीजाकुर में दवाव के कारण (mechanical pressure) से प्रवेश करते हैं। रोग आवर्तन के पश्चात रोगी बालो पर असख्य क्लेमाइडोबीजाणु बनते है जो हवा मे उड़कर कागनी की स्वस्थ बाली के खिले हुए फूलो पर गिरते हैं और अकुरनाल द्वारा अकुरित होते हैं और बीजो को संक्रमित कर देते हैं। इस प्रकार इसका वार्षिक आवर्तन होता रहता है।

कार्यिकी प्रजातियां—

इस फफूंद की 6 प्रजातियो का मालुम पड़ा है।

रोकथाम (Control)—यह रोग बीजोढ है अतः बीजोपचार करना आवश्यक है। बीजों को बोने से पहले 2% कॉपरसल्फेट के घोल में 10-30 मिनट तक भिगोकर या बीजो को 0 5% फार्मलीन मे 2 घण्टे तक भिगोकर और एकदम सुखाकर बोने से रोगजन नष्ट हो जाता है बटलर (Butler, 1918) व मेलचर (Melchers 1927) के अनुसार बीजों के अंकुरण पर फार्मलीन का बुरा असर पड़ता है।

बीजों की पारावर्गी रसायनो जैसे एग्रोसन जी एन. (0·2%) सेरेसन (0·2%) कॉपरकार्बोनेट से उपचारित करना भी लाभप्रद रहता है। टिलेन्टिन एवं उसपुलन के तरल संविन्यास के प्रयोग से भी काफी सफलता मिली है (Porter et al, 1928, Wang, 1944)।

बीजों को गरम पानी से उपचारित करने पर भी रोगजन नष्ट हो जाता है। सबसे पहले बीजो को साधारण तापमान वाले पानी में कुछ समय तक भिगोना चाहिये तथा इसके पश्चात इन बीजो को 6 मिनट तक 58° सें. पर रखना चाहिये। इस तापमान पर फफूंद के कवकसूत्र मर जाते हैं। बीजो को बोने से पहले सुखा लेना चाहिये। इस विधि मे सावधानी की बहुत जरूरत है इसलिये इसका विशेष प्रचलन नही है।

2. रोगग्रसित बालियों को एकत्र कर तुरन्त नष्ट कर दें।
3. रोग प्रतिरोधी किस्मे प्रयोग मे लाये।

इसके अलावा इस फसल पर अस्टीलागो टेनाकी (U. tenakee Ito एवं अ नेगलेक्टा (U neglecta Hiessel) नामक फफूंद से भी कद रोग उत्पन्न होता है परन्तु यह सामान्यतः भारत में नहीं पायी जाती है।

किट्ट (Rust)

सबसे पहले सिटेरिया इटेलिका किस्म जर्मेनिका (Sataria italica var germanica) पर यूरोमाइसीज सिटेरीयाई-इटेलिका (*Uromyces setariae-italicae*) फफूंद को जापान में योशिनों (Yoshino) ने देखा। उसके बाद एशियाई एवं अफ्रिकाई देशों में इसका प्रकोप कई जगह पाया गया। भारत में मद्रास, बम्बई, बिहार, बंगाल आदि जगहों पर इसका प्रकोप होता है। (Butler and Bisby, 1931) परन्तु आर्थिक दृष्टि से इसका विशेष महत्व नहीं बताया गया क्योंकि देर की अवस्था में इसका प्रकोप होता है (Butler, 1918)। मद्रास राज्य में 1944 में इसका भीषण प्रकोप हुआ जिसके कारण सम्पूर्ण फसल सूख गयी तथा उपज पर काफी असर पड़ा। कोयम्बटूर में भी इस रोग से काफी नुकसान होता है।

लक्षण (Symptoms)—इस रोग का प्रभाव फसल की किसी भी अवस्था में हो सकता है, परन्तु यदि रोग पुष्पण से पहले हो जाये तो नुकसान अधिक होता है। प्रारम्भ में रोग के लक्षण पत्ती के दोनों तरफ लाइन में छोटे-छोटे भूरे स्फोट के रूप में पाये जाते हैं। शुरू में स्फोट बहुत छोटे होते हैं (1/4)" जो धीरे-धीरे बड़े तथा एक दूसरे से मिले हुए प्रतीत होते हैं। ये स्फोट इस फफूंद के यूरिडोस्फोट होते है। ये स्फोट पर्णछद एवं संधि स्तम्भ (Culm) पर भी बनते हैं। बटलर [1918] के अनुसार जापान एवं उत्तरी भारत में टेल्यूटोस्फोट नहीं बनते हैं परन्तु दक्षिणी भारत में दिसम्बर एवं जनवरी के महिनों में काफी मात्रा में ये स्फोट बनते हैं जो अधोस्तर से ढके होते हैं। रोग के फलस्वरूप प्रकाश संश्लेषण की क्रिया धीमी पड़ जाती है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiologo and Life cycle)—

यह रोग यूरोमाइसीज सिटेरियाई-इटेलिका (Uromyces setariae-italicae (Diet) Yoshino) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। यह फफूंद यूरिडोबीजाणु तथा टेल्यूटोबीजाणु दो प्रकार के बीजाणु पैदा करती है। यूरिडिया पत्तियों की दोनों सतह पर काफी मात्रा में बनते हैं जो दीर्घवत् (Oblong) भूरे रंग के कतार में होते है जिनमें असंख्य बीजाणु होते हैं। यूरिडोबीजाणु छोटे गोल से अण्डाकार (Oval) वृन्तयुक्त, इकिनेटिक, काटकायुक्त, 2[illegible] × 20 माइक्रोन (20-34 × 14-24) के होते हैं (Ramakrishnan, 1949)। 3 से 4 जनित छिद्र बिखरे हुए भित्ति पर बने होते हैं। यूरिडोबीजाणु जनित नलिका द्वारा नमी की उपस्थिति या 1-2% सुक्रोज घोल में शीघ्र अंकुरित हो जाते हैं जो पोषक के ऊतक में रंध्र के द्वारा प्रवेश करते है। 95-100% बीजाणु 12 से 18 घण्टे में

अंकुरित हो जाते हैं तथा अंकुरण होने पर एक या कई जनित नलिका जनित छिद्र से निकलती है (Ramakrishnan, 1949)।

टेल्यूटो अवस्था—टेलिया पर्णफलक, पर्णच्छद तथा तने पर बहुत अधिक संख्या पर यूरिडिया के बहुत बाद बनते हैं। ये गहरे भूरे से काले रंग के होते हैं तथा अधोस्तर से बहुत समय तक ढके रहते हैं। टेल्यूटोबीजाणु कई प्रकार की आकृति के हो सकते है जैसे दीर्घवत्, गोल या बहुभुजीय (polygonal) आधार से चपटे, (thickened), पीले भूरे रंग के 22 × 17 माइक्रोन (17–26 × 14–20) माइक्रोन के होते हैं (Ramkrishnan, 1949)।

वार्षिक प्रावर्तन एवं प्रसार—

जहाँ पर यह फसल वर्ष में दो बार सिंचाई द्वारा बोई जाती है वहाँ पर सम्पूर्ण वर्ष इसका प्रकोप पाया गया है परन्तु अधिक प्रकोप जून-जुलाई एवं अक्टूम्बर से जनवरी में होता हैं क्योकि नम मौसम इस रोग के लिये प्रभाव्य है। यूरिडोसोराई अन्त क्रमण के 7–8 दिन बाद बन जाती है। यूरिडोबीजाणु हवा के माध्यम से एक जगह से दूसरे जगह प्रसार करते हैं।

रामकृष्णन (Ramkrishnan, 1949) ने कई किस्मों पर इसका अन्तः-क्रमण किया परन्तु कोई भी किस्म इस किट्ट से पूर्ण प्रतिरोधी (immune) नही पायी गयी। सवर्ध Co-1 पर इसका कम प्रकोप देखा गया तथा सवर्ध 3560, 3396, 2528 इससे बहुत प्रभावी पाये गये।

रोकथाम—

1. रोगरोधी किस्मे प्रयोग में लानी चाहिये। प्राकृतिक स्थिति मे जो 368 ससार के संग्रह (Collection) को परीक्षण किया गया तो उसमे 23 उससे प्रतिरोधी पाये गये (Sundaram, 1969)। यामाड़ा (Yamade), शिरोहामा (Shirohame), जिरो ((Jiro), आवा (Awa) इससे प्रतीरोधी है।
2. गन्धक एवं जिनेव के द्वारा छिड़काव कर रोकथाम के उपर कार्य नही हुआ है।
3. रोगग्रसित पौधों के अवशेषो को एकत्र कर नष्ट कर दें।

ब्लास्ट (Blast)

इस रोग का प्रकोप उन स्थानों पर अधिक देखा गया है जहां अधिक आर्द्रता (humidity) हो। सबसे पहले जापान में इस रोग का प्रकोप 1917 मे निशिकाडो (Nisikado) ने देखा। मद्रास मे 1919 मे इसका विशेष प्रकोप देखा गया जिसके कारण काफी आर्थिक हानि हुई।

रोग के लक्षण पौधे की केवल पर्णफलक पर ही दृष्टिगोचर होते हैं। पर्ण-फलक पर छोटे-छोटे हल्के भूरे धब्बे दिखाई देते है तथा धीरे-धीरे धब्बे गहरे भूरे गोलाकार हो जाते हैं। कभी-कभी यह धब्बे आपस मे मिल जाते है और लम्बे तथा विशेष आकार के नही रह पाते। बीच में से धब्बे हल्के भूरे से सफेद होते हैं तथा गहरे भूरे किनारे से घिरे रहते है। धब्बे 0 2 से 0.5 से. मी. के भी देखे गये हैं।

हेतुकी एवं जीवन चक्र—यह रोग पिरीकुलेरिया सिटेरिआई (Piricularia setariae Nisikado) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। कोनिडियोफोर भूरे, पटयुक्त होते है जो धब्बो के बीच से या अधोस्तर कोशिका से बाहर निकलते हैं। कोनिडिया प्रति नाखरूप (obpyri form) 3 कोशिका वाले रंगहीन, 19-30X 9-15 माइक्रोन के होते हैं तथा अकुरण अंतिम कोशिका से होता है। (Ramakrishanan, 1963) जनित नलिका की सिरा पर जंतुनी भूरे, गोलाकार, मोटी भित्ति के क्लेमाइडोबीजाणु भी बनते है।

वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार—यह बीजोढ़ रोग है तथा द्वितीय संक्रमण प्राथमिक संक्रमण से बने कोनिडिया द्वारा होता है। फफूंद फसल के अवशेषो तथा सापाश्विक पोषक पर जीवित रहती है।

फफूंद पिरीकेलेरिया ओराइजी का ही एक प्रभेद हैं तथा अलग से जाति नही है। परन्तु अधिकतर पौध व्याधि-विश इसे पिरीकूलेरिया सिटेरिआई के नाम से कहते हैं।

सिटेरिया का प्रभेद रागी, बाजरा, गेहूँ एवं Dactylotaenium aegyptium पर संक्रमण कर सकता है परन्तु धान डिजीटेरिया मारजिनेटा पर इसका प्रकोप नही होता है।

रोकथाम—

(1) (1) बीजो को बोने से पहले पारावर्गी रसायन जैसे एग्रोसन जी एन (0.2%) या सेरसन (0.2%) से उपचारित करना लाभप्रद रहता है।

(2) पौधे पर जैसे ही रोग के लक्षण दिखाई दे जीराम या केप्टान के छिड़काव करने से इसका प्रकोप कम हो जाता है तथा उपज बहुत अधिक मिलती है।

(3) रोगग्रसित पौधो को एकत्र कर नष्ट कर दें।

पत्ती धब्बा (Leaf spot)

हैल्मिथोस्पोरियम फफूंद से कांगनी पर पत्ती धब्बा रोग भी उत्पन्न होता है। सर्वप्रथम जापान एवं फारमोसा मे 1906 में इस रोग का प्रकोप देखा गया। अधिकतर हैल्मिथोस्पोरियम सिटेरीआई (Helminthosporium seteriae), करवूलेरिया ल्यूनेटा (Curvularie lunate), राइजक्टोनिया बेटाटीकोला (Rhizctonia bataticola) फफूंद से बीज गलन एवं बीजांकुर अंगमारी के लक्षण दिखाई देते है। एस्पर्जिलस एवं पेनीसीलियम फफूंदियों के कारण अकुरण कम होता है (Grewel and Mahendra Pal, 1965)। पत्तियों पर गहरे भूरे गोल से अनियमित धब्बे प्रारम्भ मे बनते हैं तथा धीरे-धीरे आपस मे मिल जाते हैं जिससे धब्बों का कोई आकार नही रह पाता है।

मिश्रा एवं मिश्रा (1976) ने H. setariae में कार्यकी प्रभेद बताये।

इन फफूंदियो की रोकथाम के लिये बुवाई से पूर्व बीजो को एग्रोसन जी. एन (2.5 ग्राम प्रति किलो ग्राम) से उपचारित करना चाहिये।

Borchhardt, A. (1927). Operations of the phytopathological section of the Agricultural Experiment Station in the Eastern steppe Region (Ekatermoslaff Govt) in the Year 1925. Dniepopetrowsk: 3–37 (cf. Rev. appl. Mycol. 7: 223)

Butler, E. J. (1918). Fungi and Disease in Plants. Thacker Spink & Co., Calcutta 547 p.

Hiura, M. (1929). Studies on some downy mildews of agricultural plants I. On Sclerospora graminicola (Sacc.) Schroet. the causal fungus of the downy mildew of Italian millet. Bychu–Gai Zasshi 16.8

Mc Donough, E. S. (1937). Primary infection of Setaria italica, (L.) Beau. by Sclerospora graminicola. Phytopathology 27: 311–313.

Melhus, I. E. and F. H. Vanhaltern (1925), Sclerospora on corn in America. Phytopathology 15. 724–725.

......................and D. E. Biliss (1928). A study of Sclerospora graminincola (Sacc.) Schroet. on Setaria virids (L.) Beau. and Zea mays L. Res Bull. Ia agric Exp. sta III: 297–340.

Melchers, L E. (1927). Studies on the control of the millet smut. Phytopathology. 17: 739–741.

Misra A P. (1973). Helminthosporium spp. accurring on cereals and other Gramineac Indian Phytopath. 29: 370–373.

Mishra, B. and A. P. Misra (1976) Physiologic specialization in H. setariae. Indian Phytopath. 29: 370–373.

PORTER, R. H, T. F. Yu and H. K. Chen (1928). Effect of seed disinfectants on smut and yield of millet. Phytopathology 18: 911–913.

Pu, M. H. and T. M. Szu (1959). Some studies on downy mildew of millet. Phytopathology 39: 512–513.

Ramakrishnan, K. (1949). Investigations of cereal rusts II

Uromyces setariae-italicae (Diet) Ysol. Indian Phytopath. 2: 31–34.

Ramakrishnan, T. S. and N. V. Sundaram (1955). Studies of the rust on Setaria italica Proc. Indian Acad. Sci. B. 41: 241–246.

Sundararaman, S. (1921) Ustilago crameri Koern on Setaria italica Beauv. Bull agric. Res. Inst. Pusa 97: pp. 11.

Suryanarayana, D. (1960). Observations on the downy mildew of Setaria verticillata Bearnyv. Indian Phytopath. 13: 18–23.

Takasugi, H. (1934). On the life-history, pathogenicity and physiologic forms of Sclerospora graminicola (Sacc.) Schroet. (Studies in Nipponese Peronosporales. III). J. agric Exp. sta. Tokyo 2: 345–366 (cf. Rev. appl. Mycol. 13: 629.

.......................and X. Akaishhi, (1933). Studies on the downy mildew of Italian millet in Manchuria (About the germination of oospores). Res. S. Manchuria Rly. Co., 11: 1–29 (cf. Exp. Sta. Rec. 70: 480–90, 1934)–

Tu, C. and H. W. Li (1935). Breeding millet resistant to smut in North china. Phytopathology. 25: 648–649.

Wang, C. S. (1936). Viability and longevity of chlamydospore of Ustilago crameri. Phytopathology 26: 1086–1087.

Yu, T. F. (1937). Further studies on Kernal smut resistance in millet. Chin. J. exp. Biol. 1: 235–240.

.......................(1942). Inheritance of Kernel smut resistance in millet crosses. Sci. rec. chunking 1: 248–250.

Yu, T. F. (1944) Reation of improved millet varieties to infection with downy mildew (Sclerospora graminicola Schoroet). Chin. J. Sci Agric 1: 199–203. (cf. Rev. Myco. 24: 312.

□ □ □

4

रेशें वाली फसलों के रोग

(क) कपास के रोग

(ख) जूट के रोग

(क) कपास के रोग

(Diseases of Cotton)

रेशे वाली फसलों में कपास का विश्व में 70 प्रतिशत से अधिक उपयोग होता है। 1947 तक भारत विश्व में कपास पैदा करने वाला दूसरा सबसे बड़ा देश था परन्तु देश विभाजन के बाद कपास की खेती के अन्तर्गत क्षेत्र काफी कम हो गया है। हमारे देश की अर्थ व्यवस्था में कपास की खेती का प्रमुख स्थान है। आधुनिक तथा वैज्ञानिक विधियों से खेती करने से उपज तो अवश्य बढ़ी है, परन्तु साथ ही साथ रोगो की वृद्धि भी हुई है। अनुमानतः इससे 10 प्रतिशत से अधिक नुकसान होता है। मुख्यरूप से नुकसान पहुंचाने वाले रोग इस प्रकार हैं :—

(1) जड़ गलन (Root rot)

(2) म्लानि (Wilt)

(3) एन्थ्रेकनोज (Anthracnose)

(4) ग्रे या अरीओलेट मिल्ड्यू (Grey or Areolate mildew)

(5) पत्ती धब्बा (Leaf spot)

(6) चूर्णिल आसिता (Powdery mildew)

जड़ गलन
(Root rot)

कपास का यह एक प्रमुख रोग है। पंजाब एवं गुजरात मे इस रोग से काफी हानि होती है तथा कर्नाटक, तमिलनाडु एवं मध्यप्रदेश मे इसका कम प्रकोप होता है। रोग का प्रभाव जलोढ भूमि मे अधिक होता है। इस रोग की फफूंद 200 से भी अधिक जगली एव खेतीहर पौधो को नष्ट करती है।

लक्षण :—

इस रोग के लक्षण जब पौधे 6 से 8 सप्ताह के होते हैं तब दिखाई देते हैं। फफूंद पौधो की जड़ो को चारों ओर से घेर लेती है और धीरे-धीरे उन्हे सड़ाना शुरू कर देती है। सबसे पहले पतली जड़े सड़ती है, बाद मे सड़न मुख्य जड़ की ओर बढती है। सड़ने के बाद जड़ें कत्थई रंग की हो जाती है तथा कुछ समय बाद पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती है। पौधों की खुराक धीरे-धीरे बन्द हो जाती है, जिसके पौधे अचानक मुरझा कर सूखने लगते हैं, जो इस रोग का मुख्य लक्षण

है। रोगी जड़े पूरी तरह सड़ जाती हैं और छिल्का निकलने लगता है। रोगग्रसित पौधे भूमि से सरलतापूर्वक उखाड़े जा सकते है क्योकि जड़ की सभी सहायक शाखाए सूख जाती है। रोगी पौधो की छाल फटने लगती है और उस जगह चिपचिपा रस पैदा हो जाता है। पौधों के सूखने के कारण उसकी बढ़वार रुक जाती है और कुछ समय बाद पौधा ही मर जाता है। इस रोग का प्रभाव अकुरण के समय ही होता है किन्तु रोग के लक्षण बहुत दिन पश्चात् दिखलाई पड़ते है। परिपक्व पौधे भी इस रोग से प्रभावित होते हैं। अधिक ग्रसित पौधो मे कड कवक भी दिखाई देते हैं जो काले बिन्दु से होते है। कई बार रोग तने के आधार पर फैल जाता है तथा छाल बिखर जाती है तथा उस पर भी कठकवक बन जाते हैं। जड़ गलन रोग का प्रकोप खण्डो मे दिखाई देता है।

रोगजन :—

यह रोग राइजक्टोनिया बटाटीकोला एवं राइजक्टोनिया सोलेनाई R. bataticola (Taub) Butler, R. solani KÜhn नामक फफूद से उत्पन्न होता है, जिनकी पूर्ण अवस्था क्रमशः मेक्रोफोमिना फेजियोलाई एवं पेलीकुलेरीया फिलामेन्टोसा **Macrophomina phaseoli** (Maubl.) Ashby and **Pellicularia** filamentosa (Pat.) Rogels है। गुजरात मे केवल रा. बटाटीकोला से तथा राजस्थान एवं पंजाब मे, दोनो फफूंदिया रोग उत्पन्न करती है। इस फफूंद का कवकजाल तीन अवस्थाओ मे मिलता है। कवकजाल अन्तःकोशीय तथा अन्तं-कोषिय एव रंगहीन, पटीय तथा 1.5–2.5 माइक्रोन चौडा होता है। इस फफूंद मे भूमि के अन्दर कठकवक भी बनते हैं। राइजक्टोनिया बटाटीकोला के कठकवक काले एव अनियमित तथा रा. सोलेनाई के कठकवक गहरे भूरे एव अनियमित होते हैं। कठकवक 100 माइक्रोन व्यास के होते हैं। इन बीजाणुओ का अकुरण बहुत कम होता है और अभी तक यह भी पता नही चला है कि रोगचक्र मे इनका क्या महत्व है।

रोगचक्र :

यह एक मृदुड़ फफूंद है जो जीवित पोपक की अनुपस्थिति मे भूमि के अन्दर मृतजीवी के रूप मे रहती है। रोगी पौधो की जड़े एव अन्य पौधो के अवशेषो में बीजाणु कई वर्ष तक जीवित रहते है। दूसरी साल फसल बोने पर फफूंद के कवक तन्तु सदैव महीन मूलिकाओ का वेधन कर भीतर प्रवेश करते है। यह फफूंद अधिक बारिश के पानी द्वारा भी एक पौधे से दूसरे पौधे में फैलती है। क्षारीय मिट्टी (alkaline) मे एक बार सक्रमण होने पर यह रोग स्थिर (permanent) हो जाता है (Taubenhaus and Ezekiel, 1936)

अधिक तापमान (35° से) एवं अधिक नमी इस रोग की बढवार के लिये सुग्राही है। ग्रसित पौधो की जड़ो मे केल्सियम एवं लोह तथा अन्य विपालु पदार्थों

की मात्रा अधिक होने से ही सम्भवतः इस रोग में मुरझान रोग के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

नियन्त्रण :—

(1) बुवाई की विधि का समायोजन करने से तथा कपास को मोठ के साथ मिलाकर बोने से रोग का प्रकोप कम होता है। वासुदेवा (1941, 43) के अनुसार बुवाई की तिथि मे समायोजन तथा मोठ से मिश्रित खेती नियन्त्रण में काफी सहायक होती है। नत्रजन की मात्रा का अधिक प्रकोप भी लाभप्रद रहता है। फसल चक्र द्वारा भी रोकथाम की जा सकती है। परन्तु मूंगफली और लोबिया का प्रयोग न करें।

(2) माथुर आदि (1971) के अनुसार ब्रेसीकोल कवकनाशी (5 ग्रा/कि) से उपचारित बीज बोने पर रोग की उग्रता मे 22.8 से 9.5 प्रतिशत तक कमी हुई। यह उपचार सबसे सस्ता रहा। साथ ही यह भूमि में सिचाई के पूर्व ब्रेसीकोल (10 कि 1 एकड) व कपास की मोठ के साथ मिश्रित बुवाई के समकक्ष पाया गया। परन्तु ये रोग नियन्त्रण में सभी प्रयोगों से अच्छे रहे। आर्न्डट (Arndt, 1953) ने भी राइजक्टोनिया सोलेनाई की रोकथाम हेतु पी. सी एन बी का प्रयोग सबसे अच्छा बताया था। शर्मा एवं शर्मा (1976) के अनुसार बीजोपचार से मृदा उपचार अच्छा पाया गया। डेमोसन + ब्रेसीकोल (6 + 6 कि / हेक्टर) सबसे अच्छे तथा उसके बाद वाइटावेक्स (5 कि / हेक्टर), ब्रेसीकोल + केप्टन (10 + 5 कि / हेक्टर) एवं डेमोसन (15 कि. / हेक्टर) रहे। बीजोपचार में वाइटाटोक्स 2 5 ग्राम प्रति हेक्टर अच्छा पाया गया।

(3) कार्बनिक खाद का प्रयोग तथा दाल वाली फसलो का हरी खाद के रूप मे प्रयोग, ग्रीष्म मे गहरी जुताई, फसल चक्र, जल्दी पकने वाली किस्मों का प्रयोग करें।

(4) रोग प्रतिरोधी किस्में बोयें

म्लानि या मुरझान
(Wilt)

इस रोग का प्रकोप काली लेटराइट मिट्टी मे अधिक होता है। क्षारीय मिट्टी फफूंद को अवरोध करती है। भारत में सभी कपास उगाये जाने वाले प्रदेशों में इस रोग का प्रकोप देखा गया है। परन्तु महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, राजस्थान एवं तमिलनाडु में इस रोग का अधिकतम प्रकोप होता है। भारत में सर्वप्रथम इस रोग का वर्णन इवेन्स (Evans, 1908) ने नागपुर में किया।

लक्षण :—

इस रोग का आक्रमण पौधों के विकास के समय कभी भी हो सकता है।

परन्तु जब पौधे 5–6 सप्ताह के होते है उस समय इस रोग का आक्रमण अधिक होता है। रोग ग्रसित पौधो की पत्तिया पीली और बाद मे भूरी पड जाती है तथा टूट कर नीचे गिरने लगती है। धीरे-धीरे पौधा मुरझा कर सूखने लगता है। पौधे का सूखना नीचे की ओर से प्रारम्भ होता है। पौधे की वृद्धि की शुरू की अवस्था मे बीजपत्रीय और पहली पत्तियो का शिरा-प्रकटन भी देखा गया है। यदि पौधो को उखाड़ कर देखा जावे तो पौधो की जडो मे काले रग की धारिया दिखाई देती है जो पहले पतली होती है और धीरे-धीरे चौड़ी हो जाती है। उग्रावस्था मे धारिया तनें पर भी दिखाई देती है। काले रग की धारिया जडो के निचले भाग से बनना प्रारम्भ करती हैं और मुख्य अथवा पार्श्व जडो से निकलती हुई दिखाई देती है। वे काले रंग की धारिया भीतर ही भीतर जड़ से लेकर शाखाओ तक पहुच जाती है। रोगी पौधे प्रायः छोटे होते है और उन पर छोटी पत्तियां और डोडिया लगती है। ग्रसित डोड़े बहुत कम ही समय से पहले खुलते है।

रोगजन :—

यह रोग फ्यूजेरियम आक्सीसपोरम एफ वासइन्फेक्टम **F. oxysporum P. sp. vasinfectum (Atk) Snyder and Hensen** नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। फफूंद पोषक में केवल वाहिनी ऊतको तक ही सीमित रहती है। कवकजाल अन्तकोषीय तथा अन्तःकोषीय, रगहीन, शाखीय एव पट्युक्त होता है। कवकजाल पर बीजाणु बनते है। अलैंगिक जनन तीन प्रकार के बीजाणु, माइक्रोकोनिडिया, मैक्रोकोनिडिया एवं क्लेमाइडो बीजाणु जो पोषक तन्तुओ पर ही बनते है होता है। माइक्रोकोनिडिया दीर्घवृत्तीय, एक कोशिक 2 – 3 5 × 5 12 माइक्रोन माप के होते है। मैक्रोकोनिडिया हसिया आकृति के रगहीन, अधिकतर 3 पटीय तथा कभी-कभी 4 एवं 5, 3 –4.5 × 40–50 माइक्रोन माप के होते है। क्लेमाइडोबीजाणु अन्तस्थ या अन्तविष्ट पोषक तन्तुओ के अन्दर ही बनते हैं। इसमे कवकसूत्र की प्रत्येक कोशिका गोलाकार और मोटी दीवार वाली हो जाती हैं। ये बीजाणु अकेले अथवा शृंखला मे बनते है। कवकसूत्र भी बनते है। पूर्ण अवस्था ज्ञात नही हैं। कोनिडियोफोर आवर्त रूप मे शाखित होते हैं जिसमे स्पोरोडोकियम बनते हैं।

रोग चक्र :—

यह एक मृदुढ फफूंद है तथा वैकल्पिक परजीवी है। पौधों में सक्रमण तीनो ही प्रकार के बीजाणुओं द्वारा होता है। जब रोग ग्रसित स्थानो पर दूसरे वर्ष फसल बोई जाती हैं तो भूमि मे पड़े कवक तन्तु महीन मूलिकाओं का वेधन कर जाते हैं जिससे मूलिकाएं तेजी से काली होकर सिकुड़ जाती है। कवकजाल की शाखाए पार्श्वीय जडे बड़ी शीघ्र बढती चली जाती हैं और वाहिनी ऊतको तक पहुंच जाती हैं। इस रोग का सक्रमण केवल जडो तक सीमित रहता हैं। भूमि के ऊपर पाये जाने वाले पौधो के किसी भी भाग पर भी इसका सक्रमण नही होता है। रोग का

प्रसार भूमि मे पाये जाने वाले बीजाणुओं द्वारा ही होता हैं। इस रोग के बीजोढ़ होने के भी सकेत मिले हैं। (Elliot, 1923,)।

म्लानि ग्रसित मिट्टी मे सूत्र कृमि की कई जातियां भी पाई गयी हैं जिनमें होप्लोलेमस की जाति (Hoplolaimusspp) प्रमुख है। इन दोनो जीवाणुओं के होने पर रोग जल्दी फैलता है तथा काफी बढता है। (Shanmugan et al, 1975) मेलोइडोगायनी, प्रेटीलेन्कस, बेलोनोलेमस, ट्राइकोडोरमा, जिफीनेमा, लोन्जीडोरस, हेलीओकोटीलेन्कस, क्रिकोनिमोइड्स एव रोटीलेन्कुलस की प्रजातियाँ भी इस फफूंद के प्रवेश मे सहायता करती है (Grahem and Holdeman, 1953, Smith, 1941)।

जब पौधे 1 से 3 सप्ताह के होते हैं तब फफूंद प्रवेश करती है तथा 5-6 सप्ताह के पौधे होने पर लक्षण दिखाई देते है। मुरझान के लक्षण कवकजाल द्वारा विषैले पदार्थ स्रावित करने के कारण दिखाई पडते हैं जो दारू वाहिनियो से सम्पूर्ण पौधों के भागों मे जाकर वाहिनियो से भरकर उन्हें बन्द कर देते हैं और फलस्वरूप पानी एव खनिज तत्वो का ऊपर चढ़ना बन्द हो जाता है, फलतः पौधे मुरझाने लगते है। यह फफूंद फ्यूजेरिक अम्ल स्रावित करती है। कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार कुछ प्रकिण्व भी बनते है जिसके कारण यह मुराझान उत्पन्न होती है।

भूमि तापमान 20–30° से तथा अनुकूलतम 24–28° से. इस रोग की बढावार के लिए सुग्राही है, परन्तु 35° से अवरोधक है। कुलकर्णी (1934) के अनुसार 20–27° से अनुकूलतम तापमान है। गर्म एव शुष्क मौसम तथा बाद में बारिश होने पर यह रोग बढता है। थार्प एव यंग (1936) के मतानुसार 80-90 प्रतिशत मृदा की आर्द्रता इस रोग की बढावार हेतु सुग्राही पायी गयी। नत्रजन एव फास्फोरस रोग की बढ़ावार हेतु सुग्राही हैं परन्तु पोटाश के देने से मुरझान रोग कम होता है। काली मिट्टी मे इस रोग का प्रकोप अधिक परन्तु बलुई मिट्टी मे कम प्रकोप होता है। जिंक के प्रयोग से रोग कम तथा मैगनेशियम का प्रयोग रोग को बढाता है। परन्तु सुलोचना (1952, 1952a) के अनुसार जिंक, मोलीब्डिनम, लीथियम, एल्यूमिनियम, बोरान, कोबाल्ट आदि से कोनिडिया के अंकुरण का अवरोधन हुआ।

मिट्टी मे इस फफूंद के क्लेमाइडोबीजाणु प्रतिकूल अवस्था मे 50 से मी गहराई पर बड़े लम्बे समय तक चिर जीवित रह सकते है।

नियन्त्रण—

1. रोगी पौधों को रोग मुक्त करना कठिन है क्योंकि यह मृदा फफूंद है तथा इसके बीजाणु भी मिट्टी मे काफी समय तक चिरजीवित रहते हैं। रोगग्रसित पौधों के अवशेषों को एकत्र कर नष्ट करें।

2. बीजों को पारावर्गी रसायन से उपचारित करें।

3. रोग प्रतिरोधी किस्में बोये। जो किस्में सूत्रकृमि एव मुरझान से दोनो प्रतिरोधी हो, बोये। इजिप्ट मे एशियाई कपास प्रभाव्य हैं जबकि अमेरिकन एव इजीप्ट मे एशियाई कपास प्रभाव्य है तथा अमेरिकन एव इजीप्शीयन कपास प्रतिरोधी हैं। लक्ष्मीनारायण (1958) ने सुझाव दिया कि प्रतिरोधन मे सिस्टीन नामक अम्ल का सम्बन्ध हो सकता है क्योंकि ग्रसित किस्मो मे यह अम्ल नही होता जबकि प्रतिरोधी किस्म में यह अम्ल पाया जाता है। जायाधर, जरिला, विजय, प्रताप, वेरूम एवं बी डी एस किस्मे प्रतिरोधी है। दिग्विजय एव विजालया गुजरात मे तथा विरनार खंडेश में, पोलतः महाराष्ट्र में जायाधर मैसूर में प्रतिरोधी हैं।

4. खेत मे पोटाश खाद का प्रयोग करें तथा बुवाई क्षारीय मिट्टी मे करें। यग एव थापे (1941) के अनुसार मिट्टी मे कार्बनिक पदार्थो के प्रयोग तथा पोटाश के देने से मुरझान रोग कम लगता है। गोबर आदि खाद के प्रयोग से विरोधी जीव (antagonistic) उत्पन्न होते हैं। अतः मुरझान रोग कम होता है।

5. गर्मियों मे गहरी जुताई करें तथा जून-जुलाई के महिनो मे धूप से मिट्टी को खुला (expose) रखें।

6. शानमुगन आदि (1975) के अनुसार डी. डी. या निमेगोन के प्रयोग से मुरझान रोग की कमी के साथ कपास की उपज मे 75 प्रतिशत वृद्धि होती है। 2·5 प्रतिशत पोटेशियम क्लोराइड का 1 5 प्रतिशत यूरिया के साथ मिलाकर छिड़काव करने से भी रोग का प्रकोप कम होता है। लम्बे समय के फसल चक्र अपनाने से भी इस रोग का प्रकोप कम होता है।

वरटीसीलियम म्लानि

(Verticillium wilt)

इस रोग का प्रकोप क्षारीय मिट्टी मे अधिक होता है (Drummond, 1943; Garret, 1947) अमेरिका एव रसिया मे इस रोग से काफी हानि होती है। भारत मे सर्व प्रथम हिरस्यूटम कपास पर 1968 मे कोयमबटूर मे इस रोग का प्रकोप देखा गया (Natrasan etal, 1968)। राजस्थान (Gour and Dube 1974) मे भी काफी हानि होती है। श्रीनिवासन (1971) ने 70-90 प्रतिशत की हानि बीज की कपास पर देखी।

लक्षण—

इस रोग से हानि नवम्बर-दिसम्बर मे देखी गयी है। रोग ग्रसित पौधों की पत्तियां पीली पड़ जाती है, तथा धीरे-धीरे पौधा मुरझा कर सूखने लगता है। ग्रसित पौधे पकते नहीं है, तथा डोड़ों का बनना बन्द हो जाता है।

वरटीसीलियम म्लानि मे वाहिनी विवर्णन (Vascular discolouration) अधिक बराबर (evenly) वितरित होता है। फयूजेरियम से ग्रसित पौधो में गालर

के स्थान की एक या अधिक पत्तिया एकदम मर जाती है। परन्तु दूसरी पत्तियां स्वस्थ रहती है, परन्तु इस मुरझान मे ऐसा नही होता (Presley, 1954)।

रोगजन—यह रोग वरटीसीलियम देहलीई (Verticillium dahliae kleb) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है, कोनिडियोफोर आवर्त रूप (Verticillate) मे शाखित होते हैं, तथा शाखाओ के सिरे पर कोनिडिया अकेले लगे रहते है। ये 4 2–5 5 1 6–2 2 माइक्रोन माप के होते हैं। यह रोग व. एलबोएट्रम (V. albo-atrum Reinke and Bertn) नामक फफूंद से भी उत्पन्न होता है। इस फफूंद मे गहरी टोरूलोज कवकसूत्र (विद्यामी) होते है, जबकि व. देहलीई मे स्यूडोकठकवक एव कठकवक बनते हैं।

इस फफूंद के कठकवक मिट्टी में रहते हैं, तथा बीज के फज से भी इसका आवर्तन हो सकता है। इस रोग की बढवार के लिये 15–20° से. तापमान अनुकूलतम है।

नियन्त्रण—

1 नटराजन एव रामकृष्णन (Natrajan and Ramkrishnan, 1971) के अनुसार गहरी जुताई, फसल के अवशेषो को नष्ट कर, सेरेसन वेट ड्रेन्चिग (मिलाने) तथा पोटेशियम क्लोराइड के छिड़काव से इस रोग का सक्रमण कम किया जा सकता है।

2 रोग प्रतिरोधी किस्मे बोये। प्रतिरोधी किस्मों मे गोसीपोल (फिनोल) की मात्रा अधिक पाई गयी। बैल (Bell, 1969) ने फिनोल का महत्व फाइटो-एलेक्जीन बताया। ग्रसित मिट्टियो मे सुजाथा (Sujatha) एवं सी. बी एस. 156 सहनशील (tolerant) किस्मे बोये।

3. बीजो को तेजाब से उपचारित करने के बाद वाइटोवेक्स 0 2–0 3 प्रतिशत या पारावर्गी रसायनो से उपचारित करे। मिट्टी मे बेनोमिल एवं बनेलेट 0 05 प्रतिशत के प्रयोग लक्षण दिखाई देते ही तथा फिर 20 दिन के अन्तर पर दोहराये। बेनोमिल का 0·05 प्रतिशत छिड़काव भी लाभप्रद रहता है।

4. फसल चक्र अपनायें। फसल चक्र मे धान्य फसलें लेने से रोग का प्रकोप कम होता है।

5 गहरी जुताई करें।

एन्थ्रेक्नोज (कालव्रण)
(Anthracnose)

इस रोग का प्रकोप भारत मे सर्व प्रथम 1918 मे बटलर ने देखा उसके बाद इस रोग का प्रकोप कपास उगाये जाने वाले सभी स्थानों पर देखा गया है। 1954 मे गिरनार कपास पर खन्देश (बम्बई) क्षेत्र मे महामारी के रूप में यह रोग देखा गया। अधिकतर पौध, पत्तियां एवं ढोड़ प्रभावित होते है। परन्तु ढोड़ों पर

प्रभाव अधिक होता है। रोग ग्रसित अंकुरो के सिरे पर काले धब्बे पड जाते है। पत्तियो की निचली सतह पर लाल भूरे रग के धब्बे पाये जाते है, जो बीच मे कम होते है (चित्र 4 क 1)। उग्र अवस्था में धब्बों के कारण मृत्यु भी हो जाती है। इस रोग से डोडे किसी भी अवस्था मे प्रभावित हो सकते हैं, उपज काफी मारी जाती है। डोडो पर धब्बे जो प्रारम्भ मे जलासिक्त, गोल लाल भूरे होते है



चित्र 4 क.1 कपास का एंथ्रेक्नोज रोग

धीरे-धीरे वढ़कर सम्पूर्ण डोडे को घेर लेते है। डोडों में संक्रमण गहरा होता है, फैलकर बीज तक चला जाता है। रूई (lint) पीली से भूरी होकर सड़ जाती है, डोड़े छोटे बनते है। इस रोग का प्रकोप दो अवस्था मे होता है। बीजाकुर अवस्था मे छोटे भूरे धब्बे पत्रिय पत्तो पर तथा बाद अवस्था मे छोटे गोलाकार जलसिक्त धब्बे बनते है। इसी कारण इस रोग को बीजाकुर अगमारी एव बॉल अगमारी कहते है।

रोगजन—यह रोग कालेटोट्रॉइकम गोसीपाई (Colletotrichum gossypii South) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। महाराष्ट्र को छोडकर अन्य जगहो पर कालेटोट्रॉइकम केपसीकी से यह रोग उत्पन्न होता है। पूर्ण अवस्था ग्लोमिरेला गोसीपाई है। कवकजाल पटयुक्त, अतः कोशिक एव अन्तरा कोशिक होता है। सर्वप्रथम 1909 मे एडगरटन (Edgerton, 1908) ने परीथीसियल अवस्था देखी तथा उसे ग्लोमेरेला गोसीपाई (Glomerella gossypii) बताई। शीयर एव वुड (Shear aud wood, 1913) ने सवर्ध मे एमीजीरस अवस्था देखी तथा उसका नाम ग्लोमेरेला रूफोमेक्यूलेन्स (G. rufomaculens (Berk) sands) बतायी। भारत मे सर्व प्रथम बटलर ने 1918 मे तथा उप्पल आदि ने 1934 में इसकी लैंगिक अवस्था ग्लोमेरेला गोसीपाई बताओ। कवकजाल के

कवकतन्तु अधोस्तर के नीचे अधिक मात्रा में एकत्र हो जाते हैं, और एक दूसरे से सटकर एक सघन पिंड प्रगुच्छक अथवा एसरबुलस बनाते हैं। एसरबुलस में कुछ रोम जैसी रचनाएं बनती हैं, जो अधोस्तर द्वारा बाहर आ जाती है। जिन्हें सीटी कहते हैं। ये रचनाए कोनिडियोफोर के बीच-बीच में बनती हैं। कोनिडियोफोर रंगहीन, एककोशिक, 11–20×4–9 माइक्रोन के (कॉ. गोसीपाई) एवं 18–25 ×3 5–5 माइक्रोन के (कॉ. गोसीपाई) होते हैं। इस बात के अभी ठोस प्रमाण नहीं है, कि इस फफूंद की पूर्ण अवस्था हमारे यहां पाई जाती है। कोनिडिया की बढ़वार तथा बीजाणुकरण के लिये 26–28° से. अनुकूलतम तापमान है। (विलसन, 1961)। कोनिडिया जलशोषक (dessication) को 31° से. पर 3 दिन, 28° से. पर 4 दिन तथा कमरे में तापमान पर 61 दिन सहन कर सकते हैं।

वार्षिक आवर्तन—

यह रोग बीजोढ़ है तथा द्वितीयक संक्रमण हवा या मृदूढ़ कोनिडिया से होता है। इस रोग का प्रकोप नमी की उपस्थिति से बहुत अधिक होती है। इस फफूंद में गुलाबी रंग के बीजाणु पैदा होते हैं, जो दूसरे पौधों पर हमला करते हैं। बीज में यह रोग रूई (lint) के जरिये फैलता है।

नियन्त्रण—

1. बीजों का चयन स्वस्थ खेतों से करें। बोने से पूर्व एग्रोसन जी. एन या सेरेसन से उपचारित करें। चूंकि यह फफूंद बीज में एक वर्ष तक ही चिर जीवित करती है, अतः दो वर्ष पुराने बीज जो जीवनक्षम हों बोयें। बीजों को एक घन्टे तक उस्पुलन (0 25 प्रतिशत) से उपचारित करने पर भी रोग का प्रकोप कम होता है।

2. रोग ग्रसित पौधों के अवशेषों को नष्ट करें।

3 रोग के लक्षण दिखाई देते ही 5 : 5 : 50 बोर्डो मिश्रण का छिड़काव करें।

ग्रे/या एरीओलेट मिल्ड्यू
(Grey or Areolate mildew)

इस रोग का प्रकोप निचले स्थानों पर जहां अधिक नमी होती है, काफी देखा गया है। पुरानी पत्तियों पर 1–10 मि. मी. व्यास के अनियमित कोणीय धब्बे बनते हैं, जो निचली सतह पर अधिक होते हैं।

यह रोग रेमुलेरिया एरीओला (Ramularia areola Atk) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। कोनिडिया 10–35×4·5 माइक्रोन माप के होते हैं। रोग का वार्षिक आवर्तन वातोढ़ कोनोडिया द्वारा होता है। रोग के लक्षण दिखते ही बोर्डो मिश्रण का दो बार छिड़काव करें।

एस्कोकाइटा अंगमारी
(Ascochyta blight)

इस रोग का प्रकोप नम मौसम मे अधिक होता है। छोटे भूरे धब्बे पत्तियो पर बनते हैं, जो बाद मे घूसर हो जाते हैं। भूरे से घूसर केंकर तने पर भी दिखाई देते हैं। बीजांकुर अंगमारी के लक्षण भी उत्पन्न होते हैं। इस रोग का प्रकोप कालवर्षों के साहचर्य (association) मे अधिक होता है।

यह रोग एस्कोकाइटा गोसीपाई (Ascochyta gossypii Syd) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। पिक्नीडिया गोलाकार, ओस्टिओलेट, गहरे भूरे होते हैं। यह रोग बीजोढ़ हैं, तथा फसलो के अवशेषों मे रहता है। बीजोपचार पारा-धर्मी रसायन से करे तथा फसल चक्र अपनायें।

चूर्णिल आसिता
(Powdery mildew)

इस रोग के लक्षण सर्वप्रथम पत्तियो की निचली सतह पर दिखाई देते है, जो हल्के भूरे या सफेद रंग के चूर्ण जैसी रचना से दबी रहती हैं। यह सफेद चूर्ण फफूंद का कवकजाल कोनिडियोफोर हैं। कुछ समय बाद यह फफूंद का चूर्ण सम्पूर्ण पत्ती को घेर लेता है, तथा पत्तियो का हरा रंग फीका पड़ जाता है। रोगी पौधो की वृद्धि रुक जाती है, तथा पौधे बहुत कमजोर हो जाते हैं।

यह रोग लेवीलूला टारिका (Leveillula taurica) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है, जो अनिवार्य परजीवी है। कवकजाल बहुत महीन, आग्रही तथा शाखा युक्त होता है। इसमे छोटे चपटे प्रासगाग तथा प्रचूषाग पत्ती की सतह पर उपस्थित रहते हैं। प्रचूषाग अधोस्तर को भेदकर अन्दर चले जाते है। जो कोशिका से भोजन का अवशोषण करके कवकजाल को पहुंचा देते हैं।

प्रारम्भिक सक्रमण एस्कोबीजाणु या कोनिडिया द्वारा होता है।

नियन्त्रण :—

गन्धक 20 कि/हेक्टर भुरके तथा भूमि मे पड़े मलबे को एकत्र कर नष्ट कर दें।

पत्ती धब्बा
(Leaf spot)

यह रोग आल्टरनेरिया फफूंद से उत्पन्न होता है, इससे पत्ती धब्बा, बाल्म सड़न, टहनी, अगमारी (twig blight) एव तना केंकर के लक्षण उत्पन्न होते हैं। उग्र अवस्था मे 10 से 15 प्र. श नुकसान हो जाता है (राने एवं पटेन, 1956)

पत्तियो पर छोटे, गोल से अनियमित गहरे भूरे 0 5–3 मि. मी व्यास के धब्बे बनते हैं, जो ऊपरी सतह पर सटे हुए तथा नीचे से दबे होते हैं। पत्तियों की नसें भी संक्रमित होती हैं। गहरे भूरे पर्पटित (Crustation) पत्ती की दोनों सतहो

पर दिखाई देते हैं। क्षतिग्रस्त ऊत्तको में सकेन्द्री उद्रेखा दिखाई देते हैं। अधिक संक्रमण होने पर ये धब्बे सम्पूर्ण पत्ती को घेर लेते हैं। तथा पत्ती झुलस जाती है।

यह रोग आल्टरनेरिया मैक्रोस्पोरा A. macrospora नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। कवकजाल रंगहीन, पटीय, अनियमित शाखित होता है। कोनिडियोफोर छोटे या लम्बे, गहरे भूरे 39–132 × 5·8- 8·9 माइक्रोन माप के। वे 8 पटीय होते है। कोनिडिया 14 1 – 55·7 × 7·1 – 24:5 माइक्रोन के बिना चोंच के तथा पट 3 से 9 अधिकतर 4 से 6 अनुप्रस्थ (T. S.) तथा 0-4 एवं अधिकतर 2 पट अनुदैर्घ्य (L. S.) होते हैं। पत्तियों पर कोनिडिया 37·8 – 61·1 × 14 9 – 20·2 माइक्रोन माप के बिना चोंच के 4 से 6 पटीय अनुप्रस्थ (T S) एव 2 से 5 अनुदैर्घ्य (L. S.) होते है। (राने एवं पटेल, 1956)

फफूंद की वृद्धि के लिए 26–27° से. तापमान अनुकूलतम है, तथा रोग की बढावार के लिए अधिक नमी तथा 26–30° से. तापमान एवं बून्दाबांदी की बारिश सुग्राही है। (राने एवं पटेल, 1956)

नियन्त्रण :—

रोग ग्रसित पौधो के अवशेषो को एकत्र कर नष्ट करें। इस फसल पर आल्टरनेरिया के अलावा अन्य कई जातियो का प्रकोप होता है। जिनसे अलग-अलग लक्षण उत्पन्न होते है, निम्न है :—

पत्ती धब्बा रोग हेल्मिन्थोस्पोरियम फफूंद से भी उत्पन्न होता है। नीचे की पत्तिया मुख्यतः प्रभावित होती है। पत्तियों पर गोलाकार हल्के भूरे, 0·5–2·5 मि. मी व्यास के धब्बे बनते है, जो बाद मे राख जैसे हो जाते है। कवकजाल पटीय, रंगहीन, शाखित, 6·4 माइक्रोन चौड़ा होता है। कोनिडियोफोर 37 × 178 माइक्रोन के 1 से 6 पटिय तथा अकेले या झुण्ड मे रन्ध्रो या अधोस्तर से बाहर आते हैं। कोनिडिया बीच से चौड़े तथा अन्त से क्रमशः सिकुंडे 29·7–133 × 10·6- 22 9 माइक्रोन माप के होते हैं। (राने एव पटेल, 1956)

टकर (Tucker, 1926) ने सर्वप्रथम इसे हे. गोसीपाई (H. gossypii) बताया।

आल्टरनेरिया स्पीसीज जिनमे अलग-अलग लक्षण उत्पन्न होते हैं, निम्न हैं-

(1) आल्टरनेरिया टेनुइम	पत्ती धब्बा फालवेटर Faulwelter 1978
(2) आ. गोसीपीना A. gossypina Thum)	पत्ती धब्बा हांपकिन्स Hopkins, 1931
(3) आ. गोसीपीना A. gossypica (Thum)	वाल सड़न विरागी Biragi, 1937
(4) आ. मेक्रोस्पोरा A. macrospora Zimm. 1904.	पत्ती धब्बा, टहनी अंगमारी जिमरमान, Zimmerman, 1904

Ajrekar, S. L. (1926). The cause of cotton wilt in India. J. Indian Bot. Soc. 4: 1–8.

Arndt., C. H. (1944). Infection of Cotton seedlings by Colletotrichum gossypii as affected by temperature. Phytopathology 34: 861–69.

Arndt., C. H. (1953). Survival of Colletotrichum gossypii on cotton seed in storage Phytopathology 43: 220.

Anthony Raj, S. and A. Mahadevan (1970). Induction of wilt resistance in cotton by pheonlic compounds. Indian Phytopath 23: 89-94.

Ball, D. V. (1926). Cotton wilt in C. P. and Berar. J. Indian Bot. Soc. 5: 117–120.

Bell, A. A. (1969). Phytoalexin production and Verticillium wilt resistance in cotton. Phytopathology 59: 1119.

Binkarhoff, L. A., E. S. Cowalt and J. F. Tomlson (1954). Field tests with chemicals for the control of Rhizoctonia and other pathogens of cotton seedlings. Pl. Dis. Reptr. 38: 467–475.

Biraghi, A. (1937). A mummification of cotton caused by Alternaria Boll. Stez. Pat., Veg. Rama, N. S. 17: 475–496 (Abstract in RAM 17: 674–675).

Blank, L. M. (1944) Effect of nitrogen and phosphorus on the field and root rot response of early and late varities of cotton. Jour. Am Soc Agron. 36: 875–888.

Butler, E. J. (1918). Fungi and Diseases in Plants. Thacker spinck and Co. Calcutta (India)

Drummond, O. A. (1949). Notes sobre a murcha do Algoderia. causada pelo verticillium dahiae. Lilloa Rev. Bot. Tucuman 21: 54–56.

Edgerton, C. W. (1909). The perfect stage of cotton anthracnose. Mycologia 1: 114–120.

Elliot, J. A. (1923). Cotton Wilt, a seed borne disease. Jour. Agr. Res. 23: 387.

Faulwelter, R. C. (1918). The Alternaria leaf spot of Cotton. Phytopathology 8: 98–105.

Garrett, S. D. (1947). Report on investigations on Verticillium wilt. Empire Cotton Growing Rev. 24: 101-102.

Gour H. N and H C Dube (1974). Isolation of Verticillium dahliae. Curr. Sci 43: 195.

Graham, T. W and Q. L. Hodeman (1953). The sting nematode Belonolaimus gracilis Steiner : a parasite on cotton and other crops in South Carolina. Phytopathology 43: 434–439

Hopkins, J. C. F. (1931). Alternaria gossypina (Thum) Comb. nov. causing a leaf spot and boll rot of cotton. Trans. Brit Mycol. Soc. 16: 136–144.

John Kurian, N. and L. Moniz (1966). Perfect stage of Colletotrichum gossypii in India. Indian Phytopath. 19: 383–385.

Jones, G. H. (1928). An Alternaria disease of Cotton Plants. Ann. Bot 42: 935–947.

Kamal, M. and R. K. S Wood (1955). Role of pecticenzyme in the Verticillium wilt of cotton. Nature 175: 264-275.

Kulkarni, G. S (1934). Studies on the wilt disease of cotton in the Bombay presidency. Indian J. Agric. Sci. 4: 976–1048.

Laxminarayan, K. (1958). The Physiology of host parasite relationship in the Fusarium wilt of cotton. III Distribution and derangment of free amino acid. Proc. Indian Acad. Sci 47 B. 115–123.

Ligg and J Y. Yong (1944) Studies on the biology and pathogenicity of Colletotrichum indicum Ann. Bot 8: 91–104.

Mathur, R. L., B. N. Mathur and B. S. Sharma (1971). Control of root rot of cotton by chemical and cultural treatments. Indian J. Mycol. Pl Pathol 1 (2): 108-111.

Mundkur, B. B (1936). Resistance of American Cotton to Fusarium wilt in India. Proc. Indian Acad. Sci B: 498–500.

Natarajan, M. K. and K. Ramakrishan (1971). Control of Verticillium wilt of cotton by soil treatments. International Symposium on Pathological wilting of Plants. Madras (Abstract)

Natarajan, M. K., K. Sivaprakasam and K. Ramakrishnan (1968). Record of Verticillium wilt of cotton in Madras State. Agric Jr. 55: 455.

Orton, W. A. (1900). The wilt disease of cotton. U. S. Deptt. Agr. Div. Veg. Physiol. Path. Bul 27.

Presley, J. T. (1954) Cotton diseases and methods of control U. S. Dept. Agr. Farmers Bulletin 1745.

Rane, M. S. and M. K. Patel (1956). Diseases of cotton in in Bombay. I. Alternaria leaf spot. Indian Phytopath 9: 106–113.

Rane, M. S. and M. K. Patel (1956). Diseases of Cotton in Bombay II. Helminthosporium leaf spot. Indian Phytopath 9: 169–173.

Sethi, B. L., S. M. Sikka, R. H. Dastur, P. D. Gadkri, R. Bala subramanian, P. Maheshwari, N. H. Rangaswamy and A. B. Joshi (1969). Cotton in India. A monograph Bombay, Indian Central Cotton Committee, 339 p.

Shanmugam, N., T. S. Muthukrishnan, G. Rajendran, A. Vinayagamoorthy and T. K. Kandaswamy (1975) Recent observations on Cotton disease problems in Tamil Nadu, Indian J. Mycol. Pl. Pathol. 5(1): 58.

Shanmugam, N., T. S. Muthakrishan, G. Rajendran, A. Vinayagamoorthy and T. K. Kaudaswamy (1975). Recent observations on cotton disease problems in Tamil Nadu.

Sharma, K. B. and N. D. Sharma (1976). Chemical Control of root rot of cotton. Indian J. Mycol, Pl. Pathol. 6(1): 190–191.

Shear, C. L. and Anna K. Wood (1913), Studies of the fungus parasite belonging to the genus Glomerella. U. S. D A Bureau of Plant Industry Bull. 252.

Smith, A. L. (1941) The reaction of cotton varieties to Fusarium wilt and root knot nematode. Phytopathology 31: 1099–1117.

Smith, A. L. (1953). Anthracnose and some blights. U. S Dept. Agri. Year Book 303–311.

South Worth, E. A. (1981). Anthracnose of cotton. Jour. Myc. 6. 100–105.

Srinivasan, K. V. (1971). Some observations on resistance International symposium on Pathological wilting of Plants (Abstracts)

Subbarao, N. S. (1960). Etiology of wilt in Fusarium infected Cotton. Phytopathology 50: 763–765.

Subramanian, C. V. (1946). The saprophytic activity of Fusarium vasinfectum, the cotton wilt pathogen in soil. I Colonization of cotton root bits burried in the soil J. Indian Bot. Soc. Iyenger, comm. volume : 209–213.

Subramanian, C. V. (1950). Soil conditions and wilt diseases in plants with reference to Fusarium vasinfectum. Proc. Indian Acad. Sci. 578: 178–94.

Sulochana, C. B. (1952). Soil conditions and root diseases VI. Termination of conidia of Fusarium vasinfectum in microelement ammended soils. Proc. Indian Acad. Sci. 36 B 229–233

Sulochana, C. B. (1952a). Soil conditions and root diseases VII. Response of cotton plants to microelement amendments and its relation to disease development. Proc. Indian Acad. Sci. 36B: 234–242.

Taubenhaus, J. J. and W. M. Ezekiel (1936). A rating of plants with reference to their relative resistance or susceptibility to Phymatotrichum root rot. Tex. Agr. Exp. Sta. Bul. 527.

Thomas, K. M. (1940). Detailed Admin. Rept. of Govt. Myc. Madras (Abstract in RAM 20: 145, 151, 1941).

Tucker, C. M. (1926). A leaf bract and boll spot of sea Island cotton caused by Helminthosporium gossypii n. sp. J. Agric Res. 32: 391–395.

Uppal, B. N. (1948). Diseases of Cotton in India. Indian Central Cotton Committee.

Uppal, B. N., M. K. Patel and M. N. Kamat (1935). Fungi of Bombay, Dept. of Agric Bombay Bul No. 176.

Vasudeva, R. S. (1941). Studies on the root rot diseases of cotton in the Punjab. Indian J. Agric Sci. 11: 879–891.

Vasudeva, R. S. (1943). Studies on the root rot disease of cotton in the Punjab. III Control by varying sowing date. Indian J. Agric Sci 13: 515–519.

Wilson, K. I. (1961). Anthracnose of Cotton in Bombay State. Indian Phytopath. 14: 53–60

Young, V. H. and W. H. Tharp (1941). Relation of fertiliser balance to potash hunger and the Fusarium wilt of cotton. Ark. Agr. Exp. Sta. Bul. 410.

Zimmermann, A. (1904). Berichte uber land U. For st. writs chaft von deutsch ostefrika Bd. II pp. 245.

(ख) जूट के रोग
(Diseases of Jute)

जूट (C. corchorus L; C. olitorius L) उत्तरी पूर्वी भारत की एक अति महत्वपूर्ण फसल है। विदेशी मुद्रा अर्जित करने का एक अच्छा साधन है। पूर्व बंगाल, बिहार एवं उत्तर प्रदेश में मुख्य रूप से इसकी खेती की जाती है। दोमट मिट्टी जहां पानी निकास का अच्छा साधन है, तथा गर्म नम (Warm humid) मौसम में इसकी खेती अच्छी होती है। इस फसल पर अनेक रोग लगते हैं, जिसके कारण जूट का रेशा, धब्बेदार, गाठ-गठीला, टूटा हुआ, चमक रहित तथा घटिया किस्म का हो जाता है। मुख्य रूप से लगने वाले रोग इस प्रकार हैं:—

(क) तना, गलन, बीजांकुर सड़न, जड़ गलन, कालर राट एवं मुरझान	मेक्रोफोमिना फेजियोलाई (Macrophomina phaseoli)
(ख) एन्थ्रेक्नोज	कालेटोट्राइकम कारकोरम (Colletotrichum corchorum)
(ग) मृदु गलन रोग	स्केलेरोशियम रोल्फसाई (Sclerotium rolfsi)
(घ) चूर्णिल आसिता	ओईडियम की जाति (Oidium)
(ङ) तना पिटीका	फाइसोडर्मा कोरचोरी (Physoderma corchori)

तना, जड़ एवं कालर गलन
(Stem, root and Collar rot)

भारत में जूट की फसल का यह एक महत्वपूर्ण रोग है। पौधे की वृद्धि की किसी अवस्था में इस रोग से हानि हो सकती है। तना गलन उत्पन्न करने वाली फफूंद मेक्रोफोमिना फेजियोलाई से बीजांकुर सड़न, जड सड़न, कालर सड़न एव म्लानि रोग के लक्षण भी उत्पन्न होते हैं।

बीजांकुर सड़न—फफूंद के बीजाणु द्वारा बीजांकुर की पहली पत्ती पर आक्रमण होता है। बीजांकुर का शीर्ष भाग पहले इससे भूरा और फिर काला पड़ जाता है। इसका आक्रमण बीजपत्र पर भी होता है। जिसके फलस्वरूप बीज पत्र काले पड़ जाते हैं। यह रोग पत्ती से पत्ती के पत्तर की डठल से होता हुआ तने में

प्रवेश करता है। रोग की उग्रावस्था मे पौधा सूख जाता है, और सक्रान्त स्थान से तना टूटकर गिर जाता है। यह रोग मेक्रोफोमिना फेजियोलाई फफूंद से उत्पन्न होता है।

यह रोग बाह्य बीजोढ है, अत: बीजो को बोने से पूर्व एग्रोसन या सेरेसन (0·2 प्र. श.) से उपचारित करें तथा अम्लीय मिट्टी में पोटाश के साथ थोड़ा चूना मिलाएं। ठाकुर जी एवं सिंह (1977) ने भी सेरेसन, एग्रोसनत था डायथेन M-45 ने बीजोपचार अच्छा बताया।

कालर राट

कालर राट का प्रभाव जुलाई के अन्त से प्रारम्भ होता है, रोग ग्रसित भाग भूरे एव काले पड़ जाते हैं। उग्रावस्था मे उतिक्षय के लक्षण भी प्रकट होते हैं। यह मृदुढ़ रोग है। इसकी रोकथाम हेतु रोग प्रतिरोधी किस्में बोये तथा खेत मे पड़े पौधे के मलबे को एकत्र कर नष्ट करें तथा खेत में पेरेनोक्स दवा मिलायें।

जड़ गलन:—

इस रोग का प्रकोप जुलाई के प्रथम सप्ताह मे होता है। पत्तिया पीली पड जाती हैं, और पौधा मुरझाने लगता है, और अन्त में सूखकर नष्ट हो जाता है। जड़े धीरे-धीरे पूरी सड़ जाती है। यह रोग मृदुढ़ एव बीजोढ़ दोनो है, अतः बोने से पूर्व बीजोपचार करें।

म्लानि रोग :—

इस रोग के कारण पहले पत्तियां पीली पड़ जाती है, और धीरे-धीरे पौधा सूखने लगता है। बीमारी मुख्यत: बीज बोने के समय के एक महिने बाद प्रारम्भ होता हैं, रोगी पौधे पीले पड़कर अचानक गिर जाते हैं। यह रोग मेक्रोफोमिना फेजियोलाई, फ्यूजेरियम, ओजोनियम (Ozonium) राइजक्टोनिया एवं कीटोमियम (Chaetomium) आदि फफूंदियो द्वारा फैलता है। यह मृदुढ़ रोग है।

फसल चक्र का प्रयोग करें। जूट की फसल लेने के बाद उस खेत में कुछ दिनों तक आलू की फसल न लेने से भी इस रोग का प्रकोप कम होता है। आलू के बजाय उन खेतो मे दलहनी फसल बोये खेत मे पानी का निकास अच्छा हो।

तना गलन (Stem rot) :

यह रोग आसाम, बंगाल, बिहार एवं उडीसा मे बहुतायत में होता है, इस रोग का प्रभाव अप्रेल से लेकर जुलाई तक कभी भी हो सकता है। प्रारम्भिक अवस्था में रोग के लक्षण जमीन से कुछ ऊंचाई पर तने पर मुलायम पानी भरे स्पंज जैसे धब्बे दिखाई पड़ते हैं। पत्तियां भूरी और काली पड कर सड़ जाती है। पौधे के ऊपर की पत्तियां मुरझाकर नीचे की ओर लटकने लगती है। रोगग्रस्त हिस्से से ऊपर का भाग अन्त मे मुरझा जाता है या टूटकर अलग हो जाता है। नई पत्तियां

भी मुरझा जाती हैं। इस रोग से प्रभावित जूट का रेशा अनियमित चमकरहित घटिया किस्म का होता हैं। अधिक संक्रमण होने पर कैप्स्यूल (Capsules) तथा बीज भी संक्रमित हो जाते हैं तथा उन पर पिक्नीडिया एव कठकवक बनते है।

रोगजन :—

यह रोग मेक्रोफोमिना फेजियोलाई (M. phaseoli (Maubl.) Ashby) कठकवक अवस्था—राइजक्टोनिया बटाटीकोला (R. bataticola (Taub) Butl) नामक फफूंद से उत्पन्न होता हैं। पिक्नीडिया अधोस्तर मे घंसे रहते हैं, परन्तु कठकवक फलोअम (Phloem) एव जाइलम (Xylem) कोशिका में सीमित रहते हैं। कठकवक काले, गोलाकार, 16–27 × 6 10 माइक्रोन माप के होते हैं।

पूर्वी पाकिस्तान मे किए गए परीक्षणो के आधार पर इस रोग की दो अवस्थाएं हैं। प्रथम अवस्था में जब पौधे दो माह तक के होते हैं, तब बहुत से बीजांकुर मर जाते है। दूसरी अवस्था मे जब पौधे 4–5 माह के होते हैं, प्रकोप होता हैं, परन्तु पौधे मरते नही हैं। जूट का रेशा घटिया पैदा होता है।

रोगचक्र :—

यह रोग मृदुढ एव बीजोढ हैं, परन्तु प्राथमिक संक्रमण संक्रमित बीजो द्वारा ही अधिक होता है।

नियन्त्रण : - -

(1) रोग प्रतिरोधी किस्मे बोयें। J R O, I R O कैप्सूलेरिस एवं 514 अत्याधिक प्रतिरोधी एव J R C कैप्सुलेरिस, 1108, 1172, JRO 878, 3690, 4369 प्रतिरोधी है। (ठाकुर जी, 1973)

(2) स्वस्थ्य बीजो का प्रयोग करें तथा जहां पर यह रोग हुआ हो वह बीज हेतु काम मे न लें। दास(1978) ने इस रोग की रोकथाम हेतु एक सम्भावित विधि बतायी।

(अ) बीजों को बेनलेट या बेविस्टीन से 4 ग्राम/किलो के हिसाब से उपचारित करें तथा 2 छिड़काव इन फफूंदनाशी दवा से 0 1 5 प्र श. मात्रा मे 25–30 दिन के अन्तर पर रोग के लक्षण दिखाई देते ही कर दें।

(ब) रोग प्रतिरोधी किस्मे हलमोहरा (Halmohera) सी–58–9433, बेंगकोक Bangkok, JRC 9836 पटचाईएल्बीनों (Patchyalbino) एवं JRO 3331 सहनशील (tolerant) हैं। JRC 7447 एवं JRO 7835 अधिक उत्पादन देने के साथ सहनशील भी है।

(स) बोडो मिश्रण 5 5·50 या पेरेनोक्स (0·2 प्रतिशत) का छिड़काव भी लाभप्रद रहता है। नत्रजन का 40 एवं 80 कि हेक्टर का प्रयोग रोग की बढ़ावार के लिए मुग्राही नही हैं, पोटाश के प्रयोग से तथा

चूना देने से रोग का प्रकोप कम होता है। 80 कि. ग्राम नत्रजन, 40 कि. फोस्फोरस एव 160 कि. ग्राम पोटाश तथा 3 टन चूना प्रति हैक्टर के प्रयोग से इस रोग का प्रकोप कम होता है।

(3) ठाकुरजो आदि (1976) के अनुसार यदि जिंक, जिंक सल्फेट के रूप मे प्रयोग किया जाता है तो इस रोग का प्रकोप कम होता है। डूनिन एव मलादेनोव (Dunin and Mladenov, 1918) के अनुसार 285 मि. ग्राम जिंक प्रति किलो मिट्टी मे मिलाने से रोग का प्रकोप कम होता है।

एन्थ्रेक्नोज (कालव्रण)
(Anthracnose)

इस रोग का प्रकोप पश्चिम बंगाल तथा भारत के अन्य क्षेत्रो मे काफी मात्रा में देखा गया है। भारत के अलावा जापान, मालवा राज्य बगला देश मे भी इस रोग से काफी हानि होती है।

लक्षण :—

रोग का प्रकोप गर्मी तथा बहुत ज्यादा नम मौसम मे काफी देखा गया है। जुलाई माह में जब फसल 8–10 सप्ताह की होती है, तब अधिक प्रभावित होती है। रोग का प्रकोप कटाई अवस्था मे सबसे अधिक होता है।

सर्वप्रथम इस रोग के लक्षण तने पर पीले भूरे चकत्तो के रूप में दिखाई देते हैं। ग्रसित चक्ते अनियमित तथा 1/2 से 1 से. मी. लम्बे होते हैं। चक्तो का रग बाद मे स्नफ (snuff) भूरा से काला तथा उतिक्षयी (necrotic) हो जाते हैं। उतिक्षयी चक्ते आपस मे मिलकर सम्पूर्ण तने को घेर लेते हैं तथा तना टूट कर गिर जाता है। कुछ को तो केप्सुलेरिस किस्मों के पौधे पुष्पण अवस्था तक केकंरस घास होने के बाद चिरजीवित (survive) करती है, परन्तु इसकी वजह से रेशा बिखर जाता है, तथा टूटने के स्थान पर आगुतक (adventitious) जड़े भी बन जाती हैं। यदि फली तरुण अवस्था में संक्रमित हो तो काली पड़ जाती है, तथा सिकुड़ जाती हैं। बड़ी फली जीवत तो रहती है, परन्तु भूरे से काले क्षतस्थल फलियो पर पड़ जाते हैं।

नये मौसम मे इन चक्तो के बीच मे छोटे-छोटे काले रग के बिन्दु दिखाई देते हैं, जो इस फफूंद की एसरवुलाई (acervuli) है। इन एसरवुलाइ मे फफूंद के कोनिडिया बहुत अधिक संख्या में बनते हैं, जो चूर्ण की भांति पत्ती पर फैले रहते हैं।

रोगजन :—

सर्वप्रथम इकाटो एवं टनका ने इस फफूंद की खोज कालेटोट्राइकम कोरघोरम Colletotrichum corchorum Tanke Ikato बतायी। बाद मे घोग (1957) ने विस्तृत अध्ययन किया। कवकजाल पटयुक्त, रगहीन, अंत: कोपीय तथा

तथा अन्तर्कोषीय होता है। कवकजाल के कवकतन्तु अधोस्तर के नीचे अधिक मात्र मे एकत्र हो जाते है, और एक दूसरे से सटकर एक सघन पिण्ड स्ट्रोमा अथवा एसरवुलस (acervulus) बनाते हैं। एसरवुलस में कोनिडियोफोर उत्पन्न होते हैं, जो छोटे, अपट, साधारण, सीधे रंगहीन होते हैं, जिन पर कोनिडिया अकेले लगे रहते हैं। कोनिडिया अग्रेभिमारी श्रंखला में हांसियाकार, रंगहीन 17–24 X 2·6–3·25 माइक्रोन माप के होते हैं। सिटी (Setae) गहरी भूरी 52–138 माइक्रोन माप की तथा आधार 3 9–5·2, 2·5 पटयुक्त तथा 10 से 30 के झुण्ड मे बनती है। बीजाणु का अंकुरण होने पर ग्रासगांग बनते है।

रो चक्र :—

यह बीजोढ रोग है। अधिक नम मौसम का होना इस रोग के लिए सुग्राही है।

नियन्त्रण :—

बीजो को बोने से पूर्व 2 ग्राम प्रति किलो बीज के हिसाब से उपचारित करें। खेत की स्वच्छता रखें तथा रोग के लक्षण दिखाई देते ही बोर्डो मिश्रण का 5·5·50 का छिड़काव करें।

जूट का मृदु गलन रोग (साफ्ट राट)

जूट का यह रोग जुलाई के अन्त से प्रारम्भ होता है, और फसल की कटाई के अन्तिम समय तक फैलता रहता है। संक्रमित स्थान पर एक छोटे भूरे रंग का चिप्पड़ बन जाता है जो ऊपर की तरफ बढ़ता रहता है। रोगी पौधे सूखकर मुरझा जाते हैं।

यह रोग स्कलेरोशियम रोल्फसाई नामक फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है। यह फफूंद मृदुढ है, तथा भूमि मे कठकवक के रूप में जीवन व्यतीत करती है। इसकी रोकथाम हेतु रोगग्रसित पौधों के अवशेषों को एकत्र कर नष्ट कर दें।

चूर्णिल आसिता :—

इस रोग के कारण पत्तियों पर श्वेत चूर्णी धब्बे प्रकट होते हैं। ये धब्बे छोटे पिताम बिसियों की तरह पैदा होते हैं। जिस पर चूर्णी पदार्थ फैला रहता है। पत्तियो पर सफेद चूर्ण बाद मे भूरा हो जाता है, तथा पत्तियां मुरझा जाती है। ग्रसित पौधे कमजोर होते हैं, तथा रेशा भी घटिया किस्म का होता है।

यह रोग ओइडियम फफूंद से उत्पन्न होता है। इसकी रोकथाम हेतु 40 कि. प्रति हेक्टर गन्धक का भुरकाव करें, तथा रोग प्रतिरोधी किस्में बोयें।

तना पिटीका
(Stem gall)

जब पौधे 20–25 से. मी. बड़े होते हैं, तब हरी पिटीका तने के निचले भाग पर जमीन की सतह की ऊपर बन जाती है। ये पिटीका धीरे-धीरे बढ़ती है,

तथा एक दूसरी से मिलकर गहरी भूरी हो जाती है तथा परिपक्वता पर टूट जाती है। पिटीका में बीजाणुधानी होते हैं। यह रोग फाइसोडर्मा कोरचोरी (Physoderma corchori Lingappa) फफूंद से उत्पन्न होता है, जो अनिवार्य परजीवी है। रोग ग्रसित पौधों के अवशेषों को एकत्र कर नष्ट कर दें।

बीजोढ़ फफूंदिया

जूट के बीजों से आल्टरनेरिया टेनु, आरथोबोटरायस जाति, सिफेलोस्पोरियम जाति, कलवुलेरिया ल्यूनेटा, एपीकोकम जाति, फ. मोनोलीफोर्मी, फ. सेमीटेक्टम, हे. टेटरोमेरा, मे. फेजियोलाई तथा पेरीकोनिया एवं ट्राइकोथीसियम की जातिया प्रथक्कृत की गयी। थिराम (0 025%) से बीजोपचार सबसे अच्छा तथा उसके बाद क्रम मे सेरेसन एवं एग्रोसन रहे। (अग्रवाल एवं सिंह, 1974)



Agarwal V. K. and O. V. Singh (1974). Seed borne fungi of Jute and their control. Indian Phytopath. 27 651–52.

Das, S. R. (1978). Integrated approach to control stem ro disease of Jute in Orissa. Indian J. Pl. Pathol. 7 (1): 36

Dunin, M. A. and M. R. Mladenov (1968). Effect of Zn on the resistance of Flax to Fusarium disease. Vest Sel. Khoz Nuki, Mosk. 13: 29–32.

Ghosh, T. (1957). Anthracnose of Jute. Indian Phytopath. 10: 63–70.

……………(1970). Macrophomina phasoli (Maubl.) Ashby on Jute Plant Disease Problems, I. P. S. 363–370.

Ghosh, T. and M. H. Blasak (1965). Possibility of contr ing stem rot of Jute. Ind. J. Agric. Sci. 35: 90–100.

Ikata, S. (1941). Colletotrichum corchorum I Kata at Ta kaka n. sp. Rev. App. Mycol 20: 465.

Thakur Ji (1973) Resistance in some Jute varieties agains stem rot incited by Macrophomina phaseoli. Indian J. Mycol. Pl. Pathol. 3: 104.

Thakur Ji, Hira Lal and S. P. Singh (1976). Influence of micro-nutrients on incidence of capsularis Jute. Indian J. Mycol. Pl. Pathol. 6(1): 96.

Thakur Ji and S. P. Singh (1977). Chemical control of seed-ing blight of Jute caused by Macrophomina phaseoli. Indian J. Mycol. Pl. Pathol. 7: 75–76.

Varadaragan, B. S. and J S. Patel (1943). Stem rot disease of Jute. Indian J. Agric. Sci. 13: 148–156.

तिलहनी फसलों के रोग

(Diseases of Oilseed Crops)

तिलहनी फसलों का हमारी कृषि में विशेष महत्व है, जिनमे मूंगफली, तिल, अरण्डी, सरसो, सूरजमुखी, कुसुम, अलसी प्रमुख है। इन सभी फसलो मे लगने वाले रोगो का संक्षिप्त परिचय इस अध्याय मे दिया जा रहा है।

(क) मूंगफली के रोग (Diseases of Groundnut)—

मूंगफली एक तिलहन फसल है। विश्व मे मूंगफली उत्पादन मे भारत का दूसरा स्थान है। इसकी खेती मुख्यतः दाने (kernels) के लिये की जाती है, जो तेल हेतु या मनुष्यो के खाने मे या मनुष्य एव जानवरो के भोजन मे प्रोटीन की मात्रा बढाने हेतु काम आते है, इसके तेल को हाईड्रोजनित करके वनस्पति घी तैयार किया जाता है। फसल आवर्तन के हिसाब से भी मूंगफली की खेती भूमि को उपजाऊ बनाती है। अन्य फसलो की भांति इस फसल पर भी कई प्रकार के रोगो का प्रकोप होता है, जिनमे टिक्का, पद गलन, राईजक्टोनिया, कॉलर, गलन काला गलन, बोटराइटिस अंगमारी, रस्ट, पीथियम, म्लानि एव स्केब आदि प्रमुख हैं।

मूंगफली की महत्वपूर्ण बीमारियां एवं उनके रोग कारक जीव :—

बीमारी का नाम	रोग कारक जीव
1. टिक्का	सर्कोस्पोरा परसोनेटा Cercospora personata (Berk and Curt) Ell and Eve
	सर्कोस्पोरा अरेचिडीकोला C. arachidicola Hori.
2. पद गलन	एस्परजिलस नाइजर Aspergillus niger
3. एन्थ्रेकनोज	कालेटोट्राईकम मैन्जीनोटी Colletotrichum mangenoti chevangeon
	का० डीमेटीयम C. dematium Pars ex. Fr. Grove Sensuvon
	का० एरेचिडिस . arachidis Arx.
4. येलो मोल्ड	एस्परजिलस फ्लेवस Aspergillus flavas

5. किट्ट	पक्सनिया एरोचीडिस Puccinia arachidis
6. बीज सड़न फफूंदिया	एस्पार्जिलस नाइजर Aspergillus niger van Tiegham
7. मूयन फफूंदिया	1–राइजक्टोनिया सोलेनाई Rhizotonia solani kuhn.
तना सड़न	2–स्कलेराशियम रोलफसाई Sclerotium rolfsii Seccardo
8. डिप्लोडिया पद गलन	डिप्लोडिया गोसीपीना Diplodia gossypina Cooke
9. पीथियम सड़न	पीथियम मायरीओटाइलम Pythium myriotylum Drechs
10. एस्कोकाइटा पत्ती धब्बा	एस्कोकाइटा ऐरेचिडिस Ascochyta arachidis
11. फाइलोस्टिक्टा पत्ती धब्बा	फाइलोस्टिक्टा ऐराचिडिस हाइपोजिया Phyllosticta arachidis hypogea.

टिक्का (Tikka) :—

मूंगफली का यह एक विनाशकारी विश्वव्यापी रोग है। इस रोग के कारण उपज में 20 से 50 प्रतिशत तक नुकसान होता है। (Woodroof, 1933) (Miller, 1946)। वुडरूफ (1933) के अनुसार इस रोग का प्रकोप अमेरिका, दक्षिणी अफ्रीका, भारत, जावा, चाइना, आस्ट्रेलिया, जापान, इटली, फिलीपाइन आदि देशों में देखा गया है। अमेरिका में जहां इसके नियन्त्रण के सभी तरीके काम में आते हैं, वहां पर भी सन् 1951 से 60 तक के आंकड़ों के अनुसार 10 प्रतिशत नुकसान पाया गया है। (U. S. D. A. 1965)। रोग से हानि उस समय अधिक होती है, जब यह दाने बनने से पहले ही फैल जाता है। रोग को इसके बाहरी लक्षणों के आधार पर चितवा, पत्ती धब्बा, हल्द, विरुएल, मूंगफली का सर्कोस्पोरिसिस, माइकोस्पोरोला, पत्ती अंगमारी, भूरा पत्ती धब्बा भी कहते हैं। यह रोग दो प्रकार की फफूंदियों द्वारा उत्पन्न होता है। सर्कोस्पोरा परसोनेटा (Cercospora personata (Berk and Curt) Ell and Eve) सर्कोस्पोरा अरेचिडीकोला (Cercospora arachidicola Hori) उत्तरी नाइजेरिया में एक फफूंद सर्कोस्पोरा केनेसेन्स (Cercospora canesens) भी वर्णित की गयी है।

लक्षण (Symptoms) :—

दोनों ही प्रकार की फफूंदियों से भिन्न भिन्न लक्षण उत्पन्न होते हैं। रोग से उत्पन्न लक्षणों का अध्ययन जेंकिन्स (1938), वुडरूफ (1933) आदि ने विस्तृत

रूप से किया। जब पौधे 2 माह के होते है, तब सबसे पहले इस रोग के लक्षण दिखाई देते हैं तथा बाद में यह रोग धीरे धीरे पौधे के पकने के समय तक फैलता रहता है।

सर्कोस्पोरा अरेचिडिकोला—इस रोग के धब्बे शुरू में छोटे हरिद्रोग धब्बों के रूप में दिखाई देते हैं जो बड़े होकर भूरे से काले, उप गोलाकार 1–10 मि. मी. या अधिक व्यास के तथा कई से कई क्षत स्थल पर्णक (leaf let) पर पाये जाते हैं। (Jenkins, 1938; Woodruff, 1933)। धब्बे टेढ़े मेढ़े अनियमित हो जाते हैं। इस कारण से अनियमित पत्ती धब्बा रोग भी कहते हैं। धब्बों के चारो ओर प्रारम्भ से ही पीले रंग का प्रभामण्डल बनना प्रारम्भ हो जाता है। (Jenkins 1938; Woodruff, 1933)। परन्तु प्रभामण्डल हमेशा दिखाई नहीं देता है। किन्तु जब भी प्रभामण्डल होता है तो वह अभ्यक्ष पर्णक (Adaxiel leaflet) पर अधिक दिखाई देते है।

बीजाणुकरण पहले पररोही (Epiphyllous) तथा बाद में परिरोही (Amphigenous) होता है। कोनिडिया एवं कोनिडियोफोर काले से दिखाई देते हैं। रोग ग्रसित पत्तियों की ऊपरी सतह भूरे लाल से काली तथा निचली सतह हल्के भूरे रंग की दिखाई पड़ती है। पीले रंग का प्रभामण्डल पत्तियों की निचली सतह पर नहीं पाया जाता है। इसका आक्रमण सर्कोस्पोरा परसोनेटा से 30 दिन पहले होता है।

सर्कोस्पोरा परसोनेटा :—

सर्कोस्पोरा परसोनेटा से ग्रसित पत्तियों पर प्रारम्भिक अवस्था में 1 से 6 मि. मी. व्यास के धब्बे बनते हैं। धब्बों का आकार सर्कोस्पोरा अरेचिडिकोला से छोटा होता है तथा यह गहरे कत्थई से काले रंग के होते है (चित्र 5 क 1)।



चित्र 5 क 1 मूंगफली का टिक्का रोग

जैन्किन्स (1938) के अनुसार प्रभामण्डल बहुत सीमित बनते हैं। प्रारम्भ में बीजाणुकरण अधोरोही (Hypophyllous) तथा बाद में परिरोही होता है। परिपक्व धब्बों के चारों ओर पत्ती की केवल ऊपरी सतह पर पीले प्रभामण्डल बन जाते हैं। धब्बों के नीचे की सतह का रंग काला पड़ जाता है।

वुडरफ (Woodruff) ने सर्कोस्पोरा परसोनेटा से उत्पन्न रोग को अरली स्पॉट तथा सर्कोस्पोरा अरेचिडीकोला से उत्पन्न रोग को लेट स्पॉट का नाम दिया। इन दोनों रोगों को कोनिडिया बनने के समय आसानी से पहचाना जा सकता है। सर्कोस्पोरा अरेचिडीकोला के कोनिडिया पत्ती की ऊपरी सतह पर ही सीमित रहते हैं तथा नीचे की सतह पर बहुत कम पाये जाते हैं एवं इसके अलावा यह एक केन्द्रिक वलय में नहीं होते जबकि सर्कोस्पोरा परसोनेटा के कोनिडिया पत्ती के नीचे की सतह पर एक केन्द्रिक वलय में पाये जाते हैं। धब्बों के रंग के आधार पर इन दोनों फफूंदियों को आसानी से पहचाना जा सकता है। पत्तियों से निचली सतह पर सर्कोस्पोरा अरेचिडीकोला से हल्का भूरा तथा सर्कोस्पोरा परसोनेटा से कार्बन काला रंग हो जाता है। इन दोनों ही रोगों के धब्बों के प्रभाव से पत्तियां पीली पड़ जाती हैं और अन्त में मुरझा कर गिर जाती हैं।

रोग ग्रसित पौधों में प्रकाश संश्लेषण की क्रिया धीमी पड़ जाती है जिससे पौधे कमजोर हो जाते हैं। उग्र अवस्था में पौधों की फलियां पक नहीं पाती तथा दाने नहीं बनते हैं।

हेतुकी एवं जीवन चक्र :—(Etiology and Life cycle) यह रोग सर्कोस्पोरा परसोनेटा (Cercospora personata (Berk and Curt) Ell and Eve एवं सर्कोस्पोरा अरेकिडीकोला (C. arachidicola Hori) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है जिनकी पूर्ण अवस्था क्रमश: माइकोस्फेरीला बरकेलाई (Mycosphaerella berkeleyii Jenkins) माइकोस्फेरीला अरेचिडीकोला (M arachidicola) मात्र है।

सर्कोस्पोरा परसोनेटा :—डीजटन (Dieghton, 1967) ने नया संयुक्त सर्कोस्पो- रिडियम परसोनेटा (Cercosporadium pursonatum) दिया जो कि सर्कोस्पोरा परसोनेटा का समानार्थक है। उन्होंने पेसालोरा परसोनेटा (Passalora personata (Berk and Curt) Khan and Kamal (Khan and Kamal, 1961) को भी सर्कोस्पोरा परसोनेटा का समानार्थक बताया।

कवकजाल पटयुक्त तथा पोषक ऊतियों के अन्दर अन्तराकोषीय, शाखायुक्त, लम्बा एवं पतला होता है जो चूषपाग के द्वारा मध्य पर्णोति ऊतियों में घुस कर भोजन चूसते हैं। धनकाय 20–30 माईक्रोन व्यास के, कोनिडियोफोर हल्के पीले कत्थई रंग के 1–3 मुग्न वाले 10–70×3–5 माइक्रोन के होते हैं। कोनिडिया प्रभिमुग्दराकार अथवा बेलनाकार 20–70×5–11 माइक्रोन के होते हैं जिनमें 1 से 7 पट पाये जाते हैं। कोनिडियोफोर के सिरे पर कोनिडिया लगते हैं।

जेन्किन्स (1938, 1949) के अनुसार लैंगिक अवस्था में पैरीथीसिया बिखरी हुई, एम्फीगायनस (amphigynous), पोषक ऊतियों के भीतर, प्रस्फोटी (erumpent), अंडाकार से गोलाकार, 84–140 × 70–112 माइक्रोन की काली होती है। इसमें अनेक ऐस्कस होते हैं जो ग्रास्थक द्वारा बाहर आते हैं। ऐस्कस बेलनाकार 30–40 × 4–6 माइक्रोन के होते हैं। प्रत्येक ऐस्कस में 8 ऐस्कोबीजाणु बनते हैं जो 10·9 से 19·6 × 2·9 से 3·8 (औसत 14·9 × 3 4 माइक्रोन परिमाण के होते हैं।

सर्कोस्पोरा अरेचिडीकोला—कवकजाल पोषक ऊतियों के बाहर एवं भीतर दोनों जगह पाया जाता है। प्रारम्भ में कवकजाल अन्तराकोशीय होता है तथा बाद में पोषक ऊतियों के मरने पर अन्तः कोशिक हो जाता है। इसमें किसी भी प्रकार के प्रचूषांग नहीं बनते हैं। पत्तियों की ऊपरी सतह पर कोनिडियोफोर अधिकतर पाये जाते हैं।

जेन्किन्स (1938) एवं चूप (1953) के अनुसार घनकाय छोटे से 100 माइक्रोन तक व्यास के, कोनिडियोफोर भूरे कत्थई गुच्छ 3–6 × 15–45 माइक्रोन के होते हैं। कोनिडिया हल्के कावर या रंगीन, उल्टे मुग्दर तथा मुड़े हुए 3 से 12 पटयुक्त, नीचे का आकार गोल से छिन्नाग्र 35 से 110 माइक्रोन लम्बे एवं 2 से 5·4 माइक्रोन चौड़े होते हैं। कोनिडियोफोर के सिरे पर कोनिडिया बनते हैं जो बन कर अलग हो जाते हैं और फिर उसी स्थान पर दुबारा कोनिडिया बन जाते हैं तथा अलग होने वाले स्थान पर एक निश्चित स्थान बन जाता है।

जेन्किन्स (1938) के अनुसार लैंगिक अवस्था का विवरण इस प्रकार है। पैरीथीसिया अधिकतर क्षत स्थल के आस-पास बिखरी हुई एम्फीगायनस पोषक ऊतियों के भीतर, प्रस्फोटी, अण्डाकार से गोलाकार, आस्यक छिद्र (ऑस्टीओल) (ostiole), 47·6–84·0 × 44·4–74·0 माइक्रोन की काली होती है। ऐस्कस बेलनाकार 27–37·8 × 7–8·4 माईक्रोन की तथा प्रत्येक ऐस्कस में 8 रंगहीन ऐस्कोबीजाणु पाये जाते हैं जो 7–15·4 × 3–4 माईक्रोन के द्विकोशिक होते हैं।

फफूंद की कायिकी (Physiology of fungus) :—

सर्कोस्पोरा अरेचीडीकोला फफूंद की वृद्धि के लिए 2 से 35° से. तथा अनुकूलतम तापमान 25–32° से. ताप उपयुक्त है। सर्कोस्पोरा परसोनेटा की वृद्धि के लिए 4 से 34° से. उपयुक्त तथा अनुकूलतम तापमान 25–30° से. है। दोनों ही फफूंद की वृद्धि संवर्ध में धीमी (slow) होती है। संवर्ध (Culture) में बीजाणु बहुत ही कम बनते हैं। दास (Das, 1951) के अनुसार सर्कोस्पोरा परसोनेटा फफूंद की संवर्ध (Culture) में वृद्धि के लिए आधारभूत तापमान (Cardinal temperature) 23, 27 एवं 32° से. है। अब्दू (Abdou, 1966) ने बताया कि सर्कोस्पोरा अरेचीडीकोला फफूंद में बीजाणुकरण के लिए प्रकाश की आवश्यकता

नहीं है। परन्तु सर्कोस्पोरा परसोनेटा में बीजाणुकरण प्रकाश की अनुपस्थिति में नहीं होता है।

वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार (Annual recurrence and spread) :—

मूंगफली का यह मृदुढ एवं बीजोढ रोग है। फफूंद एक मौसम से दूसरे मौसम में मूंगफली की पत्तियों के अवशेषों तथा छिलकों में उपस्थित रहती है। नई फसल पर संक्रमण भूमि मे पडे हुए कोनिडिया द्वारा होता है। जहां पर मूंगफली की खेती लगातार होती है, वहां इस रोग का काफी प्रभाव होता है। इन जगहों पर जल्दी संक्रमण सामान्य है तथा अन्त:काम (inoculum) का साधन कोनिडिया एवं एस्कोबीजाणु से है, जो पौधों के मलवे (debris) से बनते हैं। फ्रेजी (Frezzi) ने प्रदर्शित किया कि कोनिडिया की जीवन क्षमता काफी है तथा फसल के एक मौसम से दूसरे मौसम हेतु पर्याप्त है। शान्ता (Shanta, 1960) एवं हेमिंवे (emingway, 1954) के मतानुसार कवकजाल मिट्टी तथा पौधों के अवशेषों में चिरजीवित रहते हैं। अन्त:काम इन साधनों से हवा, पानी आदि माध्यमों द्वारा पत्तियों पर पहुंच कर संक्रमण कर देते हैं। द्वितीयक संक्रमण प्राथमिक संक्रमण में बने कोनिडिया द्वारा होता है जो आंधी, बरसात और कीड़ों के माध्यम से एक जगह से दूसरी जगह जाते हैं (Higgins, 1956)। पत्तियां किसी भी समय इस रोग से प्रभावित हो सकती हैं। परन्तु जमीन के पास की नीचे की पत्तियां पहले प्रभावित होती हैं। रोग ग्रसित पत्तियां फिर जमीन पर गिर जाती हैं। और अगले वर्ष फिर पौधे जब कुछ बड़े होते हैं, तब संक्रमण करती हैं। इस प्रकार एक वर्ष से दूसरे वर्ष आवर्तन होता है।

कोनिडिया के अंकुरण होने पर एक से कई जनित नलिका पत्ती की सतह पर बनाती हैं तथा रन्ध्रों द्वारा उनका प्रवेश होता है। प्रवेश अधोस्तर की पार्श्व-फेसेज (lateral faces) से सीधा भी हो सकता है। (Jenkins, 1938)। सर्कोस्पोरा परसोनेटा फफूंद से कोशिका (Cells) अग्रिम (advance) में अन्तराकोश कवकसूत्र (inter cellular hyphae) से नष्ट नहीं होती है तथा पोषक ऊतियों में होस्टोरिया चूषांग बनते हैं। परन्तु सर्कोस्पोरा अरेचिदीकोला में अन्तराकोष कवकसूत्र अग्रिम में कोशिका को नष्ट कर देते हैं तथा बाद में कवक सूत्र अन्त कोशिका (intra cellular) हो जाता है। स्वामी (1964) के अनुसार सर्कोस्पोरा परसोनेटा फफूंद के द्वारा श्वसन तथा शर्करा-अपचायन (reducing sugar) की मात्रा बढ़ जाती है तथा ग्रसित पत्तियों में एक गैमीयस पदार्थ भी बनता है जिससे पीलीमा (Chlorosis) के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

पूर्वप्रवृत्तिक कारक (Predisposing factors) :—

इस रोग का सबसे अधिक प्रकोप सितम्बर के माह में होता है जब मौसम में अन्दर नमी तथा ठण्ड होती है। सुलेमान एवं अग्रवाल (Sulaiman and

(Agashe, 1965) के अनुसार महाराष्ट्र मे सितम्बर का माह पूर्व वृत्तिक है क्योंकि तापमान अधिक होता है तथा निस्सादन (precipitation) एव आद्रता आगस्त से कम होती है। यह भी सम्भावना प्रकट की कि रोग की शुरुआत अगस्त मे प्रारम्भ हो जाती है जबकि अधिक नमी होती है तथा उसी के कारण अगले माह मे अधिक प्रकोप होता है। दोनो ही प्रकार के रोगो के अधिक संक्रमण के लिए कम से कम 3 दिन तक मौसम मे अधिक आद्रता होनी चाहिये। (Ramakrishna and Appa Rao, 1965) बहुत समय तक का कम तापमान तथा ओस (dew) भी इस रोग के सक्रमण के लिए सहायक होती है। संक्रमण के लिए 26-31° से. का तापमान अनुकूलतम है। लायल (Lyle, 1964) के अनुसार अधिक मात्रा मे कोनिडिया अधिक बारिश के समय बनते है, जब न्यूनतम तापमान 22° सेन्टीग्रेड एव अनुकूलतम तापमान 35° से. हो।

शान्ता (Shanta, 1906) के अनुसार नत्रजन एवं फासफोरस खाद का अधिक प्रयोग करने पर रोग का प्रभाव अधिक होता है जबकि पोटाश के कारण रोग कम होता है। इसके अलावा प्रभाव्यपन एसिड की बढ़वार से सम्बन्धित है तथा अधिक राईबोफलेबिन प्रतिरोधकता से सहसम्बन्धित है।

रोग नियन्त्रण (Disease control) :—

(1) रोगी पौधे तथा उनके अवशेषो, खरपतवार आदि को उखाड़ कर नष्ट कर देना चाहिये, क्योंकि इसके कोनिडिया भूमि मे रहते हैं। गहरी जुताई भी इस रोग की रोकथाम मे कारगर सिद्ध हुई है।

(2) बीजो से रोग पैदा होने के कारण बीजो को उपचारित करना चाहिये। एग्रोसेन व सेरेसन तथा अन्य कोई पारावर्गी रसायन। 1/2 घण्टे तक 0 5 प्रतिशत कॉपर सल्फेट के घोल मे बीजो को बिना कवच के डुबोना चाहिए।

(3) मूंगफली को अरहर के साथ मिलाकर बोने से भी रोग आने की सम्भावना कम हो जाती है।

(4) द्वितीयक सकमण कोनिडिया द्वारा होता है। अतः उसकी रोकथाम हेतु उचित फफूंदनाशी दवा का प्रयोग करना चाहिये। बोर्डो मिश्रण का 5·5·50 का 5–6, 8–9, 11–12 सप्ताह बुवाई के बाद छिड़काव करने पर सिंचित क्षेत्रो में रोग नियन्त्रण हुआ तथा शुष्क जगहों पर कॉपर घुलन 4 प्रतिशत एवं गन्धक घुलन 300 मेश (1 : 1) का प्रयोग लाभकारी पाया गया। (Sulaiman 1964) परन्तु बटलर ने 1914 मे बताया कि बोर्डो मिश्रण का छिड़काव इस रोग की रोकथाम के लिए अधिक लाभकारी नही है। क्योंकि फफूंद पत्ती

की निचली सतह पर रहती है तथा वहाँ छिड़काव पदार्थ का पहुंचना मुश्किल है।

वुडरूफ एवं हिगीन्स (Woodroof and Higgins, 1939) के अनुसार गन्धक धूलन लाभकारी है। इस रोग के निवारण हेतु पर्णीय छिड़काव हेतु समय-समय पर कॉपर, गन्धक एवं टिन ग्रुप तथा डाईथियोकार्बेमेट के सुझाव दिए गये हैं। (Jackson and Bell, 1969, Mehta, 1951, Johnson, 1960, Shukla and Pathak, 1968; Vidyasekaran and kotanidaraman 1968; Cooper, 1960; Vingayan and Natrajan, 1964; Lewin and Natrajan, 1971; Lewin et al, 1972).

जोनसन (1960) ने जिनेवा एवं मैनेव का छिड़काव कर प्रभाव्य किस्मों से 750 पोण्ड/एकड उपज अधिक प्राप्त की। कूपर (1960) के अनुसार TL 39 (तरल कपॅर एक्सपेरीमेन्ट लिक्विड कॉपर (Expt. liquid Copper) 1·5-2·5 पोन्ड/गेलन/एकड़ सर्कोस्पोरा एरेकोडीकोला के लिए 15 दिन पर छिड़काव करने पर लाभकारी रहा जबकि डाइथेन एम.-45 (1–2.25 पोन्ड/एकड़) हर सप्ताह छिड़काव करने पर लाभकारी पाया गया।

लेविन एवं नटराजन (Lewin and Natrajan, 1971) के अनुसार ब्रिस्टान, बोर्डो मिश्रण, क्यूप्रामार, थायोविट एवं कोसान के 3 छिड़काव 20 दिन के अन्तर पर करना लाभकारी रहता है तथा उससे उपज में भी काफी वृद्धि होती है। लेविन व अन्य (Lewin et al, 1972) के अनुसार ब्रेस्टान (Brestan) 0 1 प्रतिशत व क्यूप्रामार 0 2 प्रतिशत प्रत्येक के किये गये 5 प्रयोगो में से निम्मजन दो फुहारन, निम्मजन तीन फुहारन तथा केवल तीन फुहारन समरूप दूसरे प्रयोगो मे अच्छे पाये गये। इन प्रयोगो में उपज में भी वृद्धि हुई। दोनों कवकनाशियो के केवल तीन फुहारन वाला प्रयोग ही आर्थिक दृष्टि से अच्छा रहा।

औलाख एवं सुनार (Aulakh and Sunar, 1973) के अनुसार रोग का प्रभाव बेनलेट (Benlate) के छिड़काव करने पर बहुत कम होता है तथा रोग की कमी एवं उपज मे वृद्धि से सीधा सम्बन्ध है। बेनलेट (0 05–1 प्रतिशत) के द्वारा प्रति पौधे फली (pods) मे काफी वृद्धि हुई। बेनलेट के छिड़काव करने पर प्रति पौधे फली मिली जबकि ब्रिस्टान, डायथेन एम–45, डायथेन Z–78, गन्धक एवं नियन्त्रित (control) मे क्रमशः प्रति पौधे 24, 24, 23, 22, 21 फली मिली। परन्तु प्रति पौधे फली के वजन मे डायथेन एम–45 एव बेनलेट मे सांख्यिकी (statistically) कोई अन्तर नहीं था। ब्रेस्टान के छिड़काव से रोग की रोकथाम तो हुई परन्तु पादप बहुत ही विषालु पाया गया और पत्तियां काफी मात्रा में जल गयी, फलतः प्रकाश संश्लेषण जगह कम हो गयी। बेनलेट 0 05 प्रतिशत व 0·1 प्रतिशत एवं डायथेन एम–45 0·2 प्रतिशत मे प्रति पौधे फली का वजन 34, 22 एवं 28 ग्राम क्रमशः रहा जबकि नियन्त्रित (कन्ट्रोल) मे 21 ग्राम था।

रोमेकर एवं प्रीस्टोन (1977) (Raemaekers and Preston) ने जम्बिया मे इस रोग की रोकथाम क्लोरोथेलोनिल+बेनलेट तथा मेन्कोजेब+बेनोमिल+फेन्टिन के मिश्रण के छिड़काव द्वारा पत्ती धब्बा एवं किट्ट की रोकथाम के साथ उपज मे 102% की वृद्धि हुई। ट्राइडीमोर्फ केलीक्सीन (75 E C. O. ·07%)+ नोपिल (बेनलेट 50 W.P. O.05%) तीन छिड़काव करने पर टिक्का एवं रोली के नियन्त्रण मे काफी प्रभावशाली रहे, (गुर्गे आदि, 1979)

(5) मेगनेशियम तत्व की कमी होने पर भी इस रोग का प्रभाव अधिक होता है। इस तत्व के छिड़काव द्वारा भी इस रोग की रोकथाम की जा सकती है। (Blndsoe and Harris, 1941)

(6) बुवाई के समय मे थोड़ा परिवर्तन करके भी इस रोग की रोकथाम की जा सकती है। जिन जगहो पर अधिक प्रकोप अगस्त के अन्त या सितम्बर मे होता है वहा बुवाई जून मे कर देनी चाहिये (Sulaiman and Agashi, 1965) तथा जल्दी पकने वाली किस्मो का प्रयोग करना चाहिये।

(7) रोग प्रतिरोधी किस्मे प्रयोग में लायें। हैमिग्वे (1957) ने बताया कि पत्तियों की मोटाई (thickness) (पैलीसेड सेल्स का मोटापन) एवं गहरा हरा रंग प्रतिरोधन से सम्बन्धित है। क्षतस्थल की बढ़वार मोटी पत्तियो मे कम होती है। सक्रमण रन्ध्र द्वारा होता है तथा प्रतिरोधी किस्मो मे छोटे रन्ध्र अपेक्षाकृत प्रभावव्य किस्मों से होते है। मिलर (Miller, 1953) के अनुसार प्रतिरोधन रोइबोफलेविन के बीज मे होने से सम्बन्धित है। सघन पत्तियो (bushy foliage) की किस्मो मे सीधी (erect) एवं कम पत्तियो (foliage) वाली किस्मो से अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव होता है। निम्नांकित किस्मे लाभप्रद सिद्ध हुई हैं। 12–15 ए, 11–11, 12–11 बी तथा 14 आदि।

पद गलन
(Collar rot)

मूंगफली की फसल का यह भी एक विनाशकारी रोग है जिसका पूर्व निर्गम (pre emergence) एव पार्श्व निर्गम (post emergence) दोनों अवस्था पर प्रभाव दिखाई देता है। रोग से हानि पौधों की उम्र पर निर्भर करती है। यदि रोग का प्रभाव बीज के जमने के समय हो तो सम्पूर्ण फसल नष्ट हो जाती है तथा देरी से सक्रमण होने पर फली नही बनती है। और बनती भी है तो दाने सिकुड़े एवं हल्के उत्पन्न होते हैं।

इस रोग का वर्णन सर्वप्रथम 1926 में जावा में जोकेम्स (Jochems, 1926) ने किया। मोरवुड (1946, 1953) ने फिर आस्ट्रेलिया में इस रोग के संकेत दिये। आजकल इस रोग का प्रभाव जहां कहीं भी विश्व में मूंगफली की खेती की जाती है वहां पर दिखाई देता है (Feakin, 1967)। भारत में इस रोग का प्रभाव जैन एवं नेमा (1952) ने सर्वप्रथम देखा तथा नियन्त्रण की विधियों का अध्ययन किया। पंजाब में इस रोग के प्रसार का अध्ययन चौहान (1962) ने किया। 50 प्रतिशत तथा उससे अधिक नुक्सान इस अकेले रोग से सम्भव है (Aulakh and Sandhu, 1970)।

लक्षण (Symptoms) :—

इस रोग का संक्रमण पौधों में किसी भी समय हो सकता है। बीज को जमीन में बोने के समय से इस रोग का संक्रमण प्रारम्भ होता है और फली बनने तक होता रहता है। बीज जब बोया जाता है तब नम मिट्टी के वातावरण में ही इसका संक्रमण प्रारम्भ हो जाता हैं। तरुण बीजांकुर मिट्टी की सतह पर पहुंचने से पहले ही मर जाते हैं। बीजांकुर के अकुरित होने के बाद बीजोपर के बीजावरण तोड़ने के बाद ही इस रोग का संक्रमण होता है तथा मूलांकुर एवं प्रांकुर सड़ जाते हैं। हाईपोकोटायल ऊतिका जलासिक्त होकर हल्की भूरी हो जाती है तथा फफूंद के कवकजाल से ढक जाती है। रोग से प्रभावित पौधा एकदम मुरझा जाता है, परन्तु कभी-कभी एक दो शाखायें ही मुरझाती हैं। बीजपत्र पीले पड़ जाते हैं तथा बाद में तना भी पीला पड़ जाता है। परंन्तु जब हाइपोकोटायल का संक्रमण बीजपत्र (Cotyledon) के नीचे होता है तो मुरझान अस्थायी (temporary) होती है तथा बाद में पौधा ठीक हो जाता है। प्रभावित पौधों के निचले भाग में झिल्ली दिखाई देती है। झिल्ली पर असख्य सफेद से लाल पकाये हुए चमड़े के रंग के घाव पड़ जाते हैं। तने के आधार तथा जड़ों के चारों तरफ अधिकतर काले बुरादे की परत जम जाती है (चित्र 5 क. 2) जो इस रोग के बीजाणु की होती है तथा धीरे-धीरे तना सड़ जाता है और पीला पड़कर मर जाता है। रोगग्रस्त पौधों की बढ़वार में कमी आ जाती है तथा उपज भी बहुत कम होती है। इस रोग का प्रभाव प्रौढ़ पौधों में बीजांकुर अवस्था की अपेक्षा बहुत कम होता है।

प्रभावित दाने (Kernel) दुर्वास (rancid) तथा सिकुड़े हुए (shrivelled) चर्मीय (leathery) हो जाते हैं तथा प्रांकुर (plumule) अन्दर से पीले रंग का हो जाता है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life Cycle) :—

यह रोग एस्पर्जिलस नाइजर (Aspergillus niger van Tieghem) तथा एस्पर्जिलस प्लवीरुलेन्टस (A. pulverulentus (Mc Alpine) Thom) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है, परन्तु एस्पर्जिलस नाइजर फफूंद का प्रकोप अधिक होता है। जैन एवं नेमा (1952), जोकेम्स (1926) के अनुसार मुकुट गलन रोग का



(चित्र 5 क 2)

कारण एस्पर्जिलस फ्लवीरूलेन्ट्स है। चौहान (1965) ने बताया कि ए० फ्लवीरूलेन्ट्स एवं ए० नाईजर दोनों फफूंद में इस रोग का प्रकोप होता है। कवकजाल रंगहीन पटयुक्त होता है। लैंगिक जनन कोनीडिया द्वारा होता है जो कोनिडियोफोर पर लगे रहते हैं। मोरवुड (1945, 46) क्विन्सलैंड से बलेकी (1947) फिजी तथा वालेस (1948) ने तनजानियां से मुकुट गलन का वर्णन किया, जिसका रोग-कारक एस्पर्जिलस की जाति बतायी। बाद में गिब्सन (1953) ने दक्षिणी अफ्रीका से इस रोग का वर्णन कर इसका कारक ए० नाईजर बताया। रेपर एवं फेनेल (Raper and Fennell, 1965) के अनुसार ए० नाईजर फफूंद का वर्णन इस प्रकार है। कोनिडिया का सिरा सामान्यतः बड़ा काला, गोलाकार से 800–1000 माईक्रोन व्यास का होता है। कोनिडियोफोर 1·5 से 3·00 मि. मी. $\times$ 15–

20 माइक्रोन की चिकनी भित्ति, रंगहीन से भूरे, वेसीकल 45 से 75 माइक्रोन व्यास की, स्टेरीगमेटा दो कतारों में प्राथमिक (Primary) 20 – 30 × 5 – 6 माइक्रोन के तरुण अवस्था में तथा प्रापक्व अवस्था में 60 – 70 × 8 – 10 माइक्रोन के एवं द्वितीयक (Secondary) 7 – 10 × 3·0 – 3·5 माइक्रोन के होते हैं। कोनिडिया गोलाकार 4–5 माइक्रोन व्यास के होते है।

इस फफूंद की वृद्धि हेतु संवर्ध (Culture) में अनुकूलतम तापमान 37° सेन्टीग्रेड है (Gibson, 1953)। जेक्सन (1967) ने बताया कि फफूंद की अधिकतम वृद्धि 32° से. पर होती है।

रोग का वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार (Annual recurrence and spread)—

यह रोग बीजोढ़ तथा मृदुढ़ है। संक्रमित बीजो द्वारा तथा एक ही जमीन में लगातार मूंगफली की खेती करने से इस रोग का वार्षिक आवर्तन होता है। रोगजन बीज की सतह तथा टेस्टा उत्तिका के नीचे रहता है। (जैक्सन, 1963) संक्रमण की जगह भी बीजपत्र या मूलांकुर (radicle) एवं प्रांकुर (plumule) में बहुतायत रहती है (जेक्सन, 1965)। संक्रमण बीजो में गम्भीरस्थ (deep seated) की जगह बाहरी रहता है। परिपक्वता की आखिरी अवस्था में तथा कटाई के समय बीजो का संक्रमण होता है। यदि फली (पोड्स) को जल्दी काटकर एकदम सुखाले तो संक्रमित दाने की संख्या कम हो जाती हैं क्योंकि कवकसूत्र या बीजाणु नष्ट हो जाते हैं। यदि संक्रमित दाने को काट कर मूंगफली को लम्बे समय तक अन्धेरे में छोड़ दिया जाय तो यह फफूंद बहुत अधिक मात्रा मे दाने में प्रवेश कर जायेगी। अधिकतर संक्रमण अंकुरण के 10 दिन में होता है।

गिब्सन (1953) के अनुसार अंजेलिक एसिड का बनना इस फफूंद के प्रवेश के लिये बहुत सहायक होता है। जेक्सन (1962) ने बताया कि बीजपत्र के संक्रमण हेतु अधिक भूमन एवं वायव (एयर) तापमान इस रोग की पैदावार बढ़वार के लिये सुग्राही है। गिब्सन (1953) ने बताया कि 30–37° से. पर 20° सेन्टीग्रेड की अपेक्षा अधिक संक्रमण होता है। अशवर्थ एवं अन्य (Ashworth et al, 1964) ने प्रदर्शित किया कि म्लानि पौधे भी इस रोग के बढ़ावार के लिये सुग्राही हैं। गहरी बुवाई के कारण देर से बीज निकलने पर भी रोग का प्रभाव अधिक होता है।

रोकथाम (Control)—

(1) स्वस्थ बीजों को प्रयोग में लाना चाहिये। जैन एवं नीमा (1952) ने बताया टैस्मागन 1·5 प्रतिशत, थिराम 1 प्रतिशत, एगेलोल 0·5 प्रतिशत, केरोथेन 0·2 प्रतिशत, डायथेन एम–22 प्रतिशत, सेरेसेन 0·25 प्रतिशत को जब बीज को सीना (furrow) रोपाई में दिया जावे तो इस रोग का प्रभाव काफी कम होता है। बीजों को बोने

से पूर्व थिराम (टी एम टी डी) एव केप्टान, फरटिक्स, एस डी.–6334, 6335 से उपचारित करने पर बीजो के रोग जन नष्ट हो जाते है। कार्बनिक पारावर्गी रसायन को केप्टान से मिलाकर उपचार करने पर अमेरिका एव आस्ट्रेलिया मे काफी अच्छा रोग नियन्त्रण हुआ। (जेक्सन, 1964) नीमा एव अन्य (1955) के अनुसार सेरेसेन, एग्रोसन, एवं फरेनोसन ए बीजोपचार करने पर पूर्व निर्गम तथा सेरेसेन से उपचारित करने पर पार्श्व रोग का प्रकोप नही होता है। गुप्ता एव चोहान (1970) ने बताया मूंगफली के दाने की कटाई के तुरन्त बाद उपचारित कर भण्डारण करना चाहिये। इससे बीजो की जीवन क्षमता भी नष्ट नही होगी तथा फफूद का प्रकोप भी कम होगा। उनके अनुसार ब्रेसीकोल (P C N B 1 : 400) से सबसे अधिक नियन्त्रण पाया गया जबकि बीजो की बुवाई के 3 माह पूर्व उपचारित किया गया। थिराम (1:200) भी रोग नियन्त्रण मे अच्छा पाया। परन्तु इसका प्रयोग बुवाई के समय ही करना चाहिये।

(2) फसल चक्र अपनायें।

(3) रोग ग्रसित पौधो को तुरन्त निकालकर नष्ट कर देना लाभप्रद ही है।

एन्थ्रेक्नोज
(Anthracnose)

इस रोग का प्रकोप अगस्त के पहले पखवाडे मे प्रारम्भ होता है तथा बढकर सितम्बर के अन्त तक फैलता रहता है। मेहता (1951) ने इस रोग का कारण कालेटोट्राईकम की एक जाति बताया। सक्सेना एव अन्य (1967) ने 1964 मे कानपुर मे इस रोग का भीषण प्रकोप कल्याणपुर मे देखा, जहा 30 प्रतिशत पौधे इस रोग से प्रभावित थे। इस फसल पर तीन प्रकार की कालेटोट्राइकम की जातियो का वर्णन किया गया है (1) कालेटोट्राईकम मेन्जोनोटी *Colletotrichum mangenoti* (2) कालेटोट्राईकम डीमेटीयम *C. dematium* (3) कालेटोट्राईकम एरेचिडिस *C. arachidis*। भारत मे का. डीमेटीयम का प्रकोप अधिक पाया गया है।

लक्षण :—

कालेटोट्राईकम डीमेटीयम फफूद का प्रकोप नीचे की पत्तियों पर दिखाई देता है, जहा छोटे जलासिक्त पीले धब्बे बनते हैं जो बाद में गोल, वालनट भूरे क्षत स्थल, पीले किनारे लिए बन जाते हैं। धब्बे मध्य से भूरे तथा किनारे से जंतुनी भूरे 1–3 मि. मी. व्यास के होते हैं। थोड़े समय पश्चात् बीच मे से परिपक्व धब्बों से

एसरवुलाई बनती है जो गहरे रग की गोल होती है। अनुकूल वातावरण मिलने पर धब्बे शीघ्र बढ़ते हैं तथा अनियमित हो जाते हैं। (Saksena et al, 1967)। धीरे-धीरे रोग नीचे की ओर बढ़ता है तथा अनुपत्र (stipules) एवं तना, शाखायें एवं सम्पूर्ण पौधा झुलसित सा हो जाता है और काली एसरवुलाई दिखलाई पड़ती हैं। (Saksena et al, 1967)

चिवाजिअोन (Chevaugeon, 1952) ने बताया कालेटोट्राइकम मेनजीनोटी फफूंद के लक्षण भूरे घूसर, दोनो पत्तियों (Leaf lets) पर अच्छी प्रकार से दिखाई देते हैं तथा तने एवं पर्णवृन्त (petioles) पर बहुत ही कम दिखाई देते हैं। इसके धब्बे किनारे पर (marginal) दीर्घित (elongate) से गोलाकार होते हैं। सावाधा (Sawada, 1959) के अनुसार कालेटोट्राइकम एरेचिडिस फफूंद से बिखरे हुये गोलाकार से अनियमित, बीच से घूसर सफेद तथा किनारे (border) में गहरे भूरे 3 से 6 मिलीमीटर लम्बे होते हैं।

टिक्का रोग से यह रोग आसानी से पहचाना जा सकता है क्योंकि इसमें धब्बे मध्य काष्टीय भूरे स्थान(Central wood brown region)तथा बाद मे गहरे काले रग के एसरवुलाई दिखाई देती है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle) :—

यह रोग तीन प्रकार की फफूंदियो से उत्पन्न होता है :—

(1) कालेटोट्राइकम मेनजीनोटी C mangenoti Chevaugeon)

(2) का डीमेटीयम C. dematium

(3) का एरेचिडीस C arachidis

का. डीमेटीयम :—

कवकजाल पटयुक्त, भूरा, 3–6 माइक्रोन, चौड़ा होता है। पुराने संवर्ध में मोटी भित्ति के क्लेमाइडोबीजाणु बनते हैं। बहुत से गोल या अर्ध गोलाकार काले, कठकवक भी पाये जाते हैं (Saksena et al, 1967)। एसरवुलाई गोलाकार, उठी हुई तथा गहरी भूरी से काली 75–135 माइक्रोन व्यास की होती है। एसरवुलस मे कुछ लम्बे आकार की पटयुक्त रचनायें बनती हैं, जिन्हें सीटी कहते हैं जो अधोस्तर द्वारा बाहर आती हैं। सीटो 2 से 7 पट की 78–146 माइक्रोन की 16 से 90 प्रति एसरवुलस की सख्या मे होती है। इन एसरवुलस में कोनिडियोफोर एक दूसरे से सटे हुये एक स्थिर स्तर मे होते हैं जो रगहीन, साधारण एव सीधे 21–28 माइक्रोन $\times$ 2–4 माइक्रोन चौड़े होते हैं। इन कोनिडियोफोर के सिरे पर कोनिडिया लगे रहते हैं। कोनिडिया पाटल (pinkish) या श्लेष गुच्छे मे बनते हैं जो एक कोशिक, रगहीन, 19–30 $\times$ 2·5–4·5 माइक्रोन के हॅसियाकार आकृति के होते हैं। दोनों सिरे से बहुत पतले होते हैं तथा मध्य मे एक तेल की बूंद होती है

निडिया नमी की उपस्थिति मे एक या दोनो सिरे अकुरित होते है। अकुरित होने : जेलुनी भूरे, गोल या अनियमित मोटी भित्ति के 6–12 माइक्रोन की आकृति के इपाग बनाते हैं जो ससर्ग सूत्र द्वारा पत्तियो मे प्रवेश करते है। कोनिडिया का. पसीसी (Colletotrichum capsici (Syd) Butler and Bisby) से मिलते । वान आरक्स (Van Arx 1957) के अनुसार यह का डीमेटीयम है जो Pers ex Fries Van Ark) से का. केपीसीसी के समानार्थ है।

I. मेनजीनोटी :—

कवकजाल पटयुक्त भूरा 1 6–5·0 म इक्रोन चौडी एसरवुलाई चिपटी, ली, 67 से 160 माइक्रोन व्यास की होती है। सिटी परिदृढ (rigid) सीधी री 62–215 माइक्रोन लम्बी तथा आधार मे रगहीन, 3·6–7 5 माइक्रोन, निडियोफोर रगहीन, बेलनाकार, 9·0–14·5 × 3·2–5·2 माइक्रान के होते हैं। निडिया अग्रभिसारी शृंखला मे बेलनाकार से ऊनेन्द्रजीव (ellipsoidal) दोनो रे गोल रगहीन 13·0 × 3·7 माइक्रोन के होते हैं।

I. एरेचिडीस :—

एसरवुलस एपीफाइलस, गहरी काली, 18–105 माइक्रोन की होती है। निडियोफोर बेलनाकार, एक कोशिक रगहीन 13–15 × 4·5 माइक्रोन के होते । कोनिडिया दीर्घवृत्त उपाखण्ड (Oblong elliptical) सिरे से गोल, एक कोशिक 0–15 × 4·5–6 0 माइक्रोन के होते हैं।

कालेटोट्राइकम डीमेटीयम फफूंद मूंगफली के अलावा अरन्ड, मेरीगोल्ड, दा) बैंगन एवं मिर्च की फसल पर भी आक्रमण करती है।

ग नियन्त्रण (Disease control)

रोग ग्रसित पौधो के अवशेषो को तुरन्त निकाल कर नष्ट कर देना चाहिये ा बीजो का चुनाव स्वस्थ खेतों से करें।

येलो मोल्ड
(Yellow mould)

मूंगफली का येलो मोल्ड विश्व में मूंगफली उगाये जाने वाले सभी जगहों छुट-पुट (sparsely) पाया जाता है। एस्पर्जिलस फ्लेवस फफूंद फलियो (pods) । बीजो पर सक्रमण करती है। मूंगफली के अलावा अन्य फसलो जैसे गेहूं, का, चावल, कपास, आदि पर बहुतायत रूप मे तथा ज्वार, सोयाबीन एव जूट के ो पर भी यह फफूंद रोग उत्पन्न करती है। इस फफूंद से नीला आक्रमण (blue mage), काला दाना (black nut), एवं कोन्सील्ड नुकसान (concealed mage) भी होता है। येलो मोल्ड इस रोग का नाम इसलिए रखा गया है कि मित उतिका पर पीले हरे बीजाणु का गुच्छा (mass) बनता है। इससे बीज

का सड़न तथा बीजाकुर सड़न, पूर्व निर्गम (pre emergence) के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

लक्षण (Symptoms) :—

येलो मोल्ड के कारण बीज तथा बीजांकुर का पूर्व निर्गम (pre emergence) सड़न होता है, परन्तु एफेलोटोक्सीन का प्रभाव मूंगफली के पौधो पर इस महिने तक चलता रहता है जब तक कि सम्पूर्ण बीज पत्र गिर नही जाते। इस फफूंद से शुष्क सड़न एवं नम (wet) सड़न दोनों ही प्रकार के लक्षण भूयन जल के ऊपर निर्भर करते हैं। शुष्क सड़न बीजपत्र का शुष्क सड़न निर्गम (emergence) के पहले होता है तथा यह अवस्था 7–9 दिन बाद दिखाई देती है। अंकुरित बीज एव बीजाकुर शीघ्र इससे संक्रमित हो कर नष्ट हो जाते हैं। निकलने वाले बीजांकुर बीज-पत्र से संक्रमित होते हैं तथा उस पर बहुत अधिक पीली फफूंद की वृद्धि दिखाई देती है जो अंकुरण के एक सप्ताह बाद दिखाई देती है। सबसे पहले अंकुरित बीज के बीजपत्र मे फफूंद प्रवेश करती हैं तथा अनुकूल वातावरण मिलने पर रेडीकल एव हाइपोकोटायल भी शीघ्र सड़ जाता है।

यदि अकुरण देरी से हो तो बीजांकुर निकलने से पहले ही सड़ जाते हैं। परन्तु अकुरण के बाद बहुत ही कम नष्ट होते हैं। परन्तु फफूंद जीर्यमाण (senescent) बीज-पत्र में 3। दिन तक रहती है। अधिक भूयन नमी होने पर बीज का सडन बहुत ही शीघ्र होता है।

इस रोग के कारण बीज के अंकुरण मे 10–20 प्रतिशत की कमी आ जाती है। परन्तु जब नमी हालत होती है तो प्राकुर भी इससे प्रभावित होते हैं। खेत में 5 से 10 प्रतिशत बीजांकुर मे एफला रूठ (Afla root) के लक्षण उत्पन्न होते हैं। (चौहान, 1974)

देखने वाला नुकसान मू गफली के दानो मे 33·3 प्रतिशत होता है तथा कोल्मोल्ड नुकसान 26 6 प्रतिशत तक हो सकता है। परन्तु एक बार जब निर्गम (emergence) पूरा हो जाता है तो बाद मे इस फफूंद का संक्रमण नही होता।

इस रोग मे ग्रसित दाने (Kernels) सिकुडे हुये होकर दुर्वास (rancid) तथा धर्मीय हो जाते हैं तथा अन्दर फफूंद की सफेद वृद्धि तथा पीली हरी फलन (fructification) बीज-पत्र के मध्य दिखाई देती है। प्राकुर (plumule) तेज सफेद हो जाता है तथा बीज-पत्र बेरंग (discoloured) हो जाते हैं।

वे बीजांकुर जिनमे बीज-पत्र संक्रमित होते हैं, परन्तु फफूंद धीरे-धीरे बीज-पत्र के उत्तिका पर 20–30 दिन तक बुवाई के बाद उगती रहती है उनमें हिर एफला रूट के लक्षण दिखाई देते हैं। एफला रूट के कारण सम्पूर्ण पत्तियो में शिरा-स्पष्टता (Vein clearing) के लक्षण दिखाई देते हैं तथा जड़ो मे बहुत कम द्वि-

क जड़ें बनती है तथा उनकी लम्बाई बहुत कम होती है। ग्रसित बीज-पत्र मे थम कक्ष शाखा (axillary branch) विपरीत तरफ से सामान्य रहती है।

इस रोग को आसानी से बीज-पत्र पर कोनिडियोफोर एवं कोनिडिया की [illegible] पर पहचाना जा सकता है। ग्रसित बीज-पत्र मे [illegible] न्न होते है तथा किनारे लाल भूरे हो जाते है [illegible] जा सकती है। ग्रसित पौधे बौने (stunted) रह जाते हैं तथा पत्तियों के सिरे नुकीले होते हैं।

सम्पूर्ण नत्रजन, घुलनशील नत्रजन को अधिकता तथा प्रोटीन नाइट्रोजन की ग्रसित बीजांकुर मे 10, 20 30 दिन के अन्तः क्रमण के बाद कमी पायी गयी। परन्तु ग्रसित तने मे तीनो की ही वृद्धि देखी गयी। पत्तियो मे क्लोरोफील की मात्रा 10, 20 एव 30 दिन की वृद्धि में कमी पायी गयी। ग्रसित पत्तियों मे एमिनों एसिड, एमाईड का एकत्र होना पाया गया। आरजीनीन तथा एसपरजीन की मात्रा भी ग्रसित पत्तियो, तने, जड एव बीज-पत्र में अधिक पायी गयी। परन्तु यह भी देखा गया कि मिथलीन ग्लूटैमिक एसिड जो कि मूंगफली की पत्ती का एक महत्वपूर्ण एमिनो एसिड है वह 10 और 20 दिन के सक्रमण के बाद ग्रसित पत्तियो मे कम पाया गया परन्तु 30 दिन बाद मात्रा अधिक न्ही। इसी प्रकार के मीथलीन ग्लूटेमीन जो मूंगफली की जडों का एक महत्वपूर्ण एमिनो एसिड है वह ग्रसित बीजांकुर में 20 दिन बाद अधिक पाया गया। आर एन. ए., डी. एन. ए. भी ग्रसित पौधो मे कम पाया गया।

हेतुकी एवं जीवन चक्र :—

यह रोग एस्पर्जिलस फ्लेवस (Aspergillus flavus(link) Fries) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। कवकजाल पटयुक्त बारीक होता है। कवकजाल से कठकवक बनते हैं। जो सफेद कवकजाल के गुच्छे होते है तथा गहरे लाल भूरे से काले, गोल से अर्द्ध गोलाकार 400–700 माइक्रोन व्यास के होते हैं। कोनिडिया का सिर 300–400 माइक्रोन व्यास का होता है। कोनिडियोफोर 1 मि. मी. से कम लम्बे, रंगहीन होते हैं। वेसीकल दीर्घित (elongate) से अर्ध गोलाकार 10–65 माइक्रोन व्यास की होती है।

स्टेरीगमेटा एक-पंक्तिक (Uni-seriate) या द्विपंक्तिक (bi seriate) प्राथमिक 6–10 × 4–5·5 माइक्रोन के द्वितीयक 6·5–10 × 3·5 माइक्रोन के होते हैं। कोनिडिया गोलाकार से अर्धगोलाकार, कटिकायुक्त (echinulate) 3–6 माइक्रोन व्यास की कभी दीर्घवतीय (elliptical) तथा 4·5 – 5 5 × 3·5 – 4·5 माइक्रोन के होते हैं।

यह फफूंद पौधे तथा संवर्ध दोनों में चयापचित (metabolite) उत्पन्न

करती है तथा चयापचित कई प्रकार के पोषक में वृद्धि को कम कर देता है। ये विष एफलाटोक्सीन इस फफूंद से बनता है वह मनुष्य एव जानवरो के लिए घातक है। एफलाटोक्सीन बी.–1 तीनों विषजन संवर्ग (toxigenic isolate) एस–11, एल–27 की एवं सी–9 की वृद्धि 25° सेन्टीग्रेड पर अधिकतम होती है। परन्तु 14–11 एंव एल–27 की वृद्धि अधिकतम 25° एवं 45° से पर तथा सी–9 की 25° से एवं 35° से पर होती है। एफलाटोक्सीन का बनना फफूंद की वृद्धि की गति से कोई सम्बन्ध नही रखता, क्योंकि विषजन संवर्ग 45° से. पर अधिकतम वृद्धि होने पर एफलाटोक्सीन नही बना पाते। इसके साथ ही 20° से कम तथा 35° सेन्टीग्रेड से अधिक पर भी एफलाटोक्सीन नही बनता है। अविषजन संवर्ग सी–1 एवं एम–7 भी उपस्थित रहते हैं। परन्तु बी–1 एफलोटोक्सीन की वृद्धि कम होती है तथा 30–35° से. पर बनते हैं (चौहान, 1972)। प्रकाश का भी फफूंद की वृद्धि एवं बीजाणुकरण पर काफी प्रभाव पड़ता है। सीधा सफेद प्रकाश कठकवक बनने मे बाधा डालता है। कमजोर प्रकाश कोनिडिया बनने के लिये सुग्राही है। है। अन्धेरे मे कवकजाल की काफी वृद्धि होती है। बहुत ज्यादा समय तक अन्धेरे मे फफूंद रखने पर कवक की कोनिडिया बनाने की क्षमता कम हो जाती है (चौहान, 1972)। एस्परजिलस फ्लेवस फफूंद की अधिक पी जी प्रक्रिया (activity) है तथा उतिक्षय के लक्षण केवल बीज-पत्र तक ही सीमित रहते हैं।

रोगचक्र एवं प्रसार :—

एस्पजिलस फ्लेवस फफूंद से बहुत अधिक मात्रा मे कोनिडिया, कठकवक एव कवक सूत्र के टुकड़े बनते हैं जो एक जगह से दूसरी जगह आसानी से प्राकृतिक तथा मनुष्य के बनाये साधनो से एक जगह से दूसरी जगह जा सकते हैं। यह रोग बीजोढ़, वातोढ़, एवं मृदुढ है। रोग के प्रसार मे तापमान, नमी और प्रकाश का काफी प्रभाव पड़ता है।

इस फफूंद से 100 प्रतिशत बीजो का सड़न 65–100 आपेक्षित आर्द्रता पर होता है। 12° से. पर फफूंद का अकुरण नही होता है। परन्तु 14 प्रतिशत बीजो के बीज-पत्र पर संक्रमण दिखाई दिया। 19° सेन्टीग्रेड पर 64 प्रतिशत अकुरण तथा 48 प्रतिशत सक्रमण, 25° से. पर 80 प्रतिशत बीजो का अकुरण तथा 64 प्र. श. संक्रमण, 31° से. पर 72 प्र. श. बीजो का अकुरण तथा 84 प्रतिशत सक्रमण जबकि 37° से. पर 48 प्रतिशत बीजो का अंकुरण तथा 84 प्रतिशत सक्रमित बीजपत्र पाये गये। (चौहान, 1972)

रोकथाम :—

(1) मूंगफली की कटाई परिपक्वता (maturity) के अनुकूलतम समय पर करनी चाहिये। तथा उसके बाद उन्हें परिपक्वता (maturity)

का अनुकूलतम समय 120 दिन है। यदि मूंगफली की कटाई के बाद उन्हें खेत में ही छोड़ दिया जाये तो इस फफूंद का संक्रमण आसानी से हो सकता है। मूंगफली के पौधो की कटाई उखाड़ कर तथा उन्हें सूखने के लिये शेष पंक्ति विन्ड्रों (Windrows) मे खड़ा रख देना चाहिये।

(2) उचित परिपक्वता (proper maturity) की अवस्था मे मूंगफली की फसल पर 5–10 प्रतिशत प्रोपीओनिक एसिड से छिड़क देना चाहिये तथा उसके बाद उसे 12 दिन तक सुखाना चाहिये।

(3) बुवाई से पूर्व बीजो को उपचारित करना चाहिये। डाइफल्टान, टेक्टो 60 एवं डायथेन एम–45 से उपचारित करना लाभप्रद पाया गया। डाईफल्टोन से बीजों को उपचारित करना अच्छा पाया गया। जब पौधों पर आरियोफन्जीन एवं यूरिया का छिड़काव किया गया तो जिओकारपोस्फीय (geocarposphere) जमीन मे फफूंद की संख्या ज्यादा पायी गयी तथा जिंक सल्फेट के छिड़काव से फफूंद की वृद्धि कम हो गयी। जो मूंगफली परिपक्वत नही होती फाइटोएलेक्जीन भी बनता है।

(4) खेत की स्वच्छता रखनी चाहिये।

(5) रोग प्रतिरोधी किस्मों का प्रयोग करना चाहिये। यू. एस–27 इस रोग से प्रतिरोधी है जबकि यू–4,–7–2 एवं यू–2–1–14 इससे साधारण (moderately) प्रतिरोधी है।

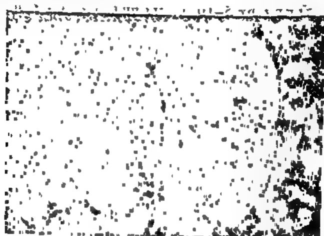
किट्ट
(RUST)

इस फसल का किट्ट भी एक महत्वपूर्ण रोग है। पश्चिमी इण्डीज मे मूंगफली की खेती इसी रोग के कारण बन्द करनी पड़ी। मूंगफली के अलावा यह फफूंद एरेचिस मारजिनेटा (A. marginata Gardn.) एरेचिस नेम्बीक्वारी (A. nambyquerae) एवं एरेचिस प्रोस्ट्रेटा (A. prostrata) पर भी आक्रमण करती है।

लक्षण (Symptoms) :—

इस रोग का संक्रमण अन्त.क्रमण के 8–10 दिन बाद दिखाई देता है। पत्तियो की अपाक्ष स्तर पर Abaxial surface, सफेद धब्बे बनते हैं। पीले हरे स्फोट अभ्यक्ष (Adaxial) की तरफ 24 घण्टे बाद बनते हैं जो पीले हरे होते हैं। प्रारम्भ मे ये स्फोट बहुत छोटे होते है। परन्तु बाद में धीरे-धीरे बढ़े तथा एक दूसरे से मिले

हुए प्रतीत होते हैं (चित्र 5 क 3)। धीरे-धीरे यूरेडियल स्फोट आसानी से अपाक्ष स्तर पर सफेद से दिखाई देने लगते हैं। शुरू में स्फोट एक महीन झिल्ली के अन्दर रहते हैं तथा इनका परिमाण बढ़ता जाता है और 48 घण्टे में झिल्ली फट जाती है तथा यूरिडो बीजाणु बाहर निकल आते है। पत्ती की निचली सतह पर सोराई अधिक बनती है। सोराई का व्यास 0·3 से 0·6 मि. मी. तथा गोलाकार होती है। टेल्यूटो-सोराई काले रंग की होती है।



चित्र 5 क. 3 मूंगफली का किट्ट रोग

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and Life Cycle)—स्पेगाज़ीनी (Spegazzini 1884) ने इस रोग का रोगाकारक जीव 1884 में पक्सीनिया एरेचिडिस बनाया। इसके बाद इस फफूंद के और भी नाम दिये गये। परन्तु आर्थर (Arthur 1934) ने यही नाम स्वीकार किया। केवल यूरिडियल एवं टेलीयल अवस्था का ही अभी तक मालूम है।

फफूंद का कवकजाल पटयुक्त, शाखायुक्त होता है। यूरेडिया हाइपोफाइलस, बिखरे या अनियमित जोड़ों में, गहरे मिनेसन भूरे, माड़ियो की तरफ संगामी (Confluent) अकेले (Indiviual) स्फोट 0·2 से 0·8 मि. मी. व्यास के होते हैं। यूरिडोबीजाणु दीर्घवृत्तीय (ellipsoid) या अण्डाकार (obovoid) 16–22 × 23–29 माइक्रोन के, भित्ति भूरी, 1·2–2·2 माइक्रोन की बाहरी दिवार मोटी तथा कण्टिका युक्त होती है। जनित छिद्र 2 मध्य तल में रहते है। पोषिता की सतह पर नमी की उपस्थिति में यूरिडोबीजाणु अंकुरित होने पर जनित छिद्र से अंकुरण द्वारा अंकुरित होते हैं।

टेलिया हाइपोफाईलम, 0 2 से 0·3 मि मी. व्यास के बिखरे शीघ्र नग्न, ... भूरे होते है। टेल्यूटोबीजाणु दीर्घवृत्त (oblong) या अण्डाकार (Ovate),

जंतुनी भूरे 14–16 × 38–42 माइक्रोन के गोल या अधिकोण (obtuse) होते हैं।

रोग का प्रसार (Annual recurrence) :—

यूरिडोबीजाणु हवा द्वारा उड़कर इस रोग का प्रसार करते हैं। मेकवे Mc Vey (1965) ने बताया 22–25° से रात्रि का तापमान एवं 30–43° सें. दिन का तापमान इस रोग के प्रसार हेतु सुग्राही है।

रोकथाम :—

रोग ग्रसित पौधो के अवशेषों को एकत्र कर नष्ट कर देना चाहिये तथा रोग प्रतिरोधी किस्मों का प्रयोग करना चाहिये। रामेकरस एवं प्रिस्टोन (Raemaekers and Preston, 1977) ने जाम्बिया मे बताया कि क्लोरोथेलोनिल+बेनोमिल तथा मेन्कोजेब+बेनोमिल+फेन्टिन (Triphenyl radical) ने रोली तथा पत्ती धब्बा रोगों की रोकथाम कर 102% अधिक उपज दी।

बीज सड़न फफूंदियाँ

मूंगफली के बीज पर भी कई प्रकार की फफूंदियों का आक्रमण होता है जिनमें एस्परजिलस नाइजर, एस्परजिलस फ्लेवस, मेक्रोफोमिना फेजियोलाई, राइजोपस ऑरीजस एवं फ्यूजेरियम आक्सीसपोरम प्रमुख है (गुप्ता 1966)। जिन बीजो में संगुप्त (Concealed) नुकसान होता है, उनमे अंकुरण नहीं हो पाता। इन फफूंदियों के कारण भण्डारण में मूंगफली में सम्पूर्ण ग्लूकोज का अपचयन (Degradation), सम्पूर्ण तेल में कमी, वसीय अमल मे अधिकता तथा तेल के रंग मे परिवर्तन हो जाता है (Ward and Diener, 1961)। एक से अधिक बीजोढ़ फफूंद बीज पर होने पर एक फफूंद दूसरे से निरोधक (Inhibitory) भी हो सकती हैं। उदाहरणार्थ ए० फ्लेवस मेक्रोफोमिना फेजियोलाई के लिये निरोधक है। गुप्ता एवं चौहान (1970) जैक्सन (1965) ने भी इसी प्रकार का इन फफूंदियो मे निरोधन बताया।

इन फफूंदियो से मूंगफली के दाने (Kernels) मे देखने लायक नुकसान ए. नाईजर से 86·7 प्रतिशत, ए० फ्लेवस से 33 3 प्रतिशत, मेक्रोफोमिना फेजियोलाई से 22·7 प्रतिशत एवं रा० आरीजस (R. arrhizus) से 22·7 प्रतिशत तथा संगुप्त (Concealed damage) नुकसान क्रमशः 22·8 प्रतिशत, 26·6 प्रतिशत, 28·9 प्रतिशत एवं 21·7 प्रतिशत पाया गया।

(1) एस्परजिलस नाइजर के कारण दाने मे सिकुडापन (shrivelling) तथा दुर्गंध (rancid), चर्मीय (leathery) हो जाते हैं। प्राकुंर अन्दर से पीले रंग का हो जाता है।

(2) एस्परजिलस फ्लेवस से दाने बेरंग (discoloured), बीजपत्र के मध्य में सफेद फफूंद की वृद्धि जिनमे पीली हरी फलक (Fructification)

मौजूद रहती है। प्रांकुर पीला सफेद रंग से परिवर्तित हो जाता है तथा बीजपत्र सूख (shrunk) जाते हैं।

(3) मेक्रोफोमिना फेजियोलाई के कारण दाने सिकुड़ कर गोदेदार (Pulpy) हो जाते हैं। भ्रूण (embroyo) अन्दर से भूरा हो जाता है।

(4) राइजोपस आरीजस के कारण भण्डारण में 40 दिन तक नुकसान होता है। परन्तु फफूंद से संयुक्त नुकसान 22 दिन तक भण्डारण में नहीं होता है।

राईजोपस आरीजस के कारण सबसे अधिक बीज सड़न होता है। बीज सड़न तापमान तथा आपेक्षिक आर्द्रता पर भी काफी निर्भर करता है। अधिक आर्द्रता एवं अधिक तापमान बीज सड़न के लिये सुग्राही है। बीजपत्र की चोट (injury) से बीजांकुर सक्रमण ए० नाइजर, ए० फ्लेवस एवं मे० फेजियोलाई से होता है। ये फफूंदिया 65 प्रतिशत या अधिक आपेक्षिक आर्द्रता एवं 12-36° सें. पर सक्रिय होती हैं, तथा 31—37° सें तापमान पर ए० नाईजर एवं रा० आरीजस सबसे अधिक सक्रिय रहती हैं।

रोकथाम :—

इन बीजोढ़ फफूंद की रोकथाम हेतु बुवाई से पूर्व बीजों का पारावर्गी रसायन, डाइथियोकार्बेमेट या अन्य किसी बीज उपचारक रसायन से उपचारित करें।

राइजक्टोनिया से उत्पन्न रोग

(Disease caused by Rhizoctonia)

लक्षण (Symptoms) :—

(1) इस रोग से ग्रसित पौधों में बीजांकुर निकलने में देरी हो जाती है तथा बहुत से बीज अंकुरित नहीं होते। अंकुरित पौधों में अधोबीजपत्र (Hypocotyl) पर गहरे भूरे 2–3 सें. मी. लम्बे क्षत बन जाते हैं। धीरे-धीरे सम्पूर्ण अधोबीज-पत्र भूरा हो जाता है।

(2) जब कभी ग्रसित बीजांकुर बाहर निकलने आते हैं तो अग्र (Apical) कलिका (Buds) नष्ट हो जाती है तथा बीजांकुर कुछ समय के लिए बौने रह जाते हैं।

(3) यह भी देखा गया है कि मुख्य जड़ तन्त्र (Root system) आगन्तुक जड़ें (Adventitious roots) जो अधोबीजपत्र से निकलती हैं उसमें सड़न जाती है। (खान एवं किमान, 1974)।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle) :—

यह रोग राइजक्टोनिया सोलेनाई (Rhizotonia solani kUhn) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। इस फफूंद में भूरे से काले चपटे अनियमित कड़कदार ...क ऊतिका पर या उसके अन्दर बनते हैं।

मुख्यतः यह रोग मृदुढ़ है। परन्तु बीजों के द्वारा भी यह रोग फैलता है। रोग का प्रभाव 19 एवं 36° सें. पर अनुकूलतम होता है।

नियन्त्रण :—

(1) बुवाई से पूर्व बीजो को कार्बनिक पारावर्गी रसायनों से उपचारित करना चाहिये। जैकसन (1963) ने प्रदर्शित किया कि इथायल मरकरी क्लोराइड, मिथायल मरकरी डाईसायनेडिमाइड तथा अन्य कार्बनिक पारावर्गी रसायन से उपचारित करने पर इस फफूंद के अलावा अन्य बीजोढ़ फफूंद को भी नष्ट किया जा सकता है।

(2) भूमि को उपचारित करना आर्थिक दृष्टि से लाभकारी नही है परन्तु रोग का भीषण प्रकोप होने पर वाष्पीय (Volatile) धूमन मुख्यतः मिथायल आइसोथायोसाइनेट जिसमें सी–3 क्लोरीनेटेड हाइड्रोकारबन हो या सोडियम एन. मिथायल डाइथियोकोर्बेमट हो (जैक्सन एवं अन्य 1964) उचित है।

(3) रोग प्रतिरोधी किस्में काम में लें। नटल–1 (Natal–1) एवं डाका (Dacca)।

तना–सड़न
(Stem Rot)

यह रोग स्कलेरोशियम अंगमारी, स्कलेरोशियम सड़न, स्कलेरोशियम मुरझान जड़ गलन, पद गलन के नामो से भी जाना जाता है। तना इस रोग से अधिक प्रभावित होता है। इसी कारण इसका नाम तना सड़न रक्खा गया है। सबसे पहले अनुकूल वातावरण होने पर तुरन्त शाखायें मुरझा जाती है। पत्तियां प्रारम्भ में हल्की गहरी तथा बाद मे भूरी हो जाती हैं। ग्रसित तने के पास सफेद सी फफूंद की वृद्धि जमा हो जाती है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle) :—

यह रोग स्कलेरोशियम रोलफसाई (Sclerotium rolfsii) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। कठकवक प्रारम्भ में सफेद तथा बाद मे हल्के भूरे से गहरे भूरे हो जाते हैं। 0·5 से 1·5 मि. मी. व्यास के होते हैं। कवकसूत्र रंगहीन, बारीक भित्ति के, पटयुक्त 1·5–2·5 माइक्रोन व्यास का होता है।

हिगिन्स (1927) के अनुसार संवर्ध में इस फफूंद की 8° सें कम से तथा 40° से ऊपर वृद्धि नहीं की जा सकती तथा अनुकूलतम तापमान 30–35° से है। हिगिन्स (Higgins, 1927) ने बताया कि ऑक्जेलिक अम्ल जो कवकसूत्र से स्रवित (Secrete) होता है, उसके कारण पोषक की ऊतोत्तर भित्ति फफूंद के प्रवेश से पूर्व ही नष्ट हो जाती है। यह मृदुढ़ रोग है।

नियन्त्रण :—इस रोग के नियन्त्रण हेतु निम्न उपचार करें :—

(1) गहरी जुताई करें।

(2) थोड़ा सा उठा हुआ खेत हो।

(3) टिक्का रोग का नियन्त्रण अच्छी प्रकार से किया हो जिससे उसके ग्रसित पत्तिया भूमि पर नहीं गिरें।

(4) कपूर (1956) के अनुसार ब्रेसीकोल बुवाई से पूर्व यदि मिट्टी में मिलाया जावे तो इसका प्रकोप नहीं होता। जेक्सन आदि (1964) ने भी बताया कि बुवाई से पूर्व मिट्टी से भूयन घूमन का प्रयोग करने पर इस रोग का प्रभाव नहीं होता है।

अंगमारी
(Blight)

इस रोग का प्रकोप अगस्त के पहले पखवाड़े मे प्रारम्भ होता है तथा बढ़कर सितम्बर के अन्त तक फैलता रहता है। मेहता (1951) ने इस रोग का कारण कालेटोट्राइकम की एक जाति बताया। सक्सेना एवं अन्य ने (1967) 1964 मे इस रोग का भीषण प्रकोप कल्याणपुर मे देखा, जहा 30 प्रतिशत पौधे इस रोग से प्रभावित थे। इसी प्रकार की कालेटोट्राइकम से उत्पन्न बीमारी Tangyanika से भी वर्णित की गयी है।

लक्षण (Symptoms) :—

इस रोग के लक्षण नीचे की पत्तियो को प्रभावित करते हैं, जहां छोटे जलासिक्त पीले धब्बे बनते हैं जो बाद मे गोल, पिन पोइन्ट, बादामी भूरे क्षत स्थल बन जाते हैं और पीले किनारे लिये हुये होते हैं। धब्बे बीच से भूरे 1·3 मि. मी व्यास के किनारे जंगली भूरे होते हैं। तदुपरान्त परिपक्व धब्बों के बीच से गोल गहरी गोलाकार एसरवुलाई बनती है। अनुकूल वातावरण मिलने पर धब्बे जल्दी से बढ़ते हैं तथा अनियमित हो जाते हैं। धीरे-धीरे रोग नीचे की ओर बढ़ता है तथा अनुपर्ण (Stipules), एवं शाखायें तथा सम्पूर्ण पौधा मुरझा जाता है। बाद मे इनके काले पोइन्ट की एसरवुलाई दिखाई देती है। यह रोग टिक्का से आसानी से पहचाना जा सकता है। क्योंकि इसमें धब्बे अभिलाक्षणिक (Characterstic) तथा बीच से भूरे एवं बाद मे गहरे रंग की बिन्दु जैसी एसरवुलाई बनती है।

हेतुकी (Etiology) :—यह रोग कालेटोट्राइकम की जाति से उत्पन्न होता है। कवकसूत्र भूरा, पटयुक्त, 3–5 माइक्रोन चौड़ाई का होता है। वृद्ध (Old) संवर्ध मे मोटी भित्ति के क्लेमाइडोबीजाणु भी बनते हैं। बहुत से गोलाकार से अर्ध गोल, काले बटवक भी बनते हैं।

एसरवुलाई गोलाकार, उठी हुई, गहरी भूरी से काली, 75–135 माइक्रोन

व्यास की होती है। काले, 2–7 पटयुक्त, सीटी, 78–146 माइक्रोन की 16 से 90 प्रति एसरवुलाई बनते हैं। कोनिडियोफोर एक निश्चित सतह (Definite layer) एसरवुलाई में बनते है जो रंगहीन, साधारण एवं सीधी 21 – 28 × 2 – 4 माइक्रोन आकृति की होती है। कोनिडियम एक कोशिक, रंगहीन, तथा दोनो सिरे से नुकीले होते हैं तथा बीच मे एक तेल का गोलिका (Globule) बनता है। कोनिडिया 19–30 × 25–4·5 माइक्रोन के होते हैं तथा एक या दोनो सिरे से जनित नलिका द्वारा अंकुरित होते हैं। अंकुरण के समय बीच मे एक पट बन जाता है जो दो कोशो मे विभाजित कर देता है। जैतूनी भूरे गोल अनियमित मोटी भित्ति के 6–12 माइक्रोन के आसगांग बनते हैं।

कोनिडिया के गुण कालेटोट्राइकम केपसीकी (Colletotrichum capsici (Syd.) Butler and Bisby) से मिलते है।

अरण्ड, मेरीगोल्ड, बैगन तथा मिर्च इसके पादप पोषक है।

वोन आरक्स (Von Arx, 1957) के अनुसार यह कालेटोट्राइकम डीमेटीयम (C dematium) है जो कि (Pers. ex. Fries) का० केपसीकी के समानार्थक है।



(ख) तिल के रोग

(Diseases of Sesamum)

तिल भारत, बर्मा, इजिप्ट की एक महत्वपूर्ण तिलहन फसल है। भारत में गुजरात के अन्दर इसकी खेती मुख्यतः की जाती है। इस फसल पर भी कई प्रकार के रोग लगते हैं जिनमे निम्न महत्वपूर्ण हैं :—

(अ) बीज एवं बीजांकुर बीमारियां :—

(क) फाइटोफ्थोरा अंगमारी

(ख) थेलविया अंगमारी

(ग) मेक्रोफोमिना गलन

(घ) फ्यूजेरियम म्लानि

(ब) पर्णीक बीमारियां :—

(क) सर्कोस्पोरा पत्ती धब्बा

(ख) आल्टर्नेरिया पत्ती धब्बा

(ग) मेक्रोफोमिना जड़ एवं तना गलन

(घ) बोटरायोस्फीरिया अंगमारी

(ङ) एन्थ्रेक्नोज

(च) तना कैंकर

बीज एवं बीजांकुर बीमारियो की रोगथाम हेतु थिराम 0.3 प्रतिशत से बीजोपचार करें। इसके साथ ही बेवीस्टीन 0.2 प्रतिशत जो कि दैहिक फफूंदनाशी है उससे बीजोपचार करना भी काफी लाभप्रद पाया गया है।

फाइटोफ्थोरा अंगमारी (Phytophtora blight) :—

तिल की फसल का यह एक विनाशकारी रोग है जिससे बहुधा बहुत नुकसान होता है। भारत में इस रोग का प्रकोप गुजरात एवं महाराष्ट्र में काफी होता है। (बटलर, 1918; मितरा 1929; पटेल एवं अन्य 1949; काले एव प्रसाद 1957)। इस रोग का वर्णन सर्वप्रथम बटलर (1918) ने किया। पटेल एवं अन्य (1949) ने अमरूद पर लगने वाली फफूंद फाइटोफ्थोरा पेरासिटिका का तिल पर भी प्रकोप देखा।

लक्षण (Symptoms) :—

इस रोग का प्रकोप पौधे की किसी भी अवस्था मे हो सकता है। 10 दिन पुराने पौधों से लेकर हर उम्र के पौधों पर इस रोग के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं :—

(1) पत्तियों पर जलासिक्त धब्बे बन जाते है। जैसे-जैसे रोग बढ़ता है ये धब्बे सम्पूर्ण पत्ती को घेर लेते है। सर्वप्रथम हल्के-हल्के पनीले धब्बे दिखाई देते हैं। ये धब्बे धीरे-धीरे दोनों तरफ बढ़ते हैं। पहले ये धब्बे भूरे रंग के होते हैं। फिर बाद मे काले पड़ जाते। इसी प्रकार के जलसिक्त धब्बे प्ररोह (Shoots) पर भी दिखाई देते हैं। तने के आधार वेरंग (discolouration) हो जाता है। तने (गिमावत एव प्रसाद, 1965) का जमीन की सतह के पास काला होना भी इसके मुख्य लक्षण है।

(2) प्रसित शाखाओं पर फलियां अच्छी नही बनती तथा नमी के दिनों मे फलियों पर ऊन जैसी फफूंद दिखाई देती है। बीज भी सिकुड़ जाते है तथा भूरे दिखाई देते हैं। (चित्र 5 ख 1)।

रोग का कारक जीव :—

यह रोग फाइटोपथोरा पेरासिटीका किस्म सिसेमाई (Phytophthora parasitica ver. sesami) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। काले एवं प्रसाद (1957) के अनुसार इस फफूंद का प्रकोप तिल के अलावा अन्य किसी फसल पर नहीं होता है। कवकजाल रगहीन, प्रारम्भ मे अखण्ड कोशिक तथा बाद में पट दिखाई देते हैं। बीजाणुधानी मवर्ध मे नही बनती है। परन्तु पोषक पौधों पर काफी मात्रा मे बनती है। बीजाणुधानीधर सफिताक्षी (Sympodially) शाखित तथा गोलाकार बीजाणुधानी बनती है। बीजाणुधानी 25—50×20 – 35 माइक्रोन की होती है। प्रत्येक बीजाणुधानी के सिरे पर एक उभार होता है जिसके फटने पर चल बीजाणु बाहर आते हैं। ये चल बीजाणु कुछ समय तक पत्ती पर पड़ी ओस अथवा पानी में थोड़े समय तक तैर कर स्थिर हो जाते हैं, शीघ्र ही कशाभ समाप्त हो जाते हैं और चल बीजाणु गोलाकार होकर परिपुटन के बाद पर्ण रन्ध्र द्वारा प्रवेश कर संक्रमण करते है। इस फफूंद के निषिक्ताड प्रकृति मे नहीं बनते है तथा सवंर्ध मे दो महीने बाद से बनने लग जाते है। ये रगहीन, गोलाकार, मोटी भित्ति वाले होते हैं।

वार्षिक आवर्तन :—

इस फफूंद का कवकजाल 46° से. तक जीवित रह सकता है। अप्रैल, मई और जून के महीनो मे भी वात तापमान (Air temperature) इससे अधिक नहीं होता है। सम्भवतः इसके निषिक्ताड इससे भी अधिक तापमान सहन कर



([illegible] तिल का फाइटोफ्थोरा अंगमारी रोग)

सकते है। अतः यह सम्भव है कि यह फफूंद एक मौसम से दूसरे मौसम तक भूमि में पड़े रोगी पौधों के मलवे में चिरस्थायी रह सकती है। ठन्ड के समय भी यह फफूंद नष्ट नहीं होती क्योंकि 5° से पर एक साल रखने के बाद भी जीवित पायी गयी। संवर्ध में इस फफूंद की वृद्धि हेतु अनुकूलतम तापमान 28° से. है तथा रोग की बढ़वार भी 28–30° से पर अधिकतम होती है। जैसे-जैसे तापमान बढ़ता है, रोग की वृद्धि कम होती जाती है। यह रोग बीजोढ़ नहीं है। पर बीजों की जीवन क्षमता इस रोग से काफी कम हो जाती है।

रोकथाम :—

( ) यह रोग मृदूढ़ है। अतः खेत में उपस्थित रोगी पौधों के मलवे को एकत्र

करके जला देना चाहिये। जिस खेत मे इस रोग का प्रकोप हो वहा दुबारा इस फसल को नही लें तथा फसलचक्र का उपयोग करें।

(2) पौधों पर लक्षण दिखाई देते ही बोर्डो मिश्रण (3 : 3 : 50) के तीन छिड़काव पर्याप्त है। (गिमावत एव प्रसाद, 1964) पेरेनोक्स, फाइटोलान आदि दवाओं का प्रयोग भी बोर्डो मिश्रण की जगह किया जा सकता है। रेड्डी (1976) के अनुसार 2–3 छिड़काव केप्टान 0·3% या फेन्टीन एसीटेट 0·05% या थारियोफन्जोन 3 ग्राम/250 लीटर या जिनेब (0·2%) का छिड़काव इस रोग के नियन्त्रण हेतु प्रभावशाली है।

(3) रोग प्रतिरोधी किस्मे प्रयोग मे लायें। गिमावत एव प्रसाद (1965) के अनुसार एक प्रभेद 75ए/1–1/2–1 इस रोग से प्रतिरोधी है तथा दो प्रभेद 58/1–1/2–2/1 एवं 23ए/1–1/2/1 इससे कुछ (टोलरेन्ट) सहनशील है।

पत्ती धब्बा
(Leaf spot)

तिल की फसल पर सर्कोस्पोरा पत्ती धब्बा रोग का प्रकोप भी काफी होता है। आसम, देहली, बम्बई, मैसूर, उत्तर प्रदेश में इस रोग का प्रकोप देखा गया है। चौधरी (1945) के अनुसार आसम मे इस रोग से औसतन 5 प्रतिशत नुक्सान होता है। मोहन्ती (1958) के अनुसार सर्कोस्पोरा फफूंद से 20% तक उपज कम हो जाती है। भारत के अलावा इस रोग का प्रकोप उगान्डा, सिलोन, वेनेजुएला, अमेरिका एवं ब्राजील में भी देखा गया है।

लक्षण (Symptoms) :—

इस रोग का प्रभाव पौधो के सभी बाह्य भागों पर दिखाई देता है। पुष्पण होने से कुछ समय पहले इस रोग का प्रभाव काफी होता है। पत्तियो पर गोल धब्बे व चकते पड़ने लगते है। धब्बे पत्तियो की ऊपरी सतह पर ही बनते हैं और कभी-कभी इतने ज्यादा हो जाते हैं कि पत्तियां काली पड़ जाती हैं। यह रोग ज्यादातर निचली पत्तियो पर ही पाया जाता है। प्रारम्भ मे ये धब्बे गोलाकार होते हैं। परन्तु धीरे-धीरे आपस मे मिल कर अनियमित हो जाते है। तना, वृन्त (Petioles) एवं फलियां भी इस रोग से प्रभावित होती हैं।

हेतुकी एवं जीवनचक्र (Etiology and Life cycle) :—

यह रोग सर्कोस्पोरा सिसेमी (Cercospora sesami zimm) सर्कोस्पोरा सिसेमीकोला Cercospora sesamicola नामक फफूंद मे उत्पन्न होता है। कवक-जाल पोषक ऊत्तियों के अन्दर अनियमित पटयुक्त हल्का भूरा, मोटी भित्ति का होता है। अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है जो कोनिडियोफोर पर लगे होते हैं।

कोनिडियोफोर 5 – 10 के गुच्छे मे रन्ध्रों से बाहर आते हैं। प्रारम्भ में कोनिडियोफोर हल्के भूरे होते है। परन्तु परिपक्वता पर गहरे भूरे हो जाते हैं। 0 से 3 पट, मर्यादित 38·5 – 67 M से 4 M के होते हैं। कोनिडिया दीर्घ (elongate) 7 से 10 पटयुक्त, आधार से चौड़ा तथा सिरे पर सिकुड़े, रंगहीन, हल्के पीले, 8·8 – 136 X 3 4 माइक्रोन के होते है।

वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार—

तिल की फसल का यह मृदुढ एवं बीजोढ़ रोग है। बीजोढ़ अन्तः एवं बाह्य दोनो है। फफूंद एक मौसम से दूसरे मौसम में रोग ग्रसित पौधो के मलबे में उपस्थित रहती है। नई फसल पर संक्रमण भूमि में पड़े हुये कोनिडिया द्वारा होता है।

नियन्त्रण :—नसबाम (Nasbaum, 1941) के अनुसार बीजो को 128° फा. पर एक घन्टे रखने से बीजोढ़ रोग नष्ट हो जाता है। खेतों में बोर्डिनेट (bordinette) के नियमित छिड़काव करने से बीमारी को कम किया जा सकता है। (Muller and Texera, 1941) । पंजाब में इस रोग के नियन्त्रण हेतु जाइनेब 6·2% या बोर्डो मिश्रण 2 : 2 : 250 का 10–15 दिन के अन्तर पर छिड़काव करना लाभप्रद रहता है। उडिसा में मोहन्ती (Mohanty, 1958) ने सर्कोस्पोरा सिसेमीकोला का वर्णन किया इससे नियमित (Uniform) भूरे कोशीय धब्बे बनते हैं।

एन्थ्रेक्नोज
(Anthracnose)

इस रोग का प्रकोप अगस्त में प्रारम्भ होता है तथा बढ़कर सितम्बर के अन्त तक फैलता रहता है। सबसे पहले इस रोग का वर्णन उत्तर प्रदेश से सिंह (1953) ने किया। इस रोग के कारण पौधा एक तरफ से प्रभावित होता है जिसमें गन्दा या हल्का हरा रंग हो जाता है। जो पत्तियां उस तरफ नई आती हैं वह भी पीली पड़ जाती हैं। थोड़े समय पश्चात् परिपक्व धब्बो से एसरवुलाई बनती हैं। अनुकूल वातावरण मिलने पर धब्बे शीघ्र बढ़ते हैं तथा अनियमित हो जाते हैं। इस रोग का प्रकोप जल्दी बोई गयी किस्म पर अधिक नहीं होता है, परन्तु जुलाई के तीसरे सप्ताह या उसके बाद बोयी जाने वाली किस्मों पर इस रोग का प्रकोप अधिक होता है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र :—

यह रोग कालेटोट्राइकम नामक फफूंद से उत्पन्न होता हैं। फफूंद पौधों में क्षतिग्रस्त हिस्सों (Injury portion) या स्वस्थ सतह से प्रवेश करती है। कवकसूत्र अन्त:कोशिक या अन्तरा कोशिय होता है। कुछ समय बाद एसरवुलाई बनती है जो

90 से 160 मि. मी व्यास की होती है। एसरवुलस मे कोनिडियोफोर एक दूसरे से सटे हुए एक स्थिर स्तर में होते है जो छोटे, रंगहीन, साधारण होते है। इन कोनिडियोफोर के सिरे पर कोनिडिया लगे रहते है। कोनिडिया रंगहीन, क्रीसेन्ट प्राकृति के, एक या दो तेल की बून्दो सहित 17 – 21 × 2·9 – 3·7 माइक्रोन के होते हैं। कोनिडिया नमी की उपस्थिति मे एक या दोनो सिरे से अंकुरित होते हैं। अंकुरित होने पर ग्रासनांग बनाते हैं जो असंगं सूत्र द्वारा पत्तियो मे प्रवेश करते हैं।

रोकथाम (Control)

(1) उचित समय पर बुवाई करें। जुलाई का प्रथम सप्ताह बुवाई हेतु श्रेष्ठ है तथा रोग का प्रकोप बिल्कुल कम होता है। देरी से बुवाई करने पर रोग का प्रकोप अधिक होता है।

(2) रोग प्रतिरोधी किस्मे प्रयोग मे लायें। टी–10, टी–20 इस रोग से काफी प्रभावित होती हैं, जबकि कल्याणपुर लोकल एव टी–60 इससे अनुपात मे प्रतिरोधी हैं।

म्लानि
(Wilt)

इस रोग का प्रकोप इजिप्ट (Shelr, 1923), भारत (Butler, 1926), रसिया (Zaprometoff, 1925), जापान, इटली तथा अमेरिका आदि देशों में देखा गया है। इस रोग से पौधा बढ़ावार के किसी भी समय ग्रसित हो सकता है। प्रारम्भिक अवस्था में पौधों की पत्तिया हल्की पीली या कत्थई रंग की दिखाई पड़ती हैं जो कि बाद में मुरझाकर नीचे गिरने लगती हैं। धीरे-धीरे पौधा सूखने लगता है। यह क्रिया अकस्मात् अथवा धीरे-धीरे होती है। तने का ऊपरी भाग सूखकर मोड़ जाता है। रोगी पौधे को भूमि से उखाड कर परीक्षण किया जाय तो पौधो की जड़ों मे भूरे या काले रंग की धारिया दिखाई देती हैं।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle):—

यह रोग फ्यूजेरियम वासइन्फेक्टम वे सिसेमी (F. vesinfectum Atk. es. sesami Zaprometoff) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। पोषक मे फफूंद केवल वाहिनी ऊत्तको तक ही सीमित रहती है।

यह एक बीजोढ एवं मृदुढ़ फफूंद है जो जीवित पोषक की अनुपस्थिति में भूमि के अन्दर मृतोपजीवी के रूप मे रहती है (चौहान, 1978)। इसका आक्रमण सूत्रकृमि से भी सम्बन्धित है (Armstrong of Armstony, 1953)।

नियन्त्रण :–

(1) चूंकि यह मृदुढ़ फफूंद है। अतः तिल के अलावा दूसरी फसल बोयी जाय तो उस पर संक्रमण नहीं होता है। जहां पर यह रोग उग्र रूप से होता है वहां 5 वर्ष तक दूसरी फसल लें।

(2) बीजोपचार बेविस्टीन 0·2 प्रतिशत करना भी लाभप्रद पाया गया है।
(3) रोग प्रतिरोधी किस्मों का प्रयोग करें। (Armstrong, 1953) के अनुसार सिरोगोना (Serogona) किस्म इससे प्रतिरोधी है।

जड़ एवं तना गलन
(Root and Stem/rot)

भारत मे इस रोग का प्रकोप सर्वप्रथम पीलर (Pearl) ने 1923 में देखा। बर्मा, सिलोन, यूगाडा, पेलस्टाइन, ग्रीस, टर्की, नाइजेरिया, आदि देशों में भी इस रोग का प्रकोप काफी भीषण देखा गया है। सुन्दररमन (Sundera ramen, 1932) के अनुसार 36·6 प्रतिशत संक्रमण होने पर स्वस्थ फसल की तुलना में 43 प्रतिशत उपज हुई। इस रोग का प्रकोप मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार एव मद्रास में मुख्य रूप से होता है।

लक्षण :—

इस रोग के कारण जड़ गलन, बढ़ावार का रुकना तथा बीजांकुर अंगमारी के लक्षण उत्पन्न होते हैं। तने का आधार गहरा भूरा का काला विवर्णित हो जाता है। रोग तने से ऊपर की ओर बढ़ता है तथा ऊपर काले-काले बिन्दु दिखाई देते हैं जो इस फफूंद के पिक्नीडिया है। ग्रसित जड़ एवं तने मे कठकवक भी बनते हैं। पत्तिया पीली पड़ जाती हैं एवं बाद मे सूखकर मुड़ जाती हैं। नमी वाले मौसम में इस रोग का प्रकोप भीषण होता है। पिक्नीड़िया एवं कठकवक फली एवं बीजों पर भी दिखाई देते हैं।

यह रोग मेक्रोफोमिना फेजियोलाई (Macrophomina phaseoli (Maubl.) Ashby) एव राइजकटोनिया बटाटीकोला (Rhizotonia bataticola (Taub.) Butl) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। यह मृदुढ एवं बीजोढ़ रोग है। इसकी रोकथाम हेतु रोग ग्रसित पौधो के अवशेषों को एकत्र कर नष्ट कर दें। ग्रनसेट, टिलेक्स, वाईटावेक्स मेक्रोफोमिना फजियोलाई के कवकजाल वृद्धि के अवरोधक पाये गये। वाइटोवेक्स बीजोपचार मे सबसे अच्छा पाया गया। कोन्डे (1974) ने केप्टाफोल मे तथा उसके बाद क्रम मे PCNB एवं थिराम + केप्टान (1:1 W/W) 5 ग्राम/किलो बुवाई से पूर्व बीजोपचार की सिफारिश की। स्फुटन प्रभेद (dehiscent) इस रोग से अस्फुटन प्रभेद से ज्यादा प्रभाव्य है। (Riversetal, 1965) रेड्डी (1976) ने 2 ग्राम प्रति किलो बीज के अनुपात में कार्बनिक पारावर्गी रसायन से बीजोपचार की सलाह दी। किस्म M 3–1, जी–5, ह एस-89 एवं टी सी–66 सहनशील (tolerant) है जबकि E. S. 31 प्रभाव्य है।

यदि तिल को उड़द, चौला, मूंग, ग्वार एवं मोठ के साथ बोया जाता है तो इस रोग का प्रकोप कम होता है। (दफ्तरी एव वर्मा, 1921)।

पत्ती-अंगमारी
(Leaf blight)

यह रोग आल्टरनेरिया सिसेमी (Alternaria sesami) नामक फफूंद से

उत्पन्न होता है। इस रोग के कारण पत्तियो पर छोटे-छोटे पीले कत्थई रग के अण्डाकार धब्बे बन जाते हैं। जैसे-जैसे धब्बे बड़े होते है, उनका कोई विशेष आकार नही रह पाता।

अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है जो कोनिड़ियाफोर के सिरे पर लगे रहते हैं। रोग की रोकथाम हेतु पौधो पर रोग के लक्षण दिखाई देते ही डायथेन Z-78 0·2 प्रतिशत छिड़काव लाभप्रद होता है।

रोकथाम :—

(1) उचित समय पर बुवाई करें। जुलाई का प्रथम सप्ताह बुवाई हेतु श्रेष्ठ है तथा रोग का प्रकोप बिलकुल कम होता है। कोयम्बटूर में किये गये प्रयोगों मे गन्धक का बुरकाव 30 कि. प्रति हैक्टर एवं 60 दिन की फसल पर करने पर पत्ती धब्बा तथा चूर्णिल ग्रोसिता मे काफी कमी हुई तथा 400/–प्रति हैक्टर ज्यादा मिला। पजाब मे जाइनेब 0·2 प्रतिशत या बोर्डो मिश्रण 2:2:250 का छिड़काव 10-15 दिन के अन्तर पर करने की सिफारिश दी गयी (चौहान, 1978)। रैड्डी (1976) ने तिल के रोगो की रोकथाम हेतु कुछ उपाय सुझायें।

(अ) फाइटोफथोरा अगमारी की रोकथाम 2 या 3 छिड़काव केप्टान 0·3 प्रतिशत या फेन्टीन एसीटेट 0·05 या आरियोफन्जीन 3 ग्राम 250 लिटर या जिनेब 0·2 प्रतिशत से करें।

(ब) बीजोढ़ फफूंदियो तथा मेक्रोफोमिना फेजियोलाई से उपत्न रोगो की रोकथाम हेतु केप्टान 2 ग्राम/किलो या परावर्गी रसायन से 3 ग्राम/कि. बीजोपचार करें।

(स) आल्टरनेरिया पत्ती धब्बा हेतु जाइनेब 0 2 प्रतिशत या मेन्कोजेब 0·1 प्र.श. एवं चूर्णी फफूंद हेतु गन्धक भुरकाव 20 कि/हैक्टर या निलम्बन गन्धक का 0·25 प्र.श. छिड़काव करें।

(2) रोग प्रतिरोधी किस्म प्रयोग में लायें। T 10, T 20 इस रोग से काफी प्रभावित होती जबकि कल्याणपुर लोकल एव T 60 इसके अनुपात में प्रतिरोधी हैं।

□ □ □

(ग) अरण्डी के रोग

(Diseases of Castor)

अरण्डी एक महत्वपूर्ण तिलहन फसल है। इसका तेल औषधियों के उ[illegible] उद्योगों में भी काम में आता है। सिबेसिक एसिड (Sebacic acid), [illegible] एल्कोहल, प्रोटीन एवं सक्रिय प्रकिण्व इसके तेल के ही पदार्थ (product) [illegible] इसका तेल जलाने, मशीनों के चिपकाने, रंग और रोगन उद्योग में भी काम में [illegible] है। इसकी पत्तियां रेशम के कीड़ों को खिलाई जाती हैं। खली खाद की तरह [illegible] होती है। इसकी खेती मुख्यतः आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र और मैसूर में होती [illegible] अरण्डी के बीज में किस्मों के अनुसार तेल की मात्रा 48 से 58% तक होती [illegible] अन्य फसलों की भांति इस पर भी कई प्रकार के रोगों का प्रकोप होता है, जिन[illegible] बीजांकुर, अंगमारी, किट्ट, आल्टरनेरिया अंगमारी, सर्कोस्पोरा पत्ती धब्बा, [illegible] सिटकड़ा पत्ती धब्बा, चूर्णी फफूंद मुख्य हैं।

(1) आर्द्र गलन	पीथियम एफेनीडरमेटम P. apheniderma tum (Eds.) Fitz
(2) जड़ गलन	मैक्रोफोमिना फेजियोलाई Macrophomina phaseoli
(3) पत्ती धब्बा	क्लेडोस्पोरियम की जाति Cladosporium spp.
(4) बीज गलन	सिफेलोस्पोरियम करटिप्स Cephalosporium curtipes Sacc.
(5) पत्ती धब्बा	डिप्लोडिया रिसीनीकोला Diplodia rici cola Secc
(6) कोनीफोरा पत्ती धब्बा	कोनीफोरा की जाति Choanephora sp
(7) स्क्लेरोटीनिया गलन	बोटराइयोटीनिया रिसीनो Botryotinia (Godfrey) Whetzgel
(8) बीजांकुर अंगमारी	फाइटोफ्थोरा पेरासिटीका Phytophthora parasitica Dast
(9) किट्ट	मेलैम्पसोरा रीसीनी Melampsora ricini (Biv) Pass

(10) आल्टरनेरिया अंगमारी	आल्टरनेरिया रीसीनी Alternaria ricini (Yoshii) Hansford
(11) सर्कोस्पोरा पत्ती धब्बा	सर्कोस्पोरा रीसीनेला Cercospora ricinella Sacc and Berl.
(12) चूर्णी फफूंद	लेवाइलूला टारीका Leveillula taurica (Lev. Arn.)

बीजांकुर अंगमारी
(Seedling blight)

अरन्डी की फसल का यह एक महत्वपूर्ण रोग है। इसका प्रकोप उत्तर प्रदेश (Dye, 1948) तथा हैदराबाद (Yaheeduddin, 1947) मे काफी होता है। इस रोग का वर्णन सर्वप्रथम दस्तुर (Dastur, 1913) ने पूसा बिहार से किया।

लक्षण :—

इस रोग के लक्षण जून के अन्त से दृष्टिगोचर होने लगते है तथा सितम्बर माह तक इसका काफी प्रकोप होता है। बीज को जमीन में बोने के समय से इस रोग का संक्रमण प्रारम्भ हो जाता है। परन्तु बीजांकुर 6"–8" के होते हैं तब सबसे अधिक प्रभावित होते हैं। बीजालीय (Cotyledonary) पत्तियों के दोनों तरफ गोलाकार फीका हल्के रंग के धब्बे से दिखाई देते हैं तथा संक्रमण तने तक बढ़ जाता है फलतः बीजांकुर मर जाती है। पत्तियो पर भी इसके लक्षण दिखाई देते हैं। सर्वप्रथम रोग के लक्षण पत्तियो पर हल्के पीले रंग के छोटे-छोटे धब्बो के रूप मे दिखाई देते हैं जो बाद मे भूरे हो जाते है। धीरे-धीरे ये धब्बे आपस मे मिल जाते हैं तथा सम्पूर्ण पत्ती को घेर लेते हैं। उग्रावस्था मे पत्तियां मुरझा कर सूखने लगती हैं।

परिपक्व पौधों में रोग तरुण पत्तियो से तने मे पर्णवृन्त (petiole) द्वारा फैलता है। तने पर सीधा संक्रमण नही होता है। जब ग्रसित पर्णवृन्त (petiole) को अनुप्रस्थ (transversally) काटकर देखें तो फाइब्रोवेसकुलर गाठें (bundles) काले या भूरे रंग के दिखाई देते है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and Life cycle)

यह रोग फाइटोफ्थोरा पेरीसीटिका Phytophthora parasitica Dast नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। कवकजाल रंगहीन अरवंड कोशिक, अपट, अन्तः कोशीय या अन्तर्कोशीय पोषक ऊत्तिका मे होता है। अनुकूल परिस्थितियो मे पत्तियों के पर्ण मुखों से अकेले दो या तीन के गुच्छो मे बीजाणुधानी धर निकलते हैं। बीजाणु धानी धर अशाखित, बेलनाकार (slender), 35 से 50 माइक्रोन (100-300 माइक्रोन औसतन) तक लम्बे होते हैं। इन बीजाणुधानी धर के सिरे पर

बीजाणुधानी बनती है। बीजाणुधानी रंगहीन, गोलाकार (Ovoid), 25-50X 20 से 40 माइक्रोन व्यास तक, रंगहीन पेपीलेट होती है। जब बीजाणुधानी परिपक्व हो जाती हैं तो बीजाणुधानी धर से टूटकर अलग हो जाती है। बीजाणुधानी के बनने के लिए प्रकाश बहुत जरूरी है। इसका अंकुरण तीन विभिन्न तरीकों से होता है—प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष या कोनिडियाली (conidially) अंकुरित होकर केवल कवकजाल बनाते हैं (Dastur, 1913)। नमी एवं प्रकाश की उपस्थिति में अप्रत्यक्ष चल बीजाणु बन कर तथा अन्धेरे में सीधे जनित नलिका द्वारा अंकुरित होते है।

बीजाणुधानी से द्विकोशीय, वृक्काकार, एक केन्द्रिक तथा नग्न चल बीजाणु बाहर आ जाते हैं। प्रत्येक बीजाणुधानी में 5 से 45 चल बीजाणु होते हैं। ये चल बीजाणु 20 मिनट से 2 घण्टे तक विश्राम अवस्था में रहते हैं। फिर इनके अंकुरण होने पर जनित नलिका निकलती है। संवर्ध में क्लेमाइडो बीजाणु बनते हैं जो मोटी भित्ति के गोल, पीले 20 से 60 माइक्रोन के होते हैं।

निपित्ताण्ड भी कृत्रिम संवर्ध (Culture) में बनते हैं। ये निपित्ताण्ड काफी समय तक जीवित रहते हैं। सम्भवतः इसके वार्षिक आवंतन का यही प्रमुख साधन है। निपित्तांड परिभ्रड धानिय (amphigenous), 13-24 माइक्रोन व्यास के, गोलाकार, रंगहीन होते हैं। द्वितीयक संक्रमण बीजाणुधानी द्वारा होता है। इनका हवा से आसानी से विकीरण होता है। पत्तियों पर अंकुरित होते हैं तथा जनित नलिका द्वारा पत्तियों में पर्णमुखों से प्रवेश करते हैं।

पूर्ववृत्तिक कारक (Predisposing factors)—

इस रोग का प्रकोप निम्न क्षेत्र (low lying) एवं कुप्रपाहित (badly drained) स्थानों पर काफी होता है।

अरण्ड के अलावा इस रोग का प्रकोप आलू, टमाटर, बैंगन, तिल, नींबू, पान आदि की फसल पर भी होता है। ये सभी सापार्श्विक पोषक हैं।

रोग नियन्त्रण :—

(1) निपित्ताण्ड बनने से पहले ही रोग से प्रभावित पौधों को उखाड़ कर नष्ट कर देना चाहिये।
(2) बटलर (1918) के अनुसार निम्न क्षेत्र (Low lying) एवं जल निकास का साधन अच्छा होना चाहिये।
(3) रोग के लक्षण दिखाई देते ही बोर्डो मिश्रण का छिड़काव करना लाभप्रद रहता है। परन्तु जहां रेशम के कीड़े पाले जा रहे हो, वहां इसका छिड़काव नहीं करना चाहिये। दवा का छिड़काव पौधे की बीज-पत्र अवस्था में ही प्रारम्भ कर दे और 7-8 दिन के अन्तर पर करते रहें।

किट्ट
(Rust)

अरन्डी का यह रोग अरन्डी उगाये जाने वाले बहुत से राज्यों में पाया जाता है। बम्बई, कोयम्बटूर व नागपुर में इस रोग से काफी हानि होती है। जहा अरन्डी की बुवाई जून मे की जाती है, वहां नवम्बर एव फरवरी के महीनों मे इस रोग से काफी नुक्सान होता है। वहीदुद्दीन (Vaheeduddin, 1947) के अनुसार इस रोग का प्रकोप नम (moist) क्षेत्रों में जहां जल्दी रोग आता है वहा अधिक होता है।

रोग लक्षण—

इस रोग के लक्षण पत्ती की निचली सतह पर बनते हैं। ग्रसित स्थानों पर नारंगी रग के स्फोट बन जाते हैं। ये नारगी रंग के स्फोट फफूंद के यूरिडो बीजाणु है। यूरिडोबीजाणु लगभग गोल या दीर्घवृत्त होते है। प्रभावित पत्तियां परिपक्व होने से पहले सूख कर झड़ जाती है। रोग के अधिक प्रकोप होने पर पौधे की सभी पत्तियों पर ऐसे स्फोट दिखाई देते हैं। अरन्डी के बीज छोटे हो जाते हैं और उनमें सिकुड़न पड़ जाती हैं।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and Life cycle)—

यह रोग मेलेम्पसोरा रीसीनी Melampsore ricini (Biv.) Pass नामक फफूंद से उत्पन्न होता है, जो एक बहुरूपी फफूंद है। कवकजाल के कवक तन्तुओ का एक समूह झिल्ली अथवा अधोस्तर के नीचे एकत्र हो जाता है, जो एक यूरिडोसोरस बनाता है। यूरिडोसोरस मे असंख्य यूरिडो बीजाणु बनते हैं। यूरिडोबीजाणु गोल या दीर्घवृत्तीय, एककोशिक, नारंगी 25 – 29 × 19 – 25 माइक्रोन के होते हैं। इनका अंकुरण जनित नलिका द्वारा होता है। अंकुरित होने पर पर्ण रन्ध्रों मे प्रवेश करके वेसीकल (Vesicle) बनती है। इसके बाद वेसीक्ल से संक्रमण कवक तन्तु निकल कर बढने लगते हैं जो द्विकेन्द्रिक कवकजाल बनाते हैं। ये द्विकेन्द्रिक पटयुक्त कवकजाल एक बार फिर यूरिडोबिजाणु की दूसरी फसल तैयार करते हैं। यह रोग कारक जीव अरन्डी के अलावा यूफोरिबिया आबटयूसिफोलिया (Euphorbia obtusifolia) यू. इपीकाक्यूना (E. ipecacuanha) ई. जीनीकुलेटा (E. geniculata), पर भी लगता है।

रोग नियन्त्रण :—

(1) इस रोग की रोकथाम हेतु रोग प्रतिरोधी किस्मों का प्रयोग करें एवं ई. मार्जिनेटा (E. marginata) पर भी संक्रमण करता है। अत: सम्भव है कि यह इसके सापार्श्विक पोषव है।

(2) रोग के लक्षण दिखाई देते हैं, गन्धक का भुरकाव भी काफी लाभप्रद पाया गया है।

पत्ती-अंगमारी
(Alternaria blight)

अरण्डी की फसल का यह भी एक महत्वपूर्ण रोग है। इस रोग का वर्णन भारत से दस्तूर (1913); छीबर (1914); डे (1948); सिंह (1955); वासुदेवा (1956); पवार एवं पटेल (1957) ने किया। 1956 से 58 में बम्बई में इसका प्रकोप अधिक हुआ जिससे करीब 70% पौधे प्रभावित हुये।

रोग लक्षण (Disease Symptoms) :—

इस रोग के लक्षण पौधे के सभी वायव्य भाग पर दिखाई देते हैं। सबसे पहले बीज-पत्र इसमें प्रभावित होते हैं जिस पर धब्बे बढ़ जाते हैं, फलस्वरूप पौधा बौना रह कर नष्ट हो जाता है। पत्तियों पर छोटे-छोटे भूरे रंग के अनियमित आकार के धब्बे दिखाई देते हैं जैसे-जैसे धब्बे बड़े होते जाते हैं, उनका कोई विशेष आकार नहीं रह जाता। ये भूरे धब्बे बाद में नीले हरे घिरे रहते हैं। जैसे-जैसे रोग बढ़ता है बहुत सारे धब्बे मिल कर पत्ती के लगभग सारे भाग को घेर लेते हैं। फलस्वरूप पत्ती झुलसी हुई प्रतीत होती है।

इस रोग के लक्षण व्यापक अवस्था में पुष्पक्रम एवं कैप्स्यूल (capsule) पर भी दिखाई देते हैं। कैप्स्यूल पर दो प्रकार के लक्षण दिखाई देते हैं—

(1) जब आधे कैप्स्यूल परिपक्व होते हैं तब मुरझान एवं एकदम वृन्तक (pedical) के निपात (Collapse) हो जाने से भूरे हो जाते हैं। इसके कारण बीजों के अंकुरण पर भी काफी प्रभाव पड़ता है।

(2) कैप्स्यूल के पूर्ण परिपक्व होने पर सिकुड़ कर (shrunken) एक तरफ दिखाई देते हैं जो धीरे-धीरे पूर्ण फली पर फैल जाते हैं।

इस रोग का संक्रमण जब पुष्प वृद्धि के समय जल्दी हो जाता है तो कलिका नष्ट हो जाती है तथा पुष्पक्रम काले पड़ जाते हैं। यदि रोग देरी से आता है तो पुष्प बिना कैप्स्यूल बने झड़ जाते हैं, परन्तु पत्ती रोग अवस्था में ही इसकी हानिकारक प्रकृति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

हेतुकी (Etiology) :—

यह रोग आल्टरनेरिया रीसीनी (Alternaria ricini (Yoshii) Hassford नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। इसका कवकजाल पटयुक्त, शाखायुक्त होता है। कोनिडियोफोर अकेले, अथवा दो गुच्छे (fascicles) में, पटयुक्त पत्ती पर बने धब्बों के बीच में रन्ध्रों द्वारा बाहर निकलते हैं। सिंह (1955) के अनुसार 62-109 माइक्रोन के तथा पंवार एवं पटेल (1957) के अनुसार 30 से 60 माइक्रोन के कोनिडियोफोर होते हैं। कोनिडियोफोर के सिरे पर चोंचदार कोनिडिया उत्पन्न होते हैं। कोनिडियम हल्के भूरे से गहरे, प्रति मुद्गराकार (obclavate), जिनमें अनुप्रस्थ पट्ट तथा अनुलम्बन पट्ट होते हैं। इसलिए इनको मुग्दराकार

कोनिडियम भी कहते है। कोनिडिया चोच सहित 71·4 – 193 × 12·6 – 33 6 परिमाए के होते हैं। कोनिडिया अंकुरनाल द्वारा अंकुरण करके पत्ती के रन्ध्रों द्वारा पोषिता के अन्दर प्रवेश कर जाते हैं तथा कवकजाल बना देते हैं।

वार्षिक आवर्तन (Annual recurrence) :—

यह रोग अन्तः एवं वाह्य बीजोढ़ है (Mc Clellen, 1944; Stevenson, 1945; Singh, 1955, Jain and Patel)। 16° से. से 20° से. तापमान इस रोग की बढ़वार के लिये अनुकूलतम है। अरन्डी के अलावा जेटरोफा-पेन्डूरीफोलिया (Jatropha pandurifolia) एवं ब्रीडेलिया हेमीलटोनिग्रोना (Bridellia hemiltoniana) भी इससे प्रभावित होते हैं। बीज के अलावा यह रोग जमीन से भी फैलता है। रोगी फसल के अवशेषों पर रोग के बीजाणु भूमि में रहते है।

नियन्त्रण :—

इस रोग के नियन्त्रण हेतु बीजोपचार करना अति आवश्यक है। वाह्य बीजोढ रोग हेतु किसी पारावर्गी रसायन से बीजो को उपचारित करना लाभप्रद रहता है। रोगी पौधो पर डायथेन M–45 (0·2%) ब्लाइटोक्स (0·25%) के घोल का छिड़काव करें। फसलो को अदल-बदल कर बोयें। फसल काटने के बाद ग्रसित पत्तियो, केप्स्यूल आदि को एकत्र कर जला दें।

टहनी अंगमारी
(Twig Blight)

इस रोग का वर्णन सर्व प्रथम (Marathe et al, 1973) मराठे एवं अन्य ने किया। इसके लक्षण तने, शाखाओ एवं पर्णवृन्त (petioles) पर दिखाई देते है। प्रारम्भिक अवस्था मे अण्डाकार (oval) से गोलाकार धब्बे बनते हैं। जिनके किनारे गहरे भूरे घिरे रहते हैं। बाद मे धब्बे बढ़ते जाते है तथा 4" तक के हो जाते हैं जिसका बीच सफेद होता है तथा काली फलनकाय (fruitingbody) दिखाई देती है। इसकी फलनकाय अनियमित वितरित होती है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and Life cycle) :—

यह रोग कालेटोट्राइकम ग्लोइसपोराइड्स Colletotrichum gloeosporoides नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। इस फफूंद की पूर्ण अवस्था ग्लीस्पोरा सिंगूलेटा Gloespora cingulata है। कवकजाल के कवकतन्तु एक दूसरे से सटकर एसरवुलस अधोस्तर के नीचे बनाते हैं। एसरवुलस अधोस्तरीय, स्ट्रोमेटिक, गहरी भूरी, 141–240 माइक्रोन की होती है। एसरवुलस से बहुत कम लम्बे आकार की कांटो जैसी पटयुक्त रचनायें बनती हैं, जिन्हें सीटी कहते हैं। कोनिडियोंफोर साधारण रंगहीन, 2 से 4 माइक्रोन लम्बे होते हैं। कोनिडिया दीर्घायत (oblong) से बेलनाकार, रंगहीन, एक कोशिक, 13·0 – 21 × 3 – 4 माइक्रोन के होते हैं। कोनिड़िया नमी की उपस्थिति में अंकुरित होकर आसगांग बनाते हैं और फिर आसगांग से संसर्गसूत्र बनकर पत्तियो मे प्रवेश करते हैं।

पेरीथीसिया स्ट्रोमेटिक, काली उठी हुई (erumpent) गोलाकार, 144·0 – 200 माइक्रोन व्यास की ग्रोस्टियोलेट होती है। इसमें कई एस्कस होते हैं। एस्कस यूनिटयूनिकेट, 48 – 62 × 10—12 माइक्रोन के होते हैं। एस्कोस्पोर एक कोशिक, फ्यूजेइड, दोनों किनारे गोलाकार, रंगहीन 16 – 23 × 2 – 3 माइक्रोन के होते हैं। पेराफाइसेज एवं पेराफाइसिस मौजूद रहती है। (भगाठे एवं अन्य, 1973)।

सर्कोस्पोरा पत्ती धब्बा
(Cercospora leaf spot)

सर्कोस्पोरा पत्ती धब्बा रोग का प्रकोप केवल पत्तियों तक ही सीमित रहता है। इसका प्रकोप मुख्यतः बिहार, उत्तर प्रदेश एवं हैदराबाद में देखा गया है। इस रोग के धब्बे प्रारम्भ में बारीक, काले या भूरे होते हैं जो कि हरी वलय (rings) से घिरे होते हैं। जैसे-जैसे रोग बढ़ता है धब्बों का आकार अनियमित हो जाता है। धीरे-धीरे ये धब्बे बीज से हल्के भूरे तथा बाद में धूसर सफेद हो जाते हैं। कोनिडिया एवं कोनिडियोफोर काले से दिखाई देते हैं। उग्रावस्था में पत्तियों का पीला पड़ना व मुरझा कर गिर जाना प्रमुख लक्षण है। ज्यादा नमी में यह रोग अधिक बढ़ता है।

हेतुकी एवं जीवनचक्र (*Etiology and Life cycle*)

यह रोग सर्कोस्पोरा रोसीनेला *Cercospora ricinella* Sacc and Berl नामक फफूँद से उत्पन्न होता है। कवकजाल पोषक ऊतियों के अन्दर पटयुक्त होता है। पत्तियों की ऊतियों के किसी भी भाग से 10–20 झुण्ड में कोनिडियोफोर उत्पन्न होते हैं। कोनिडियोफोर नीचे से भूरे तथा सिरे से हल्के पटयुक्त अशाखित 24 – 70 × 3 – 6·5 माइक्रोन चौड़े होते हैं। कोनिडियोफोर के सिरे पर कोनिडिया बनते हैं। कोनिडिया रंगहीन, अन्दर पटयुक्त तथा मुड़े हुये होते हैं। कोनिडिया का अंकुरण अन्तिम नलिका द्वारा होता है।

सिंह (1948) के अनुसार यह रोग बीजोढ़ है, परन्तु अभी तक स्पष्ट नहीं है कि क्या इसके वार्षिक आवर्तन का साधन बीज ही है।

रोग नियन्त्रण :—

(1) बुवाई से पूर्व बीजों को उपचारित कर बोना लाभप्रद माना गया है।

(2) रोग के लक्षण दिखाई देते ही पौधों पर बोर्डो मिश्रण या अन्य किसी कॉपर वर्गी फफूँदनाशी दवा का छिड़काव करें।

(3) रोग ग्रसित पौधों के अवशेषों को एकत्र कर नष्ट करें।

फाइलोस्टिक्टा पत्ती धब्बा
(Phyllosticta leaf spot)

इस रोग का वर्णन सर्वप्रथम बोस एवं माथुर (Bose and Mathur, 1949) ने कानपुर से किया। बिन्दु जैसे भूरे बिखरे धब्बे पत्ती की ऊपरी सतह पर बन जाते हैं, जो धीरे-धीरे बढ़कर गोलाकार हल्के भूरे 0 4 से. मी. से 1·2 से मी. व्यास के हो जाते है। धीरे-धीरे धब्बे आपस में मिल जाते है और पत्ती का रंग पीला कत्थई हो जाता है। धब्बो के बीच का भाग सफेद हो जाता है। फफूंद पोषक मे प्रवेश करके क्लोरोप्लास्ट को नष्ट कर देती है फलतः पौधा मर जाता है।

हेतुकी (Etiology) :—यह रोग फाइलोस्टिक्टा बोसेन्सिस (Phyllosticta bosensis) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। कवकजाल रंगहीन पटयुक्त, शाखित अन्तः कोशिक (intra cellular) होता है। जिससे दीर्घवृतीय (elliptic) पिक्नीड़िया 25·2 – 97·2 × 14·2 – 42·2 माइक्रोन की बनती है। पिक्नीडियम के अन्दर कोनिडियम बनते है। पिक्नीयोस्पोर रंगहीन एक कोशिक 4·32 – 108 × 1·8 – 2·8 माइक्रोन के होते हैं। कोनिडियम के अंकुरण होने पर जनित नलिका पत्ती की सतह पर बनती है तथा रन्ध्रो द्वारा उनका प्रवेश होता है।

इसकी रोकथाम हेतु बोर्डो मिश्रण 4 : 4 : 50 के दो छिड़काव पन्द्रह दिन के अन्तर पर करें।

चूर्णिल आसिता
(Powdery mildew)

अरण्डी की फसल को यह रोग भी काफी नुकसान पहुँचाता है। इस रोग के लक्षण सर्वप्रथम पत्तियो पर दिखाई देते हैं। पत्तियो की निचली सतह पर सफेद तथा भूरे रंग की फफूंद दिखाई पडती है। पहले इस फफूंद के धब्बे छोटी-छोटी रंगहीन चत्तियो के रूप मे बनते हैं, परन्तु अन्त में इनके चारो ओर सफेद सा चूर्णी समूह फैल जाता है। यह चूर्णी समूह फफूंद का कवकजाल तथा कोनिडियोफोर होता होता है। जब रोग तेजी से बढता है तब यह चूर्णी समूह पत्तियो के सम्पूर्ण पत्तियों पर छा जाता है। पत्तियो का धीरे-धीरे क्लोरोफिल नष्ट होने लगता है। जिसके फलस्वरूप यह भूरी सी दिखाई देती है। रोगी पौधो मे दाने छोटे तथा सिकुड़े हुये होते हैं।

हेतुकी (Etiology) :—

यह रोग लेवाईलुला टॉरीका Leveillula taurica (Lev.) Asn आईडियोपसिस टारीका Oidiopsis taurica (Lev.) Salmm नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। इस रोग का वर्णन सर्वप्रथम रामाक्रिशनन एवं नर्सिमहालू (Ramakrishnan and Narsimhalu) ने किया। यह एक अनिवार्य परजीवी

है। कवकजाल परपोषी, अन्तराकोशीक (inter celluler) होता है। यह पत्ती की सतह पर असयांगो द्वारा चिपके रहते है। अचूषांग कोशिका के अन्दर बन जाते है जो कोशिका से भोजन को चूसकर कवकजाल में पहुंच जाता है। पोषक की शेष भोजन की कमी के फलस्वरूप क्लोरोफिल रहित हो जाती है। कोनीडियोधर शाखित तथा रन्ध्रो से गुच्छो मे बाहर निकलते है। कोनिडिया रंगहीन 52-83X 12-23 9 माइक्रोन के अकेले होते है। इन कोनिडिया का विकीरण हवा, पानी द्वारा होता है तथा अनुकूल परिस्थितियां मिलने पर एक से अधिक अंकुरनाल द्वारा अंकुरित होते है।

अरण्डी के अलावा यह रोग ज्वार एवं मिर्च की फसल को काफी नुकसान पहुचाता है।

रोग नियन्त्रण :

रोग के लक्षण दिखाई देते ही गन्धक का भुरकाव लाभप्रद पाया गया है।



(घ) सरसों के रोग

(Mustard)

सरसों एक महत्वपूर्ण तिलहन फसल है। भारत सबसे अधिक सरसो पैदा करने वाला देश है। संसार मे कुल जितनी सरसों पैदा होती है उसका 21 प्र. श. भाग भारत ही पैदा करता है। मुख्य रूप से लगने वाले रोग इस प्रकार है :—

(1) श्वेत फफोला अथवा श्वेत किट्ट रोग White rust	एल्बुगो केनडिडा (Albugo candida)
(2) मृदुरोमिल Downy mildew	परनोस्पोरा पैरासिटिका (Peronospora parasitica)
(3) चूर्णिल आसिता Powdery mildew	एरीसाइफी पोलीगोनाई (Erysiphi polygoni)
(4) पत्ती झगमारी Leaf blight	आल्टरनेरिया ब्रेसीकी (Altenaria brassicae)
(5) कंड	यूरोसिस्टिस कोरोलोइडस (Urocystis coraloides)
(6) जड़गलन	राइजक्टोनिया सोलेनाई (Rhizoctonia solani) फयूजेरियम की भांति (Fusastrium sp.) स्कलेरोशियम रोलफसी (Sclerotium rolfisi) पीथीयम डीबेरीनम (Pythium dibaryanum)

श्वेत फफोला अथवा श्वेत किट्ट रोग
(White rust)

लक्षण :—

जड़ों को छोड़कर यह फफूंद सम्पूर्ण पौधे पर आक्रमण करती है जिसकी

सतह पर विभिन्न आकार प्रकार की सफेद या पीली स्फोटिकाएं दिखाई देती हैं। कभी कभी तने और फल फूलकर बहुत विकृत हो जाते है। पोषक पौधे पर संक्रमण स्थानीय एवं दैहिक दोनों प्रकार से होता है। सर्वप्रथम पत्तियों पर सफेद क्रीम जैसे हल्के पीले रंग के स्फोट दिखाई देते है। ये स्फोट कुछ उभरे हुये चमकीले सफेद रंग के होते है (चित्र 5 घ 1)। पत्तियों पर स्फोट इकट्ठे हो जाने के कारण अनियमित हो जाते है। प्रारम्भ में ये स्फोट बाह्य स्तर के नीचे बनते हैं किन्तु



(चित्र 5 घ 1)

अधिक बीजाणुधानियां बनने के दबाव से बाह्य स्तर फट जाती है और स्फोट पत्ती की निचली सतह पर नजर आने लगते हैं। रोग की उग्रावस्था में पत्तियों की ऊपरी तथा निचली दोनों सतहों पर श्वेत स्फोट दिखाई देते हैं। पत्तियां छोटी मोटी और टेढ़ी मेढ़ी हो जाती हैं। तने एवं पुष्पक्रम पर इस रोग का संक्रमण दैहिक होता है। कभी कभी पुष्पक्रम फूलकर मुद्गर जैसी आकृति के हो जाते हैं। अण्डाशय फूलकर [illegible] फूट जाते है। ऊतकों की अधिक विस्तृतीकरण एवं अतिवृद्धि के कारण पुष्पों का विरूपण हो जाता है। उग्रावस्था में पत्तियां छोटी मोटी रह जाती है तथा पौधा बौना रह जाता है। बरसात के मौसम में पौधे सड़ने लगते हैं।

सरसों के अलावा इस रोग का प्रकोप फूलगोभी, पत्तागोभी, मूली, तारामीरा, राई, [illegible] तथा क्रूसीफेरी कुल के अतिरिक्त मोरिंगा ओलीफेरा (Moringa

olifera) एवं (Ipomaea pestigridis) आइपोमिया पेस्टीग्रिडिस पर भी होता है।

हेतुकी एवं जीवनचक्र (Etiology and Life cycle) :

यह रोग एल्बुगो कैंडिडा (Albugo candida (Lev) Kunze) जो सिस्टोप्स केन्डिडस Cystpus candidus Lev के नाम से भी जाना जाता है, से उत्पन्न होता है। यह एक अनिवार्य परजीवी है। कवकजाल अपट, अखण्डकोशिक, शाखायुक्त तथा पोषक ऊत्तिका से गोल प्रचूषाग उत्पन्न होते है। परजीवी जैसे-जैसे बढ़ता है वैसे-वैसे तन्तुओं मे विकार अथवा प्रकिण्व छोड़ता जाता है जिसके कारण पोषक की अधोवृद्धि हो जाती है। अलैंगिक जनन चल बीजाणुओं अथवा कोनिडिया द्वारा होता है। बीजाणुधानी तलाभिसारी श्रृंखला मे रहते है, अर्थात् श्रृंखला के सिरे वाली बीजाणुधानी सबसे पहले बनती है। हर एक बीजाणुधानियो के बीच एक श्लेपी गद्दी होती है जो वियोजक कोशिका (disgunctor cell) कहलाती है। नमी की उपस्थिति मे श्लेपी गद्दी फूलती है तथा विघटन (disintegrate) होकर अलग हो जाते है। बीजाणुधानी के अन्दर चल बीजाणु बनते हैं। बीजाणुधानीघर मे प्रोटोप्लाज्म तथा लगभग 12 केन्द्रिका पायी जाती हैं। बीजाणुधानीघर का ऊपरी सिरा पतली भित्ति वाला बढने लगता है और सिरे पर उपसकोचन हो जाता है तथा एक बीजाणुधानी की वार-वार उपसंकोचन द्वारा बीजाणुधानी की बड़ी श्रृंखला बन जाती है। बीजाणुधानी रगहीन, गोलाकार, बहुकेन्द्रिक $16-20 \times 14-16$ माइक्रोन की होती है। (चित्र 5 च 2 अ)

बीजाणुधानी बनने के बाद उसका जीव द्रव्य 4 से 8 तथा बहुतलीय खण्डो मे विभाजित हो जाता है तथा बीजाणुधानी मे एक केन्द्रिक, द्विकशाभयुक्त, रसधानीयुक्त नग्न चल बीजाणु बनते हैं। ये बीजाणुधानी भित्ति टूटने पर बाहर आकर पानी मे तैरने लगते है। कुछ समय पश्चात् उनके कशाभ समाप्त हो जाते हैं और गोल आकृति धारण कर लेते हैं। चारो ओर भित्ति बन जाती है और एक सिस्ट रूप में प्रतिकूल वातावरण सहने के लिये तैयार हो जाते है। अनुकूल वातावरण मिलने पर अंकुरनाल द्वारा अंकुरण करके पोषक पत्तियो के रन्ध्रो से प्रवेश कर जाती है तथा नया कवकजाल उत्पन्न कर देती है।

निषिक्तांड कुछ ही पोषक में बनते हैं तथा इनका बनना पर्यावरण पर काफी निर्भर करता है। निषिक्तांड गोलाकार (globula), 40-55 माइक्रोन व्यास के होते हैं। इनका अंकुरण अनुकूल परिस्थितियो मे काफी विश्रामकाल के पश्चात्



(चित्र 5 घ 2 अ)

होता है। इनके विश्रामकाल को कम किया जा सकता है। यदि एक सप्ताह के लिये 4° से. पर निवित्तांड ठंडे (chilled) किये जायें (चित्र 5 घ 2 ब)।

पूर्वंवृतिक कारक :—

बीजाणुधानी का अंकुरण तापमान पर काफी निर्भर रहता है। 25° से. पर ये अधिकतम बनते हैं तथा अनुकूलतम तापमान इनके अंकुरण हेतु 10° से. है। बरसात के मौसम में पौधे सिकुड़ने लगते हैं तथा शुष्क मौसम मे ये सिकुड़ कर नष्ट हो जाते हैं।

इस रोग का वार्षिक आवर्तन निविक्तांड द्वारा होता है। निविक्तांड पौधे के मलबे तथा मिट्टी के अन्दर सुरक्षित रहते हैं एवं अंकुरित होकर नयी फसल पर संक्रमण कर देते है। रोग का द्वितीयक संक्रमण बीजाणुधानियों और चल बीजाणुओं द्वारा होता है। व्याधिजन का विकीरण वायु या कीड़ों द्वारा होता है।

नियन्त्रण :—

(1) आर्थिक दृष्टिकोण से यह रोग महत्वपूर्ण नहीं है। परन्तु यदि बीजों से फसल की बुवाई की गयी हो तो 0 8 प्रतिशत बोर्डो मिश्रण या अन्य कोई कॉपरयुक्त दवा जैसे फाइटोलान 0·2 प्रतिशत, ब्लाइटोक्स 0·2 प्रतिशत आदि का छिड़काव करें।

(2) खेत में पड़े पौधों के मलबे आदि को एकत्र कर जला दें।
(3) रोग प्रतिरोधी किस्मों का चयन, एवं फसलचक्र अपनायें।

मृदुरोमिल
(Downy mildew)

सरसों की फसल का यह भी एक महत्वपूर्ण रोग है। अमेरिका एवं यूरोप आदि देशों में भी इस रोग के कारण काफी हानि होती है। सरसो, तोरिया एवं राई इससे मुख्यतः प्रभावित होते हैं।

लक्षण :—

जड़ो को छोड़कर पौधे के सभी भाग इस रोग से प्रभावित हो सकते हैं। परन्तु पत्तियों पर इसके लक्षण अच्छी प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं। रोग के लक्षण बुवाई के 20–25 दिन बाद दिखाई पड़ने शुरू हो जाते हैं। पत्तियो पर सकीर्ण पीले या कथई रंग के धब्बे दिखाई देते हैं जो बाद में बादामी रंग के हो जाते हैं। पत्ती के निचले भाग में कुछ पीलापन आ जाता है। पत्तियो के साथ फलियों के साथ फलियों पर भी इस रोग के लक्षण दिखाई पड़ते हैं (चित्र 5 घ 3 अ)। सक्रमण दैहिक एवं स्थानिक दोनों ही प्रकार से होता है।



(चित्र 5 घ 3 अ)



(चित्र 5 घ 3 ब)

हेतुकी एव जीवनचक्र :—

यह रोग पेरेनोस्पोरा पाइसी (Peronospora pisi Syd. em end Campbell नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। इस रोगकारक जीव को वैज्ञानिकों ने पेरेनोस्पोरा विसिकी भी बताया। यह एक अनिवार्य परजीवी है। कवकजाल पटह, अपटपोषिक तथा अन्तर्कोषिय होता है। अलैंगिक जनन बीजाणुधानी द्वारा होता है। कोनिडियोफोर 1 से 3 मि मी. लम्बे, सिरे पर समकोण बनाकर 2 से 7 बार तक शाखायुक्त होते हैं। इनका 2/3 भाग अशाखित एवं 1/3 भाग शाखित होता है। कोनिडिया अंकुरनाल द्वारा अंकुरण करके नया कवकजाल उत्पन्न कर देते हैं। कोनिडिया 22 – 27 × 15 – 19 माइक्रोन के कम समय के लिए जीवित रहते हैं।

लैंगिक जनन विषमयुग्मी होता है। निषिक्तांड फसल पकने के समय बनते हैं। गोलाकार, हरे, पीले 2[illegible] – 43 माइक्रोन व्यास के होते हैं तथा इनका अंकुरण कोनिडिया जैसा ही होता है। निषिक्तांड कुछ समय के विश्राम के बाद अंकुरित होते हैं।

मुख्यतः यह रोग मृदुढ़ है। मुख्यतौर से एक वर्ष से दूसरे वर्ष प्रावर्तन रोग से पौधे मलबे आदि के द्वारा होता है जिसमे जिसमें कि रोगजन निषिक्तांड अवस्था

मे अपना जीवन व्यतीत करता है। द्वितीयक संक्रमण बीजाणुधानी द्वारा होता है इस रोग का आवर्तन बीजोढ भी होने के सकेत मिले है। कोनिडिया अधिक मात्रा मे जब बनते है जबकि ठण्डा तापक्रम हो।

रोग नियन्त्रण :—

(1) चूंकि यह रोग मृदुढ़ है। अतः रोगी पौधे एवं पौधो मे पड़े मलबे को एकत्र कर नष्ट कर देना लाभप्रद रहता है। रोग प्रतिरोधी किस्मो का प्रयोग तथा 2 – 3 वर्ष का फसलचक्र अपनाना चाहिये। पौधो पर 0 25 प्रतिशत पेरेनोक्स का दो बार दिसम्बर के प्रारम्भ से ही छिड़काव करना भी अच्छा पाया गया है। वेन्कटारयन Venkatareyan, 1945 के अनुसार मैसूर मे 1937 में इस रोग का नियन्त्रण बोर्डो मिश्रण से किया गया जिसमे 1 प्रतिशत मूंगफली का तेल भी मिलाया गया।

चूर्णिल आसिता
(Powdery mildew)

इस रोग का प्रकोप भी सामान्यतः देखा गया है, परन्तु अधिक हानि नही होती है। रोग के प्रारम्भिक लक्षण पौधे की पत्तियो पर दिखाई देते है। सर्वप्रथम पत्ती के ऊपरी सतह पर छोटे-छोटे बिखरे हुए सफेद ऊन के जाल जैसे धब्बे बनते हैं। यह सफेद चूर्ण फफूंद के कवकजाल एव कोनिडियम का होता है। धीरे-धीरे पत्ती के निचली सतह तथा तने व डठलो पर भी चूर्णी धब्बे बनना प्रारम्भ हो जाता है (चित्र 5 घ 4)।

यह रोग एरीसाइफी पोलीगोनी (Erysiphe polygoni De) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। इसका कवकजाल ग्रसित भाग की ऊपरी सतह से बाहर ही रहता है। कवकजाल पटयुक्त, एक केन्द्रिक एवं अल्पतम शाखायुक्त होता है। इस रोग का प्राथमिक संक्रमण भूमि में पड़े क्लीस्टोथीसीयम से उत्पन्न एस्कोबीजाणु के अंकुरण द्वारा होता है।

इस रोग की रोकथाम 8–10 किलो गन्धक के भुरकाव से की जा सकती है। चूंकि रोग का व्याधिजन भूमि मे पेड़ पौधो के मलवे के साथ पड़ा रहता है। अतः भूमि मे पेड़ पौधों के मलवे एकत्र करके जला देना चाहिये। रोग के लक्षण दिखाई देते ही केराथेन एम. सी. (0 1%) या बेवीस्टीन (6.5%) का 1–2 बार छिड़काव कर छुटकारा पाया जा सकता है।

पत्ती अंगमारी
(Leaf blight)

गरमों वर्गी फसल का पत्ती अंगमारी एक महत्वपूर्ण रोग है। सरसों, तोरिया एव राई के अलावा इस रोग का प्रकोप गोभी पात गोभी, मूली, शलजम आदि पर

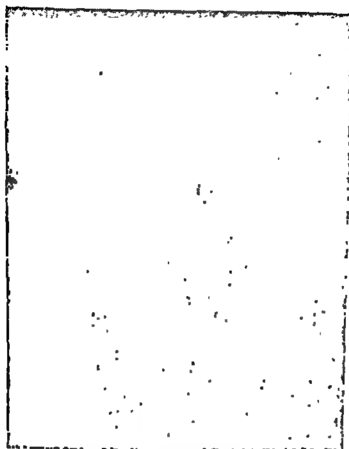


चित्र 5 प. 4 चूर्णिल ब्रासिका के तने व डंठल पर लक्षण

भी होता है। ब्रेसिका जनसिया (Brassica juncea), ब्रे० निग्रा (B. nigra) एवं ब्रे. एल्बा (B. alba) के कुछ प्रभेद इस रोग के प्रति प्रतिरोधी हैं।

लक्षण :—

फसल बोने के तीन-चार सप्ताह बाद ही इस रोक के लक्षण दिखाई देते हैं। प्रारम्भ में रोग के लक्षण पौधों की पत्तियों पर छोटे, विच्छिन्न बिखरे हुए धब्बों के रूप में दिखाई देते हैं (चित्र 5 प. 5)। अधिकांश धब्बे धीरे-धीरे कुछ कम अथवा पूर्णतया गोल हो जाते हैं। साधारणतः पत्तियों की सतहों पर अधिक धब्बे नहीं बनते हैं किन्तु जब रोग उग्र रूप धारण करता है तो अधिकांश भाग धब्बोयुक्त हो जाता है। धब्बों के आस-पास के स्थान का क्लोरोफिल नष्ट होने लगता है और एक संकीर्ण पीलिमा क्षेत्र बन जाता है। फलियों पर भी इस रोग के लक्षण दिखाई देते हैं तथा उग्रता की स्थिति में तना भी प्रभावित होता है जिसके फलस्वरूप फलियां



चित्र 5 घ. 5 सरसों के अंगमारी रोग

पकने से पूर्व ही पौधा मुरझा जाता है। फलियों पर धब्बे जन्मामित्त होते है तथा परजीवी फलियों में प्रवेश कर बीजों को संक्रमित कर देते हैं।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and life cycle) :—

क्रुसीफर्स की फसल पर अंगमारी के लक्षण तीन प्रकार की आल्टरनेरिया की जाति से उत्पन्न हो सकते हैं।

(1) आल्टरनेरिया ब्रेसीकी Alternaria brassicae (Berk.) Sacc.

(2) आल्टरनेरिया ब्रेसीसीकोला A. brassicicola (Schw.) Wiltshire

(3) आल्टरनेरिया रफेनाई A. raphani Groves and Skolko

कवकजाल पटयुक्त शाखायुक्त, गहरे रंग का होता है। आ० ब्रेसीकी से प्रभावित पौधों में धब्बे छोटे, हल्के रंग के दिखाई देते हैं जबकि आ. ब्रेसीसीकोला

में गहरे तथा आ. ब्रैसीकी से थोड़े बड़े 1 से. मी. व्यास तक के दिखाई दे सकते हैं। नम मौसम में फफूंद के बीच से नीली सी वृद्धि दिखाई देती है। आ. रेफेनाई का प्रकोप देरी से होता है तथा जो फसल बीज के लिए ली जाती है, उस पर इस रोग का प्रकोप दिखाई देता है। धब्बे पीले उठे हुए गोलाकार से दीर्घवृत्तीय, 1 से. मी. व्यास तक के होते हैं। धब्बों के बीच से काला बीजाणुकरण होता है।

नीयरगार्ड (Neergaard, 1945) के अनुसार आ. ब्रैसीकी के कोनिडिया 33–147 × 9–33 माइक्रोन के 3 से 18 पटयुक्त, बहुत ही छोटी जंजीर में तथा चोंच 9–148 माइक्रोन की होती है।

चेंगस्री (Changsri, 1961) ने तीनों आल्टरनेरिया से उत्पन्न क्रूसीफर्स की जातियों का विस्तृत अध्ययन किया :—

(1) आल्टरनेरिया ब्रैसीसीकोला :—कोनिडियोफोर जैतूनी रंग के पटयुक्त, शाखायुक्त 5–7·5 × 35–45 माइक्रोन के होते हैं। कोनिडिया प्रति मुदगराय 8 से 10 पटयुक्त, 11 से 17 माइक्रोन चौड़े एवं 50–73 माइक्रोन लम्बे होते हैं। कोनिडिया कोनिडियोफोर के सिरे पर बनते हैं। चोंच नहीं होती है तथा लम्बी जंजीर में कोनिडिया बनते हैं।

(2) आल्टरनेरिया ब्रैसीकी :—कोनिडिया गहरे, 125 से 225 माइक्रोन लम्बे एवं 16 से 28 माइक्रोन चौड़े होते हैं। कोनिडिया में 10 से 12 अनुप्रस्थ पट तथा चोंच काफी लम्बी होती है। अधिकतर जंजीर में न होकर अकेले होते हैं। कोनिडियाफोर पूलिका (fescicles) में उत्पन्न होते हैं।

(3) आल्टरनेरिया रेफनाई :—कोनिडिया 70–115 × 14–18 माइक्रोन के तथा किनारे उठे हुए तथा पीले घिरे, 6–9 अनुप्रस्थ पट के होते हैं। इनमें चोंच आ. ब्रैसीकी से छोटी होती है तथा क्लेमाइडोबीजाणु भी बनते हैं।

रोग का वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार :—

ये फफूंदिया अन्तः बीजोढ़ हैं। बीजोढ़ के साथ भूमि में पेड़ पौधों के मलबे के अन्दर उपस्थित कवकजाल एवं बीजोढ़ भी रोग के चिरस्थायी होने में सहायक होते हैं। द्वितीयक संक्रमण प्राथमिक संक्रमण से बने कोनिडिया द्वारा हवा के साथ विकीर्णन में होता है।

रोग नियन्त्रण (Disease Control) :—

(1) चूंकि फफूंद बीजों के अन्दर रहती है तथा उक्त बीजों को पारायुक्त रसायन से उपचारित करना लाभप्रद नहीं रहता है। गरम जल विधि इस रोग की रोकथाम में बड़ी सहायक सिद्ध हुई है। बीजों को स्व

पानी में 50° से. पर 50 मिनिट रखने से रोगजन या व्याधिजन नष्ट हो जाते है ।

(2) फसल के मलबे ग्रादि को एकत्र कर जला देना चाहिये ।

(3) रोग प्रतिरोधी किस्मे प्रयोग में लायें । ब्रेसीका जनसिग्रा, ब्रे. निग्रा एवं ब्रे. एल्वा की कुछ प्रभेद ब्रा. ब्रेसीकी से साधारण प्रतिरोधी हैं । ब्रे. नेफसल एक प्रभेद एवं ब्रे. एल्वा की दो प्रभेद स्वीडेन से ग्रत्यधिक प्रतिरोधी पायी गयी । ग्रक्तर हुसेन एवं ठाकुर (Akhtar Husain and Thakur, 1963) ।

सरसों का कंड
(Mustard smut)

मैकराय *Mc Rae (1926)* ने पूसा मे यूरोसिस्टिस कोरालोइड्स Urocystis corraloides Rost का सरसो की जड़ों पर ग्राक्रमण देखा । मुदकर (1938) ने भी भारत से सरसो पर कड रोग का वर्णन किया । परन्तु उनके मनुसार यू. कोरालोइड्स U. corraloides न होकर यू. ब्रेसीकी U. brassicae है ।

कंड के ग्रतिरिक्त जड़ गलन रोग भी कई प्रकार की फफूंदियो से उत्पन्न होता है, जैसे राइजक्टोनिया सोलेनाई, फ्यूजेरियम की जाति, स्क्लेरोशियम रोलफसी, पी. डीबेरीनम, ग्रादि ।



(ङ) सूरजमुखी के रोग

(Diseases of Sunflower)

सूरजमुखी हमारे घर का एक अच्छा शोभाकारी पौधा है, जिसका फूल देखने मे अत्यन्त आकर्षक और प्रकाशग्राही होता है। कुछ देशों मे जैसे रूस, कनाडा, अर्जेन्ट ईना, युगोस्लाविया आदि मे तिलहन की फसल के रूप मे इसकी खेती की जाती है। इसके तेल मे यह विशेषता है कि इसमे कुछ मात्रा मे लिनोलिक एवं ओलिक अम्ल मौजूद रहता है जो कि कम तेलो मे पाया जाता है। इस फसल पर लगने वाले मुख्य रोग इस प्रकार हैं :—

(1) पत्ती धब्बा	(Leaf spot) Alternaria helianthi (Hansf)
(2) रतुआ या किट्ट	(Rust) Puccinia helianthi Schw
(3) घोंघी गलन	(Head rot) Rhizopus spp
(4) मृदुरोमिल	Downy mildew Plasmopara halstedii
(5) सेप्टोरिया पत्ती धब्बा	Septoria helianthi
(6) म्लानि	Verticillium alboatrum
(7) कालर गलन	Sclerotium rolfsii
(8) चूर्णिल आसिता	Erysiphe cichoracearum
(9) सफेद किट्ट	Albugo tragopogonis

पत्ती धब्बा
(Leaf spot)

इस रोग के कारण पत्तियों पर गोल बिखरे, हुए, भूरे धब्बे बारिश के मौसम में बनते हैं। बाद मे ये धब्बे आपस मे एक दूसरे से मिलकर बड़े हो जाते हैं। पूर्ण रूप मे विकसित धब्बा गहरा भूरे रंग का होता है तथा किनारे पीले होते हैं। बहुत ज्यादा धब्बे बनने पर परिपक्व निष्पत्रण (defoliation) होता है। कभी-कभी धब्बों के चारों ओर किनारे पर चमकीले पीले रंग की भी जोन (zone) बन जाती है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and Life cycle) :—

यह रोग आल्टरनेरिया हेलिएन्थाई (Alternaria helianthi Hansf) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। पहले इस फफूंद को (Hansford, 1943; Tahons, 1963; Pavgi, 1964) हेल्मिन्थोस्पोरियम में वर्णित किया गया क्योंकि

अनुप्रस्थ पट तो काफी मात्रा में दिखाई दिये तथा अनुलम्ब पट उपस्थित नहीं थे। कवक-जाल पटयुक्त, शाखायुक्त, भूरा 2·5 से 5 माइक्रोन चौड़ा होता है। कोनिडियोफोर, पीले, बेलनाकार, बिखरे हुए, 5 तक पट, 25–80 × 8–11 माइक्रोन के होते हैं। कोनिडिया बेलनाकार से लम्बे, सीधे तथा कुछ मुड़े हुए, पीले से भूरे 1–11 पटयुक्त, अधिकतर अनुप्रस्थ पट की उपस्थिति तथा कभी-कभी अनुलम्ब पट का होना, 40–110 × 13–28 माइक्रोन के तथा दोनों सिरे गोलाकार होते हैं एवं कोनिडिया जंजीर में नहीं बनते। इस रोग का प्रकोप मई-जून में सबसे कम तथा दिसम्बर में सबसे अधिक होता है। तरुण फसल कम प्रभावित होती हैं। जो फसल 15 अक्टूबर से प्रथम फरवरी के सप्ताह से बोई जाती हैं, उनमें रोग कम आता है जबकि 15 फरवरी से सितम्बर तक बुवाई करने पर इस रोग का प्रसर सबसे अधिक होता है।

रोकथाम :—

अभी तक इस रोग की रोकथाम हेतु कोई निश्चित विधिक्रम तैयार नहीं किया गया है। परन्तु फफूंदनाशी जैसे जिनेब, कैप्टान एवं ब्लाइटोक्स 0 2 प्रतिशत का छिड़काव लाभकारी पाया गया है (नारायण एवं सक्सेना, 1973)। कोयम्बटूर में कारबेन्डाजीम 0·03% या बेनोमिल 0·10% या थायाबेन्डाजोल 0·03% से छिड़काव कर इस रोग की रोकथाम की।

किट्ट
(Rust)

सूरजमुखी की फसल पर किट्ट रोग का बहुत अधिक प्रयोग होता है। पत्तियों पर छोटे भूरे धब्बे बनते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में धब्बे बहुत छोटे आकार के होते हैं, जो धीरे-धीरे बड़े तथा एक दूसरे से मिले हुए प्रतीत होते हैं (चित्र 5 ङ 1)।



(चित्र 5 ङ. 1)

शुरू में ये धब्बे नीचे की पत्तियों पर बनते हैं। परन्तु धीरे-धीरे सम्पूर्ण पत्तियों, तने उठले आदि पर भी दिखाई देते हैं (चित्र 5 ङ 2)। प्रारम्भ में ये धब्बे एक महीन झिल्ली से ढके रहते है, परन्तु जैसे-जैसे इनका परिमाण बढ़ता है, झिल्ली फट जाती तथा यूरिडोबीजाणु बाहर निकल आते है। उग्रावस्था में सम्पूर्ण पत्ती पीली पड़ जाती है। परन्तु बहुत कम ही पत्तियां गिरती हैं।



(चित्र 5 ङ 2)

रोगकारक जीव (Etiology aud life cycle) :—

यह रोग पक्सीनिया हेलीएन्थाई (Puccinia helianthi Schw) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है जो बहुरूपी के साथ-साथ एकाश्री (autoacious) भी है। पिक्नीडिया एवं ईसीडिया अपने आप उगे गन्ने की फसल के मलबे (debris) बीजांकुर पर दिखाई देते हैं। ग्रसित फसल से अन्तग्राम स्वस्थ फसल पर हवा द्वारा विकिरण होता है। यूरिडोबीजाणु गोलाकार, दीर्घवृत्तीय $17–21 \times 24–27$ माइक्रोन के भूरे, 1–2 माइक्रोन मोटे तथा 2 बाह्य भित्ति पर 2 अनित छिद्र होते हैं जो मध्यवर्तीय रहते हैं। टेल्यूटोबीजाणु दो कोशिक' दीर्घवृत्तीय, $21–31 \times 28–50$ माइक्रोन के, सिरे से गोलाकार, भित्ति जैतूनी भूरी होती है।

रोकथाम :—

इस रोग की रोकथाम प्रतिरोधी किस्मों के प्रयोग से की जा सकती है। एडमिरल (admiral) एवं एडवेन्ट (advent) इसमें प्रतिरोधी है। निम्न

क्लोराइड (0·1 प्र.श.) या थायोविट M डायथेन 41,45 छिड़काव द्वारा इसकी रोकथाम की जा सकती है। फसल चक्र तथा अपने आप उगे बीजांकुर को भी नष्ट कर देना लाभप्रद रहता है।

राइजोपस गलन
(Rhizopus rot)

इस रोग का प्रकोप वातावरण (atmosphere) मे लगातार नमी हो तथा सविराम (intermittant) बारिश हो तब बहुत अधिक होता है। खरीफ में बोयी जाने वाली फसल इस रोग से काफी प्रभावित होती है। इस रोग के कारण सिरे के पास की ऊपरी पत्तियां प्रभावित होती है। जलासिक्त हल्के भूरे धब्बे सिरे (head) के बाहरी स्तर पर बनते हैं तथा ग्रसित हिस्सा मुलायम (soft) हो जाता है जिसको आसानी से दबाया जा सकता है। ग्रसित सिरे मे बीज बनने पर काफी असर होता है। बहुत अधिक ग्रसित सिरे सफेद धागे जैसी वृद्धि से घिरे रहते है, जिसमे फफूंद की काली आकृति दिखाई देती है। ग्रसित सिरे मे बीज नही बनते हैं तथा खाली रहते हैं। उग्रावस्था में पूर्ण सिरा मुरझा जाता है या गिर जाता है। (Mishra et al, 1972)।

यह रोग राइजोपस की जाति से उत्पन्न होता है। यह फफूंद सिरे पर कीड़े या अन्य किसी माध्यम से प्रवेश करती है। कवकजाल भूरा, अण्डकोशिक होता है। जिससे बीजाणुधानी बनती है। भूरे से काले गोल बीजाणुधानी के अन्दर बनते है। बीजाणु हवा द्वारा उड़कर नये पोषक को सक्रमित कर देते हैं।

इस रोग की रोकथाम फेनिन्थयोन 0 1 प्रतिशत+थायोविट 0·2 प्रतिशत के द्वारा सिरे निकलने की अवस्था मे छिड़काव करने पर की जा सकती है।

चूर्णिल आसिता

सूरजमुखी की फसल पर चूर्णिल आसिता से भी काफी नुकसान होता है। पत्तियो पर सफेद-सफेद सा चूर्ण दिखाई देता है। यह रोग ऐरीसाइफी चिकोरे-सिएरम एवं स्फेरोथिका पुलीजीविया से उत्पन्न होता है। इसकी रोकथाम गन्धक के भुरकाव द्वारा सम्भव है।

जड़ व कालर गलन

यह रोग एक प्रकार की फफूंद राइजक्टोनिया एवं स्कलेरोशिय से होता है। इसके प्रकोप होने से अंकुरण कम होता है तथा जड़ें सड़ जाती हैं। पौधा मुरझा कर सूख जाता है। इसकी रोकथाम हेतु 3% थरवाम या केप्टान द्वारा बीज को उपचारित कर रोग नियन्त्रण सम्भव है (चित्र 5 ङ 3)।

कोयम्बटूर में आल्टनेरिया पत्ती धब्बा की रोकथाम कारबेन्डाजीम 0 3 प्र.श. या बेनोमिल 0·10 प्र. श. या थायोबेन्डाजोल 0 3 प्र. श. के छिड़काव द्वारा रिट्ट



चित्र 5 ड. 3 सूरजमुखी का जड़
गलन (स्कलेरोशियम) रोग

की रोकथाम डायथेन Z–78 के 2–3 छिड़काव द्वारा की गई। सूरजमुखी में बीजोपचार हेतु केप्टान पी. सी. एन. बी, एग्रोसन जी. एन. एवं थिराम की सिफारिश की गयी कोल्टे, (1974 कनाड़ा)। 953-8-3 स्कलेरोटिनिया स्कलेरोशिया से प्रतिरोधी पायी गयी (कोल्टे आदि, 1976)। सितम्बर के मध्य में बुवाई करने से चारकोल सड़न, स्कलेरोशियम मुरझान तथा कुछ पत्ती अंगमारी की रोकथाम के साथ उपज में भी काफी वृद्धि हुई (कोल्टे एवं तिवारी, 1977)।



कुसुम के रोग

(Diseases of Safflower)

कुसुम (Safflower) की खेती तिलहन के रूप मे भारत, चाईना, इजिप्ट एवं अफ्रीका देशों में मुख्यतः की जाती है। इस फसल पर मुख्य रूप से किट्ट, पत्ती धब्बा रोग का प्रकोप होता है।

किट्ट (Rust) :—

कुसुम की फसल का यह एक महत्वपूर्ण रोग है। तीन प्रकार के किट्ट रोग का मुख्य रूप से प्रकोप होता है। जो पक्सीनिया कारथेमी (P. carthami (Hutz) Corde) एव ईसीडियम कारथेमी (Aecidium carthami Dietr) फफूंदी से उत्पन्न होता है, जिनमे पक्सीनिया कारथेमी महत्वपूर्ण है। कुसुम के अलावा इस रोग का प्रकोप जंगली पोषक कारथेमस आक्सीकेन्था (Prasad, 1947; Prasad and Chothia, 1950) पर भी होता है।

लक्षण (Symptoms) :—बीजपत्र पत्तियों तथा पौधे के अन्य भाग पर इस रोग के लक्षण छोटे स्फोट के रूप मे दिखाई देते हैं। बीजपत्र पर सक्रमण होने पर पौधा मुरझा जाता है। स्फोट जैतूनी, भूरे, उठे हुए, परिअण्डधानीय (amphigenous) एवं बिखरे हुए होते हैं (चित्र 5 च. 1)। स्फोट बहुत छोटे आकार के होते हैं। जो धीरे-धीरे तथा एक दूसरे से मिले हुए प्रतीत होते हैं। एक यूरिडोस्फोट में असंख्य यूरिडोबीजाणु बनते हैं। आगे चलकर ये यूरिडोस्फोट टीलिया बनाते हैं जिससे स्फोट का रंग कालाहो जाता है। यदि इस किट्ट से हाइपोकोटायल प्रभावित होता है तो अतिवृद्धि (hypertrophy) के लक्षण भी दिखाई देते हैं। इस रोग का प्रकोप प्रायद्वीपीय भारत (peninsular India) में काफी होता है। पद गलन (Foot rot) जड़गलन (root rot) के लक्षण भी दिखाई देते हैं।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology and Life cycle)

यह रोग पक्सीनिया कारथेमी (Puccinia carthemi (Hutz) corda) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। यह फफूंद एकाश्रयी (autoecious) है। इसके यूरिडो एव टेल्यूटोबीजाणु सी. टिंक्टोरियस C. tincterius एवं सी. आक्सीकेन्था C. oxycantha पर भी बनते हैं। यूरिडोबीजाणु हल्के भूरे रंग के 21 – 28 ×



चित्र 5 च 1 कुसुम का किट्ट रोग

19 – 25 माइक्रोन के होते हैं। टेल्यूटोबीजाणु उन्हीं सोरस पर बनते हैं जो गोल से दीर्घवृत्तीय, जैतूनी भूरी, मोटी भित्ति की, रंगहीन, 28 – 39 × 21 – 26 माइक्रोन के होते हैं। यूरिडोबीजाणु 18 – 20° से. पर अंकुरित होते हैं तथा एक वर्ष तक या अधिक जीवित रहते हैं।

यह रोग बाह्य बीजोढ़ तथा मृदूढ़ भी है तथा इसके टेल्यूटोबीजाणु बीज में सुप्तावस्था (dorment) में रहते हैं और सम्भवतः यही इसके आवर्तन (recurrence) का मुख्य साधन है। पर मौसम (off season) में जंगली घास (C oxycantha) पर भी यह फफूंद चिरस्थायी रहती है। द्वितीयक प्रसार यूरिडियम अवस्था द्वारा होता है।

पिक्निम्रा एवं ईसीया बनाती है। पिक्निम्रोबीजाणु सूक्ष्म, एक कोशिक रंगहीन, 3–4×2–3 माइक्रोन के होते हैं। ईसीडियम पिक्निम्रोबीजाणु के युग्माष्टिकरण हो जाने से पत्तों के निचली सतह पर बनते हैं जिनमे अनेक ईसीडियोबीजाणु होते हैं। ईसीडियोबीजाणु गोलाकार, रंगहीन 21–28×19–27 माइक्रोन के होते हैं। ईसीडियोबीजाणु अंकुरण होकर अलसी की फसल पर यूरिडिया बनाते है। इस प्रकार यह एकाश्रयी किट्ट है। टेल्यूटोबीजाणु का विश्रामकाल बहुत लम्बा होता है। इन बीजाणुओं के अंकुरण से पहले इनको हिमपात का मिलना बहुत आवश्यक होता है।

वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार :—

यूरिडोबीजाणु फसल कटने के बाद मैदानों में मई-जून के अन्दर बहुत अधिक तापमान होने के कारण नष्ट हो जाते हैं। टेल्यूटोबीजाणु भी इतने अधिक तापमान पर सुरक्षित नहीं रह सकते। यूरिडो बीजाणु एवं टेल्यूटोबीजाणु दोनों पहाड़ों पर विशेषतः कांगरा वैली में चिरजीवित रहते हैं। परन्तु अगले वर्ष तक मैदानी क्षेत्रों में रोग फैलाने में निष्क्रिय हो जाते हैं। सम्भवतः इसके यूरिडोबीजाणु सार्पार्श्विक पोषक लाइनम माइसोरेन्स (Linum mysorense) पर चिरजीवित सम्भवतः रहती हैं तथा अनुकूल मौसम होने पर रोग फैलाने में सहायक रहते है।

नियन्त्रण (Control) :—

(1) रोग प्रतिरोधी किस्में बोयें। एन. पी.–9, 10, 56, 95, 218, 279, 1198, टाईप–1, 1150–5 बी. ए., आदि प्रतिरोधी हैं।

(2) सम्भवतः इस फफूंद के बीजाणु बीजों के साथ भी रहते हैं। अतः बीजोपचार भी लाभप्रद पाया गया है। फसल में रोग का प्रकोप कम करने हेतु डायथेन एम.–45 (0·2 प्रतिशत) अथवा जिनेब 0 3 प्रतिशत का छिड़काव करें।

अंगमारी
(Blight)

इस रोग का प्रकोप उत्तरप्रदेश एवं मध्यप्रदेश में काफी होता है। फसल बोने के 3–4 सप्ताह पश्चात् इस रोग के लक्षण दिखाई देते हैं। पत्तियों पर गहरे, भूरे, अनियमित छोटे आकार के धब्बे बनते हैं। अधिकांश धब्बे बाद में गोल हो जाते हैं। पत्तियां मुड़-तुड़ सी जाती हैं। फफूंद पुष्पक कलिका को भी सङ्क्रमित करती है। फलतः सिकुड़ कर खुल नहीं पाती है। प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया धीमी पड़ जाती है।

हेतुकी :—

यह रोग आल्टरनेरिया लाइनी (Alternaria lini Dey) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है जो कोनिडियाफोर में

सिरे पर उत्पन्न होते हैं। प्राथमिक संक्रमण बीजों द्वारा तथा द्वितीयक संक्रमण वातोढ़ कोनिडिया द्वारा होता है।

नियन्त्रण (Control) :—

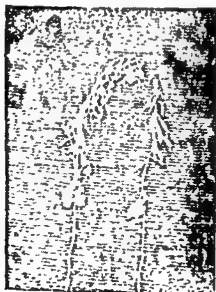
(1) एग्रोसन जी. एन. (0·2 प्रतिशत) से बीजोपचार करें। रोग के लक्षण दिखाई देते ही डायथेन Z – 78 (0·2 प्रतिशत) का छिड़काव करें।

(2) बुवाई या तो जल्दी या देर से करने पर भी रोग का संक्रमण कम होता है।

(3) फसल-चक्र अपनायें।

म्लानि
(Wilt)

इस रोग का प्रकोप पौधे की छोटी अवस्था से लेकर पकने तक कभी भी देखा जा सकता है। इस रोग के कारण छोटी अवस्था में पौधे मुरझाने लगते हैं। पत्तियां पीली पड़ जाती हैं तथा बाद में सम्पूर्ण पौधा सूख कर मर जाता है। यदि पौधों को उखाड़ कर देखा जावे तो पौधे की जड़ों में काले रंग की धारियां दिखाई देती हैं जो पहले पतली होती हैं तथा धीरे-धीरे चौड़ी हो जाती हैं। (चित्र 5 द·2)



(चित्र 5 द·2) धनाी का म्लानि रोग

हेतुकी :—

यह रोग 1923 में सर्व प्रथम बिहार से वर्णित किया गया। यह फ्यूजेरियम

आक्सीस्पोरम एफ लाईनी (**Fusarium oxysporum f. lini**) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। पोषक में फफूंद केवल वाहिनी ऊत्तको तक ही सीमित रहती हैं।

यह फफूंद बीज के द्वारा भी चिरजीवित रहती है। यह एक मृदुढ़ फफूंद है जो वैकल्पिक परजीवी हैं। कम मृदा नमी एवं हल्की (sandy) मृदा मे यह रोग काफी फैलता है।

नियन्त्रण :—

(1) बीजोपचार के लिए थिराम 3 ग्राम या सेरेसन 2 ग्राम या 1 ग्राम बेवीस्टीन प्रति किलो ग्राम बीज के हिसाब से उपयोग में लायें।
(2) गर्मी में गहरी जुताई करें।
(3) फसल चक्र अपनायें।

चूर्णिल आसित
(Powdery mildew)

इस रोग का प्रकोप जनवरी के अन्तिम सप्ताह मे होता है। पौधो की पत्तियों एवं टहनियों पर सफेद चूर्ण की तरह फफूंद की वृद्धि दिखाई देती है। इसकी रोकथाम हेतु घुलनशील गन्धक 0 2 प्रतिशत या बेवीस्टीन 0·1 प्रतिशत का छिड़काव करें। अलसी की प्रजाति एस. पी. एस 77/49–2, एस. पी. एस. 77/23–10, एल. सी.–216, एल. सी.–267 किस्में बोयें।

———

Abdou, Y. A. M. (1966). The source and nature of resistance in Arachis L. species to Mycosphaerella arachidicola Jenk. and Mycosphaerella berkeleyii Jenk., and factors influencing sporulation of these fungi. Ph. D. thesis. North Carolina State Univ., Raleigh, U. S. A. 118p

Addy, S K and B K. Das (1967). Comparative fungicidal trials for control of Tikka disease of groundnut and early blight of potato in Orissa. Abstr. Intern. Symp. Pl. path. New Delhi p : 64

Arthur, J C (1934). Manual of the Rusts in the United States and Canada Purdue Res. Foundation, Lafayette, Indian 438p

Ashworth, L J., Jr., B. C. Langley, M. A. W. Mian and C. H. Wrenn. (1964). Epidemiology of a seedling disease of Spanish peanut caused by Aspergillus niger. Phytopathology 54: 1161–1166.

Aujla, S S and J S Choban (1975). Production of polygalcturonase by both producer and non-producer isolates of Aspergillus flavus Link ex Fries in vitro and in vivo. Indian Phytopath. 28: 294–295.

Aujla, S S, J. S Chohan and M. S. Kang (1975). Field occurrence and chemical control of 'Aflaroot' disease of groundnut caused by Aspergillus flavus Link ex Fries. J Res Pb Agri. Univ. Ludhiana 12: 52–55.

Bledsoe, R. W. and H. C. Harris (1946). Leaf spot of peanut associated with magnesium deficiency. Plant Physiol 21: 237–240

Boedijn, K. B. (1928). Notes on some Aspergilli from Sumatra. Ann. Mycol. 26: 69-84.

Boyle, L W. (1958). Fundamental concepts in the development of control measures for southern blight and root rot on peanuts. Plant Disease Reptr. 40: 661–665.

Boyle, L W. (1964). Low gallonage applications of fungicide

for control of peanut leaf spots. Univ. Georgia Agr. Exp. Sta. Mimeo. Ser. 203, 20p.

Butler, E. J. (1914) Tikka disease and introduction of exotic groundnuts in Bombay Presidency Agric Jour India. 3: 59–70.

Caldwell, R. M. and G. M Stone (1936) Relation of stomatal function of wheat to invasion and infection of leaf rust (Puccinia tritcina) J. Agric. Res 52: 917–932.

Chevaugeon. J (1952). Recherches surla cercosporiose de l' Arachide en Moyenne Casamance. Ann. Inst. Nat. Rech. Agron., Ser. C. 3: 489–510. (Rev. Appl. Mycol. 32: 661–662

Choham, J. S. (1965). Collar–rot of groundnut (Arachis hypogeae L) caused by Aspergillus niger van tiegham and Aspergillus pulvarulentus (Mc Alpine) Thom, in the Punjab. J. Res. (Ludhiana) 2: 25–32.

Chohan J. S. (1972). Final progress report 'ICAR Scheme for research on Important diseases of Groundnut in the Punjab for the period 1957–1967. Dept. of Plant Pathology. Collage of Agriculture, Punjab Agric. Univ. Luddiana. 177p.

Chohan, J. S. (1973). Recent advances in diseases of groundnut pp. 171–184. In (Eds. S. P. Raychaudhuri and J. P. Verma). 'Current Trends in Plant Pathology'. S. N. Das Gupta Birthday celebrations Committee, Lucknow, 341p.

Chohan J. S and V. K. Gupta (1968). *Aflaroot, a new disease of groundnut* causud by Aspergillus flavus Link. Indian J. Agric. Sci. 38: 568–570.

Chorin, Mathida (1961). Powdery mildew on leaves of groundnut. Bull. Res Council Israel 100: 148–149.

Chupp, C. (1953). A monograph of the fungus genus Cercospora. Ithaca, N. Y. 667p.

Cooper, W. E. (1956). Chemical control of Sclerotium rolfsii in Peanuts (Abstr) Phytopathology 46: 9.

Davey, C. B and G. C. Papavizas (1960). Effect of dry mature plant materials and nitrogen on Rhizoctonia solani in soil. Phytopathology 50: 516–522.

Deighton, F. C. (1967). Studies on Cercospora and allied genera. II. CMI Mycol. Papers No. 112.

D' Oliveria, B (1938). Studies on Puccinia anomala rust. II Histopathological variations in susceptible and resistance barley inoculated with races 12 and 17. Revista Agron. 26: 1 54.

Feakin, Susan B. (Ed.) (1967). Pest control in groundnut. Minist. Overseas Dev. PANs Man. No. 2, 138 p.

Flor, H. H. (1954) Identification of races of flax rust by lines with single rust conditioning genes. U. S. P. A. Tech Bull 1087: 1–25

.... (1955). Host parasite interaction in flex rust, its genetics and other implications. Phytopathology. 45: 680–685.

Flar, H. H. (1956) The complimently gene system in flex rust. Advances Genet. 8: 29–54.

Frezi, M. H. (1960) Enfermedades del mani en la provincia de cordoba (Argentina) Rev. Invest. Agr. 14(2) : 113–155.

Gemawat, P. D. and N. Prasad (1965). Further studies on Phytophthora blight of sesamum. Indian Phytopath. 17. 273–283.

Ghuge, S. S, G. M. Godbole and C. C. Mayee (1979) Control of groundnut rust and Tikka by selective systemic fungicides Indian Phytopath. 32: 160.

Gibson, I. A. S. (1953). Crown rot a seedling disease of groundnut caused by Aspergillus niger. British Mycol. Soc. Trans. 36: 198–209.

Gibson, I. A. S. (1953). Crown rot, a seeding disease of groundnut caused by Aspergillus niger. II. An anomolous effect of organo mercurial seed dressings. British Mycol. Soc. Trans. 36: 324-334.

Gibbons, R. W. (1966). Mucosphaerella leaf spots of groundnuts FAO Plant Protection Bull. 14 (2): 25–30.

Gibbons, R. W. and B. E Bailey (1967). Resistance to Cercospora arachidicola in some species of Arachis in Rhodesia, Zambia, and Malwai J. Agri. Res 5: 57–59

Gupta, V. K. and J. S. Chohan (1970a). Control of surface borne fungi on groundnut kernels with different fungicides. Plant Science. 2: 88–92

Gupta V. K. and J. S. Chohan (1970b). Losses and nature of damage caused by seed rot fungi in stored groundnuts in the Punjab. Indian Phytopath. 23: 696-609.

Gupta V. K. and J. S. Chohan (1970c). Seed-borne fungi and seed health testing in relation to seedling diseases of groundnut. Indian Phytopath. 23: 622–625.

Gupta, V. K. and J. S. Chohan (1971). Post harvest treatment of groundnut kernels with fungicides, their storage and viability for seed in the next season. J. Res. Pb. Agric. Univ. Ludhiana 8: 331–334.

Harrison, A. L. (1961). Control of Sclerotium rolfsii with chemicals. Phytopathology 51: 124–128.

Hart, Helen (1929). Relation of stomatal behaviour to stem rust resistance in wheat. J. Agric. Res. 39: 929–948.

Higgins, B. B. (1927). Physiology and parasitism of Sclerotium rolfsii Sacc. Phytopathology 17: 417–448.

Higgins, B. B. (1956). Les maladies de l' arachide aux Etats-Unis. Oleagineux 11: 213–230.

Hemingway, J. S. (1954). Cercospora leaf spots of groundnut in Tanganyika. E. Afr. Agr. J. 19: 263–271.

Hemingway, J. S. (1957). The resistance of groundnut to

Cercospora leaf spots. Empire J. Exp. Agr. 25: 60-68.

Hsi, D. C. H. (1966). Observation on an outbreak of Aspergillus crown rot of Valencia peanuts in New Mexico Plant Disease Reptr. 50: 475–177.

ICRISAT, (1973). Research Highlights (News Letter) at ICRISAT Groundnut, ICRISAT Hyderabad, 4 p.

Jackson, C. R. (1963). Seed-borne fungi in peanut seed stocks. Univ. Georgia Agr. Exp. Sta. Mimeo Ser. N. S. 166, 16p.

Jackson, C. R. (1964). Field comparisions of seed-treatment fungicides for control of Aspergillus crown rot and other seeding diseases of peanut. Plant Disease Reptr. 48. 264–267.

Jackson, C. R. (1967). Development of fungi in peanuts during artificial drying. Univ. Georgia Agr. Exp. Sta. Res. Rept. 19, 10p.

Jain, A. C. and K. G. Nema.' (1952). Aspergillus blight of groundnut seedling. Sci. and Cult. 17: 348–349.

Jochems, S C. J. (1926) Aspergillus niger on Katjang tanah De Indische Culteren (Teysmannia) 11: 325–326.

Joshi, L. M , P. Misra, K. R. Sreekantiah, V. C. Lele and D Kak (1959). Studies in Puccinia hordei Otto, causing the leaf rust of barley in India Indian Phytopath. 12 69–75.

Jenkins, W. A. (1938). Two fungi causing leaf spots of peanut. J. Agr. Res. 56: 317–332.

Jenkins, W. A. (1939). The development of Mycosphaerella berkeleyii. J. Agr. Res. 8: 617–620.

Jensen, R. E., and L. W. Boyle (1965). The effect of temperature, relative humidity and precipitation on peanut leaf spot. Plant Disease Reptr. 49: 975–978

Khan, S. A. and M. Kamal (1961). Identity of Cercospora personata (Berk. & Curt.) Ellis & Everhart causing leaf-

spot of groundnut (Arachis hypogaea L.) Pakistan J Res. 13: 188,

Kale, G. B. and N. Prasad (1957) Phytophthora blight of Sesamum. Indian Phytopath. 10: 38–47.

Kak, D., L. M. Joshi, R. Prasada, and R. S. Vasudeva (1963) Survivial of races of Puccinia graminis tritici (Pers) Erik. & Henn. Indian Phytopath. 16: 177–127.

Karve, A. D., M. S. Ketkar and A. K. Deshmukh (1976). Resistance of Safflower to insects and diseases. 2nd annual Rep. June 1, 1975 to May 31, 1976. Nimkar Agril Res. Inst. Phaltan, Maharashtra, pp. 40.

Karve, A. D., V. K Murugkar, A. K. Deshmukh, H. S. Bedekar and S. M. S. Qadri (1977). Resistance of safflower to insects and diseases. 3rd Annual Rep. June 1, 1976 to may 31, 1977. Nimkar Agril. Res. Instt., Phalton, Maharashtra.

Kolte, S. J. (1974). Influence of fungicidal seed treatment on emergence of sunflower under field conditions. Pesticide. 8.

Kolte, S. J. and A. N. Mukhopadhyay (1973). Occurence of some new snnflower diseases in India. PANS 19: 392–397.

Kolte, S. J , B. Singh and A. N. Tewari (1976). Evalution of sunflower genotypes for resistance to Sclerotinia sclerotiorum. Indian J. Mycol. Pl. Pathol. 6: 65.

Kolte, S. J. and A. N. Tewari (1977). Note on the effect of planting dates on occurence and severity of sunflower diseases Pantnagar J. Res. 2: 236–237.

Krantz, J., and E. Pucci (1963). Studies on Soil borne rots groundnuts (Arachis hypogaea) Phytopath. Z. 47: 101.

Levine M. N. and W. J. Cherewick (1952). Studies on dwarf leaf rust of barley. Tech. Bull No. 1056, U. S. D. A.

Lyle, J. A. (1964). Development of Cercospora leaf spot of peanut. J. Alabama Acad. Sci 35: 9.

Mayee, C D., G. M. Godbole and F. A. Patil (1977). Appraisal of groundnut rust in India: Problems and approach PANS 23: 162–165.

Mc Cain, A. H. (1963). Inheritance of pathogenicity in safflower rust (*Puccinia carthami*). Phytopathology 53. 184–187.

Mc Vey, D. V. (1965) Inoculation and development of rust peanuts grown in the greenhouse. Plant Disease Reptr 49: 191–192.

Mc Clean R. C. and W. R. I. Cook (1941). Plant Science Formulae. Macmillan & Co., London. 203 pp.

Mehan, V. K. (1971). Studies on growth requirements of toxigenic and non-toxigenic isolates of *Aspergillus flavus* Link ex Fries, and their effects on different crop plants. M. Sc. Thesis (Plant Pathology). Coll Agric, PAU, Ludhiana. 9: 94 pp.

Mehan, V. K. and J. S. Chohan (1973). Effect of different ingredients from basal medium and effect of incubation period on growth and aflatoxin production by toxigenic and non-toxigenic isolates of *Aspergillus flavus*. Indian J. Mycol. Pl. Pathol. 3: 153–158.

Miller, L. I. (1953). Studies of the parasitism of *Cercospora arachidicola* Hori and *Cercospora personata* (B & C) El & Ev. Ph. D. Thesis, Univ. of Minnesota, St. Paul, U. S A. 120 p.

Mishra, D. P. and V. C. Lele (1963). Physiologic races of linseed rust in India during 1960, 61, 62 Prevalence and distribution Indian oil seeds J. 7: 336–37.

Mishra, D. P. and R. Prasad (1966). Status of linseed rust races in India and sources of resistance Indian Phytopath 19: 184–188.

Mohanty, N. N. (1958). Cercospora leaf spot of seasame. Indian Phytopath. 11: 186–187

Morwood, R. B. (1946). Peanut diseases. Queensland Agr. J. 61: 266–271.

Morwood, R. B. (1953). Peanut pre-emergence and crown rot investigationr. Queensland J. Agr. Sci. 10: 222-236.

Nema, K. G., A. C. Jain and R. P. Asthana (1955). Further studies on Aspergillus blight of groundnut seedlings, its occurence and control. Indian Phytopath. 8: 13: 21.

Noll, A. (1954). Histologische Untersuchungen uber den Rosthefall verschieden anfalliger Gerridestrten, mit besonderer Berucrichtigung von Puccinis simplex auf Gersten Zentrablat fur Bakterilogic abt. (2) 108: (8–12): 282–311.

Papavizas, G. C. and C. B. Davey (19⁺0). Rhizoctonia disease of bean as affected by decomposing green plant materials.

Paracer, C. S., Madho Singh and S. P. Kapoor (1964). Effect of spraying fungicides in the seed-furrows on the incidence of collar rot disease of groundnut. Indian oil seed Journal 8: 30–31.

Prasad, R. (1948) Studies on linseed rust, Melampsora lini (Pers). Lev in India. Indian Phytopath. 1: 1–18.

Prasad, R. (1949). The rust of safflower, Puccinnia carthani (Hutz.) Corda. Curr. Sci. 16: 292.

Prasad, R. (1958) Rust resistance in linseed varieties against Indian physiologic races of Melampsora lini. Proc. I st Contr. Oil seed kikrs India chonditer.

Prasad, N., S. P. Sehgal and P. D. Gemawat (1970). Phytophthora blight of Sesamum. Plant disease Problems I. P. S. 331–339.

Raemakers, R. and G. Preston (1977) Groundnut rust-occurence and foliar disease control in Zambia. PANS 23: 166–170.

Raper, K. B. and Dorthy I. Fennell (1965). The genus Asper-

gillus Williams and Wilkids company, Baltimore Md. USA. 686 p.

Ramkrishnan, V and A. Appa rao (1965). Studies on the Tikka disease of groundnut. Abstr. Indian Phytopath. 18: 324-325.

Ravindranath, V., L. G. Kulkarani and B. App Ji Rao(1965) Preliminary biochem cal observations of leaf spot disease of groundnut. Indian Phytopath. 18: 206-207.

Reddy, M V. (1976) Proceedings of the annual work shop Cum seminar Nagpur April 4-9, 1979 (ICAR) pp 75

Renfro, B. L and H C Yong (1956). Technique for studying varietal response to Septoria leaf blotch of wheat. Phytopathology (Abs) 46: 23-24.

Reyes, G. M (1937). Sclerotium wilt of Peanut, with special reference to varietal resistance. Philippine J. Agr. 8: 245-287.

Rivers, G. W., J. A. Martin and H. L. Kirman (1965). Reaction of seasme to Fusrium wilt in South Carolina. Plant Dis Reptr. 49: 383-385.

Rowell, J. B C. R. Olien and R. D. Wilcoxson (1958). Effect of certain environmental conditions on infection of wheat by Puccinia graminis Phytopathology 48: 371-377.

Schmutterer, H. (1963). Ecology and control of the most important pests and diseases of groundnut (Arachis hypogaea) in south east central Sudan. Z. Pflkankh 70: 199-216.

Sehgal, S. P. and and N. Prasad (1966) Studies on perennation and survival of sesamum Phytophthora. Indian Phytopath 19: 173-177.

Shanta, P. (1960) Studies on Cercospora leaf spot of groundnuts (Arachis hypogaea). J. Madras Univ. 30: 167-177.

Saksena, H. K., G. P. Singh and S. Nath. (1967) Blight

disease of groundnut in India. Indian Phytopath. 21: 67—68.

Smith, L. R. and L. J. Ashworth, Jr. 1965. A comparison of the modes of action of soil amendments and pentachlor-nitrobenzene against *Rhizoctonia solani*. *Phytopathology* 55: 1144–1146.

Sulaiman, M. (1964). Effect of various fungicides for control of Tikka disease of groundnut. Indian oil seed Jour. 8 (4) 319–323.

Stnaib, W. (1937). Die Bestinmung Der' Physiologischen Rasen des Gerstenz Wergostes, *Puccinia simplex* (Kcke) Erikss. Henn. Biol. Rechisanst, F. Land. U. Forsto Abs. (1936) 22 (1) 42–63.

Sulaiman, M. and N. G. Agashee (1965). In-fluence of climate on the incidence of Tikka disease of groundnut. Indian Oil Seed Journal. 9 (3) 176–179.

Sundaram, N. V. (1965). Note on creation of Tikka leaf spot of groundnut. Indian Oil Seed Jour. 9 (2). 98–101.

Swamy, R. N. (1961). Gaseous emanation from groundnut infected by Cercospora personota. (Berk. & Curt.) Ell. Ev. Phytopath. Z. 40: 245–247.

Swamy, R. N. (1964). Respiration in Cercospora infected groundnut tissues. I. *Respiratory stimulation following* infection. Phytopath Z. 50: 2z7-234.

U. S. Department of Agriculture. 1065. Losses in agriculture. Agr. Handbk No. 291, 120 p.

Vasudeva, R. S. (1961). Diseases of Safflower, In (Ed. V. M. Chavan) Niger and Safflower, I. C. O. C. Hyderabad, India

Vijayan, K. M. and S. Natrajan (1964). A preliminary note on the fungicidal control of Tikka leaf spot of groundnut Madras. Agr. J. 51: 218.–220.

Weiss, E, A. (1971) Castor, sesame and Safflower Leonard Hill, An intertext publisher, London, 901 pp.

Woodruff, N. C. (1933) Two leaf spots of peanut (Arachis hypogeae L). Phytopathology 23: 627–640.

Weiss, E, A. (19 1) Castor, Sesame and safflower. Leonard, Hill, London, 901p

Zimmer, D. E. (1965). Rust infection and histological response of susceptible and resistant safflower. Phytopathology 55: 296-301.

Raper, K B. and Dorthy I. Fennell (1965). The genus Aspergillus. Williams and Wilkins Company, Baltimore, Md, U. S. A. 686p.

Zimmer D. E, (1965a) Effect of some anti-fungal substances for control of seedling saflower rust. Plant Dis. Reptr 40: 623–626.



6

रोपण फसलों के रोग

(क) गन्ने के रोग
(ख) तम्बाकू के रोग
(ग) कॉफी के रोग
(घ) चाय के रोग

(क) गन्ने के रोग

(Diseases of Sugarcane)

भारत में शक्कर बनाने का मुख्य साधन गन्ना है। व्यावसायिक फसलों में यह अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। प्रतिवर्ष लगभग 2·2 मिलियन हेक्टर भूमि पर इसकी खेती होती है जिससे 6·2 मिलियन टन गुड़ का उत्पादन होता है। गन्ने की अधिकतम पैदावार उत्तर प्रदेश में होती है। जहां 1·2 मिलीयन हेक्टर में इसकी खेती होती है। वैसे तो इस फसल पर 100 से भी अधिक फफूंदियों से रोग उत्पन्न होते हैं, परन्तु मुख्य रूप से लगने वाले निम्न रोग हैं।

(1) लाली अथवा लाल सड़न (Red rot)
(2) कंड (Smut)
(3) म्लानि (Wilt)
(4) सेट राट (Sett rot)
(5) पत्ती धब्बा :—

(अ) आंख धब्बा— हेल्मिन्थोस्पोरियम सेकराई
Helminthosporium sacchari
Drechelera saccari (Butler) Sul. and Jain

(ब) पीला धब्बा— सर्कोस्पोरा कोपकी :
Cercospora kopkei Krueg

(स) पत्ती धब्बा— सर्कोस्पोरा वेजीनी
Cercospora vaginae krueg

(द) पत्ती दाग— हे. हेलोड्स :
Helminthosporium halodes Drechsler
(=D. halodes (Srechs) Sulram & Jain)

(6) मृदुरोमिल : Downy mildew
(=Exherchitum halodes (Drechsler) Leonard & suggs)

स्के. सेकराई : Sclerospora sacchari Miyake

(7) गोल धब्बा (Ring spot) Leptosphaeria sacchari
लेप्टोस्फीरिया सेकराई Breda de Henn
(8) किट्ट (Rust)
पक्सीनिया कुहनी Puccimia kuehnii (Kr) Butl
प. एरीएन्थी P. erianthi Pad. al Khan
(9) जड़ गलन (Root rout) पीथियमप्रजाति Pythium Spp.

काला अथवा लाल सड़न
(Red rot)

गन्ने (Saccharum officinarum L.) का लाल सड़न एक विध्वंसकारी रोग है, जिसका प्रकोप गन्ना बोये जाने वाले प्रायः सभी भागों में पाया जाता है। सर्व प्रथम इस रोग का प्रकोप 1901 में बारबर ने मद्रास मे गोदावरी नदी के तट वाली फसलों पर देखा। सन् 1938–42 मे बिहार के उत्तरी तथा उत्तर प्रदेश के पूर्वी गन्ना बोये जाने वाले क्षेत्रों में फसल को इस रोग ने पूरी तरह नष्ट कर दिया। इस क्षेत्र की व्यावहारिक प्रसिद्ध जाति सी. ओ. 0–312 के हजारो खेत नष्ट हो गये, फलतः कई चीनी मिलें भी बन्द करनी पड़ी। 1946–47 में भी इस रोग ने गम्भीर महामारी का रूप धारण किया। बटलर तथा उनके साथियों ने इस रोग का विस्तृत अध्ययन 1914–1918 मे किया।

लक्षण :—

प्रारम्भिक अवस्था मे रोग को पहिचानना कठिन होता है, परन्तु वर्षा ऋतु के बाद आसानी से इस रोग को पहिचाना जा सकता है, जब पौधे की वृद्धि रुक जाती है तथा इक्षुशर्करा की रचना शुरू हो जाती है। इस रोग द्वारा भूमि के ऊपर पाये जाने वाले पौधे के सभी भाग संक्रान्त हो सकते हैं, किन्तु रोग का प्रभाव मुख्यतः तनों-पत्तियों तथा मध्य शिराओं पर होता है। प्रारम्भिक अवस्था में रोग के लक्षण केवल पत्तियों तक सीमित रहते हैं। रोग ग्रस्त पत्तियां पीली पड़कर नीचे की ओर झुक जाती हैं तथा समय से पहले ही मुरझा कर झड़ जाती हैं। कभी-कभी पत्तियां फट जाती हैं। रोग के लक्षण पत्ती के मध्य शिराओं पर भी दिखाई पड़ते हैं। पत्ती की मध्य शिरा गहरे लाल रंग की हो जाती है तथा बीच मे भस्मी रंग के क्षेत्र बन जाते हैं। इस भस्मी रंग में काले रंग के बिन्दु प्रतीत होते हैं जो इस फफूंद के एसरवुलस या प्रगुच्छक कहलाते हैं।

तने पर रोग का प्रभाव आन्तरिक होता है। बाहर से देखने पर तना स्वस्थ दिखाई देता है लेकिन अन्दर से पूरा सड़ जाता है। रोगग्रस्त तने का रंग कुछ हल्का पड़ जाता है और गांठों (Nodes) के सिकुड़ने पर तने पर झुरियां पड़ जाती हैं, इसी कारण गन्ने वजन मे हल्के हो जाते हैं तथा आसानी से तोड़े जा सकते हैं। जब गन्ना फट जाता है तो इस रोग के लक्षण अधिक दृष्टिगोचर होते हैं।

रोगग्रस्त तने को फाड़कर देखे तो तने के पिथ मे लाल-लाल सी धारियां दिखाई पड़ती हैं, इसी कारण इस रोग को लाल सड़न रोग कहते हैं। रोगग्रसित गुदेवाला भाग चमकीला लाल प्रतीत होता है। थोड़े-थोड़े अन्तर पर एक सफेद क्षेत्रो की आड़ी पट्टियां लाल धारियो के ईर्द-गिर्द लिपटी हुई पायी जाती है (चित्र 6 क 1)। ये सफेद आड़ी पट्टियां ही इस रोग की मुख्य विशेषता है जो लाल सडन रोग को बताती हैं। रोग के अधिक प्रभाव होने पर लाल रग मटमैला भूरा हो जाता है तथा सफेद पट्टियां भी अच्छी प्रकार दृष्टिगोचर नही होती। इस मटमैला भूरे रग की क्षतियो पर परजीवी एसरवुलस बनाते है जो काले रंग के बिन्दु के समान प्रतीत होते हैं।



(चित्र 6 क. 1)

रोगग्रसित पौधो से एक विशेष प्रकार की दुर्गन्ध आती है। रोगग्रसित खेत में गन्ने गिर पडते हैं तथा ग्रसित गन्ने से बनी चीनी की मात्रा बहुत कम होती है। फफूंद के द्वारा शक्कर तथा ग्लूकोज प्रकिण्वी प्रक्रिया के द्वारा एल्कोहल मे परिवर्तित हो जाते हैं, जिसकी वजह से दुर्गन्ध आती है।

रोगजन :—

यह रोग कालेटोट्राइकम फेल्केटम (Colletotrichum falcatum kint) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है जिसकी पूर्ण अवस्था (Glomerella) फाइसेलोस्पोरा ट्यूकूमेन्सिस (Physalospora tucumensis (Speg.) Arx al Mueller) है। इस फफूंद की पेरीथीसीयल अवस्था कारवाजल एवं एडगरटन (Carvejal and Edgerton, 1944) ने बतायी। एडगरटन (1919) ने बताया कि कालेटोट्राइकम की जाति जो ज्वार तथा सुडान घास पर संक्रमित करती है, वह इससे भिन्न है। अबूट (Abbott, 1958) ने दोनों ग्रुप के पोधों पर एक ही प्रजाति बतायी।

फफूंद पोषक के भीतर प्रवेश कर तेजी से वृद्धि कर पटीय, शाखायुक्त, रंगहीन अन्त कोशिक तथा अन्तंकोशिक एव एक विशेप प्रकार की तेल की बून्दों वाले कवकजाल बनाती है। कवकसूत्र लम्बे होते हैं तथा कभी-कभी तन्तुमय-वाहिनी कोशाओं मे भी प्रवेश करते हैं। कुछ समय तक वृद्धि करने के बाद कवकजाल पिथ मे बहुत अधिक क्लेमाइडोबीजाणु बनाते हैं। कवकजाल के कवकसन्तु एक दूसरे से सटकर एसरवुलस अधोस्तर के नीचे बनाते हैं। एसरवुलस से कुछ लम्बे आकार की काँटों जैसी पटयुक्त रचनाएं बनती हैं, जिन्हें सीटी कहते हैं जो अधोस्तर द्वारा बाहर आ जाती हैं। इन रोग जैसी रचनाओ की लम्बाई 100 से 200 माइक्रोन तथा चौड़ाई 4 माइक्रोन होती है। इन एसरवुलस मे कोनिडियोफोर एक दूसरे से सटे हुए बनते हैं। कोनिडियोफोर अपट, 20 माइक्रोन लम्बे एवं 8 माइक्रोन चौड़े होते हैं। कोनिडियोफोर के सिरे पर कोनिडिया लगे होते है, जो रंगहीन, एक कोशिक तथा हसियाकार होते हैं। इनका सिरा पतला होता है तथा मध्य में एक तेल की बून्द होती है। कोनिडियम नमी की उपस्थिति मे अंकुरित होकर आसगांग बनाते हैं और फिर आसगांग से संसर्गसूत्र बनकर स्वस्थ पत्तियों मे प्रवेश करते हैं।

हमारे देश मे सर्वप्रथम पेरीथीसियल अवस्था की खोज चोना एवं श्रीवास्तव (1952) ने सवर्ष पर प्राप्त की। पेरीथिसीया गोल, समुख, धरातलीय, 150–300 माइक्रोन माप व्यास के होते है। पेरीथीसिया में कई ऐस्कस होते हैं, जो 46 66 × 7–10 4 माइक्रोन माप के रंगहीन होते हैं तथा इनके बीच मे सपूत्र भी मिलते हैं। प्रत्येक ऐस्कस में द्वि-पंक्तिक रूप मे 8 ऐस्कोबीजाणु होते हैं। जो एक कोशिक रंगहीन 10 6 × 6 3 माइक्रोन माप के दीर्घवृत्ताकार होते हैं। चोना एवं राजेश्वरी शर्मा (1961) ने ग्रसित गन्ने पर भी पेरीथीसिया देखी, वे गोलाकार, समुख 130–390 × 104–250 माइक्रोन माप के होते हैं। बहुत से ऐस्कस पेरीथीसिया में बनते हैं जो रंगहीन, मुद्गराकार तथा छोटे से वृत्त पर या बिना वृन्त पर होते है।

रोपण फसलों के रोग

रोग चक्र :—

सर्वप्रथम बटलर ने बताया कि रोग का वार्षिक आवर्तन रोगी गन्ने से प्राप्त बीज की पोरियां भूमि मे बोने से होता है। 1950 मे चोना ने बताया कि यह फफूंद गन्ने के साथ-साथ भूमि मे भी वृद्धि करने की क्षमता रखती है तथा एसरवुलस बन सकते हैं। चोना एवं नराइनी (1952) के अनुसार भी मिट्टी मे यह फफूद एसरवुलाई बनाती है जो कि इस रोग के वार्षिक आवर्तन मे तथा नई फसल को सक्रमण में सहायक होते हैं। भूमि प्रसार सम्बन्धी परिक्षणो से सिद्ध हो चुका है कि निरोग गन्ने की पोरियां बोने पर भी दूषित भूमि मे लाल सडन रोग फैलता है। इस फफूंद का कवकजाल 4–5 महीने तक जीवित रहता है तथा गन्ने की खेती के बीच मे कोई खाली समय नही रहता, अतः सक्रमण के लिये 4–5 महीने बहुत हैं। स्वस्थ तथा अदूषित मिट्टी में निरोग बीज से उगायी गयी निरोग फसल भी बाद मे अपने मौसम मे लाल सड़न रोग के फफूंदियो से दूषित जल के सीचे जाने से रोगीली बन सकती है। इस प्रकार यदि यह रोग सिचाई के जरिये जुलाई–अगस्त के महीनो मे गन्ने में पहुंच जाय तो इस फसल को बहुत नुकसान होता है।

इस रोग के बीजाणु जो पत्तियो पर उत्पन्न होते हैं, वर्षा के कारण घुलकर गन्ने तथा पत्तियो के मियान की खाली जगह मे बह जाते हैं और इस प्रकार गांठो तक पहुंच कर इसे संक्रमित कर देते हैं। कोनिडिया बहुत कम समय तक जीवित रहते हैं, अतः रोग के वार्षिक आवर्तन में इनका कोई महत्व नही है। इनका विकीरण सिचाई के पानी के द्वारा एक खेत से दूसरे खेत मे हो सकता है। लाल सड़न का प्रसार बीजाणुओ का वाहिनी ऊत्तकों (V. B.) के द्वारा होता है।

एडगरटन एवं एटकिनसन, 1938 के मतानुसार रोगजन के बीजाणु अधिक वाहिनी के वाहिनी बंडलो (Lerge : duct of fibrovascular bundles) से प्रवास (migrate) करते हैं। बटलर (1906) ने सर्वप्रथम लाल सड़न का वृन्त (stalk) पर पत्ती के क्षत स्थल से उत्पन्न किया तथा इसका विपरीत भी देखा। परन्तु अबूट (Abbutt, 1938) ने इस प्रकार का सीधा कवकजाल का सम्बन्ध पत्ती एवं वृन्त का स्थान (stalk region) मे नही देखा। नेलसन (Nelson, 1939) के अनुसार रोगजन का पत्ती के एक भाग से दूसरे भाग पर लिक्यूलर (Liqular) रीजन के द्वारा होता है न कि पत्ती से वृन्त (stalk) पर।

क्लेमाइडोबीजाणु लम्बे समय तक जीवित रह सकते हैं तथा रोग के आवर्तन मे सहायक होते हैं। इनका विकीरण सिचाई के पानी द्वारा एक खेत से दूसरे खेत में हो जाता है। लैंगिक अवस्था हमारे यहा नही मिलो है, यदि यह उपस्थित है तो इसके वार्षिक आवर्तन मे सहायक हो सकती है।

गन्ने के ऊपर तथा मध्यवर्ती भागो की नई गाठे निचली पुरानी गाठो की अपेक्षा गांठो द्वारा उत्पन्न होने वाली दूत्र मे अधिक शीघ्र प्रभावित होती हैं।

यह फफूंद एक मौसम से दूसरे मौसम तक रोगग्रस्त गन्ने की पोरियो के बोने से अथवा जमीन से या उसके अवशेषो मे या क्लेमाइडोबीजाणु के रूप मे या इसकी लैंगिक अवस्था के रूप मे आवर्तन होता है। जब गन्ने की रोगग्रस्त पोरियां जमीन में बोयी जाती है तो फफूंद का कवकजाल भी पौधो की वृद्धि के साथ बढता रहता है तथा बाद मे गन्ने की सतह पर बीजाणु बनते है जो हवा, पानी आदि द्वारा उडकर द्वितीयक सक्रमण कर देते है। संक्रमण कई प्रकार से होता है, जैसे घावों द्वारा, तरुण कलिकाओ द्वारा तथा आगन्तुक जड़ो द्वारा। मुढी फसल भी रोग को वर्ष भर स्थायी रखने एव बढाने मे सहायक होती है।

पूर्व वृत्तिक कारक .—

इस रोग के पादप व्याप्त होने के लिये अधिक आर्द्रता तथा पानी का एकत्र होना, निराई-गुडाई की कमी तथा एक ही जाति का बार-बार प्रयोग करना तथा आस-पास के खेतों मे सुग्राहक जातियों का होना है।

1938–42 मे उत्तर प्रदेश तथा बिहार के रोगग्रस्त गन्ने के खेतो मे इस फफूंद की हल्के रंग वाली तथा बहुत अधिक बीजाणु उत्पन्न करने वाली प्रजाति उत्पन्न हुई जिसके द्वारा उत्तर भारत में यह रोग व्याप्त रूप में उत्पन्न हुआ। 1938 से पहले जितनी भी प्रजातियां थी, उनमे अलग-अलग बिखरी हुई काले रग की फफूंद थी। पुरानी काले रग की अपेक्षा यह नई हल्के रंग की प्रजाति अधिक संक्रामक थी। इस प्रकार गन्ने की महत्वपूर्ण किस्म C. 0392, Co. 393 जो बहुत अच्छी समझी जाती थी, नष्ट होने का मुख्य कारण इन क्षेत्रों में लाल सड़न की प्रजाति की उस किस्म की उपस्थिति थी, जिसके बीजाणु बहुत अधिक सख्या में पैदा होकर शीघ्रता से फैले है। उत्तर प्रदेश में आर.–117, आर –135 एवं एस.–224 उग्र प्रभेद हैं (कार, आदि 1964)।

नियन्त्रण :—

(1) रोग प्रतिरोधी किस्मे बोये सी ओ. 1261, सी ओ.–1214, सी ओ.–1053, एवं सी.ओ –44, 1101 इस रोग से प्रतिरोधी है। सी.ओ – 244, 309, 349, 359, 393, 385, 449, 475, 513, सी ओ के. 32, सी ओ एम –510, बी ओ.–10, बी.ओ.-11, बी. ओ –22 एव बी–ओ 24 भी प्रतिरोधी बतायी गयी हैं। त्यागी एव गोयल (1975) के अनुसार सी.ओ –6803 प्रतिरोधी है। शर्मा एव झामरिया (1978) के अनुसार सी.ओ –6803 एवं सी ओ.–6901 पूर्ण प्रतिरोधी है।

(2) स्वस्थ पोरियो का ही प्रयोग करें। गन्ने के बीज के रूप मे लायी जाने वाली किस्म उत्पन्न करने के लिये ऐसे खेती का चयन करें, जिसमे पानी के निकास की व्यवस्था हो एवं निचान में स्थित न हो। उपयुक्त रहेगा कटे हुए सिरो को 1 प्रतिशत बोर्डो मिश्रण से उपचारित करें।

(3) 2 वर्ष का फसल चक्र अच्छा है।

(4) रोग ग्रस्त स्थानो मे जहाँ तक सम्भव हो मुढ़ी फसल न बोयें।

(5) इस रोग का विकीरण रोग ग्रसित खेतो से बहते हुए पानी द्वारा एक खेत से दूसरे खेत मे होता है। अतः पास के स्वस्थ खेतो मे रोग प्रारम्भ हो जाता है। इस तरह के विकीरण को रोकने के लिये खेतो के पानी के निकास का उचित प्रबन्ध हो।

(6) रोगग्रस्त गन्ने का जो कटाई के बाद खेत मे पड़े रहते हैं, खेत से निकाल कर जला देना चाहिये, जिससे गन्ने की अगली फसल मे तथा पास बोये हुये खेतो मे रोग न फैला सकें।

कंड
(Smut)

गन्ने का कंड एक विकीरण रोग है जो बहुत अनियमित अन्तरालों और स्थानों पर बहुत थोड़े उदाहरण के रूप में मिलता है। यह रोग भारत, इटली, जावा, फिलीपाइन्स, दक्षिण अफ्रीका, आस्ट्रेलिया के फारमासो के कुछ भागों मे गन्ने की फसल को अधिक हानि पहुंचाता है। इस रोग से विशेष नुकसान अर्जेन्टाइना के टुकमान जिले में उरूगॉय (Uruguay) भारत एव दक्षिणी अफ्रीका मे होता है। (चोना एवं गटानी, 1950 एडगरटन, 1955, हिरस्चहोर्न, 1949 तथा सुब्रमनयन एवं लक्ष्मपती, 1954)।

लक्षण :—

इस रोग को पौधों पर आसानी से पहचाना जा सकता है। ग्रसित पौधों मे बीज की पत्तियों से एक लम्बी कोड़े (Whip) के समान डण्डी उत्पन्न होती है तथा उसके आस-पास से अकुर फूटते हैं, जो शीघ्र ही पतली डण्डियो का रूप धारण कर लेते हैं। शुरू की अवस्था मे विप (कंड) एक पतली सी झिल्ली द्वारा ढका रहता है। जो शीघ्र फट जाती है, एवं फुटने पर काले कंड के बीजाणुओ का चूर्ण हो जाता है। गन्ने के कड मे काली चाबुकाकार संरचना बन जाती है (चित्र 6·1)। इस रोक के कारण गन्ने लम्बे तथा पतले हो जाते हैं। रोग ग्रस्त कल्ले बहुत अधिक सख्या मे फूटने लगते हैं।



(चित्र 6·1 गन्ने का कंड रोग)

हेतुकी :—यह रोग अस्टीलागो सिटेमिनी (Ustilago scitaminea Syd.) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। रोवनहर्सट ने सर्वप्रथम 1870 में इस रोग का परजोवी अस्टीलोगो सेकराई (U. sacchari Pab) बताया परन्तु बाद मे 1924 मे साइड़ो ने परजीवी अस्टीलोगो सिटेमिनी बताया।

क्लेमाइडोबीजाणु जैतूनी से भूरे, गोल 7·5 से 8·5 व्यास के, बीजाणु भित्ति पर निशान उपस्थित रहते हैं। विकीरण हवा द्वारा आसानी से होता है। ये बीजाणु पानी की उपस्थिति मे अकुरित होकर एक छोटी सी प्रकवक बनाते हैं। इन प्रकवक में क्लेमाइडोबीजाणु का द्विगुणित केन्द्रिक में विभाजन हो जाता है। प्रकवक मे उपर बन जाते हैं। इसलिये 4 कोशिकाओ वाले हो जाते हैं। प्रत्येक कोशिका मे एक केन्द्रिक होता है। हर एक कोशिका की पट से एक बेसीडियो बीजाणु या बीजाणु बनता है। बीजाणुवी एक केन्द्रिक, अण्डाकार से दीर्घवत् होता है, तथा कुड्मन् द्वारा अनेक बीजाण्वी बनाते हैं। प्रत्येक बीजाण्वी एक छोटी अकुरनाल बनाकर अकुरित होते हैं, दो विपरीत लैंगिक व्यवहार के (+) तथा (−) बीजाण्वी के अकुरनाल सयुग्मन करते हैं, तथा एक नाल युग्माष्टिक हो जाती है, इस प्रकार डाइकोरियोटाइजेशन की क्रिया होती है। कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि प्रकवक बिना बीजाण्वी के भी होती है, जिसमें प्रकवक शाखायुक्त तन्तु जैसे बढकर संसर्ग सूत्र का काम करती है। इसका कवकजाल अन्तः कोशिय होता है, तथा अचूषांग बनाकर पोषक ऊतियो से खाना चूसते हैं। बीजाणु के अकुरण के लिये अनुकूलतम तापमान 25–30° से. है तथा 62° से. पर तत्काल नष्ट हो जाते हैं, एवं बर्फ पर 3 दिन से भी अधिक चिरजीवित रहते है।

रोगचक्र :—

इस रोग को वार्षिक आवर्तन निम्न प्रकार से होता है।

(1) रोगी गन्ने से प्राप्त बीज की पोरियां बोने से यह रोग एक मौसम से दूसरे मौसम मे आवर्तित होता है।

(2) कलिका पर बीजाणु के पैदा होने से भी यह रोग एक मौसम से दूसरे मौसम मे आवर्तित होता है।

(3) मूढी फसल भी रोग को वर्ष भर स्थायी रहने एवं बढ़ाने में सहायक होती है।

चूंकि गन्ने की एक फसल से दूसरी फसल के बीच कोई खाली समय नहीं रहता, इसलिये फफूंद को पोषक आसानी से मिल जाता है। इस रोग के अन्दर प्ररोह सक्रमण होता है। अजरेकर (1916) के अनुसार गन्ने में इस रोग से संक्रमण उनके बीजाणु द्वारा होता है, जो छोटी पोरियो मे मौजूद रहते हैं, और फिर इसका प्रसार रोगी पोरियो के बोने से हो जाता है। सक्सेना एवं खान (1964) के मतानुसार बीजाणु के अकुरण पर कलिका से उत्सर्जित स्राव का प्रेरक प्रभाव पड़ता है। कड़वा के संक्रमण हेतु 25° से. तापमान अनुकूलतम हैं। किस्म सी ओ 285, 356, 449 एवं 527 प्रतिरोधी है, तथा सी ओ 293 सी ओ सी ओ 419 एवं सी० ओ० 420 बहुत अधिक प्रभाव्य किस्में है।

इस फफूंद के अलावा मुदकंर एवं अिमुलाचार (1952) ने गन्ने पर स्फेसिलोथिका क्रूयुइन्टा (Sphacelotheca cruenta kuehn) Pottes का प्रकोप भी देखा।

किट्ट
Rust

इस रोग का वर्णन सर्वप्रथम 1918 मे बटलर ने तथा बाद मे चोना एवं मुन्जल ने विस्तृत रूप से 1950 में दिया। यह रोग केवल प्रभाव्य किस्मे जैसे सी. ओ 475 में ही काफी उग्र रूप से रहता है (Butler, 1918; Chona and Munjal, 1950; Martin 1951; Patel et al; 1950)। कई स्थानो पर तो अब यह रोग इतना भीषण रूप से फैल रहा है, जिसके कारण उपज काफी मारी जाती है।

लक्षण :—

रोग ग्रस्त पत्तियों की ऊपरी सतह पर गोल या अंडाकार पीले रंग के स्फोट दिखाई देते हैं। इस फफूंद की विभिन्न अवस्थाये जो नारंगी रंग से लेकर काले रंग में होती है, रोगग्रस्त पौधो के विभिन्न भागों पर देखी जा सकती है। ये स्फोट संयुक्त होकर बडे स्फोट बनाते हैं। प्रारम्भ मे ये स्फोट आकार मे छोटे तथा पीले रंग के वलय से घिरे रहते हैं। बाद में स्फोट आकार मे बडे होकर आपस में मिल जाते हैं और गहरे लाल रंग से घिरे हुए दिखाई देते हैं। पकने मे स्फोट फट जाते हैं और गहरे भूरे रंग के फफूंद बीजाणु समूह साफ दिखाई देते हैं। इन स्फोटों पर एक अन्य अधोपरजीवी का प्रकोप देखा गया है। ग्रसित पौधो के तने का रंग पीला पीला दिखाई देता है।

रोगजन :—यह रोग पक्सीनिया कुहनी (Puccinia kuehnii Krueges) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है, जो एक अनिवार्य परजीवी है। यह बहुरूपी तथा भिन्नाश्रयी फफूंद है। गन्ने पर अधिकतर यूरिडिया ही बनते है। यूरिडिया नारंगी भूरे 48 26 माइक्रोन माप के तथा बाहाम भिति पर कांटे होते है। टेल्यूटो बीजाणु उसी सोरस पर या अलग बनते है। ये दीर्घायत (oblong) से नारवरूप (pyri form) चपटे या सिरे पर गोल तथा छोटे वृन्त पर होते हैं। ईसीयल पोषक का पता नही चला है। पोषक मे अन्तकोषीय डाइकेरियोटिक कवक जाल होता है।

इस फफूंद के कुछ सापार्शिवक पोषक जैसे सेकरम स्पोन्टोनियम एवं एरीएन्थ्यस का भी मालुम पड़ा है। इस फफूंद की प्रभेद अन्य पोषकों पर भी मिली है।

म्लानि
(Wilt)

गन्ने का यह एक महत्वपूर्ण रोग है, जिसका प्रकोप अक्टूबर के महीने से

प्रारम्भ होकर फसल कटने तक रहता है। सर्व प्रथम 1913 में बटलर एवं खान ने इस रोग का वर्णन किया तथा मुख्य लक्षण पीलापन एवं पत्ती का मुरझान तथा बैंगनी या गन्दे लाल क्षत स्थल पर्वों (inter nodel) को कोशिका में बनना बताया। बहुत समय तक यह रोग उत्तरी बिहार तक ही सीमित था परन्तु अब उत्तर प्रदेश, बिहार में काफी नुकसान पहुंचाता है। श्रीनिवासन (1964) के अनुसार तामिलनाडू में यह रोग महामारी के रूप में भी पाया गया है। भारत के अलावा मेक्सिको, अर्जेन्टाइना, बारबेडोस, कोलमाबिजा, उगान्डा दक्षिण अफ्रीका तथा अमेरिका में भी यह रोग काफी नुकसान पहुंचाता है।

लक्षण :—

सर्व प्रथम इस रोग को खेत में फसल 4–5 माह की होने पर देखा जा सकता है। इस रोग का प्रमुख लक्षण पौधों की पत्तियों का हल्का, कत्थई, या बैंगनी जैसे रंग का होना है। इस रोग के फलस्वरूप गन्ने की पत्तियाँ धीरे धीरे सूखने लगती हैं तथा बाद में सम्पूर्ण पौधा सूख जाता है। गन्ने को चीर कर देखने पर उसके उत्तक, विशेषत: निचली पोरियों में लाल रंग के उत्तक दिखाई देते हैं, सवहंन तन्तु लाल हो जाते हैं, जो कुछ पोरियों तक सीमित रहते हैं। यदि रोगी पौधों को भूमि से उखाड़ कर परीक्षण किया जाये तो पौधों की जड़ों का उपरी भाग हल्का भूरा या काले रंग का दिखाई देता है। कभी कभी ग्रसित गन्नो में जमीन के पास की गाठों से निकलने वाली जड़े तथा भूमिगत जड़े भी लाल हो जाती हैं। रोग ग्रस्त पौधों से एक विशेष प्रकार की दुर्गन्ध आती है। संक्रमित पौधों की वृद्धि रुक जाती है, जड़ें सड़ जाती हैं। उग्रावस्था में रोगी पौधे पूर्ण रूप से मर जाते है, तथा पुन: जीवित नहीं हो सकते हैं। गन्ने की उपज काफी कम हो जाती है, तथा चीनी की प्राप्ति (recovery) भी कम होती है।

रोगजन :—

इस रोग को रोगजन सिफलोस्पोरियम सेकराई (Cephalosporium sacchari Butl) तथा फ्यूजेरियम मोनीलीफोर्मी (F. moniliforme Sheldon) वर्णित किया गया है। (Bourne, 1923, 1933; Abbott, 1932; Mc Rae 1932; Luthra, 1936; Ganguly, 1964 at Srinivasan, 1964; Sukepure and Thrimulachar 1966) ने रोगजन सिफलोस्पोरियम नहीं माना, Subramaniam and Chona (1938) एवं Rafay (1952) के मतानुसार मोनीलीफोर्मी तथा सी. सेकराई अपूर्ण अवस्था जिबरेला फूजीकुरोई (Gibberella fujikuroi) है। मेन्स एवं एडमस Mains and Adams (1923) ने सि. सेकराई को फ्यूजेरियम वर्णित किया। मुरझान सलक्षण (Syndrome) में एक्रीमोनियम फुरकेटम (Acremonium furcatum (F. V. Moreau) Gams) टेरिकोला (Terricola) (Miller and At,) W Gams

सम्बन्धित है। कवकसूत्र पटीय, रंगहीन होता है। कोनिडियोफोर कवकसूत्र से अकेले उत्पन्न होते हैं। फेलाइडस (Phalides) अधिकतर सीधे तथा अन्त से सिकुड़े 3–20 माइक्रोन के कभी-कभी पटीय होते हैं। कोनिडिया एक कोशिक रंगहीन, दीर्घवृतज (ellipsoid) 2·63 – 5·26 × 0·98 – 1·97 माइक्रोन माप के होते हैं।

सि. सेकराई के कवकजाल अनियताकार सफेद, पटीय, रंगहीन अन्तर्कोशिय एवं अन्तःकोशिक होता है। ये बहुत अधिक माइक्रोकोनिडिया साधारण या शाखित कवकसूत्र पर उत्पन्न करते हैं, परन्तु मेक्रोकोनिडिया नही बनते, इसलिये यह फ्यूजेरियम फफूंद से भिन्न है। कोनिडिया एककोशिक पारभासक अंडाकार, आयतरूप या दीर्घवृतज 4 – 12 × 2–3 माइक्रोन माप के होते है।

भारत में इस फफूंद की कई प्रभेद वर्णित की गई हैं, जो कवकजाल कोनिडियम आदि के आधार पर पहचानी जा सकती हैं।

रोगचक्र :—

यह फफूंद जड़ों द्वारा पोषक को संक्रमित नही करती, बल्कि बीज के टुकड़े ही संक्रमित करते हैं। घाव की उपस्थिति में ही संक्रमण करती है। फफूंद मिट्टी में भी 2–3 साल तक चिरजीवित रहती है। लाल सड़न से ग्रसित पौधों में इस रोग का प्रभाव अधिक है। क्षारीय मिट्टियां इस रोग की बढ़ावार के लिये सुग्राही हैं।

नियन्त्रण :—

(1) बीजों के लिये पोरियों का चयन स्वस्थ खेतों से ही करें। बोने से पूर्व पोरियों को परावर्गीय रसायन तथा बोरोन एवं मेगनीज के 40 पी. पी. एम. के घोल में डुबोकर बोना तथा इनके छिड़काव करने पर रोग का प्रकोप कम हो जाता है।
(2) रोगग्रस्त गन्ने जो कटाई के बाद खेत मे पड़े रहते हैं, खेत से निकाल कर जला दें, जिससे वे गन्ने की अगली फसल में तथा पास फैले हुए अन्य खेतों में रोग न फैला सकें।
(3) रोग प्रतिरोधी किस्में बोयें। सी. ओ. 572 सी. ओ. 617 एवं बी. पी. 17 प्रतिरोधी तथा सी. ओ. 356, 370, 393, 395, 859 सहिष्णु किस्मे हैं।
(4) ग्रसित खेत जो क्षारीय है वहां बुवाई न करें।

पत्ती धब्बा
(Leaf spot)

पत्ती धब्बा कई प्रकार के लगते हैं, परन्तु आंख पत्ती धब्बा तथा भूरे धब्बा रोग से अधिक हानि होती है।

आख पत्ती धब्बा में प्रारम्भ में पत्ती पर पीले से भूरे धब्बे बनते हैं। जैसे-जैसे धब्बे बढ़ते हैं, ये लाल भूरे से लाल बीच से धूसर जलासिक्त होते हैं। ये धब्बे धीरे-धीरे बढ़कर सम्पूर्ण पत्ती को घेर लेते हैं।

यह रोग हैल्मिथोस्पोरियम सेकराई (Helminthosporium sacchari Breda de Hann Butl.) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। कोनिडिया धूसर से भूरे सिरे से सिकुड़े तथा इनका अकुरण अन्त की कोशिका से होता है। है. सेकराई के अलावा यह रोग है स्टेनोस्पाइल (H. stenospilum Drechst) नामक फफूंद से भी उत्पन्न होता है (Drechslara saccari (Butl) sala and Jain) (D. stenospila)।

इस रोग का प्रकोप ठन्डे एव नम मौसम में अधिक होता है। इस रोग की रोकथाम हेतु प्रतिरोधी किस्मो का चयन करें।

भूरा धब्बा रोग से भी काफी हानि होती है। इस रोग के फलस्वरूप उपज तथा चीनी की मात्रा मे कमी हो जाती है। पत्तियों पर पहले सिकुड़े तथा अंडाकार (ovel) जो बढकर लम्बे अडाकार (elongated oval) भूरे रंग से हो जाते हैं।

यह रोग सर्कोस्पोरा लोन्जीपस C. longipes Butl. नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। रोग प्रतिरोधी किस्में बोयें। पी. ग्रा. जे. 2625, सी. ग्रो. 421, पी. ग्रो. जे 36 प्रतिरोधी किस्मे है।

मृदुरोमिल
(Downy mildew)

मृदुरोमिल का प्रकोप भी गन्ने की फसल पर होता है। यह रोग स्केलेरोस्पोरा सेकराई (S. sacchari Miy.) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। पत्तियो पर पीली हरी धारियां सी बन जाती है। शीघ्र ही पत्तियो की ऊपरी सतह पर धारियो के रूप मे हरिमाहीनता शुरू हो जाती है। पत्तियो की निचली सतह पर मृदुरोमिल वृद्धि देखी जा सकती है।

इस रोग का प्रसार हवा द्वारा बीजाणुओ का होता है, जो अपरिपक्व पार्श्व (lateral) कालिका पर संक्रमण करते है। मक्का एवं टिओसिन्ट भी इससे प्रभावित होती है।

सेट गलन
(Sett-rot)

इस रोग से भी गन्ना उगाये जाने वाले क्षेत्रों मे काफी हानि होती है। जब ग्रसित गन्ने बोये जाते है, तब वह अकुरित किये बिना ही या 6-12" ऊंचाई के होने पर सड़ जाते है। यदि ग्रसित गन्ना चिरजीवत भी कर जाये तो उनकी बढ़वार रुध हो जाती है तथा हरिमायन के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। बाद मे पौधा

मुरझा कर गिर जाता है। यह रोग सिरेटोसिस्टेस पेरोडोक्सा (Ceratocystis paradoxa (Dade) Moreau) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। फफूंद से माइक्रोकोनिडियां एवं मेक्रोकोनिडिया बनते हैं। माइक्रोकोनिडिया रंगहीन, काले पतली भिति के 10–15×3·3 5 0 माइक्रोन माप के होते हैं। माइक्रोकोनिडिया की जंजीर कोनिडियोफोर मे अन्तर्जात (endogenously) बनती है। मेक्रोकोनिडिया 20 तक जजीर मे 20–80×4 माइक्रोन माप के होते हैं। फफूंद की लैंगिक अवस्था का भी पता चला है। पेरीथिसीया फ्लास्क की आकृति की तथा उनका व्यास 200–350 माइक्रोन का होता है। कई एसकस बनते हैं, जिनमे अवमुख (convex) से दीर्घवृतीय (elliptical) 7–10×2·5–4 माइक्रोन माप के एसको बीजाणु बनते हैं।

यह रोग मृदुढ़ तथा बीजोढ़ है, अतः बुवाई से पूर्व पोरियो को पारावर्गी रसायन से उपचार तथा गरम जल उपचार तथा ग्रसित पौधो को एकत्र कर नष्ट करें।

जड़ गलन
(Root rot)

जड़ गलन रोग का भी कई जगह प्रकोप देखा गया है। सर्वप्रथम 1880 मे जावा में यह रोग देखा गया। ग्रसित किस्मों मे जड़ो का सड़ना तथा पत्तियो का पीला पड़कर मुरझाना, पौधों की वृद्धि अवरोध होना इसके मुख्य लक्षण हैं।

यह रोग पीथियम एरीनोमोनास (P. arrhenomanes) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। एडगरटन आदि के अनुसार (1929) पीथियम, राइजक्टोनिया एवं मारास्मीयम फफूंद इस रोग से सम्बन्धित है।

इस रोग का प्रकोप चिकनी मिट्टी मे अधिक होता है। मृदा मे अधिक पानी और विगलनशील पदार्थों की उपस्थिति इस रोग की बढावार के लिये सुग्राही हैं।

इस रोग की रोकथाम के लिये मिट्टी मे जल निकास की व्यवस्था तथा खाद का संतुलित प्रयोग करें।



Abbott, E.V. (1932), Seed rot of Sugarcane in Louisiana. Proc. I S.S.C.T., 4th Congress Bull. 48: 1–2.

Abbott, E V. (1938). Red rot of Sugarcane, U.S. Dept. Agr, Tech. Bul : 641.

Ajrekar, S.L (1916). On the mode of infection and prevention of the smut diseases of Sugarcane. Agric. Jour. India 11 : 288–295.

Atkinson, R E. (1938). The spread of red rot fungus, Collectotrichum falcatum Went, in sugarcane stalks. M Sc. Thesis. Louisiana State University.

Atkinson. R.E. and C.W. Edgerton (1937). Possible migration of spores of red rot fungus in cane stalks, La. Agr. Expt. Sta Bull. 288: 8–10.

Barnes, A.C. (1964). The Sugarcane. Inter Sci. Publ. inc. New York.

Bourne, B.A. (1922), Researches on the root dieeases of sugarcane. Dept. of Agric. Barbados, pp. 1–17.

Butler, E. J. (1906), Fungus direases of Sugarcane in Bengal. Mem. Dept, Agr. India. Bot Ser. 1 (3) 2–24

Bourne, B.A. (1933). Sugarcane breeding experiments. Ann Rep. Fla. Agr. Exp Sta. for fiscal year ending 1933, pp. 180–181.

Butler, E.J. (1918). Fungi and Diseases in Plants, Thacker, Spink and Co., Calcutta.

Butler, E.J. and A H. Khan (1913). Some new Sugarcane diseases Part I. Wilt. Mem. Dept. Agr. India. Bot. Ser. 6: 180–190. Carvajal, F. and C W. Edgerton (1944) The perfect staze of Colletotrichum falcatum. Phytopathology. 34 : 206-213.

Chona, B.L. (1943) Red rot of Sugarcane Indian Fmg. 4:27. Chona, B.L. (1943). Sugarcane smut and its control, Indian Fmg. 401–404.

Chona, B L. (1955) Studies on the diseases of Sugarcane in India III. Sources and mode of red rot infection. Indian J Agric. Sci. 25 : 301–315.

Chona B.L. (1958) Some diseases of Sugarcane reported in recent years. Presidential address. Indian Phytopath, 11 1–9.

Chona, B.L and B.S. Bajaj (1953) Occurrence in nature of Physalospora tucumanensis Speg., the perfect stage of red rot organism in India Indian Phytopath. 6:63–65.

Chona, B.L. and D.N. Srivastava (1952). The perithecial stage of Collectotrichum falcatum in India. Indian Phytopath. 5: 158–60.

Chona, B.L. and M.L. Gattani (1950). Kans grass, a collateral host for sugarcane smut. Indian J. Agri. Sci. 20 : 359–362.

Chona, B L. and R.L. Munjal (1951) A new smut of Sugarcane, Cur Sci. 20 : 301.

Chona, B.L. and Rajeswari Sharma (1961) Glomerella cingulata (Stonem) S and Von S. on Sugarcane in India. Indian Phytopath. 14 : 160–168.

Chona. B L. and T.K. Narianini (1952) Investigations on the Survival of the Sugarcane red rot fungus in Soil. Indian Phytopath. 5 : 152–157.

Dastur. J. F. (1920). The mode-of-infection by smut in sugarcane. Ann. Bot. 34 : 391–397.

Dey, P.K. (1933) Red rot of sugercane. Dep. Agr. U.P. Bull. 8.

Edgerton. C.W. (1911) The red rot of Sugarcane : 1 report of progress. La. Agr. Exp. Sta. Bul. 133.

Edgerton. C.W. (1958). Sugarcane and its diseases. Louisiana State Univ. Press.

Edgerton, et/al. (1929) Relation of species of Phythium to root rot diseases of Sugarcane. Phytopathlogy 19:549 564.

Edgerton, C.W. and F. Carvejal (1944). Host parasite relations in red rot of Sugarcane. Phytopathology 34: 827–838.

Fischer, G.W. and C.S. Holton (1957). Biology and control of the Smut fungi. The Ronald Press Co., New York.

Francis, C.B. (1938) Sugarcane Smut. Madras Agric, Jour 26 : 468. Ganguly, A. (1964) Wilt–Sugarcane Diseases of the World vol. II edited by C.G. Hughes et al. Elsevier Publishing Company, New York.

Ganguly, D. and J.N. Chand (1963) Longevity of Cephalosporium Sacchari Butler causing wilt disease of Sugarcane. Sci. and Cult. 29 : 347–348.

Hirschhorn, E. (1949). Unnuevo methods de infection artical con el carbon de la cana de azucar. Rev. Invesk. Agr. Buenos Aires 3 : 335–344.

Hughes, C. G., E.V. Abbott and C. A. Wismer (1964). Sugarcane diseases of the world, Vol. II. Elsevier Publ. Co., New York.

Joshi, N.C. (1953) Smut of Sugarcane and its control. Indian Sugar 2 : 546–547.

Joshi, N C. (1954). Chemotheraphy against sugarcane diseases. Indian Sugar. 4 : 343.

Kirtikar, et al. (1955). Control of red rot of Sugarcane, Curr Sci. 24 : 277–278

Kar, K. et/al (1955) Control of red rot of Sugarcane. Curr. Sci. Kar, K., O.S. Rana & S.C. Gupta (1964). A new virulent Strain of Glomerella tucumenansis Arx. & Mall. Indian Sugarcane Jnl. 9 : 27–31.

Lambat A.K., V.V. Chenulu and B.L. Chona (1966). Influence of soil temperature on infection of sugarcane by smut fungus Ustilago scitamine Syd. Indian Phytopath. 19.

Luthra, J C. (1936). Some new diseases of sugarcane discovered in the Punjab. Intern. Bull. Pl. Prot. 10 : 12 262.

Manns, T.F. and J.F. Admas (1923). Parasitic fungi internal of seed corn. J. Agric Res. 23 : 195–524.

Martin, J.P. (1951). Sugarcane diseases and their world distribution. Proc. Cong. Int. Soc. Sugarcane Tech. 435–452.

Martin, J.P., E.V. Abbott and C. G. Hughes (1961). Sugarcane diseases of the world. Elsevier Publishing Co., Amsterdam.

Mathur, R.S. (1945). Control of Sugarcane smut in the united provinces. Indian Sugar. 8 : 839–840.

Mc Rae, W. (1932), Report of the imperial mycologist. Sci. Rep. Imper. Inst. Agr Res., Pusa 1930–31 28–36.

(Mukherjee, S.K. and P.K. Sengupta. (1964). Reaction of some sugarcane varieties to red rot in West Bengal. Indian Sugarcane Jul. 9 : 35.)

Mundukur, B.B. and M.J. Thirumalchar (1952). Ustilaginales of India. CMI Kew, Surrey, England, 84 p.

Nelson, R. Y. (1939). Studies on host–parasite relationship in the red rot disease of Sugarcane. Ph.D. dissertation Louisiana State University.

Patel, M.K. et al. (1950). A modified treatment against loose smut of wheat. Curr. Sci. 19 : 324–332.

(Rafay, S.A. (1950): Another Strain of Physolospora, tucumenansis. Curr. Sci. 19 : 385–386.)

(Rafay, S.A. (1952). Wilt disease of Sugarcane. Res. Sta: Pusa. Sci. Bull. 240 p.)

Rafay, S A. and S.V. Padmnabhan (1940) Sugarcane Smut in Bihar. Curr. Sci 4, Saxena, SK. and A.M. Khan (1962). Studies on Sugarcane smut caused by Ustilago scitaminea Syd. I. Effect of temperature on spore germination. J. Indian Bot. Soc. 42 : 195–203.)

Saxena, S.K. and A.M. Khan (1964). Studies on Sugarcane smut/caused by Ustilago scitaminea Syd. II. Effect of relative humidity on spore germination. J. Indiar Bot. Soc. 42 : 195-203.

Saxena, S. K. and A. M. Khan (1964), Studies on Sugarcane smut-caused by Ustilago scitaminea Syd. II. Effect of humidity on spore germination. J. Indian Bot. Soc. 43: 61–68.

Sharma, N. D. and S. L. Jhamaria (1978). Relation of Sugarcane cultivars to red rot. Symposium Abstract, Plant disease problems, Oct. 1–3, 1978.

Singh, G. R. (1967). Spread of red rot in the leaves of Sugarcane Plant. Indian Phytopath. 20: 220–225.

Singh, Kishan and K. C. Alexander (1970). Laminar infection of Sugarcane leaves by red rot organism (Physalospora tucumenassis) in nature. Indian Phytopath. 23: 114-115.

Singh Kishan, R. P. Singh and V. P. Agnihotri (1975). Taxonomy and pathogenicity of fungi causing sugarcane wilt syndrome. Indian Phytopath. 28: 86–91.

Singh R. S. and Narendra Singh (1975). An observation on the association of Fusarium moniliforme with Sugarcane wilt. Indian Phytopath. 28: 271–72.

Srinivasan, K. V. (1964). Some observation on sugarcane wilt. Indian Bot. Soc. 43: 397–408.

Subramaniam, L. S. and B. L. Chona (1938). Hosts of Cephalosporium sacchari (causal organism of Sugarcane Wilt). Indian J. Apr. 8: 189–190.

Subramaniam, T. V. and V. Lakshmipati Rao (1951). infection and development of Ustilago scitaminea Syd. in Sugarcane. Proc. Conf. Sug. Cane Res. Whrs. India 2: 55–63.

Sukapure, R. S. and M. J. Thirumalachar. (1956). Conspectus of species of Cephalosporium with particular reference to Indian species. Mycologia 351–361.

Sydow, H. (1924). Notizen uber ustilagineen, Ann. Mycol.

22: 277–291.

Tyagi, R. N. S. and K. N. Goyal (1975). Screening of sugarcane varieties against red rot disease caused by Colletotrichum falcatum. Indian. J. Mycol Pl Pathol, 5: 136.

Zundel, G. L. (1953) The ustilaginales of to world Pennsylvani state Coll. Rep. Bot. Contrib. 176: 410 pp.



(ख) तम्बाकू के रोग

(Diseases of Tobbacco)

तम्बाकू (Nicotiana tabacum L) एक द्रव्य उत्पादक फसल है जिसकी खेती सम्पूर्ण विश्व मे की जाती है। भारत मे लगभग 5 लाख हेक्टर भूमि में इसकी खेती होती है जिससे 30 लाख टन तम्बाकू की पत्ती उत्पन्न होती है। निकोटिनिया की कई प्रजातियो मे से नि. टैबाकम एव नि. रस्टिका (N. rustica L) की मुख्यत खेती होती है। तम्बाकू की फसल पर अनेक फफूंद से रोग उत्पन्न होते है जिनमे निम्न मुख्य हैं—

(1) आर्द्र गलन (Damping off)
(2) ब्लेक शेन्क (Black shank)
(3) चूर्णिल आसिता (Powdery mildew)
(4) भूरा धब्बा (Brown spot)
(5) मेंढक आंख पत्ती धब्बा (Frog eye leaf spot)

आर्द्र गलन
(Damping off)

तम्बाकू का यह रोग तम्बाकू उगाये जाने वाले लगभग सभी क्षेत्रो मे पाया जाता है। आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र एवं गुजरात में इस रोग से विशेष हानि होती है। इस रोग के होने मे कई फफूंदियो का सम्बन्ध है परन्तु पीथीयम डीबेरीनम (P debarynum Hesse) पीथियम एफैनीडरमेटम (P. aphanidermatum (Edson) Fitzpatric) एवं पीथियम माइरोटाइलम (P. myrotylum Drechsler) प्रमुख हैं। यह रोग नवांकुरो के लिये अधिक नुकसानदायक होता है, जहां पानी का निकास ठीक नही रहता और पानी मे मिट्टी जमा रहती है वहां यह अधिक पाया जाता है। तम्बाकू के तने पर परजीवी के कारण घाव बन जाते हैं।

लक्षण—

इस रोग के फलस्वरूप तीन प्रकार की हानियां होती हैं।

(अ) बीजों का अंकुरण न होना रोग ग्रस्त बीजो की अंकुरण शक्ति कम हो जाती है।

(ब) अंकुरण होने पर बीजांकुर में आर्द्र मारी होना—

इस अवस्था में बीजांकुर भूमि की सतह पर पहुंचने से पहले ही नष्ट हो जाते है। इस प्रकार की क्रिया भूमि के अन्दर ही होती हैं। मूलांकुर एवं प्रांकुर बीजो से बाहर आकर पूर्ण रूप से सड़ जाते हैं।

(स) बीजांकुर बढ़ने के कुछ दिन बाद आर्द्र मारी होना

इस रोग के कारण ग्रसित पौधे खण्डो मे दिखाई देते हैं। इस अवस्था में बीजांकुर भूमि से बाहर आते ही गिर जाते हैं। रोग ग्रस्त ऊतकें मुलायम और जलासिक्त हो जाती है। फफूंदियो के आक्रमण से बीजांकुरो का बढ़ाव बन्द हो जाता है और धीरे-धीरे सूखना प्रारम्भ कर देते है। भूमि के निकट तने पर एक सकुचन का चिह्न हो जाता है और पोधा गिर जाता है। गहरे भूरे धब्बे जो तने के आधार पर बनते हैं वह फिर पत्तियों की तरफ भी बढ़ जाते हैं। (Anderson, 1940)

रोगजन—

मुख्यतः यह रोग पीथियम डीबेरीनम (P. debarynum Hesse.) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। कवकजाल सकोशिकी, शाखित एवं रंगहीन होता है। फफूंद की बीजाणुधानियां एवं निषिक्ताण्ड मृदुतकों मे विशेष रूप से बीज-पत्र के ऊतकों मे पैदा होते है। कवकजाल अन्तर्कोशिय तथा अन्तः कोशिक होता है। अधूषांग उत्पन्न नहीं होते और कवकसूत्र अपनी भित्तियो द्वारा पोषक उत्तकों से भोजन चूसते हैं।

अलैंगिक जनन बीजाणु धानियो द्वारा होता है। ये बीजाणु धानियां कायिक कवकतन्तु के सिरे पर या मध्य निविष्ट हो सकती हैं। ये 25–36 माइक्रोन व्यास की गोलाकार या बेरल की आकृति होती है। ये कवक तन्तु के साथ जुड़ी रह कर या तो अपने स्थान पर अंकुरित होती है या उससे अलग होकर वायु या पानी द्वारा दूसरे स्थान पर पहुंच जाती हैं। इसमे से वेसीकल बनता है जिसमे बीजाणुधानी का सम्पूर्ण जीवद्रव्य तथा केन्द्रिक पहुंच जाते है अब यह जीव द्रव्य विभाजित होता है तथा द्विकोशिका युक्त चल बीजाणु बन जाते है। वेसीकल की झिल्ली फटने से चल-बीजाणु बाहर आ जाते हैं, और मिट्टी मे उपस्थित जल की पतली झिल्ली में कशाभ की सहायता से तैरने लगते है। चल बीजाणु गुर्दाकार, नग्न, एककोशिक व रसधानी युक्त होते हैं। कुछ समय बाद इन बीजाणुओ के कशाभ समाप्त होकर गोलाकार हो जाते हैं। प्रत्येक बीजाणुओ के चारो ओर एक भित्ति बन जाती है। उपयुक्त नमी एवं तापक्रम प्राप्त होने पर यह बीजाणु अंकुरनाल द्वारा अंकुरित होते हैं जो बढ़कर नया कवकजाल उत्पन्न करते हैं।

लैंगिक जनन विषमयुग्मी होता है। निषिक्ताण्ड का अंकुरण दो विधियों मे होता है। पहली विधि के अन्दर निषिक्ताण्ड की बाहरी मोटी भित्ति टूट जाती है

और अंकुरनाल निकलती है जो पोषक ऊतियों में घुसकर नया कवकजाल बना लेते हैं। दूसरी विधि में निषिक्तांड का बाह्यचोल फट जाता है और अन्तरचोल एक कवकतन्तु के रूप में बाहर आता है।

वार्षिक आवर्तन—

यह मुख्यतः मृदुढ़ रोग है। इस फफूंद के निषिक्तांड पौधों के मलबे के अन्दर भूमि में पड़े रहते है और अगले मौसम में प्रारम्भिक संक्रमण करके रोग उत्पन्न कर देते हैं। 100 प्रतिशत आर्द्रता एवं न्यूनन तापमान 20° से. इस रोग की बढ़ावार हेतु सुग्राही है। भूमि मे अधिक नमी, बीजांकुर अति सकुलता में हो तथा अच्छी प्रकार सड़ी खाद न डाली हो रोग के लिए सुग्राही है। क्लेमाइडोबीजाणु एवं निषिक्तांड प्रतिकूल अवस्था में चिरजीवित रहते हैं जो अंकुरित होकर फिर कवकजाल बनाते हैं।

रोग नियन्त्रण

(1) पूर्व निर्गम आर्द्रगलन बीजोपचार द्वारा नियन्त्रित हो सकता है। ब्लाइटोक्स 50 के 0·2 प्रतिशत घोल से बीजोपचार करें। बीजोपचार हेतु एग्रोसन, सेरेसन भी काम में ले सकते हैं।

(2) बोर्डो मिश्रण 2:2:50 या पेरेनोक्स 0 2 प्रतिशत या फाइटोलान 0·2 प्रतिशत का भूमि में छिड़काव करना भी लाभप्रद रहता है। छिड़काव बीज की बुवाई के लगभग 3 सप्ताह पश्चात् किसी भारी वर्षा के बाद करने से रोग के व्याधिजन नष्ट हो जाते हैं। छिड़काव की मात्रा प्रति 100 वर्गफुट क्षेत्र पर 30 लीटर पर्याप्त होती है।

(3) चूंकि व्याधिजन भूमि मे पाये जाते हैं। अतः भूमि का निसंक्रमण करने से भी रोगजन नष्ट हो जाते हैं। अतः भूमि का विसंक्रमण के लिये एक भाग फोर्मेलीन को 40 भाग पानी में मिलाकर रोपण क्यारी मे छिड़क दें। इस प्रकार उपचारित की गयी भूमि को फिर कुछ समय के लिये केनवास आदि से ढंक दें। 6–8 वर्गफुट भूमि के लिए 15 लीटर फोर्मेलीन की आवश्यकता पड़ेगी।

(4) भूमि जलमग्न न हो, खाद सड़ी हो तथा रोपणी क्यारी में पानी का निकास अच्छा हो। खेत की सफाई भी आवश्यक है।

ब्लेक शेंक
(Black Shank)

जिन स्थानों पर बारिश, अधिक होती है वहां इस रोग का प्रकोप काफी मात्रा में देखा गया है। इस रोग से ग्रसित पौधों के तने पर काले क्षत स्थल बन जाते हैं तथा प्रारम्भ में काले छोटे-छोटे से दिखाई देते हैं जो बढ़कर तने को घेर

लेते हैं तथा अनियमित खण्ड से बन जाते हैं। क्षत स्थल नीचे की ओर भी बढ़ते हैं तथा जड़ों को घेर लेते हैं। ग्रसित तना सिकुड़ जाता है तथा पौधा मुरझा जाता है। जब ग्रसित तने को फाड़ कर देखा जाये तो सूखा हुआ दिखाई देता है।

पत्तियों पर दो महिने की फसल पर भी लक्षण दिखाई देते हैं जो नीचे की सतह पर प्रारम्भ में बनते हैं जो बड़े, धूसर, अनियमित गोल धब्बे होते हैं। धीरे-धीरे धब्बे आपस मे बढ़ते रहते हैं तथा एक दूसरे से मिल जाते हैं। दो-तीन धब्बे आपस में मिलकर सम्पूर्ण पत्ती को घेर लेते हैं। मध्य रिक्त (mid rib) धब्बों की बढ़ावार को रोक लेते हैं। रोग पर्णवृन्त (petiole) तथा तने पर भी बढ़कर काले विवर्णन (discolouration) हो जाते हैं। नम मौसम में बड़े भूरे, क्षतस्थल बनते हैं। इस फफूंद से तम्बाकू के बीजांकुर का सड़न भी होता है। (Gallsway, 1936; Anonymous, 1936)

रोगजन :—

यह रोग फाइटोफ्थोरा पेरासीटिका वे निकोटियानाई (P. parasitica ver. nicotianae Breda de Henn Tucker) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। कवकजाल अपट, शाखित 3·1 माइक्रोन व्यास का होता है। बीजाणुधानी, बीजाणुधानीधर पर बनती है। बीजाणुधानीधर पत्ती के अन्दर से अकेले या 2–3 के झुण्ड में 39–233 माइक्रोन × 2–3 माइक्रोन के होते हैं। बीजाणुधानी रंगहीन, पतली भित्ति के चिकनी होती है जो 40 × 25 माइक्रोन की होती है। (गोविन्दाराव एवं कोटयूवराव, 1956) बीजाणुधानी के अंकुरण होने पर चलबीजाणु बनते हैं। चलबीजाणु द्विकशाभयुक्त 11–13 × 8–9 माइक्रोन के होते हैं। फफूंद से क्लेमाइडोबीणु भी बनते हैं जो गोलाकार, 27 – 42 माइक्रोन के होते हैं। अण्ड-बीजाणु गोलाकार 15–20 माइक्रोन व्यास के होते हैं।

रोगचक्र :—

फफूंद मिट्टी में फसलों के अवशेषों मे चिरजीवित रहती है तथा पौधों को वापिस संक्रमित करती है। फफूंद का प्रसार ग्रसित तम्बाकू के अवशेष, यन्त्र तथा सतह (surface) के जल से होता है। खेत मे सूत्र कृमि के होने पर रोग का प्रभाव अधिक होता है। प्रतिकूल परिस्थितियों में फफूंद क्लेमाइडोबीणु एवं निषिक्तांड के रूप मे जीवित रहती है।

नियन्त्रण :—

रोग ग्रसित पौधों के अवशेषों को एकत्र कर दे तथा फसल चक्र अपनायें। मिट्टी मे पेरटनट यौगिक या पेरेनोक्स मिलायें। पौधो पर बायर 5072, क्नाइटोक्स 50, ब्लू कोपर 50, बोर्डो मिश्रण (6 : 3 : 100), कापर सल्फेट, फाइटोलान, मेरयूरेक्स, मिल्टाक्स, जिराम आदि का छिड़काव लाभकारी पाया गया है। (गुप्ता एवं पटेल, 1978)।

इसके अलावा खेतो मे जल निकास हो।

मेंढ़क आँख पत्ती धब्बा रोग
(Frog eye leaf spot)

इस रोग का प्रकोप भी लगभग सभी तम्बाकू उगाये जाने वाले स्थानो पर देखा गया है। इस रोग से नीचे की तथा परिपक्व पत्तियां मुख्यतः प्रभावित होती है। पत्तियों पर बुंदकी छोटी भूरी, गोलाकार, राख जैसी घूसर (स्लेटी) दो सेन्टीमीटर व्यास की बन जाती हैं और पत्ती को सिगार की लपेटन के लिये बेकार कर देती है। धब्बे गहरे भूरे या काले किनारे से घिरे रहते हैं तथा मेंढ़क की आंख से दिखाई देते हैं। धब्बों का व्यास 5 से 10 मि. मी. होता है। रोग का प्रकोप बीजांकुर एवं पौधों दोनों पर होता है।

रोगजन :

यह रोग सर्कोस्पोरा निकोटिनी Cercospora nicotianae Ell and Ev. नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। कोनिडियोफोर पत्तियो के रन्ध्रों से गुच्छे मे बाहर आते हैं। कोनिडियोफोर गहरे भूरे, पटीय तथा सिरे पर हल्के 75–100 $\times$ 4–5 माइक्रोन माप के होते हैं। कोनिडिया रंगहीन 0–16 पट, 40–75 $\times$ 3–4 माइक्रोन के होते हैं। लम्बाई 90 से 300 माइक्रोन तक भी देखी गयी है।

रोगचक्र :—

फफूंद फसलो के अवशेषों या घासों मे चिरजीवित रहती है तथा बीजों द्वारा भी आवर्तन होता है रोगजन का प्रसार मुख्यतः कोनिडिया का हवा द्वारा होता है।

नियन्त्रण :—

बीजो का उपचार तथा फसलों के अवशेषो को नष्ट कर दें। घनी बुवाई तथा अधिक सिचाई से रोग का प्रकोप बढ़ता है अतः न करें। बोर्डोमिश्रण *5 : 5 : 50* या फेरेनोक्स का 2–3 सप्ताह के अन्दर छिड़काव करें। निकोटियाना लोन्जीफ्लोरा, नि. प्लमवेजी नीफोलिया, नि. रापन्डा एवं नि. अन्डयूलेटा इस रोग से प्रतिरोधी हैं। (नगराजन, आदि, 1968)

एन्थ्रेक्नोज
(Ahthracnose)

मुख्यतः इस रोग से पत्तियां प्रभावित होती है। संक्रमित पत्तियो पर भूरे धब्बे दिखाई पड़ते हैं। यह रोग कोलेटोट्राइकम टेवाकम, (C. tabaccum Bonig) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। इस रोग से *निकोटियाना डेबनीवी* (N. debnevii) निकोटियाना न्यूडीकालिस (N. nudicaulis) प्रतिरोधी है।

चूर्णिल आसिता
(Powdery mildew)

इस रोग से आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक एवं तामिलनाडू मे काफी हानि होती है। रोग के लक्षण सर्वप्रथम पत्तियों पर दिखाई देते है। पत्तियों की निचली सतह पर राख जैसे के धब्बे प्रतीत होते। संक्रमित पत्तिया भूरी हो जाती है, तथा उन पर धूल सी बन जाती है। पत्तियों का धीरे-धीरे क्लोरोफिल नष्ट होने लगता है, जिसके फलस्वरूप वह भूरी दिखाई देती हैं। रोग के फलस्वरूप गुण (Quality) एवं वजन दोनों में काफी कमी आ जाती है।

यह रोग एरीसाइफी सिकोरेशिएरम वे. निकोटीनी (E. cichoracearum var. nicontianae Cornes) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। कवकजाल पटोथ तथा रंगहीन होता है। अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है। कोनिडिया कोनिडियोफोर के सिरे पर तलाभिसारी शृंखलाओं में बनते हैं। कोनिडिया बेरल आकृति के रंगहीन पतली भित्ति के 26–35×5–20 माइक्रोन में होते हैं। कोनिडिया का विकीरण हवा, पानी आदि साधनों द्वारा होता है। उचित पोषक मिलने पर यह अंकुरित होते हैं। नम वातावरण व धूप के अभाव में इस रोग का प्रकोप अधिक होता है। रोग की देर अवस्था मे क्लीस्टोथीसिया बनते हैं, जो गोलाकार होते है, जिस पर पटोथ भूरे रंग की उपांग होती है। क्लीस्टोथीसीया मे 10 से 15, 5.8–9.0×30–35 माइक्रोन की एस्कस होती है। जिसमे दो एस्कोबीजाणु, रंगहीन, एक कोशिक 20–28×12–20 माइक्रोन माप के उत्पन्न होते हैं।

वार्षिक आवर्तन :—

चूंकि इसकी लैंगिक अवस्था अधिकतर नही पाई जाती है, इसलिये इसका चिरजीवन कोनिडिया द्वारा होता है, जो हवा द्वारा उड़कर एवं एक फसल से दूसरे फसल को रोग ग्रसित करते हैं। शुष्क मौसम इस रोग की बढ़ावार हेतु सुग्राही है।

नियंत्रण :—

इस रोग की रोकथाम हेतु 40 किलो गन्धक 1 हेक्टर के हिसाब से बुरकाव के रूप में प्रयोग करें। बुरकाव पौधो के निकट पत्तियों के मध्य करना चाहिये। अधिकतर गन्धक तथा राख उसी मात्रा में मिलाकर 4–6 सप्ताह बाद क्यारो मे 100–120 किलो ग्राम प्रति हेक्टर की दर से देते हैं। पौधों की निचली पत्तिया तोड़ने और अधिक घने पौधो को खेत से निकाल देने से भी रोग का प्रसार कम हो जाता है।

जिनेब तथा कॉपर आक्सीक्लोराइड के पत्तियों पर फुहारान के प्रभाव का परीक्षण हेल्मिथोस्पोरियम स्पाइसीफेरम के प्रति तम्बाकू की रोगग्रही (टं 238)

व रोग रोधी डेलक्रेस्ट किस्मो पर किया गया। रोग ग्राही किस्म टी 238 की अपेक्षा डेलक्रेस्ट किस्म पर रोगकारी व अन्य कवको की संख्या कम तथा कांपर अवशेष की मात्रा अधिक पाई गयी । कापर जिनेब से अधिक प्रभावशाली व स्थाई रहा । यह रोग 0·2 प्र. श. ब्लाइटोक्स या केप्टान के छिड़काव से रोका जा सकता है। प्रथम छिड़काव जब फसल 40—45 दिन की हो तथा दूसरा छिड़काव उसके 15 दिन बाद करें। रोग की सक्रमकता नियन्त्रण के 43·6 प्रतिशत अनुपात में 7·4 प्रतिशत रह गयी तथा उपज भी 54·6 प्रतिशत ग्राम से 156·1 ग्राम हुई। (चौहान 1976)

इन रोगों के अलावा कुछ अन्य रोग भी इस फसल को हानि पहुंचाते हैं, वह निम्न है ।

(1) म्लानि (Wilt)	फ्यूजेरियम आक्सीस्पोरम एफ निकोटिनी (F. oxysporum f. nicotianae (Johnson) Snydur and Hensen,)
(2) काली जड़ गलन (Black root rot)	थेलविओप्सिस बेसीकोला (Theilaviopsis basicola Berk and Br. Ferr)
(3) सोर शाइन (Sore shine)	राइजक्टोनिया सोलेनाई (Rhizotonia solani Kuhn)
(4) भूरा धब्बा (Brown spot)	आल्टरनेरिया लोन्जीपस (A. longipes (Ell and Ev) Masent)

पत्ती अंगमारी
(Leaf blight)

तम्बाकू की पत्तियों पर अंगमारी रोग से भी काफी हानि होती है। जिसके कारण पत्तियां झुलस जाती हैं, तथा उपज में काफी अन्तर पड़ जाता है। यह रोग हेल्मिथोस्पोरियम स्पीसीफेरम नामक फफूंद से उत्पन्न होता है।



Anderson, P. J. (1949), Diseases and decays of Connecticut tobbacco. Conn. Agr. Exp. Sta. Bul. 432.

Anonymous (1936). Annual report of the Mycology Section for the year ending 31st March, 1946. Rep. Dept Agric. Cent. prov. Berar; pp 26–29 (abstract RAM Vol. XVI, 1937 p. 233),

Chohan, M. S. (1976). Toxicity of fungitoxicants including antibiotics against Helminthosporium spiciferum causing leaf blight of Tobbaco. Indian J. Mycol. Pl. Pathol 5 (1) : 34.

Chohan, M. S. (1976). Field and laboratory evaluation of fungitoxicants against Helminthosporium spiciferum causing leaf blight of tobacco. Indian J. Mycol. and Pl. Pathol. 6 (1) : 100.

Dastur, J. F. (1913). On Phytophthora parasitica nov. sp. A new disease of Castor oil plant. Mem. Dept. Agric in India. Botanical serical 5 : 177–251.

Galloway, L. D. (1936). Report of the Imperial Mycologist. Sci. Rep. Agri. Res. Inst. Pusa 1934–35, p. 120–130 (abstract in RAM XVI, 1937 p. 231).

Govind rao, p. and D. Koteshawara—rao (1956). Seedling blight of Tobacco caused by Phytophthore parasitica var. nicotianae. Indian Phyopath. 9 : 145-149.

Gupta, B. M. and R. C. Patel (1978). Fungicides for control of Phytophthora parastica Dastur var. nicotianae of tobacco. Indian J. Mycol. Pl. Pathol. 8 (1); 41

Nagarajan, K., T. S. N. Reddy. and G. H. Chandwani (1978). Reaction of Nicotiana species to Cercospora nicotianae and Colletotrichum. Symposium an Plant Disease problem. (Abstract), Indian. J. Mycol and Pl. Pathol. 8 (1) : 16.

Pillai, S. N. and N. S. Murty (1967). Relative efficacy of some copper fungicides for the control of damping off in tobacco nurseries. Indian Phytopath. 20 381–382.

Thomas K. M. et al. (1947). Studies on the genus Phytophthora I. Proc. Indian Acad. Sci. B. 26 : 147 : 163.



(ग) कॉफी के रोग

(Diseases of Coffee)

काफी एक महत्वपूर्ण रोपण (Plantation) फसल है, जिसकी खेती अधिकतर दक्षिण भारत में 750 से 2000 मीटर समुद्र की सतह से ऊपर होती है। इसके लिये 150 से 200 से. मी. बारिश की आवश्यकता है, तथा तापमान 12 से 30° से. होना चाहिये। कई प्रकार के रोगों से इस फसल को काफी हानि पहुंचती है। मुख्य रोग इस प्रकार है।

(1) कॉफी का किट्ट (Rust)
(2) काली सड़न (Black rot)
(3) कालर सड़न (Collar rot)
(4) भूरी आंख धब्बा (Brown eye spot)
(5) बेरी ब्लोच (Berry blotch)
(6) सूटी मोल्ड (Sooty mould)
(7) न्यू मैलेडी (New malady)

कॉफी का किट्ट
(Rust)

कॉफी का किट्ट सबसे पहले (1868) में सिलोन में देखा गया। यह रोग एक अति विध्वंसात्मक रोग है। कॉफी उत्पादन करने वाले विश्व के अधिकांश क्षेत्रों में इस रोग के कारण इस फसल की खेती में बहुधा बाधा पड़ती है। कॉफी उगाये जाने वाले जावा, सुमात्रा, फिजी एवं मालवा आदि देशों में भी बहुत हानि इस रोग से देखी गयी है। 1880 के लगभग श्री लंका में कॉफी का सम्पूर्ण कारोबार इस रोग ने खतम कर दिया, परिणामस्वरूप लोगो ने चाय की खेती चालू कर दी। 1870 में जहां काफी की उपज 450 वजन की प्रति एकड़ होती थी यह इस रोग के कारण 1879 में केवल 200 वजन की ही रह गयी। श्री लंका की इस तबाही का ब्राजील वालो ने फायदा उठाया। इस प्रकार यह किसी देश की तबाही का रोग के नुकसान का एक उदाहरण है। दक्षिण भारत में भी एक बार इस रोग से काफी नुकसान हुआ, परन्तु किट्ट सहनशील (tolerent) किस्म होने के वजह से नुकसान कम हुआ।

लक्षण :—

इस रोग के लक्षण मुख्यतः पत्तियों पर दृष्टिगोचर होते हैं, तथा सरस (berries) बहुत ही कम प्रभावित होती हैं। प्रारम्भ मे पत्तियों की निचली सतह पर नारंगी रंग के फफोले दिखाई पड़ते हैं। बाद मे रोग के अधिक फैल जाने पर भूरे हो जाते है। अधिक संक्रमण होने पर पत्ती का पूरा पटल (Lamina) भूरा होकर सूख जाता है। पत्तियां पूर्ण विकसित होने के पूर्व ही भर जाती हैं। फलस्वरूप सरस (berries) छोटी हो जाती है, तथा पूर्ण रूप से नहीं पक पाती, जिसकी वजह से 50 प्र श तक नुकसान हो जाता है। इस रोग से पौधे किसी भी अवस्था में संक्रमित हो सकते हैं परन्तु तरुण पत्तियां अधिक प्रभावित होती हैं।

रोगजन :—

यह रोग हीमीलिया वेस्टेट्रीक्स (Hemileia vastatrix Berk and Br.) नामकफफूंद से उत्पन्न होता है। इस फफूंद की पिक्नीडीयल एवं ईसीडियल अवस्था का पता नही चला है। अभी तक यह भी नही कहा जा सकता कि यह किट्ट एकाश्रयी है या भिन्नाश्रयी क्योंकि टेल्यूटोबीजाणु अंकुरित होने पर कॉफी की पत्ती को संक्रमित करने में असमर्थ रहते हैं। कवकतन्तु अन्तराकोशिक (inter cellular) होते हैं, तथा प्रचूषाग द्वारा भोजन प्राप्त करते हैं। कवकतन्तु से यूरिडो एवं टेल्यूटोबीजाणु बनते हैं। यूरिडोबीजाणु नारंगी, अण्डाकार या वृक्काकार (reniform) 26–40× 20 – 30 माइक्रोन के होते हैं। टेल्यूटोबीजाणु उन्हीं सोरस से बनते हैं। बहुत ही कम टेल्यूटोबीजाणु बनते हैं। ये कोणीय गोलाकार तथा इनमें शीर्ष पेपीला होती है। इनकी माप 18–28×24–24 माइक्रोन होती है। टेल्यूटोबीजाणु तत्काल अंकुरण में समर्थ हो जाते हैं, तथा बेसीडिया उत्पन्न करते हैं, जिस पर बीजाण्वी होते हैं। चूंकि अधिकतर एकाश्रयी किट्ट के टेल्यूटोबीजाणु बिना विश्राम काल के अंकुरित होते हैं, अतः सम्भवतः यह भी एकाश्रयी है।

वार्षिक आवर्तन :—

इस किट्ट के पिक्नीडिया एवं ईसाडिया का अभी तक ज्ञात नहीं है, तथा बीजाण्वी (sporidia) वापिस से काफी के पौधो को संक्रमित नही करते हैं, अतः इसके यूरिडोबीजाणु सापार्श्वी परपोषियों पर जीवित रहते हैं, तथा अनुकूल वातावरण मिलने पर कॉफी पर संक्रमण करते हैं।

अतः प्रायमिक एवं द्वितीयक संक्रमण यूरिडोबीजाणु द्वारा ही होता है। यदि शुष्क मौसम मानसून के बाद कम समय का हो, तथा शुष्क मौसम में अधिक ओस तथा कोहरा हो तो मानसूनी मौसम से तथा बाद में इस रोग का काफी प्रभाव होगा।

नियन्त्रण :—

(1) प्रतिरोधी किस्में बोयें। दक्षिण भारत मे स्थित केन्द्रीय काफी अनुसंधान ने प्रतिरोधी किस्मो पर गहनता से अध्ययन किया है। कॉफी रोबस्टा,

काफी अरेबिका के अनुपात में कम प्रभाव्य है, किन्तु काफी रोवस्टा की उपज कम होती है। कुर्ग (Coorg) किस्म प्रारम्भ में प्रतिरोधी थी परन्तु कायिक प्रजातियों के उत्पन्न होने से यह प्रभाव्य हो गई तथा दूसरी किस्म केन्ट (kents) इससे प्रभावित नहीं हुई। छाया मे द्वितीयक संक्रमण नही हो पाता। इस फफूंद की चार प्रजातियां ज्ञात है।

(2) सबसे पूर्व 1886 में बर्क (Burk) ने बताया कि ताम्रवर्गी फफूंद-नाशी से यह रोग नियन्त्रित हो सकता है। पार्क एवं बुरडेकिन (Park and Burdekin, 1964) के अनुसार 60 मि. ग्राम कापर प्रति वर्ग फीट या 2 कि. ग्रा. कापर प्रति एकड़ छिड़काव से किट्ट नियन्त्रण होता है। भारत में बोर्डो मिश्रण (2:2:40) के दो छिड़काव, एक मानसून से पहले (अप्रैल-जून) तथा एक मानसून के बाद (सितम्बर-नवम्बर) करने पर यह रोग नियन्त्रित रहता है। (Agnibothrudu, 1970)।

सुब्रहमनियन (1967) के अनुसार बोर्डो मिश्रण (0·5 प्र.श.) पूर्व मानसून एवं पश्च मानसून का छिड़काव काफी लाभप्रद रहता है। इसके साथ ही स्परीकारक के मिलाने से दक्षता (efficincy) पर कोई प्रभाव नही पड़ता।

कालर सड़न
(Collar rot)

कालर सड़न का प्रकोप पोधशाला में देखा गया है, तथा कालर (Collar) स्थान पर भूरे क्षत स्थल बन जाते हैं, तथा सड़ जाते हैं। सड़न फिर जड़ तथा तने के ऊपर भी बढ़ जाती है। इस रोग से प्रभावित पौधा एकदम मुरझा जाता है। यह रोग राइजक्टोनिया सोलेनाई (R. solani kühn) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। मिट्टी में ब्रैसीकोल (1 प्र.श.) टेराक्लोर (1 प्र.श.) या राइजक्टोल (0·5 प्र.श.) के प्रयोग से यह रोग नियन्त्रित हो सकता है।

काली सड़न (कालेरोगा)
(Black rot (Koleroga)

काला सड़न काफी का एक प्रमुख रोग है। कर्नाटक एवं तामिलनाडु में इस रोग से बहुत हानि होती है। इस रोग का मुख्य लक्षण ग्रसित पत्तियों का काला होना है। पत्तियों पर एक भूरी सफेद सी वृद्धि छा जाती है, जिसको आसानी से हटाया जा सकता है। इसी प्रकार की वृद्धि फलों पर भी दिखाई देती है। पत्तियों के अलावा सरस (berries) भी संक्रमित होती है, जो काली पड़ जाती है। पर्णवृन्त (petiole) एवं शाखाओं पर भी संक्रमण हो सकता है। ग्रसित सभी स्थान काले पड़ कर सड़ जाते हैं।

यह रोग कार्टीसियम कालेरेगो (Corticium koleroga Cke) पेलीकुलेरोया कालेरेगो (Pellicularia koleroga) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। कवकसूत्र रंगहीन, पटीय एव बहुत अधिक शाखित होता है। कवकसूत्र से बेसीडिया उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक बेसीडिया पर चार स्टेरिगमेटा होते हैं, जिन पर बेसीडियो बीजाणु उत्पन्न होते हैं।

प्रारम्भिक अवस्था मे फफूंद पत्तियों, टहनी (twigs) एवं सरस (berries) की सतह पर सम्पूर्ण वर्ष रहती है। फफूंद मिट्टी में कार्बनिक पदार्थ पर भी उतरजीवी रहती है। द्वितीयक संक्रमण बेसीडियो बीजाणु द्वारा होता है। इस रोग का व्यापत इन स्थानों पर बहुत अधिक होता है, जहां 80 से 100" की बारिश होती है। इसी के साथ अधिक समय का शुष्क मौसम न हो। रोग उन स्थानों पर उग्र रूप ले लेता है, जहां धूमिका (mist) अधिक समय तक रहती है।

नियन्त्रण :—

इस रोग का प्रभाव दक्षिण पश्चिम (south west) मानसून पर निर्भर करता है, अतः इस मानसून के प्रारम्भ होते ही 5:5:50 बोर्डो मिश्रण का छिड़काव भी लाभप्रद रहता है। इसके ग्रसित भाग को काट कर जला दें।

भूरा आंख धब्बा
(Brown eye spot)

पौधशाला की यह एक महत्वपूर्ण रोग है। प्रारम्भ में छोटे प्रतिक्षयी धब्बे पत्तियो पर बनते हैं, जो बाद मे गोलाकार होकर 4 से 15 मि. मी. व्यास के हो जाते हैं, तथा बीच से धूसर (greyish) तथा किनारे भूरे होते हैं। धीरे-धीरे धब्बे आपस मे मिल जाते हैं। अन्त में पत्तियां पीली पड़कर झड़ जाती हैं। सरस (berries) पर काले धब्बे (patches) बन जाते हैं, जो सिकुड़कर गिर जाते हैं।

यह रोग सर्कोस्पोरा कॉफीकोला (Cercospora coffeicola Balcko) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। गर्म नम (hot humid) मौसम मे रोग का प्रकोप उग्र होता है (सुब्रह्मण्यम 1967)।

इस रोग का नियन्त्रण डायथेन M-45 के तीन छिड़काव (अप्रैल अन्त, जून प्रारम्भ एवं सितम्बर मध्य) एवं कैप्टान तथा फरवाम के 5 छिड़काव (अप्रैल, मई, जून, सितम्बर, अक्टूबर) 0·4 प्र.श. सान्द्रता मे करने पर हो जाता है (सुब्रह्मण्यम, 1967)।

नई मेलेडी
(New malady)

इस रोग मे मार्च से मई के महिने में पीतांगता एवं अधोकुंचन (epinasty) के लक्षण पत्तियों पर दिखाई देते हैं, बाद में पत्तियाँ मर जाती हैं, फिर भूरा हो जाता है, तथा उसमे अन्तरा कोशिक (intercellular) कवकजाल देखा गया है।

उत्पादक (productive) शाखायें सूख जाती हैं, पत्तियां तुड़-मुड़ जाती हैं, तथा झाड़ी जैसी वृद्धि दिखाई देती है (धम्नीहोतरूड़, 1967)।

इस रोग के होने में बोट्राईडिप्लोडिया थिओब्रोमी (B. theobromae Pat) फ. सेमीटेक्टम (F. semitactum Berk et Br.) फ. स्टिलबोइड्स (F. stilboides wr) फ. आक्सीस्पोरम (F. oxysporum Schelchi), फ. सोलेनाई (F. solani (Mart) App et wr.) हाइपोमसीज की जाति तथा नेक्टीरीया हैमाटो (Necteria haemato Cocca Berk et Br.) इससे सम्बन्धित बतायी गयी हैं (धम्नीहोतरूड़, 1971)। वायवीय भाग से कालीटोट्राइकम कॉफीनम (Colletotrichum coffeanum Hoack) भी प्रथक्कृत की गयी।

नरीशमेन (1971) डिक्लाइन (decline) की तरह ग्रसित पौधो की जड़ों से राइजक्टोनिया, फ्यूजेरियम एव उजोनियम प्रथक्कृत की। अधिक खाद के प्रयोग से तथा दैहिक फफूंदनाशी आरियोफन्जीन 60 पी पी एम+20 पी पी एम कापर सल्फेट से इसका नियन्त्रण पाया।



(घ) चाय के रोग

(Dsieases of Tea)

चाय (Camellia sinesis (Linn) Okuntze) की फसल पर भी कई प्रकार के रोगों का प्रकोप होता है। अग्नीहोतरुद्र (1914) ने चाय पर 385 फफूंदियों का विश्व मे तथा 200 का उत्तरी पश्चिमी भारत में उल्लेख अपने मोनोग्राफ में किया है। मुख्य रोग निम्न है :

(1) जड़ बीमारियाँ—	(1) चारकोल स्टम्प राट (अस्टूलिना जोनेटा) Ustulina zonata Lev. Sacc.
	(2) भूरी जड़ गलन (फोमस नोक्सीयस Fomes) noxius Corner
	(3) पीली जड़ गलन (पोरिया हाइपोलेटरीटिया) Poria hypolateritia (Berk) Cooke.
	(4) काली जड़ गलन (रोजेलिनीया आरक्यूएटा) Rosellinia arcuata Petch.
(2) पीला किट्ट	सिफैल्यूरोस विरीसेन्स (Cephaleuros virescens Kunze)
(3) ब्लिस्टर ब्लाइट	एक्सोबेसीडियम वेक्सेन्स (Exobasidium vexans Massee).
(4) ग्रे ब्लाइट	थिया साइनेन्सिस (Thea sinensis L.)
(5) पत्ती धब्बा	सर्कोस्पोरा थिआई Cercospora theae von Brede
(6) तना केकंर	फोमोप्सिस थिआई Phomopsis theae.

बिलस्टर ब्लाइट
(Blister blight)

चाय का यह एक महत्वपूर्ण रोग है। सबसे पहले 1868 में आसाम में इस रोग का प्रकोप देखा गया। भारत के अलावा इस रोग का प्रकोप श्री लंका एवं इण्डोनेशिया में भी बहुत होता है। दक्षिण भारत में इसका प्रकोप अधिक देखा गया। उत्तरी पूर्वी भारत में मौसमी (Seasonal) दार्जीलिंग में जून से सितम्बर,

दोरास (Dooras) में सितम्बर से नवम्बर तथा आसाम में मार्च एवं मई में इस रोग का प्रकोप होता है (अग्नी होतरूदू, 1970)।

लक्षण :—

सर्वप्रथम पत्तियों पर छोटे हल्के गुलाबी (pinkish) धब्बे पत्तियों पर बनते हैं, जो बढ़कर 5 से 15 मि. मी. व्यास के हो जाते हैं। धब्बे की ऊपरी सतह हरी हल्की तथा चमकदार एवं नीचे की सतह सफेद एवं मृदु होती है। (फफोले) तने पर भी दिखाई देते हैं तथा संक्रमण का स्थान टूटा दिखाई देता है। परिपक्व पत्तियां इस रोग से प्रभावित नहीं होती हैं एवं पत्तियों पर पचास तक फफोले पाये जा सकते हैं, तथा कई बार मिलकर एक अलग टुकड़ा बना लेते हैं, संक्रमित पत्तियां मुड़कर विकृत हो जाती हैं।

रोगजन :—

यह रोग एक्सोबेसीडियम वेक्सेन्स (Exobasidium vaxans Massee) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है, जो अनिवार्य परजीवी है। कवकतन्तु कोशिक, तथा अन्तराकोषीय होते हैं। कुछ कवक सूत्र रन्ध्रों द्वारा बाहर आते हैं, जबकि कुछ अधोस्तर के फटने से बाहर आते हैं। दोनों पर बीजाणु उत्पन्न होते हैं, कोनिडिया अकेले, रंगहीन, $12\text{–}21 \times 4{\cdot}5\text{–}60$ माइक्रोन के लम्बे वृन्त (Stalk) के अन्त पर उत्पन्न होते हैं, कोनिडिया का विकीर्णन आसानी से होता है, तथा दो तीन घन्टे में अंकुरित होते हैं। बेसीडियोबीजाणु बेसीडिया पर उत्पन्न होते हैं, बेसीडिया 30–$35 \times 5\,6$ माइक्रोन की लम्बी मुग्दराकार (Club shaped) होती है, जिन पर दो छोटे स्टेरीगमेटा होते हैं, जिस पर एक अपट बेसीडियोबीजाणु बनते हैं, जो 5×3 माइक्रोन माप के होते हैं।

रोगचक्र :—

चूंकि यह फसल सम्पूर्ण वर्ष रहती है, तथा वातावरण भी अनुकूल रहता है, अतः उसका वहीं आवर्तन होता रहता है, मौसम इस रोग की बढ़वार के लिये काफी सुग्राही है। बेसीडियोबीजाणु का प्रकुरण हवा एवं कीड़ो द्वारा होता है। 80 प्र.श. आपेक्षिक आर्द्रता कम से कम संक्रमण एवं बीजाणुकरण हेतु होनी चाहिये। एक बीजाणु का जीवन चक्र 3 से 8 सप्ताह होता है, इसी बीच काफी मात्रा में बेसीडियो बीजाणु बनते रहते हैं। (Venkataram, 1975) वेकंटराम के अनुसार 24 घन्टे में 10 लाख बीजाणु बन जाते हैं। शॉ (Shaw, 1965) ने इसके बीजोढ़ होने का भी संकेत दिया परन्तु यह मान्य नहीं रहा।

नियन्त्रण :—

निकल साल्ट के प्रयोग से इस रोग रोकथाम सम्भव है। (Venkataram, 1961, 63) छोटे पौधे जो मिट्टी में निकल साल्ट मिलने के बाद बोये जाते हैं, वह प्रतिरोधी होते हैं। (Venkataram, 1970) के अनुसार 1,4 ऑक्सेथिन यौगिक का प्रयोग भी काफी लाभप्रद रहता है, यदि मिट्टी में भी यह दैहिक यौगिक मिला दिये जायें तो नियन्त्रण हो जाता है।

चने की बीमारियां

(Gram diseases)

चना (Cicer arietinum L.) रबी की दाल वाली फसलों में एक प्रमुख फसल है। लगभग 90 लाख हैक्टर में इसकी खेती होती है, जिसमें 55 लाख टन दाल प्राप्त होती है। भूमि संरक्षण के लिये भी यह एक लाभदायक फसल है, क्योंकि इसके पौधों की ग्रन्थियों में उत्पन्न होने वाले जीवाणु वायुमण्डल से नत्रजन एकत्र करते हैं। मुख्य रूप से नुकसान पहुंचाने वाले रोग इस प्रकार हैं।

(1) अंगमारी (Blight) एस्कोकाइटा रेबी

(2) म्लानि (Wilt) फ्यूजेरियम ओरथोसिरास

(3) किट्ट (Rust) यूरोमाइसीज साइसेरएरीटिनी

(4) पद गलन (Foot rot) ओपरकुलेलारा पेडविकी

(5) जड़ एवं तना गलन (Root and Stem rot) मेक्रोफोमिना फेजियोलिना (चित्र 7 क 1)

(6) बीजोढ़ फफूंदिया (Seed borne fungi)



(चित्र 7 क 1 चने का जड़ गलन रोग)

अंगमारी
(Blight)

चने की फसल पर अंगमारी रोग द्वारा बहुत अधिक हानि होती है, भारत

के अलावा अन्य देशो में भी इस रोग के कारण काफी नुक्सान पहुंचता है। भारत में पंजाब, हरियाणा, पूर्वी उत्तर प्रदेश, एवं जम्मू में इस रोग से काफी नुक्सान देखा गया है। सबसे पहले इस रोग का वर्णन 1911 में बटलर ने भारत से ही किया। इस रोग का प्रकोप पत्तियों तथा तने पर विशेष रूप से दिखाई देता है। सबसे पहले पत्तियों पर लक्षण दिखाई देते हैं, जहां धब्बे जलासिक्त होते हैं, तथा धीरे धीरे गोल हो जाते हैं तथा किनारे से भूरे एवं भीतर से पीले धूसर होते हैं। तने पर भी गहरे रंग के कैंकर जैसे लक्षण तथा तना काला पड़ जाता है। रोग का अधिक प्रकोप होने पर धब्बे आपस से मिल जाते हैं तथा पत्तियां झुलस जाती हैं। फफूंद के पिक्नीडिया धब्बों के मध्य में काले बिन्दु के रूप में दिखाई देते हैं। इस रोग का प्रकोप जनवरी-फरवरी के महिनो मे जब पुष्पण की अवस्था होती है, तब अधिक होता है। खेत मे रोगी पौधे कहीं-कहीं दिखाई देते हैं, धीरे-धीरे यह सम्पूर्ण खेत में फैल जाते हैं, महामारी के समय 50 प्र. श. या इससे भी अधिक नुकसान देखा गया है।

रोगजन :—

यह रोग एस्कोकाइटा रेबी (Ascochyta rabiei (Pass) Labrowse) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है, जिसकी सम्पूर्ण अवस्था माइकोस्फीरीला पिनोडस (Mycospharella pinodes Bal Blex) है। पिक्नीडिया गोल, ओस्टियोलेट होते हैं, जो कि धब्बों मे धसे रहते हैं। पिक्नीओस्पोर रंगहीन, हल्के पीले, दो कोशिक 9–20 × 3–8 माइक्रोन के होते हैं। सम्पूर्ण अवस्था भी रोगग्रसित ऊतिका पर अधिकतर जब पौधे मर जाते है, तब बनती है। पेरीथिसिया गहरी, गोल 100 से 140 माइक्रोन की होती है। पेरीथिसिया में कई एस्कस होते हैं, जिनमें 8 एस्कोबीजाणु एक कोशिक रंगहीन होते हैं।

यह फफूंद एक मौसम से दूसरे मौसम तक रोगग्रसित पत्तो के अवशेषों में तथा बीजों मे पिक्नीडिया एवं पेरीथिसिया मे चिरजीवित रहती है। जब चना बोया जाता है, तब अनुकूल वातावरण मिलने पर फफूंद का कवकजाल भी पौधों की वृद्धि के साथ बढ़ता रहता है, बाद में बीजाणु हवा के द्वारा उड़कर द्वितीयक संक्रमण कर देते हैं। यह रोग बाह्य एवं अन्त बीजोढ़ भी है। मुख्यतः इसका वार्षिक आवर्तन बीजो द्वारा होता है। जब मौसम मे थोड़ी ठन्ड हो तब इस रोग का प्रकोप अधिक होता है। शुष्क मौसम में रोग सीमित रहता है, परन्तु यदि वर्षा हो जाये तो शीघ्र ही सम्पूर्ण फसल नष्ट हो जाती है।

रोग नियन्त्रण :—

(1) बीजोपचार : चूंकि यह रोग बीजोढ़ है, अतः बीजोपचार करें। बीजो को पी सी. एन. बी. एवं थिराम (1 : 1) के अनुपात से $2\frac{1}{2}$ ग्राम

प्रति किलो के हिसाब से उपचारित करना लाभप्रद पाया गया है। गरम जल उपचार भी रोगाणु को नष्ट कर देता है।

(2) केप्टान 1 किलो प्रति हैक्टर की दर से 4 छिड़काव करने पर इस रोग की रोकथाम हुई। केप्टान के बाद डायथेन Z-78 भी 1 कि. प्रति हैक्टर की दर से काफी प्रभावशाली पाया गया (सत्यवीर एवं ग्रोवाल, 1974) जिनेब एवं कापर आक्सीक्लोराइड के मिश्रण का छिड़काव भी इस रोग की रोकथाम हेतु प्रभावकारी पाया गया है। ब्रिस्टान एवं कोरोमर्क (Coromerk) चने की फसल पर पादप विषालु पाये गये।

(3) खेत में खरपतवार तथा फसल के अवशेषों को नष्ट कर दें। गहरी जुताई भी काफी लाभप्रद रहती है, ग्रसित पौधों को उखाड़ कर जला दें।

(4) रोग प्रतिरोधी किस्में प्रयोग में लें। किस्में एफ 8, सी 12–34 व सी 235 जो इससे प्रतिरोधी बतायी गयी है, वह इस फफूंद की नई प्रजाति के उत्पन्न होने से समाप्त हो गया है। (ग्रोवाल, 1969) अजीज (Aziz, 1962) ने सी 727 पाकिस्तान में शुष्क खेती हेतु प्रतिरोधी बतायी। इजरायल की कई किस्में जैसे बलगेरियन (Bulgarian) इससे प्रतिरक्षक (immune) है। साधू (Sandhu, 1972) ने ई. सी. 26414, ई. सी. 26435, ई. सी. 26446, बी–138 इस रोग की प्रतिरोधी किस्में बतायी। ग्रोवाल एवं सत्यवीर (1974) ने मोरक्को की संलेक्शन पी 1528–1–1 प्रतिरक्षक तथा इजराइल की आई–13 या 11–074–0 6625 प्रतिरोधी बताई। एफ. 8, सी. 1234 एवं C 235 इस रोग से प्रतिरोधी थी परन्तु अब नई संक्रामक प्रभेद होने से प्रभाव्य हो गयी। (सत्यवीर एवं ग्रोवाल, 1974)

किट्ट
(Rust)

चने का यह रोग हमारे यहां सभी जगह पाया जाता है, परन्तु उत्तरी भारत (उत्तर प्रदेश एवं पंजाब) तथा महाराष्ट्र एवं तामिलनाडु में काफी नुकसान होता है।

लक्षण :—

किट्ट का आक्रमण पौधों पर फरवरी के अन्त में प्रारम्भ होता है, जबकि पौधों में प्रायः बीज पड़ना शुरू होता है। सर्वप्रथम पत्तियों में छोटे गोल भूरे रंग के स्फोट

दिखाई देते हैं, जो बाद में अनुकूल परिस्थितियों में एक दूसरे से मिलकर बड़े एवं गहरे भूरे हो जाते हैं। पत्तियों की ऊपरी झिल्ली उनके ऊपरी या मूल भाग में स्फोटो की शक्ल मे चमकने लगती है। प्रभावित पत्तियां अक्सर सूख जाती हैं। स्फोट पत्तियो के अलावा फलियो तथा चने पर भी देखे गये हैं। उग्रावस्था में पत्तियो पर टेलिया (Telia) भी बनते हैं, जो कि गहरे रंग के होते हैं, परन्तु युरोडिया से पहचानना कठिन होता है। इन स्फोटों की संख्या पत्ती की निचली सतह पर अधिक होती है, परन्तु स्फोट पत्ती के दोनों सतहों पर दिखाई देते हैं। उग्रावस्था मे पौधो की उपज मे बड़ी भारी कमी आ जाती है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र :—

यह रोग यूरोमाइसीज सिसोरिस अरीटीनी (Uromyces ciceris-arietini (Grogn) Zocz and Boyes) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। यह एक बहुरूपी तथा भिन्नाश्रयी है। इस फफूंद के पिक्निडियो-बीजाणु एवं ईसीडियोबीजाणु का अभी तक पता नही चला है। यूरिडिया पत्तियों के अन्दर, बिखरे हुए, सूक्ष्म, गोलाकार तथा परिपक्व अवस्था मे चूर्णी तथा हल्के भूरे रंग के होते हैं। यूरिडो बीजाणु कण्टिका-युक्त, 20–28 माइक्रोन व्यास के, अनियमित रूप में लघुकंटकी तथा भूरे होते हैं। इसमें 4 से 8 जनित छिद्र होते हैं। तथा बहिर्चोल मोटा होता है। यूरिडोबीजाणु नमी की उपस्थिति में अंकुरण करते हैं। अंकुरण होने पर अंकुरनाल बनती है, जो पत्ती के अन्दर रन्ध्रों द्वारा प्रवेश करती है।

टेल्यूटोबीजाणु यूरिडोबीजाणु जैसे परन्तु गोल से लेकर अंडाकार, कोणाकार, सिरे पर गोल 18 से 24 माइक्रोन व्यास के होते हैं। जिनमे जनित छिद्र होता है। यूरिडोबीजाणु आसानी से अंकुरित होते हैं, जबकि टेल्यूटोबीजाणु के अंकुरण का अभी पता नही चला है।

वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार :—

टेल्यूटो बीजाणु का महत्व (role) अभी मालूम नही है, तथा यूरिडोबीजाणु द्वारा ही इसका वार्षिक आवर्तन होता है। भारत के मैदानी इलाको में चना अक्टूबर मे बोया जाता है, तथा अप्रेल में काट लिया जाता है। शोध कार्यों से पता चला है कि यूरिडोबीजाणु एवं टेल्यूटोबीजाणु दोनो ही अधिक तापमान के कारण मर जाते हैं, तथा पिक्नीडियम एवं ईसीडियम अवस्थाओ के लिए एकान्तर पोषक का अभी पता नही चला है। सक्सेना एवं प्रसाद (1955) के अनुसार पहाड़ों पर उपस्थित शिम्बीय कुल की घास ट्राइगोनेला पोलीसेरेटा (Trigonella poly-cerata) पर 6000' की ऊंचाई तक यूरीडोबीजाणु के रूप में जीवित रहते हैं। ये बीजाणु मैदानों में शिट्ट का संक्रमण का साधन बनते हैं जिसके फलस्वरूप यह

समझा जाता है कि यूरिडोबीजाणु प्रतिवर्ष हवा द्वारा उड़कर मैदानी भागों में आते हैं और मैदानी फसलों को रोगग्रसित कर देते हैं। पाठक (1962) ने भी इसकी पुष्टि की तथा बताया कि मेथी (T. foenumglacum) जो इसी वंश का है उस पर इसका प्रकोप नहीं होता है।

नियन्त्रण :—

इस किट्ट का नियन्त्रण कठिन है। परन्तु दिसम्बर के अन्त में गन्धक 20 कि. हेक्टर की दर से 15–20 दिन के अन्तर पर तीन बार भुरकाव करने से इसका प्रसार रुक जाता है। प्रतिरोधी किस्मों की खोज जारी है। रोग रोधी पत्तियों में मौलिक अम्ल और सक्रोज की अधिकता होती है (बहादुर एवं सिन्हा, 1970)।

म्लानि
(Wilt)

चने का म्लानि रोग सम्पूर्ण भारत में मिलता है तथा गंगा के मैदान (Indo Gangetic region) में इस रोग का काफी प्रभाव पड़ता है।

लक्षण :—

इस रोग का मुख्य लक्षण पौधों का मुरझाकर फिर सूख जाता है। सर्वप्रथम पत्तियों का हल्का कत्थई या बैंगनी रंग का होना है। धीरे-धीरे पत्तियां नीली सी पड़ जाती हैं। मुरझाने की क्रिया अकस्मात अथवा धीरे-धीरे होने लगती है (चित्र 7 क 2)। सूखे हुए पौधों के कालर का रंग बदल जाता है और वे सूख जाते हैं। रोगी पौधों को पृथ्वी से आसानी से उखाड़ा जा सकता है। रोगी पौधों को भूमि से उखाड़ कर परीक्षण किया जाय तो पौधों की जड़ों का ऊपरी भाग भूरा या काले रंग का दिखाई देता है। कभी-कभी सम्पूर्ण पौधा नहीं मरता बल्कि उसकी 2–3 टहनियां ही सूखती हैं। संक्रमित पौधों की बढ़वार रुक जाती है और जड़ें सड़ जाती हैं। रोगी पौधे पूर्ण रूप से मर जाते हैं और पुन: जीवित नहीं हो सकते, पूरे खेत में जगह-जगह इस प्रकार के मुरझान ग्रसित पौधे पाये जाते हैं।

हेतुकी एवं जीवनचक्र :—

यह रोग फ्यूजेरियम ओरथोसिरास व सिसेरीस (F. orthoceras var. ciceris Appel and Wollenweber.) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। परपोषी में कवक आम तौर पर संवहन ऊतकों में रहता है तथा अन्त:कोशिक एवं अन्तरा-कोशिक होता है। कवकजाल रंगहीन तथा कृत्रिम सवर्धों में अणु कोनिडिया तथा दीर्घ कोनिडिया उत्पन्न करता है। दीर्घ कोनिडिया हंसिया आकृति के तथा दोनों ओर से पटयुक्त, रंगहीन, 25–40×3–4 माइक्रोन के होते हैं, जबकि अणु कोनिडिया एक से दो कोशिक, दीर्घवृत्तीय रंगहीन 4–6×2–4 माइक्रोन के



(चित्र 7 क 2 चने का उकठा रोग)

होते हैं। कवकजाल दारु वाहिनियों की गुहिका में उपस्थित रहता है। दारु वाहिनियों में कवकजाल के बहुत अधिक एकत्र हो जाने के कारण उनको बन्द कर देते हैं, फलस्वरूप पानी व अन्य खनिज पदार्थ आदि का ऊपर चढना, बन्द हो जाता है तथा पौधा मुरझा जाता है।

वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार :—

जीवित पोषक की अनुपस्थिति में भूमि में उत्तर जीवी रहने वाला यह मृदुड़ रोग है। पौधों के समाप्त होने पर यह फफूंद जमीन में पौधों के अवशेषों के साथ-ही बनी रहती है। दूसरे वर्ष जब उसी खेत में चने की फसल बोयी जाती है

तो फफूंद के बीजाणु चने के पौधे के साथ-साथ उगते रहते हैं। फफूंद के कवक तन्तु हमेशा महीन मूलिकाओं का वेधन करके भीतर प्रवेश करते हैं। ये बीजाणु अपने आस-पास उगे हुए चने के सम्पूर्ण पौधे को रोगी बना देते हैं। क्लेमाइडोबीजाणु के भी लम्बी अवधि तक जीवित रहने की सम्भावना है। सम्पूर्ण अवस्था का अभी पता नहीं चला है।

रोग नियन्त्रण :—

(1) रोगी पौधे को रोग मुक्त करना कठिन है, अतः एक बार पौधे को रोग लग जाने पर उसे खेत से उखाड़ कर नष्ट कर दें। अधिक सड़ा गला खाद डालने से भी इस रोग का प्रकोप कम होता है। कम तापमान तथा भूमि में अधिक नमी रोग को बढाने में सहायक रहते हैं। इसलिए यदि चने की बुवाई देर से की जाये तो चने में मुरझान रोग का प्रकोप कम होता है। फसलचक्र अपनायें।

(2) मियो में गहरी बुवाई करें।

(3) बीजो को उपचारित कर बोये। पी० सी० एन० बी० और थिराम (1—1), 2½ ग्राम प्रति किलो के हिसाब से बीजोपचार करने पर रोग की रोकथाम के साथ अंकुरण में 5 से 30 प्रतिशत की वृद्धि भी पायी गई। जबलपुर में चने के बीज को 0·1 सेरेसन (वेट) के घोल मे 5 मिनट तक भिगोकर फिर पी०सी०एन०बी० व थिराम से उपचारित करने के अच्छे नतीजे मिले हैं।

(4) रोग प्रतिरोधी किस्में काम में लें। आर० एस० 2, बी० जी० 212 डाली मे ICRISAT लाइन 4485 जबलपुर में, लाइन पी० 79 दिल्ली मे, बी० जी० 74 बदनापुर मे, जी० डब्ल्यू 14 कानपुर मे रोधी पायी गई है।

बीजोढ़ फफूंदिया (Seed borne fungi) :—

चने के बीजों से क्लेडोस्पोरियम क्लेडोस्पोरोइडस (Cladosporium cladosporioides) (19 प्रतिशत) करवुलेरिया क्लेवेटा, (Curvularia clavata) (5–2 प्रतिशत) फ्यूजेरियम इक्वीसेटी (Fusarium equiseti) (19 प्र०श०), पेनीसीलियम साइक्लोपियम (Penicillium cyclopeum) (18 प्र०श०), फलीओस्पोरा इन्फेक्टोरिया (Phleospora infectoria) (40 प्र०श०), राइजोपस ओरीजस (Rizopus oryzus) (5 प्र०श०), एवं ट्राइकोथीसियम रोजियम (Trichothecium roseum) (10 प्र०श०), पृथक्कृत की गयी। प० इन्फेक्टोरिया (P. infectores) से बहुत अधिक बीज सड़न तथा 5 प्र०श० बीजांकुर मे

तने गलन तथा गहरे भूरे क्षत स्थल के लक्षण उत्पन्न हुये तथा 25 दिन बाद बीजांकुर मर गये। फ्यूजेरियम इक्वीसेटी से बीजांकुर में मुरझान के लक्षण तथा बुवाई के 25 दिन बाद बीजांकुर की ओज (Vigour) में काफी कमी पायी गयी। क्लोडोस्पोरियम जाति से अवरुद्ध (stubby) जड़ के लक्षण उत्पन्न हुये।

केप्टान एवं फर्टिक्स 300 से बीजोपचार अच्छा रहता है। इसकी उपलब्धि नहीं होने पर डायथेन एम–45 एवं सेरेसन भी अच्छे रहते हैं। डायथेन एम–45 से सबसे अच्छा अंकुरण पाया गया। (इकबाल सिंह एवं चौहान, 1976)



(ख) अरहर के रोग

(Diseases of Arhar)

अरहर (Cajanus casan (L) Millsp) को लाल चना (red gram) या पीजीयन पी (pigeon pea) के नामों से भी जाना जाता है। मध्य एवं दक्षिण भारत में प्रोटीन देने वाले खाद्य में इस फसल का प्रमुख स्थान है। भारत के प्रायः हर राज्य में इसकी खेती की जाती है। लगभग 25 लाख हेक्टेयर में इसकी खेती होती है, जिससे 16 लाख टन दाल प्राप्त होती है। अरहर के पौधों पर अनेक रोगों का आक्रमण होता है, जिसके फलस्वरूप फसल को बहुत अधिक हानि पहुंचती है। मुख्य रूप से नुकसान पहुंचाने वाले रोग इस प्रकार हैं।

(अ) अरहर का मुरझाना या म्लानि या उकठा रोग (Wilt)	फ्यूजेरियम उड़म (Fasaruim udum)
(ब) पत्ती दाग या स्केरपोरा लीफ स्पोट (Leafspot)	सर्कोस्पोरा इंडिका (Cercospora indica)
(स) कैंकर (Canker)	डिप्लोडिया केजेनाई (Diplodia cajani)
(द) चूर्णिल आसिता (Powdery mildew)	लेवीलुला टारीका Leveillula taurica
(य) बीजोढ़ फफूंदिया (Seed borne)	आल्टरनेरिया टेनुइस, करवुलेरिया ल्यूनेटा (Alternaria tenuis Curvularia lunata.)

अरहर का म्लानि
(Wilt)

अरहर की फसल पर म्लानि रोग द्वारा बहुत अधिक हानि होती है, सामान्यतः इस रोग से 5–10 प्रतिशत फसल नष्ट हो जाती है। इस रोग का आक्रमण देश के सभी अरहर बोये जाने वाले राज्यों में देखा गया है, परन्तु महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश उत्तर प्रदेश और बिहार राज्यों में इसके कारण बहुत नुकसान होता है।

लक्षण :—

रोग के लक्षण अरहर के पौधे पर उनके 5 या 6 सप्ताह के होने पर दिखाई पड़ते हैं। अरहर के पौधे अपने विकास की सभी अवस्थाओं में इससे संक्रमित हो

सकते हैं। रोगी पौधे मुरझा जाते हैं तथा ऐसा प्रतीत होता है जैसे जलाभाव हो, परन्तु खेत मे आर्द्रता की कमी नही होती है। प्रारम्भिक अवस्था मे पौधो की पत्तिया हल्की पीली या कत्थई रग की दिखाई देती है जो कि बाद मे मुरझाकर नीचे गिरने लगती है। धीरे-धीरे पौधा सूखने लगता है। यह क्रिया अकस्मात अथवा धीरे-धीरे होती है। यदि रोगी पौधों को भूमि से उखाड़ कर उनकी जडो का परीक्षण किया जाय तो पौधों की जड़ो का ऊपरी भाकड़ हल्का भूरा या काले-काले रंग की धारियों के रूप मे दिखाई पड़ता है। यह धारियां पहले पतली होती हैं, जो बाद मे चौड़ी हो जाती हैं। इन काली धारियो के बीच मे कभी-कभी सफेद धब्बे भी दिखाई पड़ते हैं, जो कि मेक्रोकोनिडियम के कारण होते है। अधिकतर पूरा का पूरा पौधा ग्रसित होकर मर जाता है। पूरे खेत में जगह-जगह इस प्रकार के पौधे पाये जाते हैं जो उन स्थानो पर कवक की उपस्थिति के द्योतक है। आंशिक मुरझान भी पायी जाती है एक ओर का तना काला हो जाता है और उस ओर से निकलने वाली कुछ या सारी शाखायें मुरझा जाती हैं।

ग्रसित पौधो की वृद्धि रुक जाती है, फलियो में पूर्ण रूप से बीज नहीं बनते हैं, जड़ें सड़ जाती हैं। रोगी पौधे पूर्ण रूप से मर जाते हैं और पुनः जीवित नही हो सकते। रोग के अधिक प्रकोप होने पर 50 प्रतिशत पौधे खेतों में सूख जाते हैं तथा कभी-कभी सम्पूर्ण फसल नष्ट हो जाती है. यह रोग भूमिगत फफूंद द्वारा होता है और रस शोषण में अवरोध उत्पन्न होता है। सबसे पहले रोग का संक्रमण पार्श्व जड़ों के कोमल भागों में तथा मूल रोगो पर होता है। कभी-कभी तने के आधार पर गुलाबी रंग की रूईदार वृद्धि भी दिखाई देती है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र (Etiology) :—

यह रोग फ्यूजेरियम उडम (Fusarium udum) नामक फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है जो कि एक वैकल्पिक परजीवी है। कवकजाल रंगहीन, शाखित तथा पटयुक्त होता है। कवकजाल पर बीजाणु उत्पन्न होते हैं जो तीन प्रकार के बनते हैं जिन्हें अणु कोनिडिया, दीर्घकोनिडिया तथा क्लेमाइडोबीजाणु कहते है। परपोषी पर कवकजाल आमतौर पर सवहनः ऊतकों मे रहता है तथा अन्तरा एवं अन्तःकोशिक दोनो प्रकार का होता है। कवक क्षय बहुत तेजी से भरकर एकत्र हो जाता है, जिसके फलस्वरूप वाहिनी ऊतके बन्द हो जाती हैं जिसके फलस्वरूप पौधा मुरझा जाता है। कुछ विषैले पदार्थ फ्यूजेरिक -अम्ल या लाइकोमेराजमिन जैसे जीव विष भी स्रावित होते हैं जो कि वाहिनियो को नष्ट कर देते हैं। इस जाति के सवर्ध निस्यन्द (Culture filterate) भी पौधो पर मुरझान के लक्षण पैदा करने में समर्थ पाये गये है। जीव विष मे किसी प्रकार की विशिष्टता नही होती जो कि रोग जन मे परपोषी विशिष्टता है। चूंकि जीवविष जो इस फफूंद से स्रावित होता है, वह प्रति-शिष्ट (nonspecific) है तथा सम्भवतः मुरझान वाहिनी ऊतको के विघटन

(disintegration) होने पर कुछ रसायन स्रावित होते हैं जिससे पानी तथा खनिज तत्व का ऊपर चढ़ना बन्द हो जाता है।

अलैंगिक जनन तीनों प्रकार के कोनिडिया द्वारा होता है। अणुकोनिडिया (micro conidia) छोटे होते हैं तथा परपोषी के दारू वाहिनियों में ही बनते हैं कवकसूत्र के सिरों पर तरल पदार्थ की एक बून्द बन जाती है, जिसमें लगभग एक दर्जन से भी अधिक अण्ड कोनिडिया पाये जाते हैं। ये कोनिडिया छोटे चाँद से झुके हुये, नुकीले, एक कोशिक 2 से 3 पटयुक्त 5–15 माइक्रोन लम्बे तथा 2 से 4 माइक्रोन चौड़े होते हैं।

दीर्घकोनिडियम पौधे की सतह पर बाहर की ओर दाल पर पाये जाते है। ये लम्बे, अल्पवृकुं रूप तथा दोनों सिरे पर नुकीले, पटयुक्त, हल्के, सफेद रंग के 15 से 20 माइक्रोन लम्बे तथा 3 से 5 माइक्रोन चौड़े होते हैं। ये कोनिडिया कोनिडियोफोर पर उत्पन्न होते हैं जो कि परिपक्व होने पर टूटकर अलग हो जाते है तथा भूमि मे दूसरे मौसम तक अंकुरण क्षम रहते हैं तथा अगले वर्ष पौधों पर अंकुरण होकर रोग ग्रसित कर देते हैं।

क्लेमाइडोबीजाणु भी माइक्रोकोनिडिया की भांति पोषक के दारू वाहिनियों में बनते हैं। इनमे कवकसूत्र की प्रत्येक कोशिका गोल होकर मोटी दीवार बना लेती है। ये कोशिकाएं अकेले ही पायी जाती हैं या एक जंजीर की भांति जुड़ी रहती हैं। ये अन्तस्थ या अन्तर्विष्ट (terminal or intercalary) होते हैं तथा लम्बे समय तक भूमि में जीवित रहते हैं।

लैंगिक जनन का अभी तक पता नही चला है।

वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार (Recurrence) :—

फ्यूजेरियम उडम एक वैकल्पिक परजीवी होने के कारण कई वर्षों तक भूमि मे जीवन क्षम रह सकता है। भूमि मे रोगजन की मृतजीवी उत्तरजीविता पोषक के मूल अवशेषों की उपस्थिति पर निर्भर करती है। पौधों मे संक्रमण मैक्रोकोनिडियम एवं क्लेमाइडोबीजाणु द्वारा होता है। यह एक भूमि मृत रोग है। जब फसल ऐसे स्थानों पर बोई जाती है, जहां की मिट्टी में इस रोग के बीजाणु उपस्थित रहते हैं, शीघ्र ही संक्रमण पौधों की जड़ों पर होता है। सबसे पहले रोग का संक्रमण पार्श्व जड़ों के कोमल भागों तथा मूल रोमो पर सूक्ष्म मूलिकाओं (root let) द्वारा होता है। मैक्रोकोनिडिया एवं माइक्रोकोनिडिया शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं, परन्तु क्लेमाइडोबीजाणु बहुत समय तक जीवित रहते हैं। इन बीजाणुओं द्वारा भूमि के ऊपर पाये जाने वाले पौधों के किसी भाग पर भी संक्रमण नहीं होता। इस रोग का प्रभाव उन क्षेत्रों में अधिक होता है जहां पर अरहर की फसल के बाद सस्यावर्तन (Crop rotation) न किया गया हो। इस रोग के विकास के लिये 17° से 29° के

तापमान श्रेष्ठ है (मुन्दकर, 1935)। यह फफूंद 4·0 से 9·00 पी. एच तथा 35° से. तक का तापमान सहन कर सकती है। सुपर फास्फेट एवं गोबर की खाद का प्रयोग इस रोग की बढावार के लिये सुग्राही हैं तथा हरी खाद के प्रयोग से रोग का प्रकोप कम होता है (मंकरे तथा शा, 1933) बोरोन, मैंगनीज या जस्ता के छिड़काव से भी पौधे शुरू की अवस्था मे रोग ग्रसित नहीं होते हैं।

इस रोग का प्रसार भूमि मे पाये जाने वाले बीजाणुओं द्वारा ही होता है।

रोग नियन्त्रण :—

(1) सस्यावर्तन—चूंकि यह फफूंद भूमि मे मृदूढ़ है, अतः तीन चार साल या अधिक सालों का सस्यावर्तन करने से भूमि के ब्याधिजन नष्ट हो जाते हैं, तथा रोग संक्रमण की सम्भावना कम हो जाती है। यदि अरहर के बाद तम्बाकू की खेती की जाये तो रोग का प्रभाव कम होता है (बोस, 1938)।

(2) मिश्रित खेती—ज्वार के साथ अरहर बोने पर इस रोग का प्रभाव काफी कम होता है।

(3) उचित मात्रा में खाद का प्रयोग—सुपर फास्फेट एवं गोबर की खाद के अधिक प्रयोग करने से इस रोग का प्रकोप अधिक होता है। बोरोन, मैंगनीज एवं जस्ते के प्रयोग से गमलो के प्रयोग मे काफी नियन्त्रण इस रोग का हुआ परन्तु खेतों में इसके प्रभावकारी नतीजे नही मिले। हरी खाद का प्रयोग काफी लाभप्रद पाया गया है। महमूद (1964, 64 ए) के अनुसार मूंगफली और बिनोले की खाद के प्रयोग से इस रोग का प्रभाव मिट्टी में बल्वीफोर्मीन (प्रति जैविक) बनने की वजह से काफी कम हो जाता है।

रोग रोधी किस्मों का प्रयोग :—

रोग नियन्त्रण का सबसे सरल एवं अच्छा उपाय रोग रोधी प्रभेदों का बोना है। एन. पी 15, एन. पी. 18, आई पी. 80, आई. पी. 41, सी. 38, सी. 15, यू पी. 78 कानपुर, किस्मों पर इस रोग का प्रभाव कम होता है। दिल्ली, कानपुर, जबलपुर एवं पर्भनी मे पन्त ए-3, सी.–159, सी–11, एच. पी. (WR)–15 रोग रोधी पायी गयी है। कुछ स्थानो से के. डब्ल्यू. आर–1, मुक्ता, सी. 28, भी रोग रोधी पायी गयी हैं। सिंह एवं मिश्रा (1976) ने सी. 11, सी. 28, सी. 36, एन. 18, एच. पी. (डब्ल्यू आर.) 15, एन. पी. 41 एवं टी 17 प्रतिरोधी बतायी। ऐसा पता चला है कि प्रतिरोधी किस्मों में जड़ों के निकट स्ट्राप्टोमाइसज जीवों की तुलना अधिक होती है। फलस्वरूप किस्में रोधी होती है। (अग्नितोन्दु-1955)

सुब्रमण्यम (1963) के अनुसार बीजो का उपचार मैंगनीज से करने पर रोधीता का गुण आ जाता है।

फसल के अवशेषों को नष्ट करना :—

रोगी पौधो के अवशेषों तथा पौधों को उखाड़ कर जला दें।

केन्कर
(Canker)

अरहर के केन्कर रोग से भी अरहर की फसल को काफी नुकसान पहुंचता है। इसका प्रकोप बिहार तथा उत्तर प्रदेश मे काफी देखा गया है। 2–3 माह की फसल होने पर इस रोग के लक्षण दिखायी देते हैं। रोग के क्षतस्थलतकों के स्तम्भ, मूल संधी (कोलर) भाग पर बनते हैं जो कि धीरे-धीरे बन्द जाते हैं। तने पर क्षतस्थल धसे हुये होते हैं तथा तने को चारो ओर से घेरे लेते हैं। रोग ग्रसित भाग आकार मे बढ़कर भूरे बादामी रंग के हो जाते हैं। अपस्थानिक जड़ें इन भागो के ऊपर मे निकल आती हैं। जड़ें इससे प्रभावित नही होती हैं।

यह रोग डिप्लोडिया केजेनी (Diplodia cajani Ray Chaudhri) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। यह घाव (wound) परजीवी है। फफूंद से पिक्निडिया बनती है जो गोलाकार, 300–475 माइक्रोन की होती है। पिक्निडिया से कोनिडिया बनते हैं जो 21–30 × 11–13 माइक्रोन के दो कोशिक होवें हैं।

रोग नियन्त्रण :—

(1) रोग रोधी किस्मों का प्रयोग करें। प्रभात, पूसा अगेती, शारदा, मुक्ता एवं टी 21 पर इस रोग का प्रभाव नही होता है।

(2) रोग के लक्षण दिखाई देने पर रोग ग्रसित भागों पर बोर्डो मिश्रण 5:5:50 या ब्लाइटोक्स 0·3 प्रतिशत के घोल छिड़कने से रोग नियन्त्रण हो जाता है। रोग ग्रसित पौधे जो सूखने लगे उनको काट कर जला देना चाहिये। पन्त ए-1, पन्त ए-2 प्रभात पर रोग का प्रभाव कम होता है।

पत्ती दाग या लीफ स्पोट :—

इस रोग के लक्षण पृथ्वी के ऊपर रहने वाले अरहर के पौधों के वायव्य भागों पर दिखाई पड़ते हैं। पत्तियों पर गहरे भूरे रंग के धब्बे पड़ जाते हैं जो शीघ्र ही गहरे कत्थई रंग के हो जाते हैं। पत्तियां सिकुड़ कर मुड़ जाती हैं। तने के ऊपर भी कभी-कभी काले रंग के धब्बे दिखाई पड़ते हैं। धीरे-धीरे ये धब्बे आपस में मिल जाते हैं तथा दाग (blotch) बना देते हैं। संक्रमण होने पर पत्तियां परिपक्व होकर झड़ जाती है। अरहर की फसल का यह रोग अरहर उगाये जाने वाले सभी

राज्यों मे देखा गया है; परन्तु उत्तर प्रदेश, बिहार एवं दक्षिण भारत के कुछ इलाकों मे अधिक होता है।

हेतुकी एवं जीवन चक्र :—

यह रोग सर्कोस्पोरा इंडिका (C. indica Singu) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। कवकजाल अन्तकोषीय शाखायुक्त, लम्बा एव पतला होता है। अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है। कोनिडिया कोनिडियोफोर के सिरे पर लगे रहते हैं। कोनिडियोफोर हल्के भूरे से गहरे भूरे, पटयुक्त 28–163 × 3–7 माइक्रोन के होते हैं। कोनिडिया रगहीन, पटयुक्त, 1 से 9 पटयुक्त, 68–129 × 3–5 माइक्रोन के होते हैं। कोनिडिया का विकीरण हवा एवं पानी के द्वारा होता है तथा अनुकूल वातावरण मिलने पर सक्रमण हो जाता है।

रोग नियन्त्रण :—

फसल चक्र, खेत की सफाई तथा खरपतवारों को एकत्र कर नष्ट कर दें तथा रोग के लक्षण दिखाई देते ही 4:4:50 बोर्डो मिश्रण या अन्य कवकनाशी दवाइयों का छिड़काव करें तथा रोग प्रतिरोधी किस्मे ही बोयें।

चूर्णिल आसिता
(Powdery mildew)

रोग के लक्षण पत्तियो की दोनो सतहों पर सफेद चूर्ण जैसे धब्बे के रूप मे दिखाई देते हैं। उग्रावस्था में सम्पूर्ण पौधा ऐसा नजर आने लगता है जैसे कि सफेद पाउडर छिड़का गया हो। पत्तियों का क्लोरोफिल धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है तथा प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया धीमी पड़ जाती है।

यह रोग लेविलुला टारीका (L. taurica (Ley) Arnand) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। कवकजाल पत्ती की ऊपरी सतह के बाहर ही रहता है। अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है जो कोनिडियोफोर के सिरे पर बनते हैं। इस रोग का वार्षिक आवर्तन कोनिडिया के द्वारा होता है जो हवा द्वारा उड़कर संक्रमित आसपास की प्रभावित फसल को संक्रमित करते रहते हैं।

रोग नियन्त्रण :—

(1) गन्धक के बारीक पाउडर को 15 किलो ग्राम प्रति हेक्टेयर या घुलनशील गन्धक 2–4 किलो ग्राम प्रति हेक्टेयर का छिड़काव करने से भी रोग का नियन्त्रण हो जाता है। फफूंदनाशी दवा का छिड़काव रोग के नजर आते ही करें।

(2) रोग प्रतिरोधी किस्में काम में लें। उन्नत किस्में प्रभात, पूसा, अमेठी, शारदा, मुक्ता पर इस रोग का प्रभाव कम होता है।

(3) रोग ग्रसित पौधों के अवशेषों को एकत्र कर नष्ट कर दें।

एन्थ्रैक्नोज (कालव्रण)
(Anthracnose)

इस रोग का प्रभाव प्रायः खण्डों (patches) में देखा गया है। छोटी शाखायें तथा पत्तियां रोग ग्रसित होने पर सूख जाती हैं तथा नीचे गिर जाती हैं। अधिक संक्रमण होने पर सम्पूर्ण पौधा सूख जाता है। क्षतस्थल के रूप में तना तथा शाखायें काली पड़कर सूख जाती हैं। (खान एवं सिंह 1974)।

यह रोग कालेटोट्राइकम ट्रन्केटम (C. truncatium (Schw) Andrus and Moore) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। एसरवुलस बहुत सी, रेखाकार से गोलाकार (linear to oval), काली, बिखरी, उठी हुई (erumpent) होती है। एसरवुलस से कुछ लम्बे आकार की कांटो जैसी पटयुक्त रचनाएं बनती हैं जिन्हें सीटी कहते हैं। सीटी बहुत सारी, 95–360 3·6–9 माइक्रोन की होती हैं। कोनिडिया एक कोशिक, हंसिया (falcate) आकृति के, रंगहीन 19–29·5 × 3·5–5·4 माइक्रोन के होते हैं। (खान एवं सिंह, 1974)।

बीजोढ़ फफूंदिया

अरहर के बीजो से आल्टरनेरिया टेनुइस (Alternaria tenuis) एवं करवुलेरिया ल्यूनेटा (Curvularia lunata) प्रजाति पृथक्कृत की गयी है जो बीजों पर रोग जनक है जिससे 70 प्रतिशत तक बीजांकुर अंगमारी तथा बीज सड़न के लक्षण दिखाई दिये हैं। बीजों के साथ करवुलेरिया, एसपर्जिलस एवं सिफेलोस्पोरियम की प्रजातियां भी सम्बन्धित थी, परन्तु उनमें बीजों का सड़न नहीं देखा गया। एग्रेनोल एवं थिराम से बीजोपचार काफी लाभप्रद पाया गया (सुहाग एवं सूर्यनारायण, 1976)।



(ग) मूंग, उड़द व चंवला की बीमारियां

(Diseases of Moong, Urd and Cowpea)

मूंग की फसल पर मुख्यतः चूर्णी फफूंद (powdery mildew), जड़ गलन, सर्कोस्पोरा पत्ती धब्बा, बीजांकुर अंगमारी एवं बीजोढ़ फफूंदियों से काफी नुकसान पहुंचता है। इन रोगों के बारे में नीचे जानकारी दी जा रही है।

चूर्णिल आसिता (Powdery mildew)—

इस रोग के कारण प्रारम्भ में पत्तियों पर सफेद सा चूर्ण धब्बों के रूप में दिखाई देता है। धीरे-धीरे यह लक्षण पुष्पक्रम तथा फली (pods) पर भी दिखाई देते हैं। यह सफेद चूर्णी रोगजन फफूंद के कवकजाल एवं कोनिडियम का बना होता है। इस रोग का अधिक प्रकोप फूल आने की अवस्था मे होता है। खेत की कटाई तक यह बीमारी फैलती जाती है। पौधों का सम्पूर्ण बढ़ाव न होने के कारण फलियां छोटी रह जाती हैं तथा बीमारी के अधिक होने पर पौधे सूख जाते हैं। रोग की उग्रता में पत्तियां पीली पड़ जाती हैं तथा बाद मे गिर जाती हैं।

इस रोग का वर्णन पटेल, कामत एवं भिडे (1963), एवं बहीउद्दीन (1955) ने किया है।

रोगजन :—

यह रोग एरीसाइफी पोलीगोनी (E. polygoni DC) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। इनका कवकजाल पत्ती की ऊपरी सतह के बाहर ही रहता है। अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है। कोनिडिया का विकीर्णन हवा द्वारा होता है। उचित पोषक मिलने पर कोनिडिया का अंकुरनाल द्वारा अंकुरण होता है तथा नया कवकजाल उत्पन्न हो जाता है।

रोग नियन्त्रण (Control)—

(1) इस रोग का नियन्त्रण कोमान 0·2 प्रतिशत, केरायेन डब्ल्यू डी 0·2 प्रतिशत, इलोसल 0·5 प्रतिशत एवं थायोविट 0·3 प्रतिशत में से किसी भी दवा के छिड़काव द्वारा किया जा सकता है। (गुप्ता

एवं अन्य, 1975)। घुलनशील गन्धक का 2 से 2·5 किग्रा./हैक्टर की दर से छिड़काव भी लाभप्रद पाया गया है।

(2) रोग प्रतिरोधी किस्में बोयें। मूंग की लाइन एम. एल. 26, एम. एल. 65, पी. 554–1, लाईन 1553–1, 6008–1, 364–68–1 इससे प्रतिरोधी हैं।

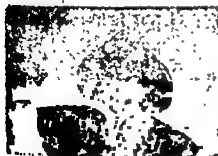
(3) जिन पौधों पर रोग का प्रकोप अधिक हो उनको तुरन्त एकत्र कर नष्ट कर दें।

उरद के चूर्णी फफूंद की रोकथाम में केलीक्सीन का छिड़काव सबसे अच्छा पाया गया तथा बाद में बेवीस्टीन, बेनलेट एवं थायोविट पाये गये। उरद की पी पी यू–3, यू जी–117, यू जी–152, यू जी–157, U A H–2ए, 59·2–1; 6203–1 रोधी किस्में हैं।

चंवला का चूर्णी फफूंद भी कोसान, थायोविट या केरोथेन के छिड़काव द्वारा रोका जा सकता है। चंवला की सी जी–5, सी–152, 5269, बी-37, बी–38 किस्में इससे रोधी हैं।

एन्थ्रेक्नोज (Anthracnose)—

इस रोग का प्रकोप भी काफी देखा गया है। पौधों के जमीन के ऊपर वाले सभी भाग इस रोग से प्रभावित होते हैं। रोग के लक्षण बीज पत्राधरों पर छोटे-छोटे धब्बों के रूप में दिखाई देते हैं। मुख्य लक्षण फलियों पर धब्बे बनते हैं। इसके धब्बे गोल व अण्डाकार नीचे धँसे हुए और हल्के बादामी रंग से लेकर भूरे रंग के होते हैं (चित्र 7 ग.1)। ये धब्बे मध्य में काले रंग के और किनारे चमकीले लाल-पीले रंग के हो जाते हैं जो कि पत्तों की निचली सतह पर अधिक बनते हैं। पर्ण वृन्तों एवं पत्तियों की शिराओं पर भी संक्रमण होता है। धब्बे तने, पुष्प दल और डंठलों को भी चारों ओर से घेर लेते हैं तथा रोगग्रसित भाग गहरा कत्थई हो जाता है। पौधे बीज उगने के बाद ही काले पड़ जाते हैं। अधिक प्रकोप होने पर पैदावार में 35–50 प्रतिशत तक की कमी आ जाती है।



(चित्र 7 ग·1) दलहन फसलों का एन्थ्रेक्नोज रोग

यह रोग कालेटोट्राइकम लिन्डेमुथियानम (C. lindemuthianum (Sacc and Magn) Bri and Cav.) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है जिसकी सम्पूर्ण

अवस्था ग्लोमेरेला लिन्डेमुथियाना (Glomerella lindemuthiana Shear) है। कवकजाल से अधोस्तर के भीतर (beneath) स्ट्रोमा बनते हैं। कोनिडियोफोर पर लघु तथा नुकीले (pointed) पटयुक्त गहरी सीटी बनती हैं। एसरवुलस में रंगहीन, प्रशाखित सीधे एवं 40–60 माइक्रोन लम्बे कोनिडियोफोर पर बीजाणुओं की उत्पत्ती होती है, जो रंगहीन, एक कोशीय होते हैं तथा मध्य में एक तेल की बून्द होती है। इनका व्यास 12 – 18 × 3 – 5 माइक्रोन होता है। कोनिडिया नमी की उपस्थिति में अंकुरित होकर आसगांग बनाते हैं और फिर आसगांग से संसर्ग सूत्र बनकर स्वस्थ पत्तियों में प्रवेश करते हैं।

इस रोग का प्राथमिक संक्रमण बीजों द्वारा होता है तथा द्वितीयक संक्रमण कोनिडिया के हवा द्वारा प्रसार से होता है। यह बीजावरण में प्रसुप्त कवकजाल या बीज-पत्रों की कोशिकाओं के अन्दर या बीज-पत्रो के बीच या बीज में कहीं भी बीजाणुओं के रूप में उत्तर जीवि रह सकता है। फफूंद की वृद्धि एवं संक्रमण के लिये अपेक्षाकृत कम तापमान चाहिए।

रोकथाम :—

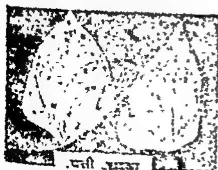
(1) चूंकि रोग बीजोढ़ है। अतः बुवाई से पूर्व बीजों को एग्रोसन, सेरेसन या थिराम या केप्टान से 2½ ग्राम/किलो की दर से उपचारित करें।

(2) रोग के लक्षण दिखाई देते ही बोर्डो मिश्रण 1 प्रतिशत (5:5:50) या ब्लाइटोक्स 0·3 प्रतिशत या डायथेन Z–78 : 0·2 प्रतिशत का छिड़काव करें। 10–15 दिन के अन्तर में छिड़काव करने पर रोग का प्रभाव कम होता है। जिन पौधों में प्रारंभिक अवस्था में ही रोग दिखाई दे उनकी जड़ों में ताम्रयुक्त फफूंदनाशी दवा 1/4 लीटर घोल प्रति पौधे को सिंचित करने से भी रोग का प्रकोप कम होता है।

सर्कोस्पोरा पत्ती धब्बा (Cercospora leaf spot)—

अधिकतर दाल वाली फसलें इस रोग से प्रभावित होती हैं। इस रोग का आक्रमण अगस्त माह में अधिक देखा गया है। पत्तियों पर हल्के भूरे से गहरे भूरे धब्बे बनते हैं जिनका बीच में रंग धूसर (grey) होता है (चित्र 7 ग 2,3)। धब्बे पर्ण शिराओं से घिरे रहते हैं तथा किनारा कत्थई होता है। धीरे-धीरे धब्बे आपस में मिल जाते हैं तथा सम्पूर्ण पत्ती को घेर लेते हैं। रोग की उग्रता में तना, शाखायें एवं फलियां भी प्रभावित होती हैं। रोग के लक्षण फूल आने पर ही प्रायः दृष्टिगोचर होते हैं। महामारी के समय 20–40 प्रतिशत तक की पैदावार में कमी आ जाती है। उरद की फसल पर जल्दी बोई जाने वाली फसलों पर इस रोग का सामान्य बुवाई की फसल से अधिक देखा गया है। 50–55 दिन की फसल

(चित्र 7 ग·2) मूंग का सर्कोस्पोरा पत्ती धब्बा रोग



(चित्र 7 ग·3)

पर इस रोग का प्रकोप प्रारम्भ होता है तथा जब फसल 80 दिन की होती है तब रोग अधिकतम होता है। (गुप्ता एवं महाजन, 1974)

हेतुकी एव जीवन चक्र (Etiology and life cycle)—

यह रोग सर्कोस्पोरा केनेसेन्स C. canescens Ellis and Martin नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। कवकजाल अन्त: कोशिक तथा अन्तरा कोशिक दोनों ही तरह का होता है तथा गहरे पटयुक्त कोनिडियोफोर के सिरे पर अकेले कोनिडिया उत्पन्न होते हैं। सर्कोस्पोरा क्रुएन्टा भी यह रोग उत्पन्न करती है। इसके कोनिडियोफोर 55–91 माइक्रोन लम्बे एव 3 से 5 पटयुक्त होते हैं। कोनिडियम 3 से 7 पटो से युक्त होते हैं तथा माप मे 51 – 153 × 6 – 9 माइक्रोन के होते हैं।

रोग नियन्त्रण :—

(1) तांबा युक्त दवाएं जैसे बोर्डो मिश्रण 5:5:50 या ब्लाइटोक्स, क्यूप्रामार आदि या 0·2 प्रतिशत जिनेब या 0 05 प्रतिशत बेनोमिल के घोल के छिड़काव से यह बीमारी रोकी जा सकती है। फलियां लगना शुरू हो तो दवा का छिड़काव बन्द कर देना चाहिये। बेविस्टीन 0·07 प्रतिशत के तीन छिड़काव द्वारा इस रोग का नियन्त्रण हुआ। परन्तु 10 दिन परिपक्वता बढ़ गई। परन्तु जब दो छिड़काव बेविस्टीन से तथा तीसरा डायथेन एम–45 से किया गया तो रोग का नियन्त्रण तो हुआ ही साथ मे परिपक्वता का समय भी नहीं बढ़ा (रावल एव बेदी, 1976)। कुलदीप सिंह एवं अन्य (1975) के अनुसार मूंग में बेनलेट 0·02 प्रतिशत सबसे अधिक प्रभावशाली तथा उसके बाद जिनेब 0·2 प्रतिशत रहा।

(2) रोग रोधी किस्मे बोयें। मूंग की श्रोवी—41, पी—48-68 पी—273, पी–546–68, 362—68, 364—68, 4470—2, 11150, 12-15। 31—1—1—1 इससे प्रतिरोधी है (रथ एवं मिश्रा, 1975)। उरद की यू ए एच–2 एच, यू ए एच–2 बी, KMW–3, पी एल–4188–ए भी प्रतिरोधी हैं।

सूखा मूल विगलन (Dry Root rot) :—

इस रोग के कारण तने की ऊपरी छाल पर जमीन के पास दाग-स्थल दिखाई देते हैं। पौधे को उखाड़ कर देखने से तने का नीचे का भाग और मुख्य जड़ें सड़ी हुई लगती हैं जिससे उनके कमजोर हो जाते हैं जो आसानी से टूट जाते हैं। रोग ग्रसित पौधे एक सप्ताह में सूखने लगते हैं तथा पत्तियां पीली पड़कर 3–4 दिन मे मुरझा जाती हैं। रोग की देरी अवस्था मे कठ कवक बन जाते हैं। मूंग में यह रोग परिपक्वता के समय दिखाई देता है तथा ग्रसित पौधा पूर्णतः सूख जाता है। रोग की देर की अवस्था में पौधे के रोगी भागों पर कवक के कठकवक बनते हैं। इस रोग की फफूंद लोबिया, चना, उरद, मूंग, मसूर, ग्वार, सोयाबीन ज्वार तथा कपास इत्यादि पर आक्रमण करती है।

यह रोग राइजक्टोनिया सोलनाई (मेक्रोफोमिना फेजियोलाई) फफूंद से उत्पन्न होता है। इस फफूंद का कवकजाल पोषक में अतः एवं अन्तरा कोशिकी दोनों होता है। ग्रसित पौधों पर पिक्नीडियम बहुत कम मिलते हैं। ग्रसित पौधों में तथा कृत्रिम संवर्ध में कठकवक प्रायः बनते हैं जो 110 से 130 माइक्रोन के होते हैं। यह फफूंद वैकल्पिक परजीवी है तथा मुख्यतः मृदावासी है।

रोकथाम—

(1) खेत की स्वच्छता रखने से बीजाणु की मात्रा अगले वर्ष कम हो जाती है।

(2) यह मृदुढ़ फफूंद है। अतः रोकथाम करना कठिन है। परन्तु फिर भी जड़ों में ताम्बायुक्त फफूंदनाशी दवाओं जैसे ब्लाइटोक्स, बदूंआमार का 0·3 प्रतिशत घोल डालने से रोग कम हो जाता है। उरद के बीजों को यदि E W O S तथा ई–9267 के घोल में 2 मि. ली. 100 ग्राम के हिसाब से शोधन करें तो पूर्व निर्गम तथा पश्च निर्गम का 90 प्रतिशत से अधिक रोग नियन्त्रित किया जा सकता है। मूंग की एल. एम.–220 एवं एम. एस.–9385 इसमें प्रतिरोधी है। (विध्याशंकरन आदि 1977)। ब्रेसीकोल का 4 से 8 किलाग्राम प्रति हेक्टर बीज बोने की कतारों में प्रयोग करना भी लाभप्रद रहता है।

किट्ट (Rust) :—

दलहनी फसलों में यह रोग काफी नुकसान पहुंचाता है। इस किट्ट का प्रकोप फेजियोलस लूनेटस (P. lunatus L), फेजियोलिस वलगेरिस (P. vulgaris L), डोलीकोस लेबलेब (Dolichos lablab L), डोलीकोस बाइफ्लोरस (D biflorus L), विगना साइनेनसिस (Vigna sinensis Endl), फेजियोलस रेडियेट्स (P. radiatus) आदि फसलों पर होता है।

इस रोग के लक्षण मुख्यतः पत्तियों पर दृष्टिगोचर होते हैं। परन्तु पर्णवृन्त (petiole) तथा तना भी कभी-कभी प्रभावित होता है। रोग ग्रस्त पत्तियों की सतह पर छोटे, गोल या अण्डाकार, हल्के भूरे रंग से लेकर गहरे भूरे रंग के फफोले पड़ जाते हैं (चित्र 7 व 4)। ये फफोले संयुक्त होकर पत्ती के दोनों सतह पर बिखरित हो सकते हैं। परन्तु निचली सतह पर अधिक होते हैं। रोग के अधिक प्रकोप में पत्तियां मुरझा जाती हैं और इससे फसल को बहुत ज्यादा हानि पहुंचती है। जब फसल पकने के लिए होती है तो टेल्यूटो बीजाणु भी उन्हीं बीजाणु पुंज में होते हैं और उसी कवकजाल से विकसित होते हैं। ये कम संख्या में तथा काले भूरे रंग के लम्बे-लम्बे बन जाते हैं।



(चित्र 7·4) चंवला का किट्ट रोग

रोगजन :—

यह रोग यूरोमाइसीज एपेन्डीकुलेट्स U. appendiculatus (Pers) Fries नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। यह एकाश्रयी (autoecious) किट्ट है। परन्तु पिक्नीयल एवं इसीयल अवस्था अधिकतर नहीं पाई जाती है। परन्तु पिक्नीडिया जब बनती है तो वह पत्तियों के बाहर (epiphyllous) परन्तु इसीयल अवस्था पत्तियों के अन्दर होती है। इसीडियम बीजाणु दीर्घ वृत्ताकार, रंगहीन, सूक्ष्म मस्सों (Verrucose Merucose) से युक्त होते हैं। यूरिडोबीजाणु गोलाकार (Ovel) पीले रंग के कण्टिका युक्त 24–33×16–29 माइक्रॉन के होते हैं तथा उनमें 2 जनन छिद्र होते हैं। टेलियम देर से प्रकट होते हैं। टेल्यूटोबीजाणु अर्ध-गोलाकार वृन्तयुक्त (pediculate), 26–35×20–2·6 माइक्रोन के होते हैं। इनका विश्राम काल लम्बा होता है। जो कि हिमांक (freezing) तापमान पर रखने पर कम किया जा सकता है।

वार्षिक आवर्तन :—

इस रोग का वार्षिक आवर्तन यूरिडोबीजाणु द्वारा होता है तथा यह किट्ट पौधों के अवशेषों में टेलियम अवस्था में उत्तरजीवी रहता है और अगले वर्ष नई फसल को संक्रमित करता है। टेल्यूटोबीजाणु अंकुरण होने पर स्पोरिडिया बनाते हैं जो स्वस्थ पत्तियों को संक्रमित करते हैं। इस फफूंद की कई प्रभेद ज्ञात हैं।

नियन्त्रण :—

इस रोग के रोकथाम गन्धक के भुरकाव से या डायथेन Z-78 (0·2 प्रतिशत) या डाइथेन एम-45 (0·2 प्रतिशत) के छिड़काव से की जा सकती है।

गन्धक फफूंदनाशी का प्रयोग फूल खुलने के बाद नहीं करें अन्यथा फली में दाना अच्छा नहीं बनेगा। बोने का समय बदलने से भी इस रोग के प्रकोप को कम किया जा सकता है। रोग रोधी किस्मों की बुवाई करें।

कोणीय पत्ती धब्बा (Angular leaf spot) :—

इस रोग से पत्तियां एवं फलियां मुख्य रूप से प्रभावित होती हैं। यह रोग इसेरियोपसिस ग्रिसीयोला (Isariopsis griseola Sacc) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। बीजों को सेरेसन सूखे से या 1 प्रतिशत मरक्यूरिक क्लोराइड में उपचारित करने से यह रोग उत्पन्न नहीं होता। थायोविट, डायथेन एम–45 जाइनोकेप एवं बोर्डो मिश्रण का 1 प्रतिशत छिड़काव इसकी रोकथाम हेतु अच्छा पाया गया (सोही एवं शर्मा, 1969)।

बीजांकुर अंगमारी (Seedling blight) :—

(1) बीजांकुर अंगमारी से दो प्रकार के लक्षण उत्पन्न होते हैं। बीजपत्र (Cotyledon) एवं प्रांकुर (plumule) स्वस्थ पौधों की अपेक्षा देर से निकलते हैं। प्रांकुर पर भूरे फफोले पड़ जाते हैं तथा फिर सड़ जाते हैं।

(2) यदि बीज उगने के बाद रोगग्रसित होते हैं तो पौधे के निचले भाग पर लाल भूरे रंग के धब्बे से पड़ जाते हैं तथा यह भाग पतला और काले रंग का हो जाता है। रोग ग्रसित पौधे जमीन पर गिर जाते हैं।

यह रोग राइजक्टोनिया सोलेनाई, राइजक्टोनिया बटाटीकोला एवं पीथियम एफेनीडरमेटम नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। बेनलेट से बीजों के उपचारित करने के अच्छे नतीजे मिले हैं।

राइजक्टोनिया सोलेनाई से जड़ गलन के लक्षण भी उत्पन्न होते हैं जिसकी रोकथाम हेतु थायाबेन्डाजोल, बेवीस्टीन थायोफेनेट मिथाइल से बीजोपचार करने पर 80–90% नियन्त्रण पाया गया। एक बार थायोफेनेट मिथाइल से मिट्टी मिलाने एवं दो बार बेनलेट मिलाने से 90% नियन्त्रण होता है। (भटारिया एवं ग्रोवर, 1977)

बीजोढ़ फफूंदियां

मूंग के बीजों से आल्टरनेरिया टेनुइस, एस्परजिलस निडूलेंस, क्लेडोस्पोरियम फलवम, कायुलेरिया ल्यूनेटा, फ्यूजेरियम की प्रजाति, राइजक्टोनिया बटाटीकोला, राइजोपस नाइग्रीकेन्स व कुछ अनभिज्ञात प्रभेद पृथक किये गये। आल्टरनेरिया, क्लेडोस्पोरियम, फ्यूजेरियम एवं राइजक्टोनिया से बीज अंकुरण पर हानि व निर्गम पौध पर रोग का विकास हुआ। एग्रोसोल, सेरेसन, केप्टान एवं थिराम से बीजोपचार लाभप्रद पाया गया (नुहाग, 1975)

मोठ के बीजों से मुख्यतः करवुलेरिया ल्यूनेटा, एस्पर्जिलस नाइजर एवं मा. सोन्जिसिमा प्रथककृत की गई है। इन फफूंदियो से अंकुरण पर असर पड़ता है। परन्तु बीजांकुर की वृद्धि पर कोई प्रभाव नही दिखाई देता।

मसूर के बीजों से आल्टरनेरिया टेनुइस, राइजक्टोनिया बटाटीकोला, राइजोपस नाइग्रीकेन्स, फ्यूजेरियम की प्रजातियां तथा क्लेडोस्पोरियम फलवम मुख्य रूप से प्रथक्कृत की गयी। राइजोपस एवं राइजक्टोनिया की प्रजातियो से बीजांकुर के ओज (Vigour) पर कोई प्रभाव नही पड़ा जबकि फ्यूजेरियम एवं क्लेडोस्पोरियम से ओज (Vigour) कम तथा जीवन क्षमता भी कम पायी गई। इसी के साथ प्राग्बहिर्गमन एवं पश्च बहिर्गमन सड़न के लक्षण भी प्रतीत हुए (सुहाग एवं सूर्यनारायण 1976)।

एगेलोल एवं थिराम से बीजोपचार अच्छा रहा। (सुहाग एवं सूर्यनारायण, 1976)।



(घ) ग्वार के रोग

(Guar Diseases)

ग्वार भी दलहन की एक महत्वपूर्ण फसल है। मुख्य रूप से लगने वाले रोग निम्न हैं :—

(1) सूखा मूल विगलन (Dry root rot)	मेक्रोफोमिना फेजियोलाई (*M. phaseoli* (Maubli) Ashby)
(2) चूर्णिल आसिता (Powdery mildew)	लेवीलूला टोरीका (*Leveillula taurica* Arnaud)
(3) पत्ती अंगमारी (blight)	आल्टरनेरिया साइमोप्सीडिस (*A. cyamopsidis* Rang and Rao)
(4) पत्ती धब्बा (Spot)	(अ) माइरोथीसीयम रोरीडम (*Myrothecium roridum* Tode Extr)
	(ब) करवुलेरिया ल्यूनेटा (*C. lunate*)
(5) म्लानि (Wilt)	फ्यूजेरियम केरुलियम (*F. caeruleum* (Lib) Sacc)

सूखा मूल विगलन व चूर्णी फफूंद के बारे में मूंग, उड़द व चंवला की बीमारियाँ पढ़ें।

पत्ती अंगमारी (Leaf blight) :—

यह रोग सर्वप्रथम पर्णकों पर छोटे-छोटे बिखरे हुए भूरे धब्बों के रूप में दिखाई देता है। सबसे पहले निचली पत्तियों पर इस रोग का आक्रमण होता है। और उसके बाद रोग ऊपर की पत्तियों पर बढ़ता है। तनों में सकेन्द्र वलय भी पैदा हो सकते हैं। (चित्र 7 घ 1) आर्द्र मौसम में इन धब्बों के केन्द्र में हल्के नीले रंग की फफूंद की वृद्धि देखी जा सकती है।

यह रोग आल्टरनेरिया साइमोप्सीडिस नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। डाइफल्टान का 50 पी. पी. एम. का प्रयोग काफी लाभकारी रहा (सिंह एवं प्रसाद, 1973)। माथुर आदि (1972) ने डायथेन Z–78 0.2% या क्यूमान 0.3% के छिड़काव द्वारा इस रोग की रोकथाम की।



(चित्र 7 घ. 1 ज्वार का पत्ती अंगमारी रोग)

पत्ती धब्बा (Leaf spot) :—

यह रोग माइरोथीसीयम रोरीडम नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। पौधे के सभी वायवीय भाग इस रोग से प्रभावित हो सकते है। प्रारम्भ में छोटे तैलीय भीगे 1–2 मि मी व्यास के धब्बे बनते हैं जो बाद में भूरे हो जाते हैं। 3–4 दिन में यदि अनुकूल वातावरण हो तो ये धब्बे 10–15 मि. मी. के हो जाते हैं तथा सकेन्द्र वलय में भी पैदा हो सकते हैं। यदि पत्तियों पर धब्बे दो तीन जगह बन जाते हैं तो आपस में मिलकर पत्ती का बहुत सा हिस्सा घेर लेते है।

यह रोग माइरोथीसीयम रोरीडम (Myrothecium roridum Tode ex Fr) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। कवकजाल बेलनाकार, बहुत अधिक शाखित रंगहीन होता है। सीनमेटा वृन्त पर (pedicellate) या बिना वृन्त (sessile) पर होते हैं जो 0 1 मि. मी. से 1 00 मि. मी. तक के प्रारम्भ में सफेद से हरे तथा बाद में काले रंग के होते है। सिटी मौजूद नही होती है। कोनिडियाधर सीधे, पटयुक्त, रंगहीन, एक या दो जगह से शाखित, 28–25 माइक्रोन के आधार कोशिका तथा 10×5 माइक्रोन के शीर्ष कोशिका होते है। फैलाइड्स (phalides) 5–8 × 2·5 से 2 0 माइक्रोन के होते हैं। कोनिडिया एक कोशिक, रंगहीन, 5 0–7·5 × 1·5–1 माइक्रोन के होते हैं (आर्या 1956)।

अधिक तापमान जो कि गर्मियों के महीने (25–45° से.) में होता है वह इस रोग की बढ़वार के लिए सुग्राही है। मनुष्य वातावरण (atmosphere) जो कि कम से कम 24 घन्टे हो उनमें अधिकतम संक्रमण होता है। (आर्या, 1956)।

कर्व्युलेरिया ल्यूनेटा से भी पत्ती धब्बा रोग के लक्षण उत्पन्न होते हैं। थारियोफनेट मिथाइल का 5 पी. पी. एम. डिइथाय सबसे अच्छा तथा बाद में क्रम में जिराम, ज़ाइनेब, फर्बाम व डायथेन एम–45 पाये गये। किस्म ईसी-248 सी-3 इस रोग में सहनशील (Tolerant) है। (सिंह आदि, 1974)।

ग्वार के मुरझान रोग से भी ग्वार की फसल को काफी हानि पहुंचती है। यह रोग फ्यूजेरियम केरूल्यूम (F. caeruleum) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। ई. एम. सी., पी. एम. ए., ग्रनोसन एम., पूरोसीड, पेनोजन 15 सेरेमन, फोर्मल्डीहाइड, एवं एग्रोसन ए. स. डब्ल्यू. मिट्टी मिश्रण (Soil mix) विधि से अच्छे पाये गये। परन्तु अकेला ई. एम. सी. मिट्टी मिलाने (soil drench) विधि से अच्छा रहा। ई. एम. सी. एवं पी. एम. ए. की 25 पी. पी. एम. तथा बाकी की 250 से 500 पी. पी. एम. दवा प्रयोग में लें (सतयवीर एव ग्रोवाल, 1972)।

चूर्णिल आसिता
(Powdery mildew)

रोग के लक्षण पत्तियों की निचली सतह पर छोटे-छोटे सफेद चूर्ण धब्बों के रूप में दिखाई देते हैं जो बाद में ऊपर की सतह पर फैल जाते हैं। रोग की उग्र अवस्था में पत्तियों की शिराएं तने व अन्य भाग भी काले पड़ जाते हैं। यह रोग लेवाइलूला टारीका नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। केलीटोन 1 0% का छिड़काव लाभकारी सिद्ध हुआ है।

चौला
(Cowpea)

चौला की फसल पर कई रोगों का प्रकोप होता है जिनमें निम्न मुख्य हैं—

(1) एन्थ्रेक्नोज (Anthracnose)	ग्लोमेरेला लिन्डेमूथियाना Glomerella lindemuthiana Shear.
(2) डाई बैक	(Die back)
कालेटोट्राइकम केपसीकी	Colletotrichum capsici (Syd) Butler and Bisby
(3) सूखा मूल विगलन	(Dry root rot)
मेक्रोफोमिना फेजियोलाई	M. phaseoli
(4) जड़ सड़न (Root rot)	पेलीकुलेरीया कोलेरोगा Pellicularia kolleroga Cke
(5) पत्ती धब्बा (Leaf spot)	सेप्टोरिया विग्नीकोला
एस्कोकाइटा की जाति	Ascochyta spp
आल्टरनेरिया की जाति	Alternaria spp
सर्कोस्पोरा क्रयूएन्टा	Cercospora cruenta Sacc
स. केनेसेन्स	C. canescens Ell and Merl
(6) चूर्णिल आसिता (Powdery mildew)	एरीसाइफी पोलीगोनी (Erysiphe polygoni)

(7) किट्ट (Rust) — यूरोमाइसीज फेजीयोलाई वे विगनाई (Uromyces phaseoli vigni)

इन सभी रोगों से काफी हानी होती है, तथा इनका विवरण दाल वाली फसलों में जगह जगह दिया गया है। भारत में पत्ती धब्बा का प्रकोप सबसे पूर्व त्रिमूलाचार एवं चूप (Trimulachar and Chupp, 1948) ने किया। सात से पन्द्रह दिन के पौधे इस रोग से कम प्रभावित होते हैं; जबकि 21 से 32 दिन के पौधे सबसे अधिक प्रभावित होते हैं। 26° से. तापमान, 61–79 प्रतिशत आर्द्रता तथा 2·4 मि. मी. वर्षा इस रोग के लिये सुग्राही है (वर्मा एवं पटेल 69)।

किट्ट के कारण भी काफी नुकसान होता है, तथा अधिक नत्रजन के प्रयोग से इस रोग का प्रभाव कम होता है (रावल आदि, 1974)। सबसे अधिक रोग का प्रकोप 15 कि. नत्रजन। हेक्टर देने से होता है, जबकि 30 एवं 45 किलो पर कम होता है। यूरिडोबीजाणु के संक्रमण हेतु प्रकाश सुग्राही है। यूरिडोबीजाणु का अंकुरण भी पानी की झिल्ली की उपस्थिति में ही होता है। डिकर 0·3 प्रतिशत या प्रतिरोधी किस्मे जैसे पीय–40 या इरोज द्वारा इस रोग की रोकथाम की जा सकती है (मोली एवं सोही, 1973)। सोही एवं रावल (1977) ने कालव्रण की रोकथाम बेवीस्टीन 0.1 प्रतिशत बेनोमिल 0.1 प्रतिशत, डाइफल्टान 0.3 प्रतिशत के छिड़काव द्वारा की।

सोही एवं रावल (1975) के अनुसार चूर्णी फफूंद सल्फेक्स 0.3 प्र. श. बेनोमिल 0.1 प्र. श. एवं बेवीस्टीन 0.1 प्रतिशत के छिड़काव से, किट्ट डाइफल्टान 0.3 प्रतिशत के छिड़काव से, पत्ती धब्बा (सेप्टोरिया विगनीकोला) डाइफल्टान एवं बेनोमिल 0·1 प्रतिशत के छिड़काव से तथा कालव्रण डाइफल्टान बेनोमिल एवं बेविस्टीन के छिड़काव से नियन्त्रित की जा सकती है। बेनोमिल एवं बेविस्टीन से बीजोपचार करने पर चूर्णी फफूंद के आने में देरी पाई गई तथा प्रकोप भी कम पाया गया।

लोबा के बीजों पर बहुत सी बीजोढ़ फफूंदियो का वर्णन भी किया है। सिंह एवं गर्ग (1977) ने मध्य प्रदेश में उन नमूनों में से 16 में मेक्रोफोमिना फेजियोलिना, 16 में प. इक्वेसेटी तथा 10 में दोनों फफूंदियाँ प्रथक्कृत की। महाराष्ट्र के 4 नमूनों में दोनों फफूंदिया प्रथक्कृत की गई जबकि गुजरात के नमूनों पर इन फफूंदियों का प्रकोप नहीं था। बेविस्टीन एवं बेनोमिल बीजोपचार से. फेजियोलाई तथा प. इक्वेसेटी दोनों फफूंदियो की रोकथाम में अच्छा पाया गया। मे: फेजियोलाई हेतु थिराम एवं डाइफल्टान तथा प: इक्वेसेटी की रोकथाम में सेरेसन ड्राई, डाइफल्टान एवं केप्टान से बीजोपचार लाभप्रद रहा।

□ □ □

(ङ) मटर के रोग

(Dsieases of Pea)

मटर एक ऐसी दलहन फसल है जिसे हरी तथा वैज्ञानिक तरीके से सुखा कर भी सब्जी के रूप में साल भर तक उपयोग किया जाता है। यदि मटर की फसल को सही समय पर रोगों से से बचा लिया जाते तो फसल से काफी मुनाफा मिल सकता है।

भारतवर्ष में हर साल मटर की फसल का कम से कम 5–7 प्रतिशत भाग रोगों द्वारा नष्ट हो जाता है। मुख्य रूप से लगने वाले रोग इस प्रकार है।

(1) मृदुरोमिल (Downy mildew)	पेरोनोस्पोरा विसी Peronospora viciae (Berk)
(2) चूर्णिल भासिता (Powdely mildew)	एरीसाइफी पोलीगोनी Erysiphye polygoni DC)
(3) किट्ट (Rust)	यूरोमाइसीज फेबी Uromyces fabae (Pers) Debaly
(4) म्लानि (Wilt)	फ्यूजेरियम प्रजति Fusarium spp
(5) पत्ती धब्बा (Leaf spot)	सर्कोस्पोरा क्यून्टा C. cruenta Sacc
(6) पद गलन एवं अंगमारी (Foot rot and blight)	एस्कोकाइटा Ascochyta spp
(7) बीजांकुर अंगमारी (Seedling blight)	पीथियम प्रजति Pythium spp.

मृदुरोमिल
(Downy mildew)

इस रोग का प्रकोप हमारे यहाँ गया के मैदानों एवं पंजाब आदि में अधिक होता है, यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका में इस रोग से काफी हानि होती है। मटर के

अलावा इस फफूंद का प्रकोप पाइसम आरवेन्स (P. arvense L), विसीया हिरस्यूटा (Vicia hirsuta Koch) लेथाइरस सेटाइवस (Lathyius sativus) एवं ट्राइगोनेला पोलीसीरेटा (Trigonella polycirata) पर भी होता है। मौसम की अनुकूलता ही इस रोग की व्यापकता का मुख्य कारण होती है।

लक्षण :—

इस रोग के लक्षण पौधों मे उस समय प्रकट होते है, जब उसमें तीसरी या चौथी पत्ती निकल आती है। पत्तियो की निचली सतह पर रूई की तरह फफूंद दिखाई देती है। पत्तियो पर पीले या कत्थई रंग के धब्बे दिखाई देते हैं। जो अपरिमित आकार के बिखरे हुये होते हैं। साथ ही साथ उसी जगह पत्ती के निचले भाग मे कुछ पीलापन आ जाता है और जल्दी से सफेद रोये जैसे पत्ती की सतह को बेतुके पीले धब्बों से भर देते हैं। फलियों पर मृदुरोमिल वृद्धि कम मिलती है। रोगी पौधा बौना रह जाता है। फलियो पर पील हरे रंग के धब्बे बनते हैं जो बाद मे भूरे हो जाते है। ऐसी फलियो के मटर सिकुड़ कर छोटे रह जाते हैं।

रोगजन —

यह रोग पेरेनोस्पोरा पाइसी (Perenospora pisi) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। कवकजाल सदा अन्त. कोशीय, शाखित रंगहीन बहुन्यूक्लिक तथा पटहीन होता है। परपोषी ऊतको से भोजन प्राप्त करने के लिए गोलाकार अथवा शाखित प्रचूषांग बनते हैं। कवकसूत्रो द्वारा कुछ प्रकिण्व उत्पन्न होते हैं, जिनके कारण परपोषी ऊतकों के प्रोटोप्लाज्म का विलण्ड हो जाता है, और प्रचूषांग भोजन चूस लेते हैं।

अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है, जो कोनिडियोफोर के सिरे पर उत्पन्न होते हैं। कोनिडियोफोर का लगभग दो-तिहाई भाग अशाखित रहता है, और उसके बाद उनका शाखाओं में बटना शुरू हो जाता है, कोनिडियोफोर भीतरी कवकतन्तुओं से विकसित होकर पत्तियों की निचली सतह पर रन्ध्रों से गुच्छे में निकलते हैं। कोनिडियोफोर की अन्तिम शाखायें नुकीले उभार की तरह, एक दूसरे के बीच समकोण अथवा अधिक कोण बनाती है, जिन्हें बीजाणु सूत्र कहते हैं। बीजाणु सूत्र पर ही कोनिडिया उत्पन्न होते हैं। कोनिडिया अण्डाकार से लेकर दीर्घ वृत्ताकार होते हैं। ये $22-27 \times 15-19$ माइक्रोन के होते हैं। कोनिडिया का अंकुरण अंकुरनाल द्वारा होता है।

लैंगिक जनन विषम युग्मी होता है। निषिताण्ड गोलाकार पीले मोटी दीवार वाले 28 से 32 माइक्रोन व्यास के होते हैं। सुप्तावस्था के पश्चात् निषिताण्ड नलिका द्वारा अंकुरित होते हैं।

पार्थिक आवर्तन :—

यह रोग मृदुढ़ है, तथा निपित्ताण्ड पौधो के मलवे के साथ मिट्टी में पड़े रहते हैं, तथा उचित नमी व तापमान मिलने पर अंकुरनाल बनाकर अंकुरित होते हैं। निपित्ताण्ड से प्रारम्भिक तथा सर्वांगी संक्रमण होता है। द्वितीयक संक्रमण कोनिडिया द्वारा होता है। कोनिडिया का विकीर्णन हवा, जल अथवा कीड़े मकोड़े आदि द्वारा होता है। रोग का प्रकोप ठण्ड एवं नम मौसम में अधिक होता है।

नियन्त्रण :—

(1) चूंकि निपित्ताण्ड भूमि में पाये जाते हैं, इसलिये एक या दो वर्ष का फसल चक्र अपनाने से निपित्ताण्ड नष्ट हो जाते हैं, तथा रोग की सम्भावना भी कम हो जाती है।

(2) पौधो के मलबे आदि को एकत्र कर नष्ट कर दें।

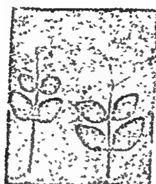
(3) रोग के अधिक प्रकोप होने पर ब्लाइटोक्स या क्यूप्राविट 0·3 प्र. श. या डायथेन Z-78 (0.3%) भी छिड़का जा सकता है। दो या तीन बार 15 दिन के अन्दर से छिड़काव करना चाहिये।

चूर्णिल आसिता
(Powdery mildew)

मटर का यह रोग देश के सभी भागों में पाया जाता है, शुष्क मौसम में इस रोग का प्रभाव अधिक होता है। इस फफूंद के क्रियात्मक प्रभेद, सेम, उर्द, रिजका, धनिया, सौंफ, शलगम, पत्तागोभी आदि फसलों पर भी आक्रमण करते हैं।

लक्षण :—

इस रोग का प्रभाव जनवरी के अन्त तथा फरवरी माह में, जब पौधे फली अवस्था में होते हैं, तब व्यापक रूप से होता है। सबसे पहले पुरानी पत्ती के ऊपरी सतह पर इसके लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। बाद में लक्षण पत्ती के दोनों तरफ, प्रतान (tandril), फलियों तथा कभी कभी तने पर भी दृष्टिगोचर होते हैं। मध्य-शिरा तथा अन्य शिराओं पर धब्बे प्रारम्भ में गोलाकार तथा बाद में लम्बे हो जाते हैं। फफूंद तेजी से पत्तियों की सतह पर पनपती है और उग्र अवस्था होने पर सभी पत्तियां सफेद पाउडर से ढक जाती हैं (चित्र 7 क.1)। इस प्रकार रोग की पहचान बड़ी सरलतापूर्वक सफेद बारीक चूर्ण को देखने से की जाती है। पत्तियां आकार में छोटी तथा पीली होकर अन्त में झड़ जाती है। अपरिपक्व फलियां भी संक्रमित होकर सिकुड़ कर सूख जाती है। सम्पूर्ण संक्रमित फसल (100 प्रतिशत) में फलियों की संख्या में औसतन 21-31 प्रतिशत की कमी और फली के भार में 24 से 27 प्रतिशत की कमी हो जाती है। (मुन्जाल एवं दग्ग 1963)



(चित्र 7 ड.1)

रोगजन :—

यह रोग एरीसाइफी पोलीगोनी (Erysiphy polygoni) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। कवकजाल बहिः परजीवी (ectophytic) मुलायम, पटयुक्त एवं केन्द्रिक एवं अल्पतम शाखायुक्त होता है, कवकसूत्र पत्तियों से ग्रासपाशों द्वारा जुड़े रहते हैं। अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है, जो कोनिडियोफोर के ऊपरी बेलनाकार सिरे के अग्रभाग पर तलाभिसारी श्रृंखलाओं में पाये जाते हैं। ये कोनिडियोफोर पत्ती के सतह से उदग्र (Vertical) रूप में निकलते हैं। कोनिडिया उपाण्डवत् (Elliptical) एक केन्द्रिक एक कोशिक 25–35 माइक्रोन लम्बे एवं 13 से 16 माइक्रोन चौड़े, 8 से 10 तक की श्रृंखला में बनते हैं। कोनिडिया का विकीर्णन हवा द्वारा होता है, तथा उचित पोषक मिलने पर अंकुरनाल द्वारा अंकुरण करते हैं।

मौसम के अन्त में लैंगिक जनन होता है। सफेद कवकजाल के बीच-बीच पत्ती की सतह पर काले बिन्दु से क्लीस्टोथीसीयम बनते हैं। ये 90 माइक्रोन व्यास के गोलाकार तथा अंशतः कवकजाल से ढके दिखाई देते हैं। इन पर रंगरहित अथवा गहरे रंग की स्वतन्त्र अथवा उलझी हुई उपांग पाई जाती है। इनके अन्दर में 2 से 8 एस्कोबीजाणु सुरक्षित रहते हैं। प्रत्येक एस्कस अण्डवत्, अवृन्त (sessile) 46–72 माइक्रोन की होती है। ऐस्कस में एस्कोबीजाणु 3 से 8 तक होते हैं। एस्कोबीजाणु एक कोशिक दीर्घ वृत्तीय 19–25 माइक्रोन लम्बे एवं 9 से 14 माइक्रोन चौड़े होते हैं। मटर की पत्तियों पर जब तक वे पौधों पर रहती है, क्लीस्टोथीसीयम का विकास साधारणतः नहीं होता है।

प्राथमिक आवर्तन एवं प्रसार :—

इस रोग का प्राथमिक संक्रमण मटर के बीजों में स्थित सुप्त कवकजाल द्वारा होता है, (मुर्हार, 1949) इसके अतिरिक्त भूमि में पड़े क्लीस्टोथीसीयम भी प्राथमिक संक्रमण में सहायक होते हैं। रोग का द्वितीय संक्रमण प्राथमिक संक्रमण से बने कवकजाल द्वारा उत्पन्न कोनिडिया द्वारा होता है।

नियन्त्रण :—

(1) गर्म पानी द्वारा बीजों का उपचार करने से इस रोग का प्रभाव कम हो जाता है। (मुदंकर, 1949)। जबलपुर में किये गये प्रयोगों के आधार पर गर्म पानी 50–54° से. पर बीजों को डुबोने से बीज के अन्दर का कवकजाल मर जाता है।

(2) 20 से 25 किलो प्रति हेक्टर की दर से गन्धक धूलि का प्रयोग भी लाभकारी है। आर्द्रशीय गन्धक का घोल भी 0.5 प्रतिशत प्रयोग किया जा सकता है। केरायेन, एलोसल, मोरोसाइड, बोसान, मोरेस्टोन, थियोविट का रोग के प्रारम्भिक काल से 15 दिन के अन्तर पर दो बार छिड़काव करने से मटर के चूर्णी फफूंद में कमी हुई। इनके उपयोग में उपज में वृद्धि हुई तथा 849 से 1228 रुपये का शुद्ध लाभ मिला (माथुर आदि, 1971)।

(3) रोग प्रतिरोधी किस्में बोयें—

साधारण प्रभाव्य किस्में बी 23 कनवारी, एसटनस फिनोमना (15-25%)

प्रभाव्य (26–50 प्र. श.) बी 24, बी 69, सी 3, ब्यूस बाफ प्रसवाना काली नागनी, टी 163

अधिक प्रभाव्य किस्में (75 प्र. श.) अनडरमेन, बोनविला, सी 59, सी 75 ई. सी 843 ई सी 3074, 4802, 2785 एवं 8686 (भामरिया एवं दलेला, 1974)

इस फफूंद की कई प्रभेद ज्ञात हैं, परन्तु हर प्रभेद कुछ पोषक तक ही सीमित है। रोग रोधी किस्में जैसे टी 10, पी. 185 बोयें।

मटर का किट्ट

मटर का किट्ट यूरोमाईसीज पाइसी एवं यूरोमाइसीज फेबी नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। यूरोमाइसीज पाइसी (U. pisi (Pers) Wint एक भिन्नाश्रयी ज्ञात है, जिसका एकान्तर पोषक यूफोरबिया साइपेरीसि यास (Euphorbias cyparisi as L) है। यूरोमाइसीज फेबी (U. fabee (Pers)Debary) एकाश्रयी है, तथा उसके द्वारा उत्पन्न मसूर की किट्ट उत्तरी भारत में मुख्यतया पायी जाती है।

लक्षण :—

इस रोग का प्रकोप जनवरी मार्च के अन्त में प्रारम्भ होता है। पिक्निया (Pycnia) अस्पष्ट होते हैं, मटर की पत्तियों प्रतान तनों तथा फलियों पर ईसीयल धब्बा बनने के पूर्व कुछ कुछ पीलापन दिखाई देता है, जो बाद में भूरा हो जाता

है। गोल लम्बे या गुच्छों में ईसिया में युक्त पीले धब्बे इसके प्रारम्भिक लक्षण हैं। यूरिडिया पत्ती की दोनों सतहों पर बनते हैं। ये हल्के भूरे रंग के होते हैं। अधिक मात्रा में यूरिडोस्फोट बनने से पौधे सूख जाते है। टेल्यूटोस्फोट भी उसी सोरस से तथा कवकजाल से उत्पन्न होते है, ये काले रंग के होते है।

रोगजन :—

यूरोमाइसीज पाइसी एवं यूरोमाइसी फेबी बहुरूपी फफूंद है। यू. फेबी में ईसीयम की कवक फलभित्ति छोटी सफेद तथा प्याले जैसी आकृति की होती है। इसीडियोबीजाणु गोलाकार, कोणीय दीर्घवृत्त, पीले तथा पतले कांटोयुक्त, 14–22 माइक्रोन के होते हैं। यूरिडोबीजाणु हल्के भूरे गोल से लेकर अण्डाकार 20–30 × 18–26 माइक्रोन के 3 से 4 जनित छिद्र के होते हैं। टेल्यूटोबीजाणु अर्द्ध गोलाकार (subglobular) से अण्डाकार 25–28 × 18–27 माइक्रोन के वृन्तयुक्त होते हैं। वृन्त पीला भूरा तथा लगभग 90 माइक्रोन होता है। टेल्यूटोबीजाणु अंकुरित होने पर कोशिक बेसीडिया उत्पन्न करते हैं। जिन पर बीजाणु उत्पन्न होते हैं।

वार्षिक आवर्तन एवं प्रसार :—

यह फफूंद मटर के अलावा मसूर चौड़ी सेम (broad bean) लेथाइरस, मीठी मटर पर भी पाई जाती है, अतः यह यूरेडियल एवं टेलीयल अवस्था में इन पोषकों पर चिरजीवित रहती है, तथा मटर पर समय अनुकूल होने पर संक्रमित करती। बयूरिया एवं सिन्हा (1966) के मतानुसार विसीया की कई जातियां इस फफूंद से प्रभावित होती है। प्रसाद एवं वर्मा (1948) के मतानुसार मसूर के किट्ट का द्वितीय प्रसारण प्रमुख रूप से इसीडियो बीजाणु द्वारा होता है। इन्हीं वैज्ञानिकों के अनुसार 17–20° से. पर इसियोबीजाणु द्वारा संक्रमण के फलस्वरूप द्वितीयक ईसीयम की उत्पत्ति होती है। जबकि 25° से. पर संक्रमण के कारण यूरिडोबीजाणु का विकास होता है। 30° से. पर ईसीयम पर बीजाणुओं द्वारा संक्रमण नहीं हो पाता है। यूरिडोबीजाणु के लिये 16–22.5° से. अनुकूलतम तापमान है, जिस पर सबसे अधिक अंकुरण होता है। टेल्यूटोबीजाणु ग्रीष्म में जीवन क्षम रहते हैं। ये बचे हुये मलबे के साथ पड़े रहते हैं, तथा बीजों से भी चिपके रहते हैं। सर्दी के मौसम में इनकी अंकुरण शक्ति अधिक होती है।

रोग नियन्त्रण :—

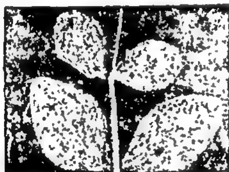
(1) रोगी पौधों को मूल सहित उखाड़ कर जला देने से रोग कम फैलता है, क्योंकि फफूंद एक मौसम से दूसरी मौसम में भूमि में पड़ी रहती है। रोग के लक्षण दिखाई देते ही 25 कि. ग्राम गन्धक प्रति हेक्टर या 2–3 कि. घुलनशील गन्धक से फसल पर छिड़काव कर दें। गन्धक का भुरकाव सुबह के समय करें। जल्दी पकने वाली किस्में बोयें।

मटर का म्लानि
(Wilt)

मटर का मुरझान भी मटर की फसल का एक महत्वपूर्ण रोग है। रोग ग्रस्त पौधों की मुख्य जड़ों और तने के आधार पर काले रंग की धारियां दिखाई देती हैं, रोगी पौधे मर जाते हैं। यह रोग फ्यूजेरियम आक्सीस्पोरम पाइसी नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। यह परजीवी मृदुढ़ है और मृदा में अनुकूल वातावरण के मगर अनिश्चित समय तक रह सकता है। यह फफूंद बीजोढ भी है। इसकी रोकथाम हेतु प्रतिरोधी किस्में प्रयोग में लें। टाल व्हाइट शूगर, अरली बडगर इससे प्रतिरोधी हैं (सुलेमान, 1976)। बीजोढ होने के कारण थाइरम से 2·5 ग्राम प्रति किलो बीज के हिसाब से उपचारित करें।

मटर का एन्थ्रेक्नोज :—

इस रोग के कारण पुरानी पत्तियों पर गोल हरे रंग के केन्द्र एवं भूरे किनारे वाले विक्षत पाये जाते हैं (चित्र 7 ड.2)। यह रोग कालेटोट्राइकम पाइसाई (C.



(चित्र 7 ड.2) मटर का एन्थ्रेक्नोज रोग

pisi) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है तथा यह फफूंद माइकोस्फीरेला पाइनोडीस (Mycosphaerella pinodes) एवं स्यूडोमोनास पाइसाई (Pseudomonas pisi) द्वारा प्र सन से बने विक्षतों पर ही सक्रमण करता है। फसल चक्र तथा जल निकास का प्रबन्ध खेत में करें।

अन्य रोग :—

मटर की फसल पर अन्य कई रोगों का भी प्रकोप होता है। जिनमें निम्न मुख्य हैं।

(1) पद विगलन एवं अंगमारी — एस्कोकाइटा पाइसी (Ascochyta pisi)
ए. पाइनोडेला (A. pinodella)

	ए. पाइनोडीस (A. pinodes)
(2) सर्कोस्पोरा पत्ती धब्बा	सर्कोस्पोरा पाइसी-सेटाइवी (Cercospora pisi-sativae) सर्कोस्पोरा लेथाइरीना (C. lathyrina)
(3) मूल विगलन	एफेनोमाइसीज यूटाईकीस (Aphanomyces euteiches)
(4) सेप्टोरिया अंगमारी	सेप्टोरिया पाइसी (*Septoria pisi*)

सोयाबीन
(*Glycine* max Merr)

सोयाबीन की फसल पर मृदुरोमिल, मूल जड़ विगलन, पत्ती धब्बा का प्रकोप होता है। मसूर पर मूल जड़ विगलन, किट्ट तथा म्लानि रोग का तथा लेथाइरस पर मृदुरोमिल, चूर्णी फफूंद, किट्ट एवं म्लानि रोग का प्रकोप देखा गया है।

Agnihothrudu, V. (1955) Incidence of fungistatic organism in the rhizosphere of Pigeon pea (*Cajanus cajan*) in relation to the resistance and susceptibility to wilt caused by *Fusarium udum* Butler Nature wiss. 42: 373.

Agrawal, V. K. S. B. Mathur and Paul Neergard (1972). Some aspects of seed health testing with respect to seed borne fungi of rice, wheat, black gram, green gram and soybean grown in India. Indian Phytopath. 30 1: 91-100.

Arya, H. C. (1956). On a new leaf spot disease of guar caused by *Myrothecium roridum* Tode Fx. Fr. Indian Phytopath 9: 174–181.

Bahadur, P and S. Sinha (1970). Physiologic specialization in *Uromyces ciceris-arietini*. Indian Phytopath. 23 : 626–28.

Bilgrami, K. S., T. Prasad, Jamaludin & R. K. Roy (1976). Studies on the deterioration of some pulses by fungi. Indian Phytopath. 29: 374–377.

Bineeta Sen and Malti Majumdar (1974). Resistance to Fusarium wilt in garden peas. Indian Phytopath. 27: 70–71.

Butler, E. J. (1906). The wilt disease of pigeon pea and pepper. Agric. Jour, India 1: 25–36.

Chandra Sekhran, S. and G. Rangaswami (1960). Studies on *Cercospora cruenta* occuring in *Vigna catjang*. Indian Phytopath. 13: 96–99.

Chauhan, M. S and R. K. Grover (1975) Effect of fungicide sprays on the ecology of mycophylloflora of tobacco leaves. Indian J. Mycol. Pl. Pathol, 5: 74–78.

Chupp, C. and A. F. Sherf (1960). Vegetable diseases and their control The Ronald press company New York, U. S A. 104–165 p.

Desai, M. V. and N. Prasad (1955). Fusarium blight of Guar. Indian Phytopath. 8: 112-123

Gupta, R. B. L. Singh, R. R. Singh and J. S Solonki (1975).

Efficacy of different fungicides against powdery mildew of mung Indian Phytopath 28: 164–166.

Gupta, V. K and G S. Saharan (1974). Epidemiological observations on leaf spot of black gram. Indian Phytopath 27. 606–608.

Jain J. P and P. N Patel (1969). Seed mycoflora of guar their role in emergence and vigour of seedlings and efficacy of fungicides. Indian Phytopath. 22: 245–250.

Jhamaria, S L. and G G. Dalela (1974). Rosponse of pea varieties to powdery mildew in Rajasthan. Indian Phytopath. 27: 261–62.

Jhooty, J S and S S Bains (1972). Evaluation of different systemic and non-systemic fungitoxicants for the control of damping off mung (Phaseolus aureus) caused by Rhizoctonia solani Indian Phytopath 25: 509–512.

Joshi, M. M. and R. S Singh (1969). A Botrytis gray mold of Gram. Indian Phytopath. 22: 125–127.

Kapoor R. G. and S. Singha (1966). Studies on the host range of Uromyces fabae (Pers) de Bary. Indian Phytopath 19: 229.

Kartha, K K and K G. Nema (1969). Effect of host nutrition on the incidence and severity of a Rhizoctonia disease of Phaselous aureus. Indian Phytopath 22: 471–475.

Kataria, H. R. and R. K. Grover (1975) Fungitoxicity of mineral oils against Rhizoctonia solani causing damping off of mung Bean (P. aureus). Indian J Mycol. Pl. Pathol 5(1): 40.

Kataria, H. R and R. K Grover(1977). Comparision of fungicides for the control of Rhizoctonia solani causing damping off of mung bean (P. aureus). Indian Phytopath. 30 : 15.

Kothari, K. L. and M. K. Bhatnagar (1966). Evaluation of fungicides against crop diseases. I. On Colletotrichum capsici–blight of guar. Indian Phytopath 19: 116–117

Lutrell, E. S. (1951), Diseases of Guar in Georgia Plant Dis Reptr. 35: 166.

Mahmood, M. (1964). Factors governing the production of bulbiformin and its use in the control of pigeon pea wilt. Sci. and Cult. 30: 352.

Mathur, R. L, B. N. Mathur and B S. Sharma (1972) Relative efficacy of fungicides for the control of Alternaria cyamopsidis causing leaf spot of guar. Indian. J. Mycol. Pl. Pathol 80–81.

Mathur, R L, G. Singh and R. B L. Gupta (1971). Field evaluation of fungicides for the control of powdery mildew of pea. Indian J. Mycol. Pl Pathol. 95–98.

Mehta, P. R. and B. B. Mundkur (1946). Some observation on the rust of gram (Cicer arietinum L.). Indian J. Agric. Sci. 16: 186–192.

Munjal, R. L., V. V. Chenulu & T. S. Hora (1963). Assessment of lossess due to powdery mildew on pea. Indian Phytopath. 16: 268–270.

Nirwan, R. S. and J. Upadhyaya (1972). Phytophthora blight of cowpea new to India. Indian Phytopath. 251: 162–163.

Noble, M. and M. J. Richardson (1978). An annotated list of seed borne diseases Proc. Int. seed. Test. Ass. 33: 156–157.

Patel, M. K., M. N. Kamat and V. P. Bhide (1949). Fungi of Bombay supplement I. Indian Phytopath, 2: 142-155.

Payak, M. M. (1962). Natural occurence of gram rust in urdial stage on Trigonella polycerata L. in Simla hills. Curr. Sci. 31: 433–434,

Prasad, J., M. G. Haider and K. D. Prasad (1969). Blight disease of gram. Indian Phytopath. 22: 405–406.

Prasad, H. and M. V. Desai (1952). Fusarium blight of cluster beans. Curr. Sci. 21: 17–18.

Rangaswami, G. and A. Venkatarao (1957). Alternaria blight of cluster beans Indian Phytopath. 10: 18–25.

Rath, G. C and D. Misra (1975). Varietal reaction of Phaseolus aureus to Sclerotium rolfisii. Indian J. Mycol Pl. Pathol. 2: 216.

Rawal, R D., H. S. Sohi and S. S. Sokhi (1974). Effect of different levels of N P. & K. on cowpea rust caused by Uromyces phaseoli var vignae. Indian Phytopath. 26: 405–407.

Rawal H. D. and P. S. Bedi (1976). Epidemiology and control of Cercospora leaf spot of Mung in the Punjab. Indian Phytopath. 102–183.

Saksena, H. K. and R. Prasad (1955). Studies in Gram rust Uromyces ciceris–arietini (Grogn) Jacz. Indian Phytopath. 18: 94–98.

Sarojini, T. S. (1950). Soil conditions and root diseases I. Micronutrient element and disease development by Fusarium udum on red gram (Cajanus cajan). J. Madras Univ 19 B. 1–32

Satyavir and J. S. Grewal (1972). Evalution of fungicides against Fusarium caeruleum causal organism of Guar wilt. Indian Phytopath 25: 65–68.

Satyavir and J S. Grewal (1974). Physiologic specialisation in Ascochyta rabiei, the causal orgaism on gram blight. Indian Phytopath 28: 355–360.

Satyavir and J. S. Grewal (1974). Changes in Phenolic contents of gram plants induced by Asochyta rabiei infection. Indian Phytopath 524–526.

Satyavir and J. S. Grewal (1974). Eualution of fungicides for the control of gram blight. Indian Phytopath. 27 : 641–642.

Sharma, O. P., Anamika Tiwari and S. N. Kulkarni (1975). Effect of seed treatment with systemic and non systemic fungicides on the control of seedling blight of moong caused by Rhizoctonia solani. Indian Phytopath. 28: 114

Singh D. V. and A. N. Mishra (1975). Control of powdery mildew of pea with fungicides. Indian Phptopath. 28 : 414–515.

Singh D. V. and A. N. Mishra (1975). Varietal resistance of green gram to Cercospora leaf spot. Indian J. Mycol Pl. Pathol. 5: 207.

Singh D. V. and A. N. Mishra (1976). Search for wilt resistant varieties of red gram in U. P. Indian J. Mycol Pl Pathol. 6 (1): 89.

Singh D. V. and R. R. Singh (1976). Chemical control of Cercospora leaf spot of green gram. Indian Phytopath. 29: 337–338.

Singh, G., R. B. L. Gupta and G. G. Datela (1974). Efficacy of fungicides and varietal resistance of cluster bean against leaf spot disease caused by Curvularia lunata Indian Phytopath 28: 234-236.

Singh, I. and J. S. Chohan (1974). Seed borne fungi on cowpea (Vigna sinensis). Indian Phytopath. 27: 239–240.

Singh Iqbal and J. S. Chohan (1976). Fungi associated with seeds of gram and control of pathogenic ones. Indian J. Mycol. Pl. Pathol. 6 (1): 71.

Singh, Kuldeep, H. L. Khatri and R. D. Bansal (1975). Chemical control of Cercospora leaf spot of Phaseolus aureus. Indian J. Mycol. Pl. Pathol. 5(1)- 108.

Sinha, O. K. and M. N. Khare (1977). Chemical control of

Macrophomina phaseolina and Fusaruim equiseti associated with cowpea seeds. Indian Phytopath. 30: 337-340.

Singh, O. K. and M. N Khare (1977). Seed borne fungi of cowpea and their significance. Indian Phythopath. 30 469-472.

Singh, R. S. (1951). Root rot of guar. Sci. Cult. 17: 131-133.

Singh S. D. and R Prasada (1973). Studies on the physiology and control of Alternaria cyamopsidis, the incitant of blight disease of guar. Indian J. Mycol. and Pl. Pathol. 3: 33-39.

Singh S. D. and S M. Naik (1976). Field control of powdery mildew of urd by fungicides. Ind. J. Mycol. Pl Pathol. 6(1): 99.

Sohi, H. S. and R. D. Rawal (1977). Studies on the efficacy of various fungicides for the control of anthracnose of cowpea caused by Colletotrichum lindemunthianum Indian Phytopath. 30 1: 149.

Sohi, H. S. and R. D. Rawal (1975). Studies on the relative efficacy of different systemic and non-systemic fungicides for the control of cowpea diseases. Indian J. Mycol and Pl. Pathol. 5 (1): 38.

Sohi, H. S. and R. D Rawal (1978). Studies on the control of leaf spot disease of cowpea caused by Septoria vignicola Raw with particular reference to assessment of losses. Symposium on Plant Disease problems, Jaipur Oct 1-3. 1978.

Shukla, D S (1975). Incidence of Fusarium wilt of pigeon pea in relation to soil composition. Indian Phytopath. 3: 396-396.

Sokhi, S S. and H. S. Sohi (1976). Studies on rust of cowpea caused by Uromyces phaseoli var. vegoae. Indian Phytopath. 29: 99.

Streets, R. D. (1948). Disease of guar. Abs. Phytopathology 38: 918.

Subraminian, S. (1963). Fusarium wilt of pigeon pea. I. Symptomatology and infection studies. Proc. Indian Acad. sci, 57 B: 144–148.

Sukapure, R. S., V. P. Bhide and M. K. Patel (1957). Fusarium wilt of garden peas in Bombay state. Indian Phytopath. 10: 11–17.

Suhag, L. S. (1973). Mycoflora of gram seeds : Pathology and control. Indian. J. Mycol. Pl. Pathol 3: 40–43.

Suhag, L. S. (1975). Fungal flora of moong seeds : Pathology and control. Indian J. Mycol and Pl. Pathol 5: 165–168.

Suhag, L. S. and D Suryanarayana (1976). Some aspects of seed health testing with respect to seed-borne fungi of pulse crops grown in Haryana. Indian J. Mycol and Pl. Pathol. 6(1): 32–36.

Utikar, P. G. and M. S. Sulaiman (1976). Note on fusarium wilt resistance in pea. Indian J. Mycol. pl. Pathol. 6 (1) : 68.

Thriumalachar, M. J. and C. Chupp (1948). Notes on some Cercosporae of India. Mycologia 40: 352–462.

Uppal, B. N., M. K. Patel and M. N. Kamat (1935). Bull. Dep. Agric. Bombay 177, 12 p.

Vasudeva, R. S., C. V. Govindaswamy (1953). Studies on the effect of associated soil micoflora on Fusarium udum Butl. the fungi causing wilt in pigeon pea with special reference to its pathogenicity. Ann. Appl. Biol. 40: 573: 83.

Verma, P. R. and P. N. Patel (1969). Host range varietel resistance and epidemiological observations on Cercospora leaf spot disease of cowpea. Indian Phytopath. 22: 61–66.

Vidhyasekaran, P. G. Arjunan and K. Rangnathan (1977). Resistance in some mung varieties against root rot. Indian Phytopath 30: 404.

Walker, J. C. (1952). Diseases of vegetable crops. Mc Graw Hill Book Co.

Yarwood, E. E. C. (1939). Control of powdery mildew with water sprays. Phytopathology 29: 288–290.

8

मसाले की फसलों के रोग

(क) जीरे के रोग
(ख) मिर्च के रोग
(ग) धनिये के रोग
(घ) हल्दी के रोग
(ङ) अदरक के रोग
(च) सुपारी का कोले रोग

(क) जीरे के रोग

जीरा (Cuminum cyanimum) राजस्थान एवं गुजरात की एक प्रमुख मसाले की फसल है। बंगाल एवं आसाम के अलावा सभी राज्यों में इसकी खेती की जाती है। मुख्य रूप से नुकसान पहुंचाने वाले रोग इस प्रकार हैं।

(1) पत्ती अंगमारी (Leaf blight)	आल्टरनेरिया बरनसाई A. burnsii Uppal, Patel aud Kamat
(2) चूर्णिल आसिता (Powdery mildew)	एरीसाइफी पोलीगोनी E. polygoni DC
(3) म्लानि (Wilt)	फ्यूजेरियम आक्सीस्पोरम एफ क्यूमिनाई F. oxysporum f. cumini

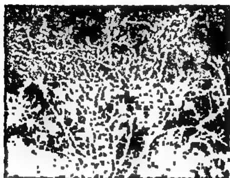
पत्ती अंगमारी
(Blight)

जीरे का यह रोग राजस्थान व गुजरात में भारी नुकसान पहुंचाता है। (गेमावत एवं प्रसाद 69, गेमावत 69) यह रोग से 70 प्र. श. से अधिक हानि हो सकती है (Uppal et al, 1938, Joshi, 1955.)। जीरा उगाये जाने वाले लगभग सभी क्षेत्रों में यह रोग पाया जाता है।

पौधे पुष्पन अवस्था के बाद ही सुग्राही होते हैं। रोग के लक्षण मुख्यतः पत्तियों पर दिखाई पड़ते हैं, किन्तु पौधे के सभी भाग प्रभावित हो सकते हैं। रोग के लक्षण पत्तियों के ऊपर छोटे-छोटे बैंगनी क्षेत्रों के रूप में दिखाई देते हैं, जो बाद में काले पड़ जाते हैं। धब्बों के आस पास के स्थान का क्लोरोफिल धीरे धीरे नष्ट होने लगता है, और एक संकीर्ण पीलिया क्षेत्र बन जाता है। अधिक प्रकोप होने पर रोगी पत्ती झुलस जाती है (चित्र 8 क.1)। यदि इस रोग का प्रकोप फूल वाली अवस्था में हो तो जीरा सिकुड़ा हुआ, हल्का व छोटे छोटे दानों वाला पैदा होता है। जिसकी अंकुरण शक्ति भी कम होती है। नमी व बदली वाले मौसम में इस रोग का प्रकोप बहुत अधिक होता है।

रोगजन :—

यह रोग आल्टरनेरिया बरनसाई (A. burnsii Uppal, Patel and



(चित्र 8 क.1) जीरे की पत्ती अंगमारी रोग

Kamat) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। कवकजाल पटयुक्त, शाखित और हल्के भूरे रंग के कवकतन्तुओं का बना होता है। ये तन्तुओं का बना होता है। ये तन्तु आयु के साथ गहरे रंग के हो जाते हैं। कवक के कोनिडियोफोर क्षत स्थल के मध्य भाग में रन्ध्रों द्वारा बाहर निकलते हैं। कोनिडियोफोर अंतुली रंग के पटयुक्त, शाखित होते हैं। जिन पर कोनिडिया उत्पन्न होते हैं, कोनिडिया लम्बे या प्रतिमुदगराकार, पटयुक्त, इष्टिका भित्ति रूप होते हैं, जिनका अंकुरण अंकुरनाल द्वारा होता है।

वार्षिक आवर्तन

यह फफूंद एक मौसम से दूसरे मौसम तक पौधों के अवशेषों में रहती है। रोग वृद्धि के लिये लगभग 3 दिन तक अधिक आर्द्रता (90 प्र. श. या अधिक) एवं 23-28° से. तापमान की आवश्यकता होती है। संक्रमण के पश्चात् यदि आर्द्रता लगातार बनी रहे या वर्षा हो जाये तो रोग उग्र हो जाता है। साधारणतः रोग की वृद्धि हवा के दिशा के समानान्तर होती है (गेमावत आदि, 1970)। बर्धित भूमि (infested soil) व पौधो का मलबा आवर्तन संक्रमण करने मे सहायक होता है। नये क्षेत्रों में रोगजन के वर्ष स्थायी होने तथा प्रारम्भिक संक्रमण करने में मुख्यतः बीज महत्वपूर्ण होते हैं (गेमावत एवं प्रसाद, 1972) कवकजाल नये पौधों में प्रागुणित होकर कोनिडिया उत्पन्न करता है। कोनिडिया का विकीर्णन हवा द्वारा विशेषतः होना है। रोग वृद्धि के साथ ही जीरे के खेतों के ऊपर आल्टरनेरिया के बीजाणु संख्या दैनिकलय (diurinal rhythum) में अभिव्यक्त "मोनिंग पैटर्न" प्रदर्शित करते हुये बढती है (गेमावत एवं प्रसाद, 1973)। लगातार बदली मौसम एवं ठंडी आर्द्रता वाला मौसम इस रोग के लिए सुग्राही है। अधिकतर पुष्पण स्था पर ही इस रोग का प्रकोप होता है (पटेल, 1968)।

रोग नियन्त्रण :—

कवक रोग ग्रस्त पौधे के मलबे में उत्तरजीवी रहता है, अतः सस्यावशेष जला दिये जाये या उन्हें खेत मे पूरी तरह सड़ा दिया जाये और साथ ही बीजों का सेरेसन शुष्क से उपचार करने पर प्राथमिक संक्रमण कम होता है। 3–4 बार 10–12 दिन के अन्तर पर डायथेन Z–78 का छिड़काव, 5 दिन पूर्व पुष्पण से या बुवाई के 40 दिन बाद करने से रोग की रोकथाम के साथ उपज में भी काफी वृद्धि होती है (पटेल एवं देसाई, 1971)। इसके साथ फाइटोलान का छिड़काव भी लाभकारी रहा। गेमावत एवं प्रसाद (1969) के अनुसार अनुमान 0·1 प्र श एवं डायथेन Z–78 का 0.2 प्र. श. का छिड़काव दो बार एक महिने के अन्तर पर पुष्पण अवस्था के बाद करने से रोग नियन्त्रण 72.6 एवं 61 7 प्र श. क्रमशः रहा। गेमावत आदि (1970) के अनुसार आरियोफन्जीन 7½ ग्राम प्रति हेक्टर की दर से छिड़काव करने पर भी रोग नियन्त्रण हो जाता है।

चूर्णिल आसिता
(Powdery mildew)

चूर्णिल आसिता जो कि एरीसाइफी पोलीगोनी कवक (Burns, 1921, Uppal and Desai, 1933; Joshi, 1955) से उत्पन्न होता है, यह एक विनाशकारी रोग है जो जीरा उगाने वाले सभी जगहों पर पाया जाता है। इससे काफी नुकसान होता है, तथा 50 प्र. श. से लेकर सम्पूर्ण फसल भी नष्ट हो सकती है (Uppal and Desai, 1933)। राजस्थान एवं गुजरात में इस रोग से काफी हानि देखी गई है।

लक्षण :—

प्रारम्भिक अवस्था में रोग के लक्षण पत्तियों की निचली सतह पर सफेद चूर्णी जैसे धब्बों के रूप में दिखाई देते हैं। धीरे-धीरे यह लक्षण पत्तियों की ऊपरी सतह, फूल फलों पर भी प्रतीत होने लगते हैं, एवं सम्पूर्ण पौधा ऐसा नजर आने लगता है, जैसे सफेद पाउडर छिड़का गया हो। इस चूर्णी पदार्थ में बहिपादपीय (ectophytic) कवकजाल और बीजाणु उपस्थित होते हैं। यही बीजाणु अनुकूल परिस्थितियों में स्वस्थ पौधे पर रोग उत्पन्न करते हैं। पोषक की शारीरिक क्रियाओं पर भी इस रोग का प्रभाव पड़ता है। प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया धीमी पड़ जाती है।

रोगजनक :—

यह रोग एरीसाइफी पोलीगोनी (E. polygoni DC) नामक फफूँद से उत्पन्न होता है। यह बहिपादपीय या बहिर्जीवी कवक है अर्थात् कवकजाल पत्ती की

सतह के बाहर ही रहता है, जो रंगहीन, अग्र ही होता है तथा पत्ती की सतह के सम्पर्क में आने वाले कवकतन्तु के किनारे फूलकर आसगांग बनाते हैं, जिनसे प्रचूषांग उत्पन्न होते हैं। प्रचूषांग पौधे की बाह्य त्वचा की कोशिकाओं के माध्यम से पोषक के जीव द्रव्य से अपना पोषण प्राप्त करते हैं। अलैंगिक जनन कोनिडिया द्वारा होता है, जो कोनिडियोफोर के सिरे पर बनते हैं। इनका विकीर्णन हवा, पानी, कीड़ों तथा अन्य साधनों से होता है। उचित पोषक मिलने पर कोनिडिया का अंकुरण होता है, तथा नया कवकजाल उत्पन्न कर देता है।

रोग का वार्षिक आवर्तन :—

इस रोग का वार्षिक आवर्तन कोनिडिया द्वारा होता है तथा लैंगिक अवस्था का तो अभी पता नही चला है। प्राथमिक संक्रमण के बाद उत्पन्न कोनिडिया द्वारा हवा के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर द्वितीयक प्रसार होता है। इस रोग का प्रकोप शुष्क एवं गर्म मौसम में अधिक होता है।

नियन्त्रण :—

(1) खेत की स्वच्छता इस रोग की रोकथाम का प्रमुख उपाय है। फसल के अवशेष को एकत्र कर जला दें। चूर्णिल आसिता की रोकथाम में ग्रारियोफल्जीन 8 ग्राम/हैक्टर, कैरोथेन एवं गन्धक भुरकाव उपयोगी पाया गया है (गेमावत आदि) इलोसल 0·5%, कैरोथेन 0·1 प्र. श. एवं कोसान 0·2 प्र. श. का छिड़काव काफी लाभप्रद पाया (सिंह एवं गुप्ता, 1976)

म्लानि
(Wilt)

जीरे का यह सबसे विनाशकारी रोग है। कई स्थानों में तो इस रोग के कारण लोगों ने इसकी खेती करना ही बन्द कर दिया है। राजस्थान में इससे काफी नुकसान देखा गया है (माथुर एवं प्रसाद, 1964)।

लक्षण :—

जीरे के पौधे अपने विकास की सभी अवस्थाओं में इस रोग से संक्रमित हो सकते हैं। सर्व प्रथम पत्तियाँ पीली पड़ जाती हैं, और धीरे धीरे पौधा सूखने लगता है। मुख्यतः इस रोग का प्रकोप बीज बोने के एक महिने बाद से शुरू होता है, तथा फसल पकने तक होता रहता है। रोगी पौधे पीले पड़कर अचानक गिर जाते हैं। इस तरह पौधो का सूखना पानी की कमी के कारण नहीं बल्कि फफूंद के बीजाणु के कारण होता है। यदि रोग का आक्रमण फूल या बीज बनने के समय होता है, तो जीरा पतला, छोटा एवं सिकुड़ा हुआ पैदा होता है। यदि रोग ग्रसित जड़ों को

खोदकर देखें तो उनकी जड़ों के वाहिनी ऊतकों तथा तने में लम्बी लम्बी काली धारियां दिखाई पड़ती हैं। पूरे खेत में जगह जगह इस प्रकार के म्लानि पौधे पाये जाते हैं जो उन स्थानों पर फफूंद की उपस्थिति के द्योतक है। उस अवस्था में पौधों में बीज नही बनते (चित्र 8 क.2)।



(चित्र 8 क.2) जीरे का म्लानि रोग

रोगजन :—

यह रोग फ्यूजेरियम आक्सीस्पोरम एफ क्यूमीनाई (F. oxysporum f cumini) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। यह एक वैकल्पिक परजीवी है। जो पोषक की अनुपस्थिति में भूमि के अन्दर अपना जीवन व्यतीत कर सकता है। पोषक में फफूंद मुख्य तौर पर संवहन ऊतकों में रहता है, और फफूंद अतः तन्तु बाधित होता है। इसका जाल रंगहीन होता है। अतः पोषक के टुकड़ों में या कृषि यन्-

वन्धों में कई प्रकार के बीजाणु उत्पन्न होते हैं। पौधे में मुरझान मुख्यतः वाहिनी ऊत्तकों का कवकतन्तुओं के समूह या उनसे उत्पन्न पदार्थों द्वारा अवरोध तथा पौधे के भीतर जीव विषो के उत्पादन के कारण होता है। कवक असंख्य एक कोशिक रंगहीन, अंडाभ या दीर्घवृतज लघु कोनिडिया का जनन करता है। गुच्छ कोनिडियम तर्कु रूपी, रगहीन होते है।

धार्विक आवर्तन .—

यह रोग मृदुढ है। एक मौसम से दूसरे मौसम तक भूमि मे तथा पौधों के अवशेषो मे यह फफूंद रहती है। संक्रमण पोधो की जड़ों मे रहता है। यह रोग मृदुढ तो है परन्तु बीजोढ भी होने के सकेत हैं (सिंह आदि, 1976)।

ऊत्तकीय (histopathology) में फफूंद बीज के अन्दर कवकजाल के रूप मे उपस्थित रहती है।

जीरे की फसल अधिकतर मक्का बाजरे की क्टाई के बाद बोई जाती है। बाजरे की फसल के बाद बुवाई करने पर इस रोग का प्रभाव अधिक होता है, परन्तु गर्मी मे परत खाली रखने से इसका प्रकोप कम होता है। हरी खाद का इस रोग की बढ़ावार मे असर नही पडता (माथुर आदि, 67) इस रोग का प्रभाव उन खेतों मे अधिक देखा गया है, जहां हर वर्ष जीरे की खेती की जाती है (गेमावत आदि) इस रोग का प्रसार भूमि मे पाये जाने वाले बीजाणु द्वारा ही होता है।

नियन्त्रण :—

(1) खेत की सफाई, सस्यावर्तन तथा गर्मी में खेत को खाली छोड़ दिया जाये तथा गहरी जुताई की जाये तो बीजाणु नष्ट हो जाते हैं।

(2) चूंकि इस रोग के बीजोढ होने के भी सकेत हैं, अतः बीजों को बीज उपचारक 6334 से 2 घण्टे 0.05 प्र. श. से शोधन करें। 54° से. पर 15 मिनट तक बीजों को रखने से भी बीजों में उपस्थित कवकजाल नष्ट हो जाता है (सिंह आदि, 1976)।

(3) रोग प्रतिरोधी किस्में काम मे लें।

□ □ □

(ख) मिर्च के रोग

(Chilies)

मिर्च भारतवर्ष की एक मुख्य मसाले वाली फसल है। कई प्रकार के रोगों का इस फसल पर प्रभाव पड़ता है, जिनमें निम्न मुख्य हैं।

(अ) पूर्व निर्गम एवं पश्च निर्गम सड़न (Pre and Post emergence rot)
(ब) जड़ गलन (Root rot)
(स) पत्ती धब्बा (Leaf spot)
(द) तना सड़न (stem rot)
(य) पक्व फल विगलन एवं डाइ बैक (Die back)
(र) शुष्क फल गलन (Dry frait rot)

पूर्व निर्गम एवं पश्च निर्गम सड़न :—

पूर्व निर्गम सड़न में बीजों की अंकुरण शक्ति कम हो जाती है तथा इस अवस्था में नई पौध भूमि के ऊपर आने से पूर्व ही मर जाती है। इस प्रकार की प्रक्रिया भूमि के अन्दर ही होती है। मूलांकुर और प्रांकुर बीजों से बाहर पूर्ण रूप से सड़ जाते हैं।

पश्च निर्गम सड़न में बीजांकुर भूमि से बाहर आते ही गिर जाते हैं। रोगग्रस्त ऊतकें मुलायम और जलासिक्त हो जाती हैं। प्रायः संक्रमण भूमि की सतह पर या सतह के नीचे होता है। रोग के प्रारम्भ होने के बाद तना आधार पर संकुचित हो जाता है और पौध गिर पड़ती है। अधिक नुकसान पश्च निर्गम सड़न के कारण ही होता है।

रोगजन :—

यह रोग पीथियम डीबेरीनम, आल्टरनेरिया एवं फोमा की जाति, फ्यूजेरियम इक्वीसेटी (F. equiseti (Corde) Sacc) एवं कोलेटोट्राइकम कैप्सीसी नामक कवकों से उत्पन्न हो सकता है।

पीथियम डीबेरीनम का कवकजाल, रंगहीन एवं अपटित होता है। फफूंद की बीजाणुधानियां और निपिताड बीजपत्र के उतकों में पैदा होते हैं। अलैंगिक जनन बीजाणुधानियों से होता है। लैंगिक जनन विषमयुग्मी होता है।

यह रोग मुख्यत: मृदुढ़ है। इस फफूंद के निषिक्तांड पौधे के मलवे के अन्दर भूमि में पड़े रहते हैं और अगले मौसम में प्रारम्भिक संक्रमण कर रोग उत्पन्न कर देते हैं। यह रोग बीजोढ़ भी है।

नियन्त्रण :—

(1) बीजों का शोधन टी एम. टी. डी. केप्टान से करने पर अंकुरण सबसे अधिक 85.5 प्र.श. रहा। इस उपचार के बाद क्रम में बेनलेट, थिराम एवं डायथेन एम–45 रहे। पश्च निर्गम नुकसान टी. एम. टी. डी. एवं थिराम तथा बेनलेट के उपचार से कम हुआ (भरिया आदि, 1977)। साहनी आदि (1966) ने इस रोग की रोकथाम में भूमि का उपचार 0·2 प्र.श. एवं 0.02 प्र.श. निलम्बन (suspension) केप्टान, राइजक्टोल एवं फाइटोलान पानी में मिलाकर देने से पश्च निर्गम केवल 2·1 प्र.श., 4.6 प्र.श. एवं 9·8 प्र.श. पाया जबकि नियन्त्रित (Control) में 38 प्र.श. था। बिसडायथेन, हैक्साथिन से पादप विषाणु के लक्षण प्रतीत हुए। धर्मवीर एवं ग्रीवाल (1961) ने फिलट (Flit 406) का प्रयोग सबसे अच्छा बताया था।

(2) भूमि जलमग्न नहीं होनी चाहिये। अच्छी प्रकार सड़ी खाद का प्रयोग करें, तथा रोपणी क्यारी में पानी का निकास अच्छी तरह होना चाहिये।

जड़ गलन
(Root rot)

इस रोग को फफूंद पौधे की जडो को चारों ओर से घेर लेती है, और धीरे-धीरे उन्हें सड़ाना शुरू कर देती है। जड़ें कत्थई रंग की होकर सड़ जाती हैं। रोग ग्रसित पौधे भूमि से सरलतापूर्वक उखाड़े जा सकते हैं, क्योंकि जड़ की सभी शाखायें सूख जाती हैं। एकदम पौधा मुरझा जाता है, जो कि पानी देने के बाद भी ठीक नहीं होता।

यह रोग स्कलेरोशियम रोलफसी (Sclerotium rolfsii) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है, जो कि एक मृदुढ़ रोग है। यह फफूंद बहुत संख्या में कठकवक उत्पन्न करती है, जो कि मिट्टी में कई वर्षों तक जीवित रहती है, मिट्टी में सेरेसन वेट पिन्ट का आधा 0.1 घोल प्रयोग में लेने से इस रोग. का प्रकोप कम होता है। रामाकृष्णन एवं सरोजनी, (1955)

पक्व फल विगलन एवं डाइबैक
(Ripe fruit rot and Die back)

मिर्च का पक्व फल गलन एवं डाइबैक मिर्च की फसल का एक महत्वपूर्ण

रोग है। यह रोग असम, उत्तरी बिहार, आन्ध्रप्रदेश एवं राजस्थान में अधिक उग्र रूप से होता है। एन्थ्रेक्नोज उत्पन्न करने वाली फफूंद कालेटोट्राइकम कैपसीकी दो प्रकार के रोग पक्व फल गलन एवं डाइबैक उत्पन्न करती है। पक्व फल गलन में केवल पके हुये फल जो लाल हो जाते हैं वही प्रभावित होते हैं। छोटे, काले गोलाकार स्पष्ट धब्बे बन जाते हैं। लम्बे अक्ष (axis) में यह रोग बढ़ता है, तथा काले, हरे काले धब्बे हो जाते हैं। धीरे-धीरे ये धब्बे आपस में मिल जाते हैं।

डाइबैक रोग से कोमल टहनियों का शीर्ष पीछे की ओर ऊतीक्षय हो जाता है, तथा धीरे-धीरे सम्पूर्ण पौधा शीर्ष से सूख जाता है (चित्र 8 ख 1)। क्षतित भाग में बड़ी संख्या में काले रंग की बिन्दुएं बिखरी रहती हैं, जो इस फफूंद की एसरबुलाई हैं। इसके लक्षण पत्तियों पर धब्बे के रूप में भी दिखाई देते हैं (चित्र 8 ख 2)। यह फफूंद अनेक जाति के पौधे जैसे धनिया, हल्दी, टमाटर पर भी पायी जाती है।



(चित्र 8 ख 1)



(चित्र 8 ख 2)

रोगजन :—

यह रोग कोलटोट्राइकम कैपसीकी (Colletotrichum capsici (Syd.) Butler and Bisby) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। कवकजाल शाखायुक्त पटयुक्त, रंगहीन, अन्तःकोषीय एवं अन्तराकोषिक होता है। एसरबुलस झुण्ड में या बिखरे हुये होते है, एसरबुलस अर्धगोलाकार और 70–120 माइक्रोन व्यास के होते है। एसरबुलस में कोनिडियोफोर एक दूसरे से सटे हुये बनते है। कोनिडियोफोर पटहीन एवं अशाखित होते हैं। इन कोनिडियोफोर के सिरे पर कोनिडिया बने

रहते हैं, जो 17–28 × 3–4 माइक्रोन के एक कोशीय हंसियाकार होते है। अंकुरण होने पर आसगांग बनाते हैं।

वार्षिक आवर्तन :—

इस रोग का वार्षिक आवर्तन भूमि मे उपस्थित सस्यावशेष से होता है। प्राथमिक संक्रमण ग्रसित फलों से प्राप्त बीजों द्वारा भी हो सकता है। द्वितीयक संक्रमण प्राथमिक संक्रमण से बने कोनिडिया द्वारा होता है। (चौधरी, 1957) इस फफूंद की वृद्धि के लिये अनुकूलतम तापमान 28° से., अपेक्षिक आर्द्रता 92 प्र.श. तथा पी. एच. 5–6 है। नियन्त्रित स्थानों में रोग 90 प्र.श. या इससे कम तथा 28° से. पर नहीं बढ़ता है (चौधरी, 57) जबकि मिश्रा एवं महमूद (1959) ने कोनिडियम के अंकुरण के लिये अनुकूलतम तापमान 30° से. तथा 100 प्र.श. के कम अपेक्षित आर्द्रता पर अंकुरण नहीं बताया। दस्तूर (1921) के अनुसार डाइबैक रोग का प्रकोप वर्षाऋतु के बाद अधिक समय तक अत्याधिक ओस की उपस्थिति पर निर्भर करता है। ग्रोवर एवं बन्सल (1970) के अनुसार यह फफूंद बाह्य एवं अन्त बीजोढ़ है जिसकी रोकथाम थिराम 0·2%, बिसडायथेन 0·2% एवं पाइराक्स 0·2% से बीजोपचार द्वारा की जा सकती है। नारायण एवं पेनीग्राही (1971) ने जिराम के छिड़काव द्वारा इस रोग की। वर्षाऋतु समाप्त होने पर जब फल लगने लगे तब ब्लाइटोक्स–50, जिनेब, मेनेब का 0·2% छिड़काव 15–20 दिन के अन्तर करना भी काफी लाभप्रद पाया गया है।



(ग) धनिये के रोग

(Diseases of Coriander)

धनिया (Coriander sativum L.) एक मसाले की फसल है। मुख्य रूप में इस फसल को तीन रोग हानि पहुंचाते हैं।

(1) तना पिटिका (Stem gall)
(2) चूर्णिल आसिता (Powdery mildew)
(3) म्लानि (Wilt)

तना पिटिका
(Stem gall)

भारत के उत्तरी भाग में यह रोग काफी नुकसान पहुंचाता है। इस रोग के मुख्य लक्षण पर्ण शिराओं, पर्ण वृन्तों, पुष्प पुंज, तनों तथा फलों पर पिटिका के रूप में दिखाई देते हैं। रोग के लक्षण फूल लगने से पहले दिखाई देते हैं। शुरू में तना पीला होने लगता है तथा जमीन के निकट छोटी-छोटी पिटिका बन जाती है। संक्रमण की मात्रा अधिक नमी तथा छायादार जगह पर अधिक होती है। फूलन (Swelling) धीरे-धीरे बढ़कर इसकी लम्बाई ½ से 1 से.मी. भी हो जाती है। है। प्रारम्भ में पिटीका चमकदार तथा बाद में खुरदरे हो जाते हैं। 23 प्र.श. संक्रमण होने पर 15 प्र.श. की हानि आंकी गयी है (गुप्ता, 1954)। परजीवी केवल ट्यूमर तक ही सीमित रहता है। ग्रसित पौधे बौने रह जाते हैं, तथा जब पुष्पक्रम पर संक्रमण होता है, तो बीज बहुत ही कम मात्रा में बनते हैं। पत्तियों में संक्रमण के फलस्वरूप शिराएं तथा पर्ण वृन्त सूज जाते हैं जिससे पत्तियां विरूपित हो जाती है। दैहिक संक्रमण के फलस्वरूप पुष्पवृन्त (pedicle) सूज जाते हैं।

रोगजनक :—

यह रोग प्रोटोमाइसीज मेक्रोस्पोरस (Protomyces macrosporus Unger) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। कवकजाल पटयुक्त, शाखित होता है, जिसमें बहुत अधिक संख्या में तीन सतहों वाले दीर्घ अन्तर्वेशी मोटी दीवार वाले क्लेमाइडोबीजाणु बनते हैं। क्लेमाइडोबीजाणु 50–60 माइक्रोन के होते हैं, तथा जब पानी में निमज्जन (immersion) रखे जाते हैं, तो इनका अंकुरण होता है। अंकुरित होने पर बाह्य भित्ति फट जाती है तथा भीतरी दीवार एक पुटिका के रूप में बाहर

आ जाती है। बीजाणु का सार (Content) इस प्रकार वेसीकल में आ जाता है तथा उसके बाद कोशिका में 4 बीजाणु बनते हैं तथा फट जाने पर बीजाणु मुक्त होकर अंकुरित होते है तथा पोषक को संक्रमित करते है। बीजाणु का प्रवेश रन्ध्रों द्वारा न होकर सीधी जनित नलिका कोशिका भित्ति द्वारा अधिस्तरीय कोष (epidermal call) मे प्रवेश करती है। बीजाणु मुकुलन के द्वारा यीस्ट (Yeast) की तरह गुणन करते है।

रोगचक्र :—

यह रोगजन मिट्टी एवं बीज के द्वारा उत्तरजीवी रहता है (गुप्ता 54, 58) क्लेमाइडोबीजाणु का जीवन क्षम ग्रसित पौधों के अवशेषो को मिट्टी मे दबाकर रखने पर पता चला कि पहले दो वर्ष मे धीरे-धीरे कम तथा तीसरे वर्ष इनकी जीवन क्षमता बिलकुल कम हो गयी। शुष्क अवस्था मे जीविता (survival) प्रथम वर्ष काफी अच्छी परन्तु तीन वर्ष बाद बिलकुल ही नही थी। दास (71) के ही अनुसार जीवन क्षमता (Viability) पर मिट्टी की गहराई का थोड़ा अन्तर भी प्रभाव डालता है। बीजाणु अधिक गहराई पर कम जीवन क्षमता तथा खेत की मिट्टी मे जीवन क्षमता प्रयोगशाला की मिट्टी से कम थी। यह रोगजन मिट्टी मे ताप सहिष्णु बीजाणु के रूप मे भी उत्तरजीवित रहता है जो क्लेमाइडोबीजाणु के अंकुरण के फलस्वरूप बनते है।

रोग का प्रभाव अक्टूबर मे कम होता है। नवम्बर एवं मध्य जनवरी में बुवाई करने पर रोग का प्रभाव अधिक होता है। फफूंद के अनेक क्रियात्मक प्रभेद पाये गये हैं (गुप्ता एवं सिन्हा, 63, 64)। इस फफूंद के दो विभिन्न वर्णकयुक्त (pigmented) प्रथक्कृत जीव पाये गये जो आकृति तथा रोगजनक तीव्रता मे अलग थे (पावगी एवं मुखोपाध्याय, 1969)।

नियन्त्रण :—

(1) बुवाई के लिये स्वस्थ बीज का प्रयोग, खेत की सफाई तथा सस्यावर्तन से निवेश द्रव्य की मात्रा कम की जा सकती है। नेनी आदि (1966) ने इस रोग को रोकथाम बीजो का उपचार थाइरम से (0 25 कि ग्रा., 100 कि.ग्रा) तथा मिट्टी मे 8 कि. प्रति हैक्टर की दर मे प्रयोग करने से की। नेनी एवं पहाड़िया (1967) के अनुसार बीजो का उपचार TCNA से 0·50 कि. 100 कि ग्राम से करने पर भी रोग का प्रभाव काफी हद तक कम किया जा सकता है।

गुप्ता एवं सिन्हा (1963) के अनुसार पेनीसीलिन एवं स्ट्रेप्टोमाइसीन 0 पी पी. एम 3 सप्ताह के अन्तर पर 13 सप्ताह के जब तक पौधे हो जायें

से क्रमश. 85·4 एवं 87 9 प्रतिशत रोग की मात्रा कम हो सकती है। नरूला (1962) और माथुर एवं नरूला (1969) ने भी क्लेमाइडोबीजाणु के प्रकुरण को कम करने के लिये प्रति जैविक, सल्फा ग्रोषधि एव हार्मोनो का उपयोग किया।

धनिये को मध्य अक्टूबर तक बो देने से भी यह रोग कम लगता है।

(2) रोग प्रतिरोधी किस्मे बोये। NP 92 सबसे अधिक प्रभाव्य, एन पी 95 कम प्रभाव्य रही (दास, 71)

चूर्णिल ग्रासिता
(Powdery mildew)

धनिये पर चूर्णिल ग्रासिता भी काफी नुक्सान पहुंचाता है। रोग के लक्षण पत्तियो पर दृष्टिगोचर होते हैं। पत्तियो की सतह पर सफेद चूर्णी धब्बे बनते हैं। पत्तियां राख जैसी होकर भूरी हो जाती तथा फिर मुरझा जाती हैं। लक्षण मुख्यत पुष्पण अवस्था पर दृष्टिगोचर होते हैं।

यह रोग एरीसाइफी पोलिगोनी फफूंद से उत्पन्न होता है। इसकी रोकथाम हेतु कोसान 0·2 प्र.श. थायोविट 0 2 प्र.श. का प्रयोग करें। श्रीवास्तव (1971) आदि के अनुसार कोसान, सल्टाफ, केराथेन, इलोसल, थायोविट के 2 छिड़काव द्वारा रोकथाम सम्भव है।

म्लानि
(Wilt)

मध्यप्रदेश तथा राजस्थान मे इस रोग से काफी हानि होती है। रोग का आक्रमण पौधे की किसी भी अवस्था में हो सकता है। जड़ो का रंग भूरा हो जाता है तथा संवहन बंडल कवकजाल से बन्द हो जाता है। ग्रसित पौधे का शीर्ष मुरझा कर सूख जाता है फलतः पौधे की मृत्यु हो जाती है।

यह रोग फ्यूजेरियम आक्सीस्पोरम कोरिएन्ड्राई (F. oxysporum f. coriandri) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। रोग मृतजीवी है तथा 28° से तापमान एव 50–60% आर्द्रता रोग की वृद्धि हेतु सहायक है।

धनिये की अगेती बुवाई कर तथा सहिष्णु जातियां जैसे एम.पी. 92 एम.पी. 5365 बोयें।

इन फफूंदियों के अलावा तना विगलन (स्क्लेरोटिनिया स्क्लेरोशियाना), मूल विगलन (मेक्रोफोमिना फेजियोलाई) का भी प्रकोप होता है।

⸺ ⸺ ⸺

(घ) हल्दी के रोग

हल्दी एक मसाले वाली फसल है। जिसका रंजक (dye) दवा एवं पूजा कार्य में भी होता है। सम्पूर्ण भारत में इसकी खेती होती है परन्तु तामिलनाडु, आन्ध्रप्रदेश, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल, कर्नाटक, केरल एवं महाराष्ट्र में मुख्यतः बोई जाती है, अधिक मुनाफा देने वाली फसल होने में कारण काफी गहनता में कई जगह इसकी खेती को जा रही है। मुख्य रूप से लगने वाले रोग इस प्रकार हैं।

(1) पत्तियों का धब्बा रोग (Leaf spot)
(2) एन्थ्रैक्नोज (Anthracnose)
(3) पत्ती दाग (Leaf blotch)
(4) गांठ एवं जड़ गलन (Rhizome and root rot)

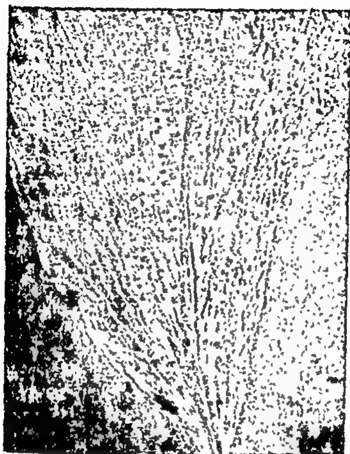
पत्ती धब्बा
(Leaf spot)

हल्दी का यह रोग हल्दी की खेती करने वाले लगभग सभी क्षेत्रों में पाया जाता है। जापान में भी इस रोग से काफी हानि होती है। उड़ीसा एवं आन्ध्रप्रदेश में यह रोग महामारी के रूप में उत्पन्न हो चुका है।

पत्तियों की दोनों सतहों पर काफी संख्या में धब्बे बनते हैं। पत्तियों का क्लोरोफिल धीरे-धीरे नष्ट होने लगता है। जिसके कारण सामान्य हरा रंग हल्का हो जाता है। धब्बे धीरे धीरे एक दूसरे से मिलकर बड़े व भूरे गहरे रंग के हो जाते हैं (चित्र 8 व 1, 2)। संक्रमित पत्तियां सूख जाती हैं। रोग के अधिक प्रकोप होने पर धब्बे आपस में मिलकर अनियमित हो जाते हैं। ग्रसित पौधा मरता नहीं है परन्तु धब्बों की अधिक संख्या होने के कारण पत्र पटल का क्रियाशील क्षेत्र काफी कम हो जाता है। प्रकाश सश्लेषण की क्रिया धीमी पड़ जाती है, जिससे पौधा कमजोर हो जाता है। गांठों का विकास ठीक न हो पाने के कारण उपज में भारी कमी आ जाती है।

रोगजन :

यह रोग टेफरीना मेक्यूलेन्स (T. maculens Butl) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। बटलर ने सर्वप्रथम 1911 में इसका रोग कारक बताया। यह



(चित्र 8 ग 1 हल्दी का पत्ती धब्बा रोग)

एक अनिवार्य परजीवी है। कवकजाल पोषक की उपत्वचा (cuticle) तथा अधिचर्मीय सतह पर मौजूद रहता है। शाखित या पालियुक्त (lobed) कवकजाल भी कोशिकाओं में होते हैं। ऐस्कस पत्ती की दोनों ओर कवक तन्तु जाल तथा रो तोड़कर पैदा होते हैं। प्रत्येक एस्कस के नीचे के आधार पर कोशिका होती है। एस्कस 20–30 माइक्रोन लम्बी एवं 6 से 10 माइक्रोन चौड़ी होती है। एस्कस में करीब 8 रंगहीन एक कोशिक एस्कोबीजाणु बनते हैं, जो 6–7 × 2–3 माइक्रोन के होते हैं। मुकुलन विधि से एस्कोबीजाणु का प्रगुणन होता है। [illegible] [illegible] के कारण नीचे की तरफ से पोषक क्यूटिकल पर दबाव पड़ता है, फलस्वरूप क्यूटिकल फट जाती है, तथा पोषक अधिचर्म पर [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]



(चित्र 8 व 2 हल्दी का पत्ती धब्बा रोग आवर्धित)

बाहर दिखने लगती है। एसाई से मुक्त होने के बाद शीघ्र ही एस्कोबीजाणु मुक्
द्वारा असंख्य एस्कोबीजाणु बनते हैं, जो अंकुरनाल द्वारा पोषक को संक्रमित करते

रोगजन :—

इस रोग के वार्षिक आवर्तन का अभी सही-सही पता नहीं चला है। लेि
ऐसा समझा जाता है कि खेत मे पडे पौधो के मलबे मे बीजाणु उपस्थित रहते
जो दूसरे साल तक जीवत रहकर संक्रमण करते हैं। फफूंद सम्भवतः धातोड
यह फफूंद कुरकुमा (Curcuma) एवं जिंजिबर (zingiber) पर भी आक्र
करती है।

नियन्त्रण :—

(1) रोगग्रस्त पौधों के मलबे को एकत्र कर जला दें तथा फफूंदनाशी

का प्रयोग करें। डायथेन Z-78 (0.2 प्र.श.) या ब्लाइटोक्स 50 (0.2 प्र.श.) या बोर्डो मिश्रण (4 : 4 · 50) का छिड़काव करें तथा जरूरत पड़ने पर 2–3 सप्ताह में फिर से करें। उपाध्याय एवं पावगी (Upadhyay and Pavgi, 1967) के अनुसार कुरकुमा लोंगो (Curcuma logua) एवं कुरकुमा एमाडा (C amada) की चाइना एवं जावेली (Jaweli) किस्म इस रोग से प्रतिरक्षक है।

गांठ एवं जड़ सड़न
(Rhizome and root rot)

भारत में सर्वप्रथम रामकृष्णन एवं सोमाली ने 1954 में इस रोग के होने की रिपोर्ट दी। इस रोग का पता आन्ध्र एवं तामिलनाडू राज्यों में सर्वप्रथम देखा गया। संक्रमित पत्तियों के किनारे धीरे-धीरे सूखने लगते हैं, तथा पत्तियां हरी पीली दिखाई देती है। तने का आधार कमजोर एवं मुलायम हो जाता है, तथा जड़ें छोटी पड़ जाती है। ग्रसित गांठों का विकास बहुत कम होता है, तथा गांठें सड़ने लग जाती है।

रोगजनक :—

यह रोग पिथीयम ग्रेमीनीकोलम (Pythium graminicolum) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। सुब्रह्मण्यम (1920) ने इस फफूंद का वर्णन किया। मेंडा में पार्क (1934) ने इस रोग का कारक पी. एफेनीडरमेटम बताया तथा मिडिलटन (1943) के अनुसार यह रोग दोनों ही फफूंद से उत्पन्न होता है। कवकजाल शाखित रंगहीन 3–7 माइक्रोन व्यास का होता है। प्रत्येक बीजाणुधानी में चल बीजाणुओं की संख्या 15 से लेकर 48 तक होती है। चल बीजाणु पार्श्व द्विकशाभ होते हैं।

भूमि में पड़े पौधों के मलबे से इस रोग का संक्रमण होता है। रोग ग्रसित गांठें बोने से भी रोग उत्पन्न हो सकता है। बीजाणुओं का बिखेरण हवा, पानी एवं कीड़े मकोड़ों द्वारा होता है।

इस रोग की रोकथाम के लिए गांठों का चयन स्वस्थ खेतों से करें। भूमि में बोर्डो मिश्रण, ब्लू कॉपर या फाइटोलान 0.2 का प्रयोग करें। खेतों में पानी का निकास ठीक हो। रोग प्रतिरोधी किस्में प्रयोग में लायें।

एन्थ्रेक्नोज
(Anthracnose)

दक्षिण भारत में इस रोग का प्रकोप अधिक देखा गया है। मुख्यतः इस रोग से पत्तियां प्रभावित होती हैं। पत्तियों पर भूरे से काले एवं केन्द्रक बलिय के धब्बे पड़ जाते हैं। प्रत्येक धब्बा एक पीले रंग के अनुरूप विसरित घेरे से घिरा रहता है। इन धब्बों के बीच का भाग सूखकर झड़ जाता है। पत्तियों की ऊपरी सतह से काले से बिन्दु इन धब्बों में पाये जाते हैं, जो इस फफूंद की एसरवुलस है। अधिक

ग्रसित पत्ती सूखकर मुरझा जाती है। इस रोग का प्रकोप अगस्त-सितम्बर के महिनों मे अधिक होता है।

यह रोग कालेटोट्राइकम केप्सीकी (Colletotrichum capsici (Syd.) Butlar and Bisby) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। कवकजाल शाखायुक्त, पटयुक्त, रंगहीन अन्तः कोषीय एवं अन्तरा कोशिक होता है। कवकजाल से एसरवुलस उत्पन्न होते हैं। अपट अशाखित कोनिडियोफोर अधोस्तर के निचे हाइमेनियम स्तर से सीधे अधोस्तर से या रून्ध्रो से बाहर आते हैं। कोनिडियोफोर पर कोनिडिया अकेले एक कोशिक, बेलकाकार से हासिया आकृति के 18 – 25 × 3 5 × 5.0 माइक्रोन के उत्पन्न होते हैं। कोनिडिया के अंकुरण के लिए 30° से. तापमान अनुकूलतम है, एवं 100 प्र. श. आर्द्रता की जरूरत पड़ती है।

रोगचक्र :—

फफूंद के बीजाणु रोग ग्रस्त राइजोम के साथ रहते हैं, तथा जब यह संक्रमित बीज बोये जाते हैं तो प्राथमिक संक्रमता होती है। फफूंद के बीजाणु रोग ग्रस्त पत्तियों से हवा के साथ उड़कर भी हल्दी पर सक्रमण करते है। यदि मिर्च के खेत आस पास है तो वहा से भी यह रोग हवा द्वारा उड़कर फसल को सक्रमित कर सकता है। साथ ही यदि पहले उस खेत में मिर्च बोयी गयी हो तो सक्रमण हो सकता है।

रोकथाम :—

स्वस्थ गांठों का बीज के रूप मे प्रयोग करें। बीजों को पार.वर्गी रसायन से उपचारित करें तथा रोग के लक्षण दिखाई देते ही डायथेन Z-78 (0 2%) ब्यूप्राविट 0.2 % का छिड़काव करें।

(ङ) अदरक के रोग

अदरक की फसल पर दो मुख्य रूप से रोग लगते हैं।

(1) राइजोम सड़न (Rhizome rot)

(2) फाइलोस्टिक्टा पत्ती धब्बा (Phyllosticta leaf spot)

राइजोम सड़न
(Rhizome rot)

अदरक का यह एक प्रमुख रोग है, जिसका सभी स्थानों में जहां अदरक की खेती होती है, वहां नुकसान होता है। संक्रमित पत्तियां हरी पीली दिखाई देती हैं। धीरे धीरे हरा रंग कम होने लगता है तथा पत्ते मुरझा कर गिर जाते हैं (चित्र 8 ङ.1)। पीलापन सिरे से प्रारम्भ होता है। जमीन की सतह के समीप प्ररोह का



(चित्र 8 ङ.1) अदरक का राइजोम सड़न रोग से प्रभावित खेत

प्रभावित भाग पीला पड़ जाना मुख्य लक्षण है। पद एवं राइजोम का स्थान शरीर और

मुलायम हो जाता है। उग्र रूप होने पर राइजोम पूर्णतः सड़ जाते हैं। संक्रमण शुरू मे होने पर राइजोम का बनना रूक जाता है।

बहुत सी फफूंदिया पी एफेनीडरमेटम, (P. aphanidermatum) पी माइरोटाइलम (P. myrotilum), पी. मोनोस्परमम (p. monospermum), पी ग्रेसाइल (p. gracile) एव पी बटलेरी (P. butlari), इस रोग के होने से सम्बन्धित हैं। रोगजन्यता (pathogenicity) परीक्षण में पी. एफनीडरमेटम एवं पी. माइरोटाइलम सम्बन्धित है। रथ एवं अन्य (1978) के अनुसार सड़न फ्यूजेरियम की 2 प्रजातिया फ सोलेनाई (F. solani (Mart) Sacc) एवं फ. मोनीलीफोर्मी (F moniliforme Sheldon) से उत्पन्न होती है।

इस रोग का प्रभाव जल मग्न भूमि मे अधिक होता है। यह रोग मृदुढ एवं बीजोढ दोनों तरह उतरजीवी रहता है। द्वितीयक संक्रमण बीजाणुधानी के अकुरण से उत्पादित चल बीजाणु द्वारा होता है। चल बीजाणु का विकीर्णन हवा, वर्षा के पानी द्वारा होता है।

रोग नियन्त्रण :—

(1) बुवाई हेतु स्वस्थ्य राइजोम का प्रयोग करें। राइजोम को डाइफल्टान (0·2 प्र. श.) से उपचार करें। बोने से पूर्व एक वर्गफुट मे 5–6 लीटर की दर से डाइफल्टान या बोर्डो मिश्रण का भूमि मे छिड़काव कर बोने से और अकुरण होने के बाद 2–3 सप्ताह के अन्तर से फिर मिट्टी मे मिलाने से यह रोग कुछ हद तक रोका जा सकता है। डाइफल्टान का बीजोपचार काफी लाभप्रद पाया गया है (ठाकुर आदि, 78)। खेत में उचित जल निकास आवश्यक है।

फाइलोस्टिक्टा पत्ती धब्बा
(Phylosticta leaf spot)

यह रोग फाइलोस्टिक्टा जिजीबेरी (p. zingiberi) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। पत्तियो पर छोटे, पीले गोलाकार धब्बे 0·5 मि. मी. से 1 मि. मी. बड़े होते है। ग्रसित धब्बे बीच से सफेद तथा पेपरी होते हैं, तथा किनारे गहरे भूरे होते हैं। धब्बे पीले रंग के अपूर्ण विकसित घेरे से घिरे रहते हैं। नमी की हालत मे धब्बे आपस में मिलकर सम्पूर्ण पत्ती को घेर लेते हैं (शुक्ला एव हावरे, 1972)। इन धब्बों के बीच काले छोटे पिक्नीडिया बनते है। कवकजाल पटयुक्त एव रगहीन होता है।

पिक्नीओस्पोर एम्फीजीनिस, (Amphigenous), गहरे रंग के ओस्टीओलेट, (Ostiolate), 3 7 – 7·5 × 1·5 – 3 माइक्रोन के होते हैं। (शुक्ला एवं हावरे, 72)।

रोग के लक्षण दिखाई देते ही डायथेन Z-78 का छिड़काव करें। रोग ग्रसित पौधों के अवशेषों को नष्ट कर दें।

इन रोगो के अलावा अदरक की पत्तियां भी पीली पडकर मुरझा जाती हैं। जिसमें राइजोम की उपज में काफी कमी आ जाती है। यह रोग फ्यूजेरियम आक्सीसपोरम नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। बेनलेट 50 डब्ल्यू (0 25%) एवं डायथेन M-45 0.2% से बीजोपचार काफी लाभप्रद रहा (हावरे एवं जोशी 1974)।

———

(च) सुपारी का कोले रोग

सुपारी का यह रोग पश्चिमी प्रायद्वपीय प्रदेशों तथा बंगाल में काफी पाया जाता है। जून से सितम्बर के माह में इस रोग का अधिक प्रकोप होता है। सबसे पहले तरुण सुपारियों के निचले भाग हरे हो जाते हैं, और गुच्छों से रोग ग्रस्त सुपारी गल कर गिर जाती है, तभी पत्तियों का मुकुट भी मुरझा कर सूखने लगता है। गिरे हुये फलों पर फफूंद के कवकजाल का नमदार सफेद समूह दिखाई पड़ता है।

यह रोग फाइटोफ्थोरा पामीवोरा (Phytophthora palmivora) नामक फफूंद से उत्पन्न होता है। कवकजाल अन्त कोशिक या अन्तरा कोशिक, संकोशिकी 9 माइक्रोन व्यास तक होता है। बीजाणुधानी नाखरूप से लेकर दीर्घ वृत्ताकार, 30-70 × 26--43 माइक्रोन माप की होती है।

फफूंद रोगग्रसित पत्तियों पर जमीन पर गिरी सड़ी सुपारी और मरे हुये पेड़ो में उत्तरजीवी रहती है। टर्नर (1965) के अनुसार मिट्टी में फफूंद उत्तरजीवी तो रहती है परन्तु साथ ही वृद्धि अवरोधित रहती है। चूँकि संक्रमित फूल भूमि में गिरते रहते हैं, अतः चिरजीवित करते रहते हैं। इस रोग का प्रकोप अधिक बारिश वाले क्षेत्रों में अधिक होता है।

इस रोग की रोकथाम हेतु रोग ग्रसित पत्तियां जो जमीन पर पड़ी रहती है, एकत्र कर नष्ट कर दें। मई में मानसून से पहले 0·1 प्र. श फाइकाल 8ई जैसे ताम्रयुक्त कवक नाशी एक बार फिर बोर्डो मिश्रण 5:5:50 से महिने के अन्तर पर छिड़काव कर दें। इसी के साथ रोग ग्रसित चोटियों तथा अन्य हिस्सों को उन्मूलन करें।



Annonymous (1965). Final report on the scheme for research on wilt disease of Cumin (Cuminum cyminum L) in Rajasthan.

Burns, W. (1921). Appendix J. Work done under Economic Botanist for the year 1919-20 Ann Rept. Agric. Bombay Presidency for the year 1919-20, pp 126-130.

Butler, E. J. (1907). An account of the genus Pythium and some Chytridiaceae. Mem. Dept agric. India (Bot ser) 1 : 70.

Chathopadhyay, S B. (1967). Diseases of Plants yielding drugs, dyes and spice. ICAR New Delhi 100pp.

Chowdhury, S. (1957) Studies on the development and control of fruit rot of chillies Indian Phytopath. 10. 55-61.

Dastur, J. F. (1921). Die Back of chillies in Bihar Mem. Dept. Agri India Bot. Ser, 11: 129-144.

Dharam Vir and S. S. Grewal (1931). Efficacy of different fungicides III Seed disinfection in relation to damping off of chillies (Capsicum annum Linn) Indian Phytopath. 14: 1401 10-12.

Gaur, M. M. (1949). Diseases of Cumin and fennel. Plant Prot. Bull 1: 20-21.

Gemawat, P. D. (1969). Studies on Alternaria blight of cumin. Ph. D. Thesis, University of Udaipur.

Gemawat, P. D. and N. Prasad (1969). Efficacy of different fungicides for the control of Alternaria blight of Cuminum cyminum L (Zeera). Indian Phytopath. 22: 49-52.

Gemawat, P. D and N. Prasad (1972). Epidemiological studies on Alternaria blight of Cuminum cyminum. Indian J. Mycol. pl pathol. 2: 65-75.

Gemawat, P. D. (1978). Alternaria blight of Cumin its effects and control measures. Symposium on Plant Disease Problem (Abstracts) Oct, 1-3, 1078. pp 56

Grover, R. K. and R. D. Bansal (1970). Seed borne nature of Collectotrichum capsici in Chilli seeds and its control

by seed dressing fungicides Indian Phytopath 23 : 665-668.

Gupta J S (1954). Disease appraisal of stem gall of Coriandrum sativum L. Indian Phytopath. 7(1): 53-60.

Gupta J S. (1958) Laboratory assay of certain fungicides, antibiotics and sulpha drug on the germination of Chlamydospores of Protomyces macrosporus Agra Univ. J. Res (Sci) 7: 105-112.

Gupta, J. S and S. Sinha (1963) Some therapeutic control trials on the stem gall disease of Coriander. Bull. Indian Phytopath Soc 1, 75-78

Gupta J. S. and S. Sinha (1963) Biometric groupings in Protomyces macrosporus causing stem gall disease of Coriander Proc Nat Acad Sci India, 33(B): 507-510.

Gupta, J. S. and S Sinha (1964) Variation in Pathogenicity of Protomyces macrosporus Proc. Nat. Acad. Sci. India, 34(B): 241-244

Haware, M. P. and L K. Joshi (1940). Studies on soft rot of Zinger from M P. Indian Phytopath. 28: 158-161.

Haware, M P and L K Joshi (1974). Efficacy of certian fungicides against seed-borne infection by Fusarium oxysporum in ginger Indian Phytopath. 28: 236-237.

Jain K L. and J M. Agrawat (1971) Control of Fusarium Wilt of Coriander by systemic fungicides. Indian J. Mycol and Pl Pathol 7(1): 30.

Jharia, H. K, M. N. Khare and Amar Chand (1977). Efficacy of fungicides in the control of fungal diseases of Chilles Indian Phytopath. 30 341-343.

Joshi, N C. (1955). Notes on two diseases of Cuminum cyminum L hither to unreported from Ajmer state Sci and Cult. 21, 101-102.

Joshi, N. C. (1955). Note on two diseases of Cuminum cymi-

'num L.' hitherto unreported from Ajmer State, India. Lloydia 21: 29–33..

Lakhtaria, R. P. and S. N. Pillai (1978). Evaluation of fungicides against blight of Cumin. Symposium on Plant disease problems (Abstract), Oct. 1–3, 1978, pp. 44.

Mathur, R L (1963) Studies on the Fusarium wilt of coriander in Rajasthan Ph D their, Univ of Rajasthan Jaipur

Mathur, R. L, Beatrice Masih and H. C Sankhla (1971). Adaptability of Alternaria burnsii and Rhizoctonia bataticola to fungicides Indian Phytopath 24: 548–552.

Mathur, R. L., G. Singh and R B L Gupta (1973) Chemical control of powdery mildew of Chilly caused by Leveillula taurica Indian J. Mycol Pl. Pathol 2: 182.

Mathur, B L, H. C. Sankhla and R. L. Mathur (1967) Influence of cultural practices on cumin wilt incidence Indian Phytopath. 20. 32–35.

Mathur, B L. and N. Prasad (1964). Studies on wilt disease of cumin caused by Fusarium oxysporium f. cumini Indian J. Agric. Sci. 34: 131–137.

Mathur, S B. and P N. Narula (1963). Effect of certain fungicides, antibitics and synthetic phytoharmones on the germination of chlamydosporos of Protomyces macrosnorus Ung. causing stem gall disease of coriander. Proc Indian acad. Sci. 33: 615–617.

Middleton, J. F. (1943). The taxonomy, host range and geographic distribution of the genus Pythium. Mem. Torrey Bot. Club, 20.

Misra, A P and M. Mahmood (1960). Factors eff cting the growth of Colletotrichum capsici. Indian Phythopath 13 No. 12-17.

Mitra, M. and L S Subramniam (1928). Fruit rot disease of cultivated cucurbitaceae caused by Pythium aphanidermatum. Mem. Dept. Agric. Indian (Bot. Ser.) 15: 79–84

Moses, G. J. and P. Govinda rao (1969). Coriander anthracnose caused by Glomerella cingulata a new reord from India. Indian Phytopath 22: 145.

Narain, Avdesh and C. Panigrahi (1971). Efficacy of some fungicidal compounds to control of Colletotrichum capsici in vitro and in vivo. Indian Phytopath 22: 593–595.

Narula, P. N. (1962). Efficacy of different fungicides against stem gall disease of Coriandrum sativum L. Sci. Cult 28: 481–482.

Nene, Y. L., I. A. Siddiqui and P. D. Kharbanda (1966) Control of stem gall of coriander by fungicides. Mycopath. et. Mycol Appl. 29: 142–144.

Nene, Y. L. and P. D. Kharbanda (1970). Studies on control of the stem gall of coriander Plant Disease problems (Proc. of the first international symposium on Plant Pathology). Indian Phytopathology Society, pp 539–646.

Patel, R. M (1968). Alternaria blight of cumin Cuminum cyminum L.) and its control M Sc. Thesis, Sardar Patel Univer. Anand

Patel, R. M and M V Desai (1971). Alternaria blight of Cuminum cyminum and its control Indian Phytopath. 24: 16–22.

Perwaiz, M. S, S M Mogal and M. Kamat (1977). Studies on the chemical control of Alternaria fruit rot of chillies. W. Pak J Agric. Res. 6: 87–91.

Prasada, R. and U. N. Verma (1948). Studies on lentil rust Uromyces fabae Indian Phytopath 1: 142–146.

Ramkishnan, T. S. and A. P. Sarojini (1955). Root rot of Chilli and its control. Indian Phytopath. 8: 204–205.

Rama Krishnan, T. S and C. K. Soumini (1954). Rhizome and root rot of turmeric caused by Pythium graminicolum Sub. Indian phytopath. 7 (2): 152.

Rath, G. C., D. Mishra and B. Mishra (1978). Fungi causing rhizome rot of zinger. Indian Phytopath. 31: 387.

Sahni, M. L., R. P. Singh & Ragubir Singh (1967). Efficacy of some new fungicides in controlling damping off of chillies. Indian Phytopath. 20: 114–117.

Sahare, K. C. and R. P. Asthana (1962). Rhizome rot of ginger and its control. Indian Phytopath. 15: 173–177

Sharma, M. P., B. B. Lal and R D. Singh (1978) Field assessment of systemic and curative fungicides in the control of rhizome rot of Ginger caused by Phythium aphanidermatum. Symposium on Plant Disease Problem (Abstract), Oct. 1–3, 1978. p. 43.

Shukla, B. N. and M. P Haware(1972). Phyllosticta leaf spot of ginger in M. P. Indian J. Mycol. Pl. Pathol. 1: 93.

Singh, G. and R B L. Gupta (1976). Chemical control of powdery mildew of Cuminum cyminum Indian J. Mycol. Pl. Pathol 6(1): 73–74.

Singh R D. (1977) Evaluation of seed dressing fungicides for their effect on the stand, growth and yield of cumin in field. Indian Phytopath. 30 : 198–201.

Singh, R. D., S. L. Choudhary and K. G Patel (1972). Seed transmision and control of Fusaruim wilt of Cumin. Phytopoth. Medit. 11: 19–24.

Srivastava, U. S. (1969). Effect of inoculm potential on wilt development of coriander caused by Fusarium oxysporum f. coriandenii. Indian Phytopath. 22: 407.

Srivastava, U. S., R. A. Rai and J. M. Agrawat (1971). Powdery mildew of coriander and its control. Indian Phytopath. 21: 438–440

Subramanian, L. S. (1919). A Pythium disease of Ginger Madras Agic. J. 38: 225–226.

Sundaram, N. V. (1953). Thread blight of Ginger. Indian Phytopath. 3: 60–85.

Thind, K. S. and H. S. Randhawa (1957). Studies of the nutrition of C. capsici, the incitent of die back of chillies. Curr. Sci. 26: 17.

Upadhyay, Rajendra and M. S. Pavgi (1967). Varietal resistance in turmeric to leaf spot disease. Indian Phytopath 20. 29-31

Uppal, B. N. (1940). Appendix K Summary of the worl done under the plant pathologist of the govt. of Bombay Poona for the year 1938. 39 Rep. Dep. Agric. Bombay.

Uppal B N. and M. K. Desai(1933). Cumin powdery mildew in Bombay. Bombay Deptt. Agric Bull. No. 169: 1-16.

Uppal, B. N., M K. Patel and M N. Kamat (1938). Alternaria blight of Cumin. Indian Jour. Agric. Sci. 7: 49-62.

Verma, R K. and S. C. Yyas (1978), Persistane and protective activity of some fungicides in relation to Phyllosticta leaf spot of ginger. Symposium Plant Disease Problems, Oct 1-3, 1978.

Wilson, K. I. and C. Balagopal (1971). Dry rot ginger rhizome caused by Diplodia natalensis. Indian Phytopath. 24: 385-386.

9

चारे की फसलों के रोग

पशुओं के चारे के तीन प्रमुख साधन हैं (1) कुदरती चारागाह (2) खाद्यान्न फसलों से प्राप्त चारा खाना और (3) खेत में उगाया गया चारा। हमारे देश के भागों में प्रति हेक्टर काश्त किये गये चारे पर निर्भर रहने वाले पशुओं की संख्या काफी अधिक है। अधिकांश राज्यों में मुख्य फसलों के हेर फेर में ही चारे की फसल पायी जाती है।

अनाज वाली चारे की फसल में मक्का, बाजरा, जई, तथा दलहनी फसलों में लोबिया, ज्वार, मोठ प्रमुख हैं, जिनके रोगों के बारे में विस्तृत से अध्ययन पहले किया जा चुका है। रिजका तथा बरसीम का प्रयोग भी हमारे यहां काफी किया जाता है, जिनमें लगने वाले निम्न रोग हैं :—

रिजका (Lucerne) सूखे क्षेत्रों में जहां सिंचाई के लिए पानी उपलब्ध हो वहां इसकी काश्त की जाती है। यह बहुत पोषक एवं स्वादिष्ट चारा है।

रिजका पर किट्ट, मूला जड़ गलन, मृदुरोमिल तथा क्राउन वार्ट मुख्य रूप से नुकसान पहुंचाते हैं।

बरसीम की फसल पर तना गलन, सूटी ब्लोच, किट्ट, क्राउन राट एवं पत्ती धब्बा रोग से विशेष नुकसान होता है।

मैथी की फसल कालव्रण, अगमारी, मूली जड़ गलन, किट्ट, मृदुरोमिल एवं पत्ती धब्बा से तथा सेन्जी पत्ती धब्बा एवं मृदुरोमिल से प्रभावित होती है।

बुवाई से पूर्व बीजों का उपचार अवश्य करें, तथा फसल पर रोग का प्रकोप अधिक होने पर ही फफूंदनाशी दवाओं का छिड़काव करें। इन रोगों के बारे में विस्तृत से पहले अध्ययन किया जा किया जा चुका है।

□ □ □

(क) पादप रोग नियन्त्रण

(Plant Disease Control)

फसलो पर अनेक प्रकार के रोग लगते है, जिससे बहुत अधिक हानि होती है। रोग नियन्त्रण के लिए परजीवी का जीवन चक्र तथा उनका पोषक से सम्बन्ध का पूरा ज्ञान उपलब्ध हो, तभी रोग की रोकथाम के उपचार खोजे जा सकते हैं। पादप रोग नियन्त्रण का मुख्य उद्देश्य फसलों को रोगों से बचाकर आर्थिक हानि को कम करना है। पौधे सुरक्षा का कार्यक्रम इस प्रकार से बनाना चाहिये कि एक ही विधि द्वारा कई रोगो की एक साथ रोकथाम की जा सके। रोग की रोकथाम के तरीके आर्थिक दृष्टि से बहुत सस्ते, आसान एवं सुलभ हो। पौधो के रोगों की रोकथाम मे रोग की छूत को रोकना सबसे आवश्यक है। एक बार रोग लग जाने के बाद फफूंद को नष्ट करना बहुत मुश्किल है। पादप रोग-विज्ञान का यह दायित्व है कि वह नये रोगों की समस्याओ का मूल्यांकन और हल प्रस्तुत करें, अनुसंधानकर्ता और प्रसार विशेषज्ञों को प्रशिक्षित करें तथा ऐसी सभी व्यावहारिक जानकारी का प्रतिपादन करते रहें, जिन्हें कृषक अपनी आवश्यक के अनुसार ग्रहण कर सके।

पादप रोग नियन्त्रण के उपायो को निम्न चार समूहो में विभक्त किया जा सकता है।

(1) पोषक का व्याधिजन या परजीवी के सम्पर्क से बचाना।

(2) कर्षण क्रियाएं।

(3) व्याधिजन द्वारा संक्रमण के निवारण हेतु विभिन्न प्रकार के रसायनो से रक्षण क्रियाएं।

(4) रोग प्रतिरोधकता।

(1) पोषक को व्याधिजन या परजीवी के सम्पर्क से बचाना—

चिकित्सा से सुरक्षा बहुत जरूरी है यही इस विधि का मुख्य सिद्धान्त है।

(क) संगरोध विनियम :—

व्याधिजन या परजीवी के प्रसार को रोकने के लि. विभिन्न देशों में संगरोध विनियम लागू हुए है। इन विनियम के अन्तर्गत एक देश या द्वारा देश के भीतर

रोग ग्रस्त सामग्री दूसरे देश या राज्य मे नही ले जायी जा सकती है। अमेरिका में 1912 मे फेडरल प्लान्ट कोरेन्टीन एक्ट के अनुसार इस प्रकार के विनियम लागू हुये। 1914 मे डिसट्रक्टिव इन्सेक्ट एव पेस्ट एक्ट (Destructive Insect and Pest Act) के अनुसार भारत में भी संगरोध विनियम लागू किये गये। इन कानूनो के अन्तर्गत कोई भी सामान किसी देश से नही मगाया जा सकता जब तक कि उचित अधिकारी का प्रमाण-पत्र उसके साथ नही हो। यही कारण है कि हमारे देश मे आलू का कीलक रोग प्रवेश नहीं कर पाया क्योंकि आलू किसी भी देश से नही मगाया जा सकता जब तक कि उसके साथ कृषि मन्त्रालय का प्रमाण-पत्र न हो। सन् 1946 मे खाद्य एव कृषि मन्त्रालय मे पादप सुरक्षा सगरोध एवं संग्रह निदेशालय की स्थापना हुई, जिसमें भी कीडों एव रोगो के प्रवेश को रोकने के लिए कई अधिनियम बनाये गये। जीवाणु एवं फफूंद के संवर्ध भी दूसरे देशों से नही मगाये जा सकते हैं, जब तक कि भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान के प्रमुख पौधे रोग एवं कवक विज्ञान या पादप सुरक्षा सगरोध के सलाहकार का उसके साथ प्रमाण-पत्र न हो। इन विनियमो के अनुसार हम कोई पादप पदार्थ भी डाक द्वारा बाहर से नही मगा सकते हैं।

इस प्रकार के विनियम एक प्रात से दूसरे प्रात में सामान ले लाने पर भी लगाये जाते हैं, जैसे गेहूं का ध्वज कालिका (Flag smut) या कंड रोग पंजाब में पाया जाता है, जो कि सक्रमित बीजो द्वारा उत्पन्न होता है, इसलिए गेहूं का पंजाब से आयात, मान्य अधिकारी के प्रमाण-पत्र बिना नही कर सकते। केरल से भारत के दूसरे प्रातो मे केले का घनकद भेजना कानूनन बंद है, क्योकि केले में बन्चो टाप धनकन्द द्वारा फैलता है। इस प्रकार सगरोध विनियम दो प्रकार के होते हैं (1) अन्तर्राष्ट्रीय एव अन्त प्रान्तीय। मुख्य मुख्य रोग जिनका प्रवेश एक देश से दूसरे देश मे हुआ है, वह इस प्रकार है :—

रोग का नाम	वास्तविक घर	प्रेरित देश	प्रवेश का वर्ष
(1) सिट्रस कॅंकर (Citrus cankar	एशिया	अमेरिका	1907
(2) अंगूर का चूर्णी (Powdery mildew) फफूंद अथवा बुकनी	अमेरिका	यूरोप	1845
(3) अगूर का मृदुरोमिल (Downy mildew) फफूंद	अमेरिका	फ्रास	1878
(4) आलू का पछेता	अमेरिका	यूरोप	1845

(4) आलू का पछेता (Late blight) अंगमारी रोग	अमेरिका	यूरोप	1845
(5) आलू का कोलन रोग	यूरोप	अमेरिका	1918

हमारे देश में भी बहुत से रोग दूसरे देशों से प्रवेश हुये हैं, जैसे—

(6) काफी का किट्ट (Coffee rust)	सिलोन	भारत	1879
(7) आलू का पछेता (Late blight) अंगमारी	यूरोप	भारत	1883
(8) अंगूर का मृदुरोमिल आसिता	यूरोप	भारत	1910
(9) मक्का का मृदुरोमिल (Downy-mildew) आसिता	जावा	भारत	1912
(10) रबर का चूर्णिल आसिता	मलाया	भारत	1938
(11) केले का बन्ची टॉप (Bunchy top)	सिलोन	भारत	1940
(12) आलू का वार्ट	निदरलैण्ड	भारत	1953
(13) गेहूं का ध्वज कालिका	आस्ट्रेलिया	भारत	—

प्रमाणन :—प्रमाणित बीज या रोपण सामग्रियों का ही देश या राज्य में प्रवेश हो सके या केवल ऐसी ही रोपण सामग्री किसानों को भी दी जायें।

अधिसूचना :—

किसान विध्वंसकारी रोगों की उपस्थिति के विषय में अधिकारियों को समय-समय पर सूचित करते रहें।

कर्षण क्रियाएं

(क) खेत की स्वच्छता :—

इस विधि का मुख्य उद्देश्य भूमि में उपस्थित संक्रमण के सभी साधनों को पूरी तरह या आंशिक रूप से नष्ट करना है। बहुत सी रोगग्रस्त पत्तियां फसल कटने के बाद मलबे के साथ पड़ी रहती हैं, जो कि आने वाली नई फसल को संक्रमित कर देते हैं। यह विधि मृदुज रोगों की रोकथाम हेतु काफी उपयोगी है। इस विधि में संक्रमित पौधों को हटाना और जलाना, भूमि में गिरी हुई ग्रसित पत्तियों आदि को मिट्टी में दबाने के लिए गहरी जुताई करना आसपास उगे खरपतवारों को नष्ट करना मुख्य है

(ख) जल निकास :—

फसल में पानी देने का उचित प्रबन्ध होना अति आवश्यक है। जल निकास

ठीक न होने कारण खेत मे पड़ी फसलो की जड़ों से कई विषैले पदार्थ स्रावित होते हैं, जो तने एव जड आदि को कमजोर कर देते हैं। सब्जियो का आर्द्रमारी एवं धान का खैरा रोग अधिक नमी मे उत्पन्न होता हैं।

(ग) फसल चक्र :—

रोगग्राही फसल के स्थान पर अरोगग्राही फसल के बोने से व्याधिजन नष्ट हो जाता है। मृदुढ रोगो की रोकथाम हेतु यह अच्छा उपाय है, क्योकि भूमि मे पड़े कवकसूत्र उचित पोषक के न मिलने से नष्ट हो जाते है। व्याधिजन भूमि मे कितने वर्ष तक जीवित रहता है उस पर फसल चक्र निर्भर करता है। कपास, मटर, चना, अरहर आदि के म्लानि रोग की रोकथाम हेतु यह विधि अच्छी है।

(घ) बुवाई के समय में परिवर्तन :—

फसल की बुवाई के समय मे भी परिवर्तन कर रोगों की रोकथाम सम्भव है। गेहू की फसल की जल्दी बुवाई करने पर किट्ट बीजाणु आने के समय तक पौधों की दुग्धावस्था समाप्त हो जाती है, अत: किट्ट रोग का संक्रमण कम होता है। बाजरे के अरगट की रोकथाम हेतु देर से बुवाई लाभप्रद है।

(ङ) मिश्रित फसलें :—

एक सुग्राही फसल को एक असुग्राही फसल के साथ बोया जाये तो रोग का संक्रमण कम होता है। उत्तरप्रदेश में अरहर के साथ ज्वार मिलाकर बोने से रोग का संक्रमण कम होता है, क्योकि पौधे से पौधे के बीच का फासला बढ़ जाता है, तथा ज्वार की जड़ो द्वारा स्रावित विषैले पदार्थों का परजीवी पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। कपास को मोठ के साथ मिलकर बोनें से मूल गलन रोग कम लगता है।

(च) खेत की गहरी जुताई :—

गर्मियों मे खेत की गहरी जुताई के बाद मई-जून की कड़ी धूप में यो ही पड़ा रहने देतें हैं। ऐसा करने से कड़ी धूप के कारण भूमि का अन्तश्चाम समाप्त हो जाता है तथा रोग का प्रभाव नही हो पाता। कड़ तथा मृदुढ रोगो की रोकथाम हेतु यह लाभप्रद है।

(छ) संतुलित खाद का उपयोग :—

खाद का संतुलित रूप से प्रयोग किया जावे। अधिक नत्रजन का प्रयोग रोग के संक्रमण में सहायक होता है, जबकि पोटाश प्रतिरोधी रूप में काम करता है। गेहू या किट्ट नत्रजन की अधिक मात्रा होने पर अधिक होता है, परन्तु कपास का [illegible] म्लानि अधिक नत्रजन देने पर कम होता है।

(ज) उचित सिंचाई :—

प्रायः ऐसा पाया गया है कि रोग के संक्रमण होने के तुरन्त बाद सिंचाई लाभप्रद है। जबकि चूर्णील आसिता के परजीवी सूखे में खूब पनपते हैं।

(झ) हीनापनयन :—

मृद्वढ़, मातोढ़ एवं बीजोढ़ तीनों ही प्रकार के रोगों की रोकथाम हेतु यह लाभप्रद विधि है। रोगग्रस्त भागों को उखाड़ कर या काटकर एकत्रित करने को ही हीनापनयन कहते हैं।

(ञ) अधिक घना बोना :—

बीजांकुरों के आर्द्र गलन के संक्रमण को रोकने के लिए अधिक घना बोना अच्छा नहीं रहता है, क्योंकि पास-पास बोने से भोजन पानी उचित मात्रा में नहीं मिल पाता, जिसके फलस्वरूप पौधे कमजोर रह जाते हैं, जो संक्रमण के लिये सुग्राही हैं।

(ट) बोने की विधि :—

कुछ रोगों के रोगजन का संक्रमण बीजो को अधिक गहराई में बोने से होता है, इसलिये बीजों को उचित गहराई पर बोयें।

(ठ) बीजों का चयन :—

ग्रसित फसलों से उत्पन्न बीजों को बोने हेतु काम में न लें।

(ड) अम्लीयता एवं क्षारीयता से परिवर्तन :—

पंजाब में तम्बाकू का जड़ गलन 2·5 से 6 टन चूना प्रति हैक्टर तथा आलू का चूर्णी पामा रोग गन्धक के प्रयोग से तथा पात गोभी का मुग्दरमूल रोग भी भूमि में चूने की मात्रा बढ़ाने से कम किया जा सकता है।

उन्मूलन

(क) एकान्तर पोषकों का उन्मूलन :—

कुछ रोगजन अपना जीवन चक्र मुख्य फसल के साथ अन्य पोषक पदार्थों पर पूरा करते हैं, अतः उन्हें नष्ट करें। अमेरीका, यूरोप, आस्ट्रेलिया आदि देशों ने गेहूँ के काले किट्ट का एकान्तर पोषक बरबेरिस (Barberis) के किट्ट का रैमनस (Rhamnus) एवं गेहूँ के भूरे किट्ट का थेलिक्ट्रम (Thalictrum) की रोकथाम कर बड़ी सफलता प्राप्त की है।

(ख) समपार्श्विक पोषकों का उन्मूलन :—

मुख्य पोषक की अनुपस्थिति में जंगली पौधो, घास, खरपतवार आदि पर रोगजन चिरस्थायी रहते हैं, अतः इन्हें नष्ट करें।

रोग प्रतिरोधकता :—

पादप रोग नियन्त्रण के उपायो में सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान रोधी प्रभेदो को दिया जाता है, क्योंकि यह सस्ता एवं लाभप्रद उपाय है। इस विधि का मुख्य उद्देश्य पौधे में रोगजन के आक्रमण को रोकने की क्षमता बढ़ाना है। रोग प्रतिरोधकता की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है, "पौधो में परजीवी के प्रवेश अथवा उसके बाद में वृद्धि एवं स्थापन को रोकने की क्षमता को रोग प्रतिरोधकता कहते हैं।" ग्रीगार मेडल के अन्वेषणो को हॉलेन्ड मे डी वरीज, जर्मनी में कारेन्स एवं आस्ट्रेलिया मे टीसचरमेक (Tschermak) ने 1900 मे पुन: खोज (discover) की जिससे आनुवांशिकी (Genetics) विज्ञान का वापिस जन्म हुआ। 1905 मे इंगलैण्ड मे बिफन ने सबसे पहले गेहूं के किट्ट रोग की रोकथाम के लिये प्रतिरोधन की जरूरत महसूस की। तदुपरान्त आरटन ने अमेरीका मे कपास की म्लानि रोधक जाति उत्पन्न की। रोग प्रतिरोधकता एक सापेक्ष शब्द है।

स्टेकमैन और लिविन (1922), स्टेकमैन आदि (1944, 62) तथा पीटर्सन आदि (1948) ने काले किट्ट के क्रियात्मक प्रभेदो को पहचानने और किट्ट की तीव्रता का निर्धारण करने की विधियो का वर्णन किया। रोग प्रतिरोधकता रोग की रोकथाम का पूर्णत: उपचार नही है क्योकि फफूंद के क्रियात्मक प्रभेद, संकरण, उत्परिवर्तन या अन्य किसी साधन से उत्पन्न होते रहते हैं, फलत: जो किस्म आज प्रतिरोधी है, वह जरूरी नही हैं आने वाले समय मे भी प्रतिरोधी हो। इन क्रियात्मक प्रभेदो की उपस्थिति फसल की प्रतिरोधी किस्मों के विकास में एक प्रमुख समस्या है। कई स्थानो पर क्रियात्मक प्रभेदो का पूर्ण ज्ञान न होने की वजह से एक प्रतिरोधी की गयी किस्म प्रभाव्य हो जाती है। गेहूं के किट्ट के लिये भारत में रोधी प्रभेद उत्पन्न करने का कार्य उत्तरी भारत में सन् 1936 में डा. मेहता तथा डा. पाल ने प्रारम्भ किया। इस फफूंद की बहुत अधिक प्रजातियो होने के कारण अभिजनन मे काफी परेशानी होती है।

सोलेनम डेमीसम एक जंगली जाति है, जो आलू के पछेता अंगमारी रोग की रोकथाम के अभिजनन कार्य के काम आती है। गन्ने के अभिजनन कार्य में सेकरम स्पोनटेनियम तथा सेकरम बारबेरी का काफी योगदान है। इस प्रकार संकरण या चयन द्वारा रोग प्रतिरोधी जातियो का विकास रोगों की रोकथाम मे सबसे अच्छी विधि है। रोग प्रतिरोधकता की विधि म्लानि, जड गलन, किट्ट, गन्ने के लाल सडन रोग के लिये विशेष महत्व रखती है। फ्लोर (1955) ने अलसी के किट्ट मे जीन टू जीन का सिद्धान्त बताया।

आनुवांशिक प्रतिरोधन दो प्रकार का होता है।

(1) मोनोजेनिक प्रतिरोधन :—इसमे प्रतिरोधन गुण बहुत सी पर्यावरण तथा अन्य हालात मे स्थिर रहते हैं।

(2) पोलीजेनिक प्रतिरोधन :—इसमे प्रतिरोधन गुण स्थिर नही होता बल्कि पोषक पोषणिक पर निर्भर करता है।

वेंडर प्लेंक (Venderplenk 1963) ने उर्ध्वाधर (Vertical) एवं क्षैतिज (horizontal) प्रतिरोधन का प्रस्ताव किया।

क्षैतिज प्रतिरोधन मे एक किस्म सभी प्रभेदो से प्रतिरोधी होती है तथा पोलीजेनिक (Polygenic) प्रतिरोधन होता है, जबकि उर्ध्वाधर (Vertical) प्रतिरोधन में एक किस्म कुछ प्रभेदों से अधिक प्रतिरोधी तथा कुछ प्रभेदों से कम प्रतिरोधी होती है। मोनोगोजीन जिनका प्रतिरोधन होता है, प्राऊनिंग एवं के (1969) ने पापुलेशन रेजिस्टेन्स के बारे में बताया।

पौधों में रोग प्रतिरोधकता की प्रकृति :—

इसको हम तीन भागों मे बाट सकते हैं।

(1) रोग पलायन।

(2) रोग सहनशीलता।

(3) वास्तविक प्रतिरोधिकता।

रोग पलायन :—

कुछ फसलो में ऐसी किस्में भी होती है जो रोग प्रतिरोधी तो नही होती परन्तु उन्हें ऐसी जगह बोया जाये जहा के पर्यावरण में किसी प्रकार परिवर्तन कर दिया जाय जो रोग के परजीवी के लिये उपयुक्त नही होती है, वह फसल परजीवी के आक्रमण से बच जाती है, पौधों मे यह योग्यता रोग पलायन कहलाती है। बहुत से रोगों की रोकथाम बुआई के समय को पहले या ज्यादा करने से भी की जा सकती है, जैसे यदि मूंगफली की जल्दी बुआई कर दी जाय तो टिक्का रोग का आक्रमण साधारणतया नहीं होता, इसी प्रकार गेहूं के किट्ट एवं कड तथा मक्का का हेल्मिन्थोस्पोरियम झुलसा रोग की भी रोकथाम फसल की जल्दी बुआई करके की जा सकती है।

कुछ पौधो मे रोग प्रतिरोधकता का कारण अतिसंवेदनशील होता है, अर्थात् किसी भी पौधे परजीवी का संक्रमण होता है, तो संक्रमण के द्वारा पौधे की कुछ कोशिकायें तो नष्ट हो जाती हैं, परन्तु परजीवी का आगे प्रसार नही हो पाता है, जैसे गेहूं का किट्ट।

कभी कभी पौधो की अवस्था के अनुसार भी प्रतिरोधकता बदली रहती है, जैसे बीजांकुर म्लानिगलन के लिये सुग्राहक होते हैं, परन्तु जैसे बढ़ते हैं प्रतिरोधकता उत्पन्न होती जाती है, इस प्रकार की प्रतिरोधकता को वयस्क पौध प्रतिरोधकता कहते हैं। गेहूं के पत्ती अंगमारी (Leaf blight) रोग का प्रकोप देर की अवस्था में ही होता है।

रोग सहनशीलता :—

रोग सहनशीलता बाहरी कारकों के कारण होती है, जैसे अधिक फासफोरस एव पोटाश गेहू की किट्ट रोग को प्रतिरोधी बनाता है, जबकि नाइट्रोजन सुग्राहक बनाता है। धा। की फसल मे सिलिकेट का प्रयोग ब्लास्ट हेतु प्रतिरोधी है। इस प्रकार कुछ पौधो मे परजीवी का आक्रमण होने पर भी उनकी जीवन क्रियाएँ सामान्य रूप से चलती रहती हैं, तथा रोग का कोई प्रभाव नही पड़ता है, उसे रोग सहनशीलता कहते हैं।

वास्तविक प्रतिरोधकता का आधार :—

वास्तविक प्रतिरोधकता के आधारो को चार भागों मे वर्गीकृत किया गया है।

(क) आकारिकीय प्रतिरोधकता।
(ख) क्रियाशील प्रतिरोधकता।
(ग) रचनात्मक प्रतिरोधकता।
(घ) जीव द्रव्यमूलक प्रतिरोधकता।

आकारिकीय प्रतिरोधकता अधोस्तर के बाह्य चर्म की मोटाई, त्वचा की मोटाई, मोम एव गोद के उपस्थिति होने से एव जडो के बालो की मोजूदगी के कारण होती है। बहुत से पौधो के अन्दर यह भी देखा गया है कि अधोस्तर के बाह्य चर्म की मोटाई एव पतलाई पर प्रतिरोधकता बहुत निर्भर करती है।

क्रियाशील प्रतिरोधकता रन्ध्रों की सख्या तथा उनके खुलने के समय एव धार्क ऊतको के उत्पन्न होने पर निर्भर करती है।

रचनात्मक प्रतिरोधकता ऊतक एव रेशो के दृढ होने, तथा रन्ध्रो एवं वातरन्ध्रों आदि के परिमाण पर निर्भर करती है।

जीव द्रव्य मूलक प्रतिरोधकता पौधो के जीव द्रव्य मे ऐसिड, टैनिन तथा अन्य रसायनिक पदार्थों पर निर्भर करती है।

रासायनिक प्रतिरोधकता का भी कहीं-कहीं प्रयोग किया जाता है। डा. वाकर ने रासायनिक प्रतिरोधकता के लिये बताया कि प्याज की लाल एव पीली जातियों मे प्रोटोकेच्यूइक एसिड एव केटेकोल होता है, जिसके फलस्वरूप परजीवी कोलेटोट्राइकम सिरसीनेन्स (C. circinensis) लाल पीले प्याज को सक्रमित नहीं कर पाता, तथा सफेद प्याज मे यह रासायनिक पदार्थ नही होता है जिसके कारण परजीवी का सक्रमण बहुत अधिक होता है।

रोग प्रतिरोधकता मे भी बहुत भिन्नता पायी जाती है, जैसे प्रतिकारी, अधिक प्रतिरोधी, साधारण प्रतिरोधी, साधारण सुग्राहकता, अधिक सुग्राहकता गेहूं के किट्ट के प्रति पोषक पर इसी प्रकार प्रतिक्रिया देखी गयी है।

शोध द्वारा रोग प्रतिरोधी जातियां पैदा करने की दो मुख्य विधि है।

(1) शुद्ध वंशीय चुनाव (2) संकरण

शुद्ध वंशीय चुनाव मे फसलो की कई जातियो को परजीवी से संक्रमित करके रोग प्रतिरोधी जातियों का परीक्षण एव उनका चुनाव किया जाता है। रोग ग्राहकता में विभिन्नता के कारण इस प्रकार रोग प्रतिरोधी जातियां प्राप्त हो जाती हैं, एवं फिर इस रोग प्रतिरोधी किस्म को कई वर्ष तक परजीवी से संक्रमित करके देखते हैं। इसके बाद अगर यह रोग प्रतिरोधी हो तो उस जाति को रोग प्रतिरोधी जाति कह सकते हैं। इस प्रकार से तैयार की गयी मुख्य मुख्य जातियां जयवंत बम्बई मे कपास के म्लानि के लिये एफ-8, पजाब मे चने के अंगमारी रोग के लिये एफ-31 डी. अथवा 4101 उत्तर प्रदेश मे ज्वार के कड रोग के लिए है।

संक्रमण द्वारा भी रोग प्रतिरोधी जाति पैदा की जाती है, परन्तु इनको तैयार करने मे बहुत समय एवं मेहनत की जरूरत पड़ती है, इस विधि मे अन्दर किसी सुग्राहक जाति को किसी प्रतिरोधी जाति से समागम कराते हैं, जिसके फल-स्वरूप उनकी तो कुछ संताने रोग प्रतिरोधी होती है।

आजकल कुछ प्रतिजैविक द्वारा भी पौधों मे परजीवी के प्रति कृत्रिम प्रतिरक्षण किया जाता है, जैसे स्ट्रप्टोमाइसिन, ग्रीसीयोफुल्विन आदि।

□ □ □

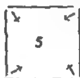
कवकनाशी या फफूंदनाशी दवाइयां

फफूंदनाशी दवा बाजार में निम्न रूप मे मिलती है।

(1) बुरकन :—

पौध संरक्षण दवायें मुख्यतय बुरकन के रूप में या घोल के रूप मे इस्तेमाल की जाती हैं। बुरकन घुलनशील चूर्ण होता है। पौध संरक्षण दवा यदि चूर्ण के रूप मे हो तो उसमे व्याप्त टाल्क (एक प्रकार का पाउडर) मिलाकर उसकी शक्ति को कम कर देते है। इसके लिये नीचे बताई गई चौकोर विधि काम मे लाई जाती है।

चूर्ण 80% — 5 भाग चूर्ण



राख या टाल्क 0% — 75 भाग टाल्क

मंदगोल बनाने की विधि :—

उदाहरण के लिये 80 प्र. श. सक्रिय तत्व वाली व्यापारिक दवा को राख या टाल्क के द्वारा पांच प्रतिशत शक्ति वाली बनाना हो अर्थात् हल्का बनाना हो तो एक वर्गाकार आकृति बनाकर उसके ऊपर व नीचे वाले बाये कोनों पर क्रमशः चूर्ण व राख या टाल्क के सक्रिय तत्व की प्रतिशत (80 और 0) लिख देते हैं, और इसका इच्छित प्रतिशत चौकोर खाने के बीच मे दोनों कर्णो के काटने के स्थान पर लिख दिया जाता है। अब चौकार खाने के बीच में लिखी संख्या को अर्थात् जहां दोनो कर्ण मिलते हैं, कोनो की संख्या मे से घटाकर दांयी तरफ के कोनों पर लिख देते हैं। अतः 5 भाग 80 प्रतिशत सक्रिय तत्व की दवा में यदि 75 भाग राख मिला दी जाये तो दवा का इच्छित प्रतिशत 5 हो जायेगा। जब दवा समान रूप से मिल जाये तभी इसको बुरकना चाहिये, मुख्यतः व्यापारिक दवाओ का 7 से 12 किलोग्राम चूर्ण एक एकड के लिये काफी होता है।

फफूंदनाशी दवाओं को बुरकन के रूप में प्रयोग करने से कई फायदे हैं। पहाड़ो आदि स्थानों पर जहां पानी की कमी रहती है, तथा बड़े-बड़े बरतनों की जरूरत पड़ती है, वहां यह विधि बहुत अच्छी रहती है। बुरकन की मशीनें भी साधारण बनावट की बनी होती हैं। बुरकन करने वाली मशीनों को चूर्ण फैंकने

वाली मशीन कहते हैं। बुरकन वाहन परजीवियों को आसानी से नष्ट कर देते हैं। इनमें सक्रिय तत्व की मात्रा 4—10 प्र.श. तक होती है।

निलंबनशील चूर्ण :—

बहुत सारी फफूंदनाशक दवाइयां बाजार में पौधों के रोगों पर छिड़काव करने के लिये निलंबनशील चूर्ण के रूप में मिलती है; जो घोल अथवा पायस रूप में तथा पानी के अन्दर निलंबन के रूप में रहते हैं, घोल में यही सक्रिय तत्व की मात्रा इनमे 10 से 50 प्र.श. तक होती है।

(3) इमल्सिफायबल सान्द्रित :—

इसके अन्दर सक्रिय तत्व किसी विलय में घुलता है, तथा पानी के अन्दर नहीं, इसलिये इसमें कोई इमल्सिफायबल पदार्थ डाला जाता है। जिसके कारण पानी के अन्दर सक्रिय तत्व विलय दूध जैसे निलंबन के रूप में रहते हैं। इन रसायनों को सूखे एवं ठण्डे स्थानों पर रखना चाहिये, जहां सीधा प्रकाश नहीं पड़ता हो। इस प्रकार के रसायन पौधों के रोगों को रोकथाम के काम में प्रायः नहीं आते हैं। उदाहरण के लिए थाइटाजीन एवं केरायेन।

(4) घोल :—

इसके अन्दर सक्रिय तत्व पानी में घुल जाते हैं, परन्तु अधिकतर दवाइयां पूर्ण रूप से पानी के अन्दर नहीं घुलती हैं। बल्कि यह निलम्बन के रूप में रहती है।

(5) कणिकाएं (Granules) :—

फफूंदनाशी रसायन के निष्क्रिय पदार्थों के साथ मिलाकर दाने बनाये जाते हैं। दाने चीनी के दाने के आकार के, बराबर वाले होते हैं। सक्रिय तत्व का अनुपात कम भी होता है। इन कारणों को प्रभावशील बनाने के लिये इनमें विघटनकारक तथा अवशोषकता की योग्यता होनी चाहिये। बाजार में बहुत कम फफूंद-नाशी दवायें इस रूप में उपलब्ध हैं।

(6) निलम्बन या कर्दम (Suspension) —

इनमें एक तरल पदार्थ के साथ मुख्यतः सक्रिय तत्व मिला होता है।

दवा के घोल को मंद करने की विधि

चूर्ण की तरह जो दवायें घोल के रूप में मिलती हैं, उनको भी मंद करना बहुत आवश्यक है। पानी द्वारा चूर्ण या दवा के घोल को इच्छित प्रतिशत की हल्की शक्ति वाला करने के लिये निम्न सूत्र काम में लाते हैं। घोल की मात्रा जितना बनाना हो X बने हुए का। (किलोग्राम या लिटर में) इच्छित प्रतिशत दवा की मात्रा दवा में सक्रिय तत्व की प्रतिशत मात्रा = (लिटर या किलोग्राम में)।

उदाहरण के लिये यदि व्यापारिक दवा बाजार में 60 प्रतिशत के घोल में

रूप में मिलती है और उससे 0–3 प्रतिशत का 200 लीटर (करीब 11 पीपे) घोल बनाना हो तो इस सूत्र के अनुसार दवा की मात्रा इस प्रकार होगी।

$$\frac{200 \times 0\text{–}3}{60} = 1 \text{ लीटर}$$

अब एक बड़े बरतन में दवा की मात्रा डालकर उसमे इतना पानी डालिये कि घोल की मात्रा 200 लीटर हो जाये। इसको एक चपटे डंडे से खूब हिलाकर छिड़कने के काम मे लाना चाहिये। 200 से 250 लीटर मद घोल प्रति एकड़ के हिसाब से बहुत होता है। छिड़काव करने वाली मशीन या फुहारा हो। फफूंदनाशी दवा को अधिकतर हम सीधा ही निर्धारण करते हैं जैसे 0 1% का तात्पर्य 1 लीटर पानी में 1 सी. सी. परन्तु कीटनाशी मे उपरोक्त सूत्र काम में लेते हैं।

अलग-अलग बीमारियो की रोकथाम के लिये प्रयोग किये जाने वाले हर रोगनाशी दवा के डिब्बे पर सक्रिय तत्वो की मात्रा और उनकी प्रतिशत लिखी रहती है। अलग-अलग कम्पनियां एक ही रोग के लिए अलग-अलग नामो की दवा बनाती है। इन दवाओ मे कई बार सक्रिय तत्व भी एक ही होता है परन्तु उसकी मात्रा अथवा प्रतिशत में अन्तर होता है। इसलिये किसी भी रोगनाशक दवा का प्रयोग तैयार करते समय इसमे मौजूद सक्रिय तत्व एव उसकी मात्रा का अवश्य ध्यान रखना चाहिये।

फफूंदनाशी दवाओ को तीन भागो में बाँटा जा सकता है।

(1) रक्षण (Protective)—ये फफूंदनाशी पौधो के संक्रमण के स्थान पर रोगजन का नाश करते हैं।

(2) रोगहर (Curative)—ये फफूंदनाशी संक्रमण होने के बाद रोगजन का नाश करते हैं।

(3) दैहिक (Systemic)—ये फफूंदनाशी पौधो के अन्दर दैहिक रूप से वितरण कर रोगजन को सीधेरूप से नाश करते हैं।

इस प्रकार रक्षक फफूंदनाशी दवाएं संक्रमण को रोकती हैं। रोगजन को पोषक में प्रवेश होने से पहले ही नष्ट कर देती है उन्हें रोग निरोध (Prophylactic) भी कहते हैं। अधिकतर फफूंदनाशी दवायें इसी ग्रुप में आती हैं। रोगमुक्ति या उपचार (therapy) से रोगजन का पौधे में संक्रमण होने के बाद उसे नष्ट करना है। ऐसे यौगिको को कीमोथिराप्यूटेन्टस (Chemotherapeutants) या रोगहर फफूंदनाशी कहते हैं।

मुख्य-मुख्य फफूंदनाशी

गन्धक (Sulphur)—सबसे पहले इन्ही फफूंदनाशी दवाओ का प्रयोग किया

गया। रॉबर्टसन ने 1824 में आडू के चूर्णिल आसिता की रोकथाम के लिये सबसे पहले गन्धक की उपयोगिता बताई। गन्धक का चूर्ण, घुलनशील गन्धक, चूना गन्धक, कार्बोगन्धक, अवक्षेपित गन्धक जैसी शुद्ध गन्धक भी बीज के उपचार में तथा बुरकन के रूप में प्रयोग होती हैं। गन्धक की प्रभावशक्ति चूर्ण के कणों की बारीकी पर निर्भर करती है। गन्धक के जितने कण बारीक होंगे उतनी ही उनकी प्रभावशक्ति अधिक होगी (यारवुड, 1930,31) तथा लचिष्णुता भी अधिक होगी। यारवुड (1950) के मतानुसार प्रभावशक्ति तापमान पर भी निर्भर करती है। छिड़काव हेतु कोलायडल गन्धक का उपयोग किया जाता है। सबसे अच्छे कण का आकार 200–300 मैश है। चूना और गन्धक के मिश्रण का काफी प्रयोग होता है। गन्धक कई प्रकार की होती है।

(1) अवक्षेपण गन्धक (Precipitated Sulphur) इसमें गन्धक को हाइड्रेटेड चूने से मिलाना पड़ता है, तथा दाह जैसे कण बन जाते हैं, जो सुखा कर पाउडर बन जाता है।

(2) निलम्बन गन्धक (Wettable Sulphur) यह कई प्रकार से बनायी जाती है, जैसे इमलसीफिकेशन फ्लोटोमाइजेशन या माइक्रोनाइजेशन, जिसमें गन्धक अंट दबाव से पीसी जाती है। यह फफूंदनाशी के साथ कीटनाशी भी है। आलू मिर्च व नींबू के मकड़ी की जाली के कीट तथा सेब व नाशपाती के सड़न रोग हेतु काफी लाभप्रद रहा है।

(3) बेन्टोनाइट निलम्बन चूर्ण—यह एलीमेन्टल गन्धक तथा बेन्टोनाइट गन्धक के संयोग से बनायी जाती है।

(4) चूना गन्धक घोल—सबसे पहले इसका प्रयोग 1851 में फ्रांस में हुआ। इसका मुख्य उपयोग बगीचों में देखा गया है। चूना गन्धक घोल बिना बुझे चूने व गन्धक को मिलाकर बनाया जाता है।

बिना बुझा हुआ चूना	आधा किलो
गन्धक	1 किलो
पानी	4 5 लीटर

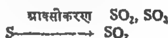
इसको बनाने के लिये एक बड़ा टब या मिट्टी का बड़ा सा घड़ा लेकर 4 5 लीटर पानी गरम करते हैं। इसमें पहले चूना तथा बाद में गन्धक मिला देते हैं। इस घोल को तब तक हिलाते रहें जब तक चूना व गन्धक पूर्ण रूप से घुल नहीं जाते। इसके बाद इसको एक घन्टे तक उबालते हैं, जिससे घोल का रंग नारंगी लाल हो जाये। इस घोल को साफ कपड़े में छानकर ढक्कन वाले ड्रमों में बन्द करके रख देते हैं। आवश्यकता पड़ने पर 60 गुना पानी मिलाकर पौधों पर छिड़काव किया

जाता है। यह फफूंदनाशी के साथ कीटनाशी भी है। आलू, मिर्च व नींबू के मकड़ी की जाति के कीट तथा सेब व नाशपती के सड़न रोग हेतु यह दवा काफी लाभप्रद है।

(5) चूर्ण - गन्धक का बारीक कन के रूप मे बहुत पहले से प्रयोग किया जा रहा है। चूर्ण फफूंद किट्ट आदि की रोकथाम में विशेष रूप से काम आती है।

प्रक्रिया—इसकी प्रक्रिया के बारे में निम्न मत है।

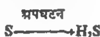
(1) आक्सीकरण (Oxidation) पदार्थों को बनाना—सल्फरडाइआक्साइड (Sulphurdioxide) सल्फरट्राइआक्साइड या पेन्टोथिनिक।



$$S \xrightarrow{\text{आक्सीकरण}} SO_2, SO_3$$

सल्फरट्राइआक्साइड (Sulphurtrioxide) फफूंद के लिए विषालु है।

(2) अपघटन होना—गन्धक का अपघटन होकर पोलीसल्फाइड, (Polysulphide) हाइड्रोजन सल्फाइड (Hydrogen sulphide) बनते है।



$$S \xrightarrow{\text{अपघटन}} H_2S$$

हाइड्रोजन सल्फाइड पानी मे घुलनशील है जो फफूंद ले लेती है, और मर जाती है।

(3) गन्धक का स्वयं फफूंदनाशी होना—गन्धक स्वयं भी सीधी फफूंदनाशी का कार्य कर सकती है, क्योंकि गन्धक के कण कोशिका में पारगमन (permeate) कहते हैं, जो लिपिड की उपस्थिति में सुग्राही रहता है। गन्धक चूर्णी फफूंद के शुष्क बीजाणु के लिये विशेष लाभप्रद है, क्योंकि लिपिड की मात्रा अधिक होती है।

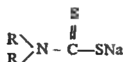
डाइथियोकार्बमेट (Dithiocorbamate) :—

सर्वप्रथम इनके रोगनाशी होने के बारे में टिसडेल एवं विलियम (1934) ने बताया। डू पोन्ट कम्पनी मे ये यौगिक बनाये जाते हैं। इनमें कुछ धात्विक यौगिक जैसे जस्ता, मैगनीज, सोडियम आदि लवणो को फफूंदनाशी के रूप मे प्रयोग किया जाता है। आजकल बाजार में उपलब्ध फफूंदनाशी अधिकांश इसी श्रेणी के हैं।

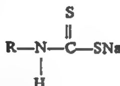
प्रक्रिया :—

इन फफूंदनाशियों की प्रक्रिया के बारे में थोर्न एवं ल्यूडविग (Thorn and Ludwig 1962) तथा रिच एवं हार्सफाल (Rich and Horsfall, 1961) ने काफी विवरण किया है। इनको इनकी प्रक्रिया के आधार पर दो भागों मे बांटा गया है।

(1) डाइएल्काइल डाइथियोकार्बेमेट—थिराम, जिराम, फरबाम,

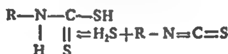


(2) मोनो एल्कोइल डाइथियोकार्बेमेट—नेबम, मैनेब, वेपाम, जिनेब.

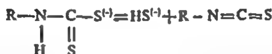


डाइएल्काइलडाइथियोकार्बेमेट (Dialkyldithiocarbamate) की कीलेटीय सक्रियता (Chelating) होती है। गोकसर (Goksyr, 1955) के अनुसार 1:1 सम्मिश्र (Complex) इन कार्बेमेट की प्रक्रिया के लिये जिम्मेदार है।

मोनोएल्काइल डाइथियोकार्बेमेट (Monoalkyl dithiocarbamate) की प्रक्रिया Kaar Sig pesteion—एव वेण्डरकर्क (Vanderkerk, 1954) के मतानुसार डाइथियोकार्बेमेट जो नत्रजन पर स्वतन्त्र हाइड्रोजन होता है, वह हाइड्रोजन सल्फाइड या HS^- आयन बिखर कर आयसोथायोसायनेट ग्रुप बन जाता है।



$$R—\underset{H}{N}—\underset{\|}{\overset{}{C}}—SH \rightleftharpoons H_2S + R-N=C=S$$

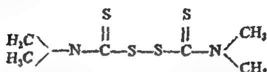


$$R—\underset{H}{N}—\underset{\|\,S}{C}—S^{(-)} \rightleftharpoons HS^{(-)} + R-N=C=S$$

परन्तु आयसोथायोसायनेट सिद्धान्त को रिच एवं हॉर्सफाल (1961) ने नहीं माना। थोर्न एवं रिचार्डसन (1964) के सुझावनुसार ये पदार्थ फफूंद मे डाइथियोकार्बोमिक आयन मे परिवर्तित हो जाते हैं। परन्तु इस प्रतिपादन को ओवन एवं हेय (Owens and Hayes, 1964) ने नही माना। ये सभी डाइथियोकार्बेमेट धायिकनार सेब चक्र के प्रतिरण मे अन्तरक्षेप (Interfere) करते हैं। मोनोएल्काइल डाइथियोकार्बेमेट फफूंद के लिए विषाक्त नही होते, यदि इन्हें हवा में खुला (expose) नहीं रखा जाय (मोर्चार्ट एवं ग्रोसान Morechart and Gressan, 1965)। सम्भवतः हवा इन्हें इथलीन मोनो एवं डाइसल्फाइड थायोयूरम सल्फाइड एवं सल्फाइड्स मे परिवर्तित कर देती है।

थाइरम :—

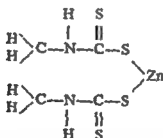
इस डाइथियोकार्बेमेट का सक्रिय तत्व टेट्रामिथाइल थाइरम डाइसल्फाइड (Tetramethyl thiram disulphide) है। यह डाइथियोकार्बेनिक एसिड के दो अणु से मिलकर बना होता है।



यह फफूंदनाशी दवा अधिकांश पौधों के बीजों, पत्तियों एवं फूलों के लिए हानिकारक नहीं है। सब्जियों के बीजों से फैलने वाले रोगों की रोकथाम के लिये यह दवा बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है। इसलिए बीजोपचार एवं बल्ब उपचार के लिये प्रयोग में लायी जा सकती है। किट्ट रोगों की रोकथाम के लिये भी यह अच्छी दवा है। थाइरम से भूमि उपचार करके आर्द्रमारी रोग की रोकथाम भी की जा सकती है। बाजार में थाइरम कई व्यापारिक नामों से मिलती है, जैसे एरेसान (Arasan) पेनोरम, (Panoram), टेरीसन (Terresan) 75 फरमाइड (Fermide), थाइमर (Thimer) आदि।

जिनेब :—

इसको औषधि निर्माता डायथेन Z-78 या पैराजेट (Parazate) आदि नामों से बेचते हैं। यह एक जैविक फफूंदनाशी औषधि है, जिसमें 75 प्र.श. जिंक इथलीन बिस डाइथियोकार्बेमेट 6 एवं 25 प्र.श निष्क्रिय तत्व होते हैं।



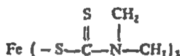
इस फफूंदनाशक दवा को यदि हम रामबाण ही कहें तो ज्यादा उपयुक्त रहेगा क्योंकि बहुत से रोगों की रोकथाम इस औषधि द्वारा की जा सकती है। यह पत्तियों के धब्बे एवं झुलसन रोग, पान की पत्ती एवं जड़ सड़न रोग, गेहूं तथा अन्य फसलों के किट्ट रोग, अंगूर के एन्थ्रेक्नोज एवं मृदुरोमिल, धान के ब्लास्ट, मिर्च के आर्द्रमारी रोग तथा बीजोपचार के लिये भी बहुत लाभदायक सिद्ध हुई है। इस दवा को अधिकांश कीटनाशक दवाइयों के साथ मिलाया जा सकता है, परन्तु चूने

के गन्धक को और चूने तथा तांबा गन्धक या बोर्डो मिश्रण के साथ नहीं मिलाना चाहिये।

इस फफूंदनाशक दवा से अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि पौधे पर रोग प्रकट होते ही या होने से पहले ही इस्तेमाल किया जाए। रोग की गम्भीरता एवं जलवायु की स्थिति के अनुसार 0·2 प्र.श. सक्रियता का घोल 7 से 15 के दिन के अन्तर पर छिड़काव करना लाभदायक रहता है।

फरबाम :—

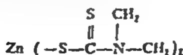
इसको औषधि निर्माता फरमेट (Fermate) के नाम से बेचते हैं। इस फफूंदनाशक दवाई का सक्रिय तत्व फेरिक डाइमिथायल कार्बेमेट (Feric dimethyl carbamate) है। इसमें डाइथियोकार्बेमिक एसिड के तीन अणु लोहे के एक एक अणु से सम्पर्क करते हैं।



यह दवा बहुत से रोगों की रोकथाम करने में कामयाब सिद्ध हुई है। इस दवा के कारण भी पौधों की पत्तियों तथा फलों को किसी भी प्रकार नुकसान नहीं होता तथा इसकी सहिष्णुता भी अधिक होती है। रोग की गम्भीरता एवं फसल के अनुसार 0·15 से 0·20 प्र.श. सक्रियता का 10 से 20 दिन के अन्तर पर रोग के लक्षण प्रकट होते ही छिड़काव कर देना चाहिये। इसका छिड़काव, रगन एवं भूमि में दवा मिलाकर रोगों की रोकथाम के लिये प्रयोग में लाया जाता है। सब्जियों के बीजोपचार के लिए भी यह अच्छी दवा है।

जिराम :—

इसको औषधि निर्माता जिरलेट (Zerlate), करबाम (Karbam), वेनसिड (Vancide) एवं क्यूमान (Cuman) आदि के नामों से बेचते हैं। क्यूमान में 80 प्र.श. जिंक डाइमिथाइल डाइथियोकार्बेमेट एवं 20 प्र.श. निष्क्रिय तत्व होते हैं। इसमें डाइथियोकार्बेमिक एसिड के दो अणु होते हैं।

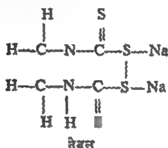


जिराम

इस दवा के द्वारा अंगूर का मृदुरोमिल फफूंदी एवं एंथ्रेक्नोज, मटर का आर्द्र मारी, बाजरा का पत्ती धब्बा रोग, धान का ब्लास्ट, गेहूं के किट्ट एवं लिफ स्पॉट रोगों की रोकथाम की जा सकती है। रोग की गम्भीरता एवं फसल के

0·15 से 0·25 प्र.श. सक्रियता का 12 से 15 दिन के अन्तर पर रोग के लक्षण प्रकट होते ही छिड़काव कर देना चाहिये। यह दवा निलम्बनशील चूर्ण या रवन के रूप में प्रयोग की जाती है।

नेबम (Nabam) :—इसको औषधि निर्माता नेबम, डायथेन डी–14 परजेट तरल एवं जिमेट के नाम से बेचते हैं। इस डाइथियोकार्बेमेट का सक्रिय तत्व डाइसोडियम ईथलीन विस डाइथियोकार्बेमेट है।

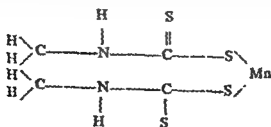


नेबम

हैवर्गर एवं मेसं ने बताया कि नेबम की रक्षण शक्ति उसमें जिंक सल्फेट एवं चूना ($ZnSO_4 + Ca(OH)_2$) मिलने से बढ जाती तथा इसके मिलाने के बाद यह दवा जिनेब से अच्छे परिणाम देती है। इसको विभिन्न प्रकार की बीमारियों पर जैसे पत्तियों के धब्बे वाले पत्तों का मुड़न, झुलसन, किट्ट, एन्थ्रकनोज, भार्द्रमारी एव पद गलन रोग की रोकथाम के लिये पौधो पर छिड़काव के रूप में या भूमि में दवा मिला कर प्रयोग किया जाता है। यह फफूंदनाशक औषधि अधिकांश पौधों के लिये हानिकारक नहीं होती तथा जिंक सल्फेट के अन्दर 0·2 प्र.श. की सक्रियता का छिड़काव उपयुक्त रहता है।

मैनेब (Manab) :—

इसको औषधि निर्माता 80 प्र.श. निलम्बनशील चूर्ण के रूप मे मैनेब, डायथेन M–22 एवं मैनजेट आदि के नाम से बेचते है। इसका सक्रिय तत्व मैगनीज ईथलीन बिस डाइथियोकार्बेमेट (Mn. etheyline bis dithiocarbamate) होता है।



यह दवा पौधों पर छिड़काव के रूप में या मेनेब रकन के रूप में प्रयोग की जाती है। इससे आलू का अगेती एवं अगमारी रोग की रोकथाम की जा सकती है।

डायथेन एम–45 :—यह औषधि भी मेनेब के ऊपर ही आधारित है। इसमें सक्रिय तत्व मैगनीज इथलीन बिस डाइथियोकार्बमेट 78 प्र.श. एवं जिंक सल्फेट 2 प्र.श. होता है। इसको औषधि निर्माता मेनजेट डी, डाइथेन एम–22, डायथेन एम–45 जिसमें 16 प्र.श. मैगनीज तथा 2 प्र.श. जिंक है, के नामों से बेचते हैं।

यह दवा मेनेब से ज्यादा लाभकारी है तथा सेम एवं मटर के किट्ट, टमाटर एवं आलू के झुलसन, मूंगफली के टिक्का तथा बहुत से मृदुरोमिल फफूंद एवं एन्थ्रेक्नोज रोगों की रोकथाम के लिये प्रयोग में लायी जाती है।

डायथेन एस–31 (Dihthane S–31) यह औषधि भी मेनेब के ऊपर ही आधारित है इसमें सक्रिय तत्व ईथली बिस डाइथियोकार्बमेट (2 भाग) निकल सल्फेट हेक्साहाइड्रेट (Nickel sulphate hexahydrae) (1 भाग) होता है।

इस दवा का प्रयोग भी मेनेब एवं डायथेन एम–45 से बनायी गयी बीमारियों के लिये किया जा सकता है। गेहूं के किट्ट रोगों की रोकथाम के लिये भी यह दवा लाभदायक सिद्ध हुई है।

प्रायः सभी डाइथियोकार्बमेट 1·5 कि 400 लीटर पानी में मिलाकर छिड़के जाते हैं। जिनेब एवं थाइरम के लिये इसमें 3/4 किलो प्रति 300 से 400 लिटर पानी में काफी है। एक हेक्टर के लिये 750 से 1००0 लीटर घोल की आवश्यकता पड़ती है। इन डाइथायोकार्बमेट का महत्व आजकल रोगों की रोकथाम में बहुत अधिक बढ़ गया है, क्योंकि ये रसायन सस्ते तथा थोड़ी ही मात्रा में पौधे को फफूंदी एवं उनके बीजाणुओं के लिये विषैला बना देते हैं परन्तु पोषक के लिए नहीं।

मुख्य-मुख्य गंधकवर्ती औषधियों के व्यापारिक नाम, सक्रिय तत्व सक्रियमात्रा एवं मिलने के स्थान

क्र.सं.	व्यापारिक नाम	सक्रिय तत्व	समविन्यास (%)	मिलने का स्थान
(1)	कोसान	गंधक	80 प्र.श. निलम्बनशील चूर्ण	सीबा दार इंडिया लि
(2)	इलोसल	गंधक	80 प्र.श. निलम्बनशील चूर्ण	—
(3)	एग्रोनिलम्बन-शील गंधक	गंधक	90 प्र.श. निलम्बनशील चूर्ण	[illegible]

(4)	हेक्सासुल	गंधक	10 प्र.श. निलंबनशील चूर्ण	भारत पलवुराइजिग मि. प्रा. लि.
(5)	माइकोसुल	गंधक	80 प्र.श. निलम्बन शील चूर्ण	भारतपलवेराईजिंग मि. प्रा. लि.
(6)	गंधक चूना	कैल्सियम पोलीसल्फाइड	—	घर पर बनाया हुआ
(7)	सोलबार	बेरियम	निलम्बनशील	बायर इण्डिया लि.
(8)	सलमाइट	पोलसिल्फाइड गन्धक	चूर्ण 75 प्र.श. निलम्बनशील चूर्ण	आई. सी. पर लि.
(9)	गंधक रकन	गन्धक	80 प्र.श. रकन चूर्ण	एफ आ डी. पेरी लि.
(10)	थाइयोविट	गन्धक	80 प्र.श. निलम्बन शील चूर्ण	सेन्डोज इन्डिया लि.

डाईथियोकार्बेमेट

(1)	एरेसन	टेटरामिथाइल थायूरमाइडाई सल्फाइड	बीजोपचार 50	एग्रोमार लि.
(2)	थाइरम	,,	70 प्र.श. निलम्बन शील चूर्ण	एसो स्टेन्डर्ड इसटर्न इनक.
(3)	पोमरसोल फोर्टी	,,	80 प्र.श. निलम्बन शील चूर्ण	बायर इण्डिया लि.
(4)	थाइराइड	,,	75 प्र.श. निलम्बन शील चूर्ण बीजोपचार	आई. सी. आई. इण्डिया लि.
(5)	क्यूमान	जिंक डाइमिथाइल डाइथियोकार्बेमेट	80 प्र श. निलम्बन शील चूर्ण	सिबा आफ इण्डिया लि.
(6)	जिराम	,,	65 प्र.श. निलम्बन शील चूर्ण	एसो स्टेन्डर्ड इसटर्न इनक.
(7)	हेक्साथिर	,,	75 प्र.श. निलम्बन शील चूर्ण	जोरडिन हेन्डरसन लि.
(8)	जिराम	,,	—	आई. सी. आई. इण्डिया प्रा. लि.
(9)	जिराइड	,,	80 प्र.श.	,, ,,

(10) डाइथेन जेड–78	जिंक ईथलीन बिस डाइथियो-कार्बेमेट	75 प्र.श. नि. चूर्ण	टाटा फाइजन इण्डिया लि.
डाइथेन एम–22	मैंगनीज ईथलीन बिस डाइथियो-कार्बेमेट	80 प्र.श. डब्ल्यू. पी.	इण्डोफिल केमिकल्स लि.
डाइथेन एम–45	जिंक मैंगनीज इथलीन बिस डाइथियोकार्बेमेट	2,16,62 क्रमशः	इण्डोफिल केमिकल्स लि.
डाइथेन एस–31	मैंगनीज इथलीन बिस डाइ-थियोकार्बेमेट निकल बी–25+निकल B–25+Nicle,	—	इण्डोफिल केमिकल्स लि.
डाइथेन–40	डाइसोडियम इथलीन बिसडाइ-थियोकार्बेमेट+पारिवर योगिक (बीजोपचार)	13	इण्डोफिल केमिकल्स लि.
जिनेब	जिंक इथलीन बिस डाइथियो कार्बेमेट	70,80 प्र.श निलम्बन शील चूर्ण डब्ल्यू पी	एग्रो स्टेण्डर्ड इण्डर्न लि
फरमेट	फेरिक डाइमिथायल डाइथियोकार्बेमेट	—	एग्रोमार लि.
नेबम	डाइसोडियम इथलीन बिस डाइथियोकार्बेमेट	—	इण्डोफिल केमिकल्स लि.

कॉपरयुक्त फफूंदनाशी :—

कॉपर वर्ग फफूंदनाशी दवा की प्रक्रिया 1807 में प्रीवोस्ट ने कॉपर सल्फेट द्वारा बनायी, परन्तु 1882 में वास्तविक रोकथाम मिलार्डेट ने अंगूर के डाउनी मिल्ड्यू रोग की रोकथाम (प्लाज्मोपेरा विटीकोला) कॉपर सल्फेट द्वारा की। 1885 में इन्होंने बोर्डो मिश्रण बनाने की विधि दी तथा अंगूर के डाउनी मिल्ड्यू रोग की रोकथाम करने में सफलता प्राप्त की, उस समय बोर्डो मिश्रण को ही बोर्डो-मिश्रण (Bouille Bordelaise) के नाम से जाना जाता था। मिलार्डेट ने 100

लीटर पानी मे 8 किलो कॉपर सल्फेट तथा 15 कि. ग्राम चूने से बनाया 30 लीटर चूना निलम्बन मे मिलाने की सिफारिश की परन्तु बाद मे यह पता चला कि यह काफी तेज है, तथा पादप विपालु भी है, अतः मिलार्डेट एवं गेयन (1887) ने कई और फार्मूले काम लिये। आज 5:5:50 या 4:4:50 मुख्यतः काम मे लेते हैं।

बोर्डो मिश्रण तैयार होने के बाद या तो उदासीन या मामूली क्षारमय होता है। इसकी परीक्षा के लिए नीले लिटमस का रंग लाल हो जाता है, या लोहे के टुकड़े या चाकू के फल को कुछ समय के लिये घोल मे डुबोया जाता है, तो चाकू पर नीला थोथा जमा नही होना चाहिए।

सोमर (1963–1965) के अनुसार आयनिक कॉपर का एकत्र होना ही बीजाणु के लिये विपालु है। बोर्डो मिश्रण का छिड़काव ताजा होना चाहिए। पुराना काम से लेने पर उसकी फफूंदनाशक शक्ति कम हो जाती है। परन्तु कुछ समय तक रख सकते हैं यदि इसमे आधा किलो चीनी 450 लीटर पानी में मिला ली जाये। बोर्डो मिश्रण पान का म्लानि या मुरझान या धब्बा रोग, मूंगफली का टिक्का, काफी का किट्ट आलू का पछेता एवं अगेती अगमारी तथा बहुत से रोगों की रोकथाम हेतु काम आती है। इस फफूंदनाशी के मुख्य गुण (1) पत्तियों पर अच्छी प्रकार चिपकना (2) सस्ता (3) बहुत सी बीमारियों की एक साथ रोकथाम तथा (4) आसानी से इस्तेमाल (handille) करना है जब कि मुख्य हानि (1) अच्छा चूना प्रयोग में न लाने पर नीला थोथा स्वतन्त्र रूप में रह जाता है जो पादप विपालु होता है (2) इसके प्रयोग से वाष्पोत्सर्जन की प्रक्रिया बढ़ जाती है, जो पौधों के लिये घातक रहती है। (3) थोड़े समय रखने पर भी फफूंदनाशी गुण खत्म हो जाता है।

बरगंडी मिश्रण :—

मेसून ने 1887 मे बोर्डो मिश्रण के स्थान पर बरगंडी मिश्रण बनाया। इसमें चूने के स्थान पर सोडियम कार्बोनेट काम मे लेते हैं। बरगंडी मिश्रण तैयार करने के लिये 4 – 6½ – 50 शक्ति का घोल लिया जाता है। अब चूना अच्छा मिलता है, अतः इसका प्रयोग विशेष नही होता।

बोर्डो पेस्ट :—

बोर्डो पेस्ट भी बोर्डो मिश्रण की तरह नीले थोथे व बिना बुझे चूने को मिलाकर बनाया जाता है, परन्तु यह पेस्ट के रूप में होता है। इसमें कॉपर सल्फेट 2 किलो, केल्शियम हाइड्रोक्साइड 3 किलो तथा पानी 27 लीटर लेते हैं। यह दवा मुख्यतः पेड़ पौधों के कटे हुए हिस्से या उनके घावों पर लगाने के काम आती है। कोकोनट (नारियल) का तना स्रावी (bleading), पपीते के पद गलन तथा नींबू

के गमोसिस (gummosis) रोग की रोकथाम हेतु अच्छी दवा है। इसका लेप किसी भी ब्रुश से रोग ग्रसित हिस्से पर किया जा सकता है।

चेस्टनट यौगिक :—

बेवले (Bewley, 1921) ने इस यौगिक का सुझाव दिया। यह मिश्रण कॉपर सल्फेट के 2 भाग तथा अमोनियम कार्बोनेट के 11 भाग मिलाकर बनाया जाता है। जो पौधे प्रारम्भिक अवस्था में ही जमीन के अन्दर या जमीन से तुरन्त निकलने के बाद सड़ कर मर जाते हैं, उन रोगों के लिये अच्छी दवाई है।

चौबटिया पेस्ट :—

सिंह (1942) ने चोबटिया फार्म पर उत्तर प्रदेश में यह पेस्ट बनायी। यह पेस्ट पौधों के कटे हुए हिस्सों व घावों पर लगाया जाता है, जिससे कि घावों में घुसने वाले रोगजन अन्दर प्रवेश न करें। इसे बनाने के लिए सिन्दूर 1 किलो, कॉपर कार्बोनेट 1 किलो एवं अलसी का तेल 1 1/4 किलो लेते हैं।

यह पेस्ट सेब के काला तना, भूरा तना कैंकर एवं पिंक रोग की रोकथाम हेतु काम आती है।

कॉपर आक्सीक्लोराइड :—

हवा का क्यूपरिक क्लोराइड घोल पर प्रक्रिया होने से कॉपर आक्सीक्लोराइड बनता है। 4 से लेकर 50 प्र. श. धात्विक कॉपर, कॉपर आक्सीक्लोराइड रूप में बाजार में मिलता है। 4–12 प्र. श. धात्विक कॉपर चूर्ण के रूप में तथा 50 प्र. श. छिड़काव के रूप में काम आती है। ब्लू कॉपर–50 (अंगूर के मृदुरोमिल, एन्थ्रेक्नोज तथा श्लाजि), ब्लाइटोक्स 50 (मूंगफली का टिक्का, आलू के पछेता एवं अगेता अंगमारी) फाइटोलान (आलू का पछेता अंगमारी), क्यूप्रासिट इस ग्रुप के मुख्य फफूंदनाशी है।

क्यूप्रस आक्साइड :—

इस ग्रुप में पेरेनोक्स, फन्जीमार, कॉपर सेन्डोज आदि आते हैं। यह दवा आलू के अंगमारी, मूंगफली के टिक्का आदि रोगों की रोकथाम हेतु काम आते हैं।

प्रक्रिया :—

कॉपर यौगिक फफूंदनाशी दवा की प्रक्रिया प्रक्रियाओं के निष्क्रिय करने से है। कॉपर स्वयं विषालु धात्विक केटाइन है। कॉपर सल्फहाइड्रिल ग्रुप प्रक्रियाओं से मिल कर जीवाणुओं को नष्ट कर देती है।

पारायुक्त फफूंदनाशी (Mercury Fungicides)

पारे पर आधारित रसायन बीजों द्वारा फैलने वाले रोगों की रोकथाम के

लिये बहुत प्रभावी सिद्ध हुये हैं। यह बहुत अधिक विषालु होते हैं, अतः छिड़काव की सिफारिश नहीं करते हैं।। मनुष्य एव पशुओ के लिये भी काफी जहरीला है। इन फफूंदनाशियों को 2 भागो मे बाटा गया है।

मुख्य मुख्य तांबावर्गी औषधियो के व्यापारिक नाम, सक्रिय तत्व, संविन्यास एवं मिलने का स्थान :—

क स	व्यापारिक नाम	सक्रिय तत्व	समविन्यास	मिलने का स्थान
(1)	बलाइटेन	कॉपर आक्सीक्लोराइड+जिनेब	50 प्र. श. निलबंनशील चूर्ण (डब्ल्यू पी॰ पी.)	टाटा फाइजन इंटस्ट्रीज लि.
(2)	ब्लाइटाक्स	कॉपर आक्सीक्लोराइड	50 प्र श. निलबंनशील विक्षेपण (2) चूर्ण (डब्लयू डी. पी.)	,, रेलीस इंडिया लि.
(3)	बोर्डो मिश्रण	केलसियम हाइड्रोआक्साइड, कापर सल्फेट	— —	घर का बनाया हुआ
(4)	ब्लूकापर	50 कॉपर आक्सीक्लोराइड	50 प्र. श. निलबनशील चूर्ण	सेंडोज इंडिया लि.
(5)	बोर्डो पेस्ट	कॉपर आक्सीक्लोराइड	—	सेंडोज इंडिया लि.
(6)	बरगंडी मिश्रण	सोडियम कार्बोनेट, कापर सल्फेट	— —	घरों का बनाया हुआ
(7)	कॉपर धूल	कापर आक्सीक्लोराइड	—	बूट प्योर ड्रग कंपनी इंडिया लि
(8)	कॉपर सेंडोज	क्यूप्रस आक्साइड	—	सेंडोज इंडिया लि.
(9)	क्यूप्रामार	कॉपर आक्सीक्लोराइड	50 प्र. श. निलबंनशील चूर्ण	भारत पलवेराईजिग मि. प्रा. लि.
(10)	क्यूप्राविट	कॉपर आक्सीक्लोराइड	50 प्र. श. निलबंनशील चूर्ण	बायर इंडिया लि.
(11)	कापर आक्सीक्लोराइड	कापर आक्सीक्लोराइड	50 प्र. श. निलबंनशील चूर्ण	एसो स्टेंडर्ड

		विस्तारक एवं स्थिरक के साथ	रालिस इंडिया
(12) फाइटोलान	कापर आक्सीक्लो-राइड	5 प्र. श. निलंबन शील चूर्ण	इमकेमेक्स इंडिया लि.
(13) पेरेनाक्स	क्यूप्रस आक्साइड	—	आई सी आई इन्डिया प्रा. लि.
(14) मिल्टाक्स	कापर आक्सीक्लो-राइड	—	सैंडोज इंडिया लि.
(15) जाइनोकॅप	कापर+जिनेब	50 प्र. श. निलम्बन शील	भारत पलवेराइ-जिंग प्रा. लि.

(1) अकार्बनिक —मरकरी क्लोराइड, मरक्यूरस क्लोराइड

(2) कार्बनिक —इथायल मरकरी क्लोराइड, फिनाइल मरकरी एसीटेट मिथोक्सी इथायल मरकरी क्लोराइड (एग्रोसन, सेरेसन, सेमेसन, पेनोजन, अरेटन, अरसीलन, आदि)।

हिल्टनर (1915) ने सर्वप्रथम मरकरी क्लोराइड ($HgCl_2$) को राई के फ्यूजेरियम रोग नियन्त्रण हेतु काम लिया। भारत में सर्वप्रथम बर्मा में 1914 में आलू के बीजों को राइजक्टोनिया से बचाने के लिये उपचारित किया। अधिकतर यह 1:1000 के अनुपात में काम आती है।

एग्रोसन जी. एन. :—

इस दवा में दवा में सक्रिय तत्व टोलाइल मरक्यूरिएसीटेट या फिनाइल मरक्यूरिक एसीटेट, एथिल मरक्यूरिक क्लोराइड होता है। बीजोपचार के लिये अनेक रोगों की रोकथाम के लिए यह दवा प्रयोग में लायी जाती है। एग्रोसन जी. एन. की मात्रा फसलों के बीजों पर निर्भर करती है। इस औषधि से निम्न प्रकार के बीजों से फैलने वाले रोग नियन्त्रित किए जाते हैं। सब्जियों एवं धान्य फसलों के बीजों से फैलने वाले रोग, धान का ब्लास्ट, कुकरबिट का चंदमारी झुलसा एवं जौ का कंडवा आदि।

सेरेसन :—

इस दवा में सक्रिय तत्व एथिल मरकरी क्लोराइड होता है। इसके औषधि निर्माता सेरेसन, डेनोमन आदि के नाम से बेचते हैं। यह दवा बीजों से फैलने वाला कण्डुआ, झुलसा रोग, धान का ब्लास्ट तथा अन्य प्रकार के रोगों की रोकथाम में प्रयोग में लायी जाती है। दवा की मात्रा 0.2 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए।

नये उन्नत सेरेसन के अन्दर सक्रिय तत्व एथिल मरकरी फास्फेट होता है। यह दवा कपास, अलसी तथा अन्य धान्य के बीजो को उपचारिक करने के काम मे आती है।

सेरेसन एम मे सक्रिय तत्व एथिल मरकरी—पी. टोल्यूइनसल्फानेनिलाइड होता है। यह दवा छोटे दानों तथा ज्वार, बाजरा, अलसी एवं चुकन्दर के बीजो को उपचारित करने मे काम आती है।

सेरेसन वेट को औषधि निर्माता एगेलोल, एरीटान के नाम से बेचते हैं। इसमे सक्रिय तत्व 2-मिथोक्सी एथिल मरकरी क्लोराइड होता है। धान का ब्लास्ट, जौ का कडवा, ज्वार का दाने वाला कडवा रोग तथा सब्जियो एवं दालो की फसल मे लगने वाले रोगों से ग्रसित बीजों को इस दवा से उपचारित करने के बाद बोने से व्याधिजन नष्ट हो जाते है। गन्ने की पोरियो को भी बोने से पहले इस दवा से उपचारित कर लेना चाहिये।

टाफासान 6 डब्लयू (6-डब्लयू)—

टाफासान 6 डब्लयू मरकरी योगिक है, जो जौ, ज्वार, रोगी मक्का, जई, धान, आलू कन्द, कपास तथा जूट के बीजो से होने वाले रोगों की रोकथाम के लिये प्रयोग किया जाता है। टाफासन 6 डब्लयू की आवश्यक मात्रा थोड़े पानी के साथ एक मिट्टी के बर्तन, लकड़ी अथवा लोहे के पात्र अथवा सिमेन्ट कंकरीट टैंक मे मिलाकर और जोर जोर से चलाइये। जिससे कि पाउडर अच्छी तरह से मिल जाय, तब पानी की बची हुई मात्रा डालिये, जिससे एक बराबर मिला हुआ मिश्रण तैयार हो जाये। बीजों को लगभग 30 मिनट तक भिगोकर छाया के नीचे हवा मे खुला रखना अच्छा रहता है।

टिलेक्स :—

इसमे सक्रिय तत्व एथिल मरकरी क्लोराइड होता है। यह दवा औषधि निर्माता द्वारा चूर्ण एवं तरल के रूप में बेची जाती है। यह धान, गेहूं, ज्वार, कपास, जौ, चाय, काफी जूट, आदि के बीजो से होने वाली बीमारियो की रोकथाम के लिए प्रयोग की जाती है। 6 सी. सी. तरल टिलेक्स की मात्रा 4-5 लिटर पानी में काफी रहती है।

पेनोजन :—

इसमें सक्रिय तत्व सायनों (मेथिल मरकरी) ग्वानीडीन होता है। इसके द्वारा बीजों मे होने वाली बीमारीयो को रोकने के लिये बीजोपचार तथा आर्द्र गलन बीमारीयों को रोकने के लिए भूमि उपचार के रूप में प्रयोग किया जाता है।

सेरेसन रकन या धूल :—

इसमें सक्रिय तत्व फेनिल मरकरी एसीटेट+एथिल मरकरी क्लोराइड होता

है। इसको औषधि निर्माता 10 पी. एम. ए. एस पी. एम ए., मरगोसाइट, मेनोटाक्स एवं सेरेसन स्कन आदि के नाम से बेचते हैं। यह दवा बीजोपचार के साथ साथ छिड़काव या फुहारन के काम में भी आ सकती है। बीजोपचार के लिये मक्का, ज्वार, बाजरा, कपास, मूंगफली तथा फुहारन के लिए पान के ब्लाइट रोग पर प्रयोग की जाती है।

कुछ मुख्य मुख्य पारावर्गी औषधियों के व्यापारिक नाम, सक्रिय तत्व सविन्यास प्रतिशत एवं मिलने का स्थान :—

अकार्बनिक मरकरी यौगिक—

क्र. स.	व्यापारिक नाम	सक्रिय तत्व	सविन्यास	मिलने का स्थान
(1)	कलोमेल	मरक्यूरस क्लोराइड	—	ब्रिटिश ड्रग हाउस इण्डिया प्रा लि
(2)	मरक्यूरिक आक्साइड	मरक्यूरस क्लोराइड	—	,,
(3)	मंतार ए	पीला मरक्यूरिकआक्साइड 3.0	—	मे डोज इण्डिया लि

कार्बनिक मरकरी यौगिक :—

क्र. स.	व्यापारिक नाम	सक्रिय तत्व	सविन्यास	मिलने का स्थान
(1)	एगैलोल 3 एम	मिथोक्सी एथिल मरकरी क्लोराइड	3	बायर इण्डिया लि
(2)	एग्रोसन जी. एन	फेनिल मरकरी एसिटेट एथिल मरकरी बीजोपचार क्लोराइड	शुष्क	आई सी आई इण्डिया
(3)	एग्रोसन 5 डब्ल्यू	—	—	इम्पे सेरम इण्डिया लि.
(4)	सेरेसन शुष्क	फेनिल मरकरी एसिटेट	—	बायर इण्डिया लि.
(5)	सेरेसन चूर्ण	,,	0 3	बायर इण्डिया लि
(6)	सेरेसन वेट	मिथोक्सी एथिल मरकरी क्लोराइड	2 5	बायर इण्डिया लि
(7)	सेरेसन 2 प्र. श.	एथिल मरकरी क्लोराइड	—	एलोमार लि
(8)	सेरेसन एम.	एथिल मरकरी पी. टोल्यूइन	-	

(9)	कोड डी. 6334	कार्बनिक मरक्यूरियल यौगिक	3	सेन्डोज इण्डिया
(10)	कोड डी 6335	कार्बनिक मरक्यूरियल यौगिक	3	" "
(11)	फरटिक्स	—	—	सेंडोज इंडिया लि.
(12)	फ्यूजेरिओल	एथिल मरकरी साइनाइड	—	भारत पलवेराइ-जिग मि. प्रा. लि.
(13)	ग्रेनोसन	मरकरी सल्फोनेनि-लाइड	7.7	एग्रोमार लि.
(14)	मरगोन	फेनिल मरकरी एसीटेट	2.5	"
(15)	विकसित सेरेसन	एथिल मरकरी फास्फेट		एग्रोमार लि.
(16)	पेनोजन	सायनों (मेथिल मरकरी) ग्वानीडीन	—	"
(17)	रोवरसन	एथिल मरकरी फासफेट	3.45	एग्रोमार लि.
(18)	टिलेक्स	एथिल मरकरी क्लोराइड	---	रेलिस इंडिया लि.
(19)	टाफासान	6 डब्ल्यू मरकरी यौगिक	8	टाटा फाइजन इण्डस्ट्रीज लि.

बेंजीन यौगिक (Benzene Compounds) :—

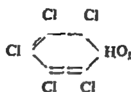
कुछ बेंजीन के यौगिक फफूंदनाशक दवाओं के रूप में भी प्रयोग किए जाते हैं, जैसे ब्रेसीकोल, डाइक्लोरान, डाइनोकेप आदि।

ब्रेसीकोल :—

आजकल ब्रेसीकोल का पौधों के रोगों की रोकथाम के लिए बहुत अधिक मात्रा में प्रयोग किया जा रहा है। दवा बीजोपचार एवं भूमि उपचार के रूप में प्रयोग की जाती है। इसमें सक्रिय तत्व पेन्टाक्लोरोनाइट्रो बेंजीन होता है। औषधि निर्माता इसको पी. सी. एन. बी. के नाम से 75 प्र. श. निलम्बनशील चूर्ण के रूप में बेचते हैं। ब्रेसीकोल मनुष्यों, तथा जानवरों के लिए बिलकुल विषालु नहीं हैं, तथा इसका अवशिष्ट परिणाम भी बहुत अधिक दिनों तक रहता है।

यह औषधि मृदुढ़ एवं बीजोढ़ से फैलने वाले परजीवी जैसे राइजक्टोनिया,

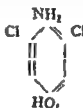
स्क्लेरोशियम, टिलेशिया, स्ट्रप्टोमाईसिज, पीथियम तथा अन्य परजीवी जो गन्ने धान, गेहूं, ज्वार, तम्बाकू, कपास, मिर्च, प्याज आलू, टमाटर एवं क्यारी पर रोग उत्पन्न करते हैं, उनको रोकने में बड़ी लाभदायक सिद्ध हुई है।



ब्रेसीकोल

डाइक्लोरान (Dichloran) :—

इसमें सक्रिय तत्व 2, 6 डाइक्लोरो–4 नाइट्रोएनलीन होता है। औषधि निर्माता इसको बोटरान, डी. सी. एन ए के नाम से बेचते हैं। यह दवा छिड़काव या बुहारन तथा भूमि को उपचारित करने के लिये प्रयोग में ली जाती है।



डाइक्लोरान

डाइनोकेप (Dinocap) :—

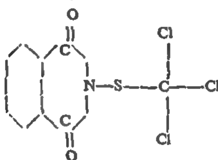
औषधि निर्माता इसको केराथेन, मिलडेक्स आदि नामों से बेचते हैं। इसमें सक्रिय तत्व 2 (1 मेथिल) हेप्टायल) 4–6 डाइनाइट्रोफेनिल क्रोटानेट होता है, होता है, सबसे पहले इसी कार्बनिक फफूंदनाशी दवाइयों में इसी का चूर्णी फफूंद की रोकथाम के लिए प्रयोग किया गया था। यह दवा बगान, कुकरबिट, टमाटर, दाल वाली फसलों एवं सेब आदि की चूर्णी फफूंद की रोकथाम के लिये प्रयोग में लाई जाती है। अगर नियमित प्रतिमान में यह दवा प्रयोग में लाई जाए तो पादप विषाक्त भी नहीं होती है। यह बाजार में निलम्बन-शील चूर्ण के रूप में मिलती है। यह फफूंदनाशक दवाई रोम एवं हास कम्पनी द्वारा तैयार की जाती है।

विषम चक्रीय नाइट्रोजन फफूंदनाशी कैप्टान
(Captan)

कैप्टान का पौधे के रोगों के निवारण हेतु 1949 में पता लगा था। इसमें सक्रिय तत्व एन (ट्राइक्लोरोमेथिलथायो) 4 साइक्लोहेक्सीन-1, 2 [illegible] डाइकार्बोक्सीमाइड (N-trichloromethylthio) 4 cyclohexene-1, 2 dicarboximide)

होता है। यह वाष्पशील नही होता है। इसका अविशिष्ट परिणाम भी बहुत अधिक दिनो तक रहता है, तथा मनुष्यों, पौधों एवं जानवरो के लिये अनुपात में कम विषालु होती है।

यह दवा बीजोपचार तथा भूमि मे मिलाने (drenching) के काम मे आती है। तथा इसका प्रयोग छिड़काव के रूप में भी अंगूर के मृदुरोमिल फफूंद, सेव का पामा, आम का रूक्ष, आदि रोगों के नियन्त्रण के लिये जिनेब के साथ मिलाकर किया जाता है। आर्द्रमारी रोग के लिये भी यह दवा प्रयोग में लायी जाती है। चूर्णी फफूंद के लिये इसका प्रयोग अच्छा नहीं रहता। यह दवा बहुत से आक्सीडेटिव प्रकिण्व का अवरोध करती है।



केप्टान

इस फफूंदनाशी की औषधि निर्माता आर्थोसाइड बुरकन, केप्टान 50 डब्ल्यू, एसो फंजीसाइड 406 एव वेसाइड 89 आदि के नाम से बेचते हैं। यह दवा बाजार मे 50 प्रतिशत निलम्बनशील चूर्ण एवं 75 प्रतिशत बीज ड्रेसर के रूप मे मिलती है। सक्रिय तत्व 1.2 से 2.4 किलोग्राम प्रति एकड़ की दर से प्रयोग मे लाया जाता है।



दैहिक फफूंदनाशी

(Systemic fungicides)

कुछ फफूंदनाशी रसायन ऐसे भी प्रयोग में आते हैं, जो पौधों पर प्रयोग करने पर उनके शरीर में प्रवेश कर जाते हैं, तथा जीव द्रव्य में चिरस्थायी रहकर उनकी रोगजन के संक्रमण से रक्षा करते हैं। हॉर्सफाल एवं हावर्ड ने दैहिक फफूंदनाशी की परिभाषा इस प्रकार दी है।

"वह रसायन जो कि पौधों के अन्दर दैहिक रूप से वितरण कर ले तथा परजीवी को सीधे विषालुपन से समाप्त कर दे।"

वैसे तो 18 वी शताब्दी में ही कुछ रसायनों की दैहिक प्रवृत्ति देखी गयी परन्तु उनका वास्तविक उपयोग 20 वी शताब्दी में ही हुआ। हावर्ड (1941) हार्सफाल एव डायमण्ड (1951) ने दैहिक फफूंदनाशी द्वारा बहुत सी बीमारियों की रोकथाम की। वॉन शेमलिंग एवं कुल्का (Von Schemling and Kulka, 1966) ने 1,4 आक्सेथीन यौगिकों की खोजकर दैहिक फफूंदनाशी में कीर्तिमान स्थापित किया। मुलर (1926), रोच, (1939), स्टोडार्ड एव डायमण्ड (1949), हार्सफाल (1945, 1956) एव मारचाम्‌ (1972, 1977) ने दैहिक फफूंदनाशी दवाओं पर काफी अच्छे लेख लिखे हैं।

मेटकाफ के अनुसार दैहिक फफूंदनाशी दवा में निम्न गुण होने चाहिये।

(1) पानी में घुलनशील अच्छी प्रकार हो जिससे पौधों के रस (sap) में आसानी से जा सके।

(2) उसकी जड़ कोषाओं में प्रवेश करने की शक्ति हो।

(3) पौधे के अन्दर फफूंदनाशी की सक्षम अविशिष्ट में फफूंदनाशक सक्रियता हो।

विभिन्न प्रकार के दैहिक फफूंदनाशी रसायन

कार्बनिक फास्फोरस यौगिक :—

वान डेस्ट कोस आदि (1960) ने इस यौगिक को संश्लेषण (synthesis) किया।

(क) 1, 2, 4 ट्राइजोल्स इस यौगिक को जौ के चूर्णिल आसिता हेतु काम मे लाते हैं।

(ख) पायराजोलोपायरीमोडीन (पायराजोफोस) —0·6 इथोक्सीकार्बोनायल 5–मिथायल पायरोजोलो (1, 5–9) पायरीमोडीन 2 YI–O, O डाइइथायल फास्फोरोथायोएट

यह रसायन पत्तियो एव प्ररोह (shoot) द्वारा अवशोसित होता है तथा पौधो मे स्थानान्तरित होता है। जड़ो द्वारा इसका अवशोषण बहुत ही कम होता है। चूर्णी फफूंद की रोकथाम हेतु काफी लाभप्रद पाया गया है।

(ग) काइटोजीन :—

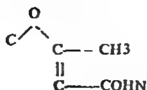
(एस बेन्जाइल, ओ, ओ–डाइइथायल फास्फोरस थायोएट)

काइटाजीन (Kitazin) का पौधो में स्थानान्तरण पत्तियों द्वारा होकर फिर सम्पूर्ण पौधो मे होता है। इसका अवशोषण जड़ो द्वारा भी होता है। धान के ब्लास्ट की रोकथाम हेतु लाभप्रद दवा है। यह रसायन इमलसी फायबल कन्सेन्ट्रेट (emulsifiable concentrate) तथा धूलन के रूप मे बाजार में मिलता है। काइटाजीन4 प्र. श. ई. सी. धान के ब्लास्ट रोग की रोकथाम हेतु 820–1250 मि लि. प्रति हेक्टर तथा धूल 30–40 कि. ग्रा.प्र. हेक्टर की दर से काम आती है। काइटाजीन के कारण कोशिका भिल्ली विक्षोभ (distuab) होती है। यह रसायन धान के पौधो मे अवशोषित होकर फास्फोरिक अम्ल बनाता है।

(घ) ट्राइमीफोस (Trimiphos)
(ङ) काइटाजीन पी (Kitazine P.)
(च) हेनोसन (Henosan)
(छ) इनाजिन (Inazine)

2 कार्बोक्सिलक एसिड एनिलाइडस (Carboxylic acid anilides)

(क) वान श्मेलिंग एवं कुल्का (1966) ने दो आक्सीथीन यौगिक वाइटोवेक्स (Vitavax) (5, 6 डाइहाइड्रो–2 मिथाइल 1, 4 आक्सेथीन–3 कार्बोक्सीनिलाइड) (5, 6–dihydro–2 methyl–1, 4 oxathiun–3 Carboxanilide) एवं प्लान्टावेक्स (Plantvax) (2, 3–डाइहाइड्रो–5 कार्बक्सीनिलिडो 6 मिथायल 1,4 आक्सीथीन 4,4 डाइआक्साइड) (dihydro–5 Carboxanilido–6 methyl 1,4 oxathin–4,4 dioxide) की खोज की।



ये दोनों यौगिक बेसीडियोमाइसीटीज फफूंद की रोकथाम हेतु कर्गी कार-गर सिद्ध हुये हैं। इन फफूंदियों के अलावा प्लान्टावेक्स, हेल्मिंथोस्पोरियम सेटाइवम कवुलेरिया प्रजाति, एसपरजिलस प्रजाति तथा वाइटावेक्स वरटीसीलियम एलबो-एट्रम के प्रति काफी कारगर सिद्ध हुई है। इन दोनों फफूंदनाशियों का स्थानान्तरण पौधों में ऊपर की तरफ होता है। वाइटावेक्स से 2 ग्राम प्रति किलो बीज के हिसाब से बीजोपचार करने पर गेहूं का छिदरा या स्थल कडंवा तथा दोनों ही फफूंदनाशी के बीजोपचार से धुसम किट्ट की रोकथाम सम्भव है। मृदुउ उपचार द्वारा भी रोगों की रोकथाम की जा सकती है। एडगिन्टन आदि (Edgington et al, 1966) के अनुसार बेसीडियोमाइसीटीज फफूंद में 8 पी पी एम सान्द्रता भी कवक की वृद्धि को अवरोध करती है।

इयर आदि (Iyr et al, 1972) के अनुसार कार्बोक्सीन का उदग्रहण (up take) फफूंद की लाइपिड की मात्रा पर निर्भर करता है।

(3) हेटरोसाइक्लिक यौगिक :—

(क) बेन्जीमीडाजोल यौगिक :—

इरविन आदि (Erwin et al, 1967) ने दो यौगिक बेनलेट (Benlate) एवं थायोबेन्डाजोल (I B Z) द्वारा कपास के मुरझान रोग की रोकथाम की। सबसे पहले पोमर (Pommer, 1971 b) ने बेनलेट की प्रक्रिया के बारे में बताया। यह यौगिक छिदरा कडवा रोग की रोकथाम के साथ साथ हेलमिंथोस्पो-रियम, फ्यूजेरियम फफूंदियों की रोकथाम हेतु भी काम आते हैं। बीजोपचार एवं भूमोपचार द्वारा भ्रम किट्ट रोग की रोकथाम की गयी। बेनोमिल से प्रत्यक्ष रूप से बीजाणु-करण कम होता है। डेशोनी (Deshony, 1977) ने बताया कि जब यह रसायन फ्यूजेरियम आक्सीस्पोरम एफ. नेलेनिस फफूंद के प्रति काम लिया गया तो फफूंद में पोषणिक तत्वों की कमी हुई। धान के ब्लास्ट, स्क्लेरशीयम फफूंदी की भूरी फफूंद की रोकथाम हेतु यह दवा काम आ सकती है। बेनलेट में मिथाइल-1 (ब्युटाइल कार्बोनायल) 2-बेन्जीमिडाजोल) कार्बामेट (Methyl-1 (butyl Carbenoyl) 2-benzimidazol Carbamate) रसायन होता है। यह रसायन बहुत सी फफूंदियों की रोकथाम हेतु काम आते हैं।

यह रसायन का प्रसार जड़ से ऊपर की तरफ ही नहीं बल्कि नीचे की तरफ भी होता है।

(ग) फ्यूब्रीडाजोल (Fubridazol) — इसमें सक्रिय तत्व (2-62-फुरायाल बेन्जीमीडजोल होता है।

(घ) बैवीस्टीन (Bavistin)—इसमें सक्रिय तत्व मिथायल-2 बेन्जीमीडाजोल कार्बोमेट होता है। धान के ब्लास्ट, गेहूं के स्थल कडवा, बाजरे के अरगट, मुंगफली के टिक्का तथा गन्ने के लाल सड़न रोग को रोकथाम हेतु यह रसायन के प्रयोग से कायिक (vegetable) बढ़ावार तथा पुष्पण एवं फलण अच्छा होता है। इस फफूंद के क्रियाशील होने के लिये पौधे के अन्दर या बाहर भी जलापघटन (hydrolysis) कार्बेन्डाजीम) में होना जरूरी है।

(ख) बेनोडेनिल (Benodenil) —इसमें सक्रिय तत्व 2-आयोडोबेमोइक एसिड एनिलाइड (2-Iodobenoric acid anilide) होता है, तथा किट्ट फफूंद के लिए काफी प्रभावकारी रसायन है। बाजार में यह 50 प्र. श. डब्लयू पी, बी. एस 3170 एफ 91 एल ई सी, बी ए एम 3172 एफ के नाम से मिलता है। गेहूं के पीले किट्ट, जौ के किट्ट, कारनेशन किट्ट, क्राइसेन्थीमम किट्ट नियन्त्रण हेतु यह दवा अच्छी पायी गयी है।

(ग) सिकारोल (Sicarol) —सिकोरोल में सक्रिय तत्व 2 मिथायल 5 6 डाइहाइड्रो-4-एच-पायरोन-3-कार्बोक्सिलिक एसिड एनिलाइड होता है, तथा 50 प्र श डब्लयू पी के रूप में मिलती है बेसीडियोमाइसीटीज फफूंद के लिये अच्छी रसायन है।

(ङ) डेरोसाल (Derosal)—यह फफूंदनाशी बहुत से रोगो के नियन्त्रण हेतु काम में आती है। बाजार में यह रसायन डेरोसल 60 डब्लयू पी या डेरोसल 20 परिक्षेपण (dispersion) के रूप में उपलब्ध है।

(ख) हाइड्रोक्सी पायरामीडीन— इस ग्रूप में इथीरीमोल (ethirimol) एवं डाइमीथरीमोल फफूंदनाशी आते हैं, जो धान्य फसलों के चूर्णी फफूंद की रोकथाम में काफी प्रभावकारी है।

(ग) पायरीडीन एवं पायरीमीडीनों एलकेन्स एवं कार्बोनोल्स—इस ग्रूप में निम्न रसायन आते हैं।

(1) पेरीनोल—बिस (पी. क्लोरोफिनायल) 3-पायरीडीन मिथेनोल।

(2) ट्राइएरीमोल—2,4 डाइक्लोरो-पायरीमीडीन S-yl बेन्जीहाइड्रोल

चूर्णी फफूंद की रोकथाम हेतु यह रसायन मुख्यतः काम आते हैं।

(घ) ट्राइरीम :—

इस ग्रुप में मुख्य फफूंदनाशी पाइपरजीन

(क) पाइपरजीन सक्रिय तत्व बिस (1-फार्मीमिडो-2, 2, 2 ट्राइक्लोरो

इथायल) होता है। धान्य, खीरावर्गीय एवं सेब की चूर्णी फफूंद की रोकथाम हेतु यह रसायन काम आता है।

(ढ) 1.4 ऑक्सीजोन—

ट्राइडीमोर्फ—बाजार में यह रसायन केलेक्जीन के नाम से मिलता है, तथा चूर्णी फफूंद की रोकथाम हेतु यह दवा काफी कारगर सिद्ध हुई है।

(च) 6-आजेयूरेसिल (6-Azauracil)—इसमें सक्रिय तत्व (3,5-डाइआक्सो-2,3,4,5, टेटराहाइड्रो, 1,2,4 ट्राइएजीन) होता है।

(छ) ट्राइजोल्स—इस ग्रुप में R H 124 मुख्य रसायन है, जो गेहूं के भूरे किट्ट की रोकथाम हेतु काफी लाभकारी है। सक्रिय तत्व 4-एन-बुटायल 1-2, 4 ट्राइएजोल होता है। जड़ों से ऊपर की ओर इसका स्थानान्तरण होता है।

(ज) बेलीटोन (Bayleton)—ट्राइएडीमेटोन—इसमे सक्रिय तत्व (1) (4 क्लोरोफिनोक्सी) 3,3 डाइमिथायल। (1 H-1) (2,4 ट्राइजोल-1-Yl)-2 बुटानोन होता है। किट्ट हेतु यह दवा लाभप्रद पाई गयी है।

(4) आरोमेटिक यौगिक (Aromatic Compounds) :—

इस ग्रुप में तीन प्रकार के रसायन मुख्यतः दैहिक फफूंदनाशी हेतु काम आते हैं।

(1) थायोयूरिया सम्बन्धित—इस ग्रुप में थायोफेनेट, थायोफेनट मिथायल एवं एन एफ 48 फफूंदनाशी आते हैं।

(2) थायोसेमीकार्बाजाइडस के प्रतिस्थापन (substituted) यौगिक

(3) फिनोल ग्रुप (Phenol) :—

(क) क्लोरोनेब (Cloroneb) :—

यह रसायन बाजार में डेमोसन 65 डब्लयू के नाम से मिलता है। राइजक्टोनिया फफूंद के प्रति काफी प्रभावकारी है। मक्का के मृदुरोमिल की रोकथाम भी 0·2 प्र. श. बीजोपचार द्वारा सम्भव है। (सिराधना आदि) इसमें सक्रिय तत्व (1-4 ड.इक्लोरो 2,5 डाइमिथोक्सी बेन्जीन होता है।

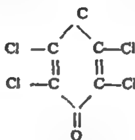
(ड) क्विनोन यौगिक (Quinone compounds) :—

क्विनोन साधारणतया पौधों के अन्दर मिलते हैं या पौधों के फिनोलिक यौगिकों का आक्सीकरण करके बनाये जाते हैं। ये यौगिक परजीवी को विषाक्त बना देते हैं तथा पौधों में रोग प्रतिरोधकता का भी कार्य करते हैं। अभी तक क्विनोन के केवल दो यौगिक ही फफूंदनाशक के रूप में काम में आते हैं।

क्लोरेनिल (Chloronil)—

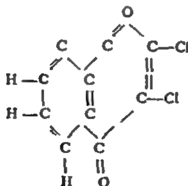
यौगिक निर्माता इसको बाजार में स्परगोन (Spergon) के नाम से बेचते

है। इसमें सक्रिय तत्व टेट्राक्लोरो-पी. बेन्जोक्विनोन होता है। अधिकतर यह दवा बीजोपचार एवं बल्ब को उपचारित करने के प्रयोग में आती है। इसको भूमि में मिलाकर आर्द्र मारी तथा अन्य प्रकार के भूमि में होने वाले रोगों की रोकथाम के प्रयोग के लिए काम में लाते हैं। इसके अलावा इसका प्रयोग बुरकन एवं छिड़काव या फुहारन के लिये भी किया जाता है। गेहूं के छिदरा कंडवा की रोकथाम के लिये स्परगॉन के 0. 1 प्र. श घोल में 30° से. तापक्रम पर बीजों को 17 घण्टे तक भिगोया जाय तो रोग उत्पन्न नहीं होता है। (टायनर, 1953)।



क्लोरोनिल

डाइक्लोन—औषधि निर्माता इसको बाजार में फाइगान के नाम से बेचते हैं। इसमें सक्रिय तत्व 2,3 डाइक्लोरो 1–4 नेप्थोक्विनोन होता है। यह दवा भी अधिकतर बीजोपचार के लिये प्रयोग में आती है। बीजोपचार के साथ साथ सेब और आड़ू के रोगों पर छिड़काव एवं बुरकन के रूप में भी प्रयोग की जा सकती है। आर्द्र मारी, फल सड़न तथा सब्जियों के कैंकर रोगों की रोकथाम में भी यह दवा लाभदायक सिद्ध हुई है।



डाइक्लोन

क्लोरेनिल बीजोपचार के लिये 3–12 औंस प्रति 100 पौंड बीज साथ एवं छिड़काव या फुहारन के लिये 1. 5-4 पौण्ड प्रति 100 गैलन पानी के साथ तथा

हाइड्रोन 1–5 ग्रेस प्रति 100 पौण्ड बीज के साथ एव 0 5–1.5 पौण्ड प्रति 100 गैलन पानी के साथ मिलाई जाती है। यह दोनों ही फफूंदनाशक दवाईया यू एस रबड़ कं. बनाती है।

विभिन्न प्रकार की दैहिक फफूंदनाशी दवाइयां (रासायनिक, नाम व्यापारिक नाम एवं मिलने का स्थान)

क. स	यौगिक का नाम	व्यापारिक नाम	रसायनिक नाम	मिलने का स्थान
(1)	बिनोमिल	बेनलेट	मेथिल 2 (बुटायल कारबामोयल) 2 बेन्जीमिडाजोल कार्बमेट	ई. ग्राई डू पोण्ट
(2)	थायोबेन्डाजोल	मरटेक्ट	2 (4-थायाजोलायल) बेन्जीमिडाजोल	मर्क एण्ड कम्पनी
(3)	टुरबान	टेराजोल	5 इथोक्सी–3 (ट्राई-क्लोरो मेथिल) 1 2	ग्रोलिन
(4)	कार्बोक्सिन	वाइटावेक्स	5–9 डाइहाइड्रो 2 मेथिल–1,4 ग्राक्सीथिन 3 कार्बोक्सी निलाइड	यूनि रायल कं. यूनि रायल क.
(5)	ग्राक्सीकार्बोक्सिन	प्लान्टावेक्स	2–3 डाइहाइड्रो 5-कार्बोक्सी निलिडो-6 मेथिल 1,4 ग्राक्सीथिन 4,4 डाइ-ग्राक्साइड	यूनि रायल
(6)	डाईमिथीरी मोल पी पी. 675	मिलकर्ब	5 एन बुटायल 5 एन 2 डाइमेथिलेमिनो 4 हाइड्रोग्राक्सी 6 मेथिलापायरी मीडिन	इम्पीरियल केमि.
(7)	इथीरिमोल पी पी. 149	मिलस्टेम	5 बुटायल 2-एथिल लेमिनो 4 हाइड्रोग्राक्सी 6 मेथिल पायरीमीडिन	इम्पीरियल केमि

(8) ट्राइएरीमोल ई एल 273		ए-(2,4 सिडलोरो एलानको फेनिल) ए फेनिल–5 पायरी मीडिन मेथेनील	क.
(9) थायोफेनेट एन एम 35	सिरकोबिन जापान के बाहर टापसिन (जापान के अन्दर)	1–2 बिस (3 इथो- क्सी कार्बोमायल 2– थायो यूरिडो (बैंजीन)	निपन सोडा क.
(10) एन. एफ 44	टापसिन एम.	1–2 बिस (3 मिथो- क्सी कार्बो मायल 2) थायोयूरिडो (बैंजीन)	पेनवाल्ट
(11) पाइपंजीन सी डब्लयू 524	ट्राइफोरिन	पाइपर्जीन 1–4 डायल बिस. (1–2,2,2) ट्राइक्लोरोएथिल फोरमिमाइड	बोहिरिंडरसन
(12) बी ए वाई. 59731	एमिडोल्फो- मायल फेनिस थामोइयर		बायर कं.
(13) एच. ओ ई. 2873	डिसथायल– मेथिल इथोक्सी कार्बो मायल पायरजो पायरी मीडिज-ट्रफोस- फोरो थायोट		हेक्सट
(14) एच. ओ ई. 2989	2 मेथिल 5,7 डाइहाइड्रो 4 एच पायरान 3 कार्बोक्सुरि मेनिड		हेक्सट
(15) आर. एच. 124	4 इन बुटायल 1,2,4 ट्राईए- जोल 6 एजे- यूरिमिन		

(16) क्विनोन (क्लोरेनिल)	स्परगान	टेटराक्लोरो–पी बेन्जीक्विनोन	यू. एस. रबर कम्पनी
(17) डाइक्लोन	फाइगांन	2–3 डाइक्लोरो 1,4 नेप्थोक्विनोन	यू. एस. रबर कं.
(18) केप्टान	आरथोसाइड वुरकन केप्टान 50 डब्लयू पी.	एन)ट्राइक्लोरो मिथिल थायो) 4 सायक्लोहैक्सीन 1,2–डाइकार्बोक्सीमाइड	रोरम एण्ड हवास

स्थानान्तरण :—दैहिक फफूंदनाशी दवा बीजोपचार, मृदोपचार एवं छिड़काव तीनों ही काम आती है। इनका स्थानान्तरण पौधों में ऊपर की ओर नीचे की ओर तथा पार्श्व (lateral) भी होता है।

हिर्क आदि (Hirk et al) ने बताया कि कपास के बीजांकुर को डेमोसन एवं बाइटावेक्स (D M O L) से उपचारित किया गया तो इन रसायनों का स्थानान्तरण नीचे से ऊपर की ओर हुआ। बिएन एवं डाइमन्ड (Bien and Dimond, 1971) ने भी बेनोमिल का जमीन से प्ररोह (shoot) शाखाओं तथा पत्तियों पर एलम पौधों (elm) में स्थानान्तरण देखा।

ऊपर से नीचे की तरफ स्थानान्तरण बेन्ज़ीमीडाजोल में देखा गया। सिमेनोवस्की आदि (Cimanowski et al, 1970) के मतानुसार कार्बोक्सीन का स्थानान्तरण सेब की पत्तियों में ऊपर से नीचे की ओर होता है। आक्सी कार्बोक्सीन के बारे में भी यह मत है परन्तु प्रयोगों द्वारा सम्भव नहीं हो सका।

पार्श्व (lateral) स्थानान्तरण, मेयर आदि ने (Meyer et al, 1971) बेन्टाग्रास पर देखा।

ये रसायन तीन प्रकार से कार्य करते हैं।

(1) परजीवी को सम्पर्क में आने पर मार देते हैं, या पौधों पर संक्रमण नहीं होने देते।

(2) फफूंद द्वारा स्रावित टोक्सीन, एन्जाइम को निष्क्रिय (inactivate) कर देते हैं।

(3) पौधों में परजीवी की प्रति रोधकता बढ़ाते हैं।

प्रतिजैविक :—प्रतिजैविक वह रसायन है जो किसी जीवित सूक्ष्म जीव से स्रावित होता है, तथा थोड़ी ही मात्रा में दूसरे सूक्ष्म जीव को विषालु बना देता है (वेक्समेन, 1947)। प्रो० अलेक्जेन्डर फ्लेमिंग ने सर्वप्रथम 1929 में पेनीसीलियम

नोटेटम फफूंद से पेनीसीलिन की खोज की। निम्न गुणों के कारण आजकल प्रतिजैविक रसायन पौधों के रोगों की रोकथाम हेतु लाभप्रद हैं।

(1) पौधों में दैहिक स्थानान्तरण होना।
(2) थोड़ी ही मात्रा में परजीवी के लिये विषालू होना एवं पादप विषालू न होना।
(3) अवशिष्ट परिमाण अधिक दिनों तक रहना।
(4) पत्तियों द्वारा इनका स्थानान्तरण होना।

पेनीसीलिन के अलावा ग्रीसीओफलविन, स्ट्रप्टोमाइसिन, एक्टीडियॉन, ट्रास्टीसीडिन, आरीयोफन्जीन आदि का प्रयोग पौधों के रोगों की रोकथाम हेतु मुख्यतः होता है।

(1) ग्रीसीओफल्वीन (Griseofulvin) :—

यह रसायन पे. ग्रीसीयोफल्वविन फफूंद से आक्सफोर्ड आदि (Oxford et al, 1939) ने पृथक्कृत की। इस प्रतिजैविक से फफूंद के बीजाणु का अंकुरण अवरोध नहीं होता है, बल्कि कवकसूत्र अवरुध (stunted) हो जाते हैं तथा बहुत ज्यादा शाखायें बन जाती हैं तथा अंकुरित कोनिडिया की शीर्ष प्रभाविता (apical dominence) बोटराइटिस एली फफूंद में खत्म हो जाती है। जिन फफूंदियों की कोशिका भित्ति काइटीनस (chitinus) होती है, वहां यह प्रतिजैविक प्रभावकारी नहीं होता।

(2) स्ट्रेप्टोमाइसीन (Streptomycin) :—

स्ट्राप्टोमाइसीन, स्ट्राप्टोमाइसीज ग्रीसीयस (Steptomyces griseus) नामक एक्टीनोमाइसिटीज से पृथक्कृत होती है। औषधि निर्माता इसको एग्रीमाईसीन, फाइटोमाइसिन, आरयो स्ट्रेप्टोमाइसीन के नाम से बेचते हैं। जीवाणुओं की रोकथाम हेतु यह प्रतिजैविक मुख्यत: काम आता है।

स्ट्रप्टोसाइक्लिन (Streptocycline) में 9 भाग स्ट्रप्टोमाइसीन एवं 1 भाग टेट्रासाइक्लिन होता है। जो कि जेन्थोमोनास (Xanthomous) एवं स्यूडोमोनस (Pseudomonas) प्रजातियों के लिये काफी प्रभावकारी है। हिन्दुस्तान एन्टीबायोटिक्स कम्पनी, पिम्परी, पूना इसका निर्माण करती है।

(3) साइक्लोहेक्सीमाइड :—

बाजार में यह दवा एक्टीडियोन (Actidione) एक्टी स्प्रे एक्टीडीओन पी. एम के नाम से प्रसिद्ध है, तथा इसका पृथक्करण स्ट्रप्टोमाइसीज ग्रीसीयस से होता है। गेहूं के रिट्. भूरी फफूंद की रोकथाम हेतु लाभकारी पायी गयी। इसका रासायनिक नाम—बी 2 (3,5-डाइमिथाइल-2 आक्सी साइक्लोहेक्साइल) 2-हाइड्रोक्सीइथाइल ग्लूटेरिमाइड है।

(4) टेटरासाइक्लिन :—

टेटरासाइक्लिन भी स्ट्रप्टोमाइसिन की जातियो द्वारा बनायी जाती है। मुख्य योगिक टेरामाइसीन, आरीयोमाइसीन है।

आरयोफन्जीन (Aureofungin) :—

आरियोफन्जीन हेप्टेन प्रतिजैविक है, जो स्ट्रप्टोमाइसीज सिनेमोनिम वे. टेरीकोला से बनाया गया है। यह फफूंदियो के प्रति काफी लाभप्रद दवा है। नीबू का गमोसिस 20 माइक्रोग्राम प्रति मि.लि. के हिसाब से छिड़कने पर नियन्त्रित हो जाता है। टमाटर के आल्टरनेरिया फफूंद से सड़न की रोकथाम मे भी यह दवा लाभप्रद हुई है। धान के ब्लास्ट, सेव का चूर्णी फफूंद जैविकधारी रोग की रोकथाम भी इन प्रतिजैविक से सम्भव हो सकी है। यह रसायन भी भारत से हिन्दुस्तान एन्टीबायोटिक पिम्परी, पूना बनाती है।

इन रसायनो के अलावा पोलीआक्सीय ए बी मी डी ई एफ जी एव एच भी स्ट्राप्टोमाइसीज कोकाई वे. ऐसोन्सि से प्रथमकृत की गयी है।



पौध संरक्षण यंत्र

फसल की सुरक्षा के विभिन्न उपायो (जैसे मानव, रासायनिक आदि) में से रासायनिक नियन्त्रण सबसे अधिक प्रभावशील होने के कारण, काफी अधिक प्रचलित है। फसल सुरक्षा की इस विधि में सामान्यतया रसायन को अपेक्षित सान्द्रता के घोल या सूखे चूर्ण के रूप में फसल पर छिड़का अथवा भुरका जाता है। इस विधि द्वारा फसल सुरक्षा हेतु प्रयुक्त विभिन्न रसायनों अथवा चूर्ण के प्रभावकारी एवं समुचित उपयोग हेतु आवश्यक है कि इनका प्रयोग उपयुक्त पौध संरक्षण यन्त्र द्वारा किया जाये।

वैसे पौध संरक्षण यन्त्रो में आजकल सामान्य पिचकारी से लेकर हवाई छिड़काव यंत्र तक उपलब्ध है, लेकिन यहा पर केवल कुछ साधारणतया प्रयोग में आने वाले पौध संरक्षण यन्त्रो के बारे में आवश्यक जानकारी दी जा रही है, जिससे कि इन यन्त्रो का उपयुक्त चुनाव एवं प्रभावकारी उपयोग किया जा सके।

पौध संरक्षण यन्त्रो को मुख्य रूप से दो उपभागो मे विभाजित किया जा सकता है :—

स्प्रेयर्स :—स्प्रेयर, एक पौध संरक्षण यन्त्र है जो कि छिड़काव द्रव्य (रासायनिक घोल) को छोटी एवं प्रभावकारी बून्दो में परिवर्तित कर, उनको अपेक्षित सतह पर आवश्यक मात्रा मे एक समान रूप से वितरण का कार्य करता है।

मुख्य भाग :—स्प्रेयर के कुछ मुख्य भाग निम्न प्रकार हैं :—

1. टंकी (Tank)—यह छिड़काव द्रव्य को भरने के काम आती है। कम्प्रेशन में टंकी, छिड़काव द्रव पर आवश्यक दबाव बनाये रखने के लिये हवा के भण्डारण का कार्य भी करती है। विभिन्न प्रकार के स्प्रेयर्स मे इसकी क्षमता प्रयोगकर्ता की आवश्यकता एवं उद्देश्य के अनुसार अलग अलग होती है। छिड़काव द्रव को छानने एवं एक समान रूप से मिलाने के लिये टंकी के साथ छानना एवं एजीटेटर (agitator) भी लगा होता है।

2 पम्प (Pump) यह छिड़काव द्रव को छोटी एवं प्रभावकारी बूंदों मे करने के लिये आवश्यक दबाव बनाने का कार्य करता है। इसकी क्षमता, छिड़काव

नोजल के कार्य करने के लिये प्रस्तावित दबाव एवं इनकी कुल संख्या पर निर्भर करती है।

(3) वाल्वज (Valves):—वाल्व, छिड़काव द्रव को एक ही दिशा में प्रवाहित करने का कार्य करता है। स्प्रेयर्स में सामान्यतया, वाल्व एवं सीट टाईप वाल्वज प्रयोग में लिये जाते हैं। प्रत्येक सिलिन्डर के साथ दो वाल्वज होते हैं, जिनमें से एक द्रव के प्रवेश तथा दूसरा द्रव के निकास के लिये होता है।

(4) स्प्रे-लान्स (Spray lance):—स्प्रेलान्स, धातु का एक लम्बा पाईप होता है, जिसका एक सिरा छिड़काव द्रव लाने वाली नली से तथा दूसरा सिरा नोजल से जुड़ा होता है। स्प्रेलान्स में छिड़काव द्रव के बहाव के नियन्त्रण के लिये, एक वाल्व भी लगा होता है, जिसे शटआफ (shut off) वाल्व कहते हैं।

(5) स्प्रे बूम (Spray boom)—स्प्रेबूम एक पाइप सिस्टम है, जो कि नोजल्स तक छिड़काव द्रव पहुंचाने का कार्य करती है। सामान्यतया: इसका प्रयोग पावर स्प्रेयर्स के साथ किया जाता है, लेकिन कई बार फुट एवं रेकिंग स्प्रेयर के साथ भी छोटी बूम का प्रयोग किया जाता है।

(6) स्प्रे गन (Spraygun)—यह एक प्रकार की लान्स ही है, जिसमें कि स्प्रे नोजल, स्प्रे लान्स का ही एक संयुक्त भाग होता है। इसमें स्प्रे नोजल को आगे-पीछे घुमाकर, स्प्रे पेटर्न को आवश्यकतानुसार बदला जा सकता है। इस प्रकार की लान्स, अधिक प्रेशर वाले स्प्रेयर्स (फूट रेस्ट, रेकिंग एवं पावर स्प्रेयर्स) द्वारा बड़े एवं ऊंचे वृक्षों भवनों आदि पर छिड़काव हेतु उपयुक्त रहती है।

(7) स्प्रे नोजल (Spray Nozel)—स्प्रे नोजल, पम्प द्वारा प्राप्त छिड़काव द्रव को छोटी लेकिन प्रभावकारी बूंदों मे परिवर्तित करने का कार्य करता है। अलग-अलग कार्यों के लिये अलग अलग प्ररचना के नोजल्स बाजार में उपलब्ध होते हैं, जिनमें से उपयुक्त प्ररचना के नोजल्स का चुनाव अपनी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए किया जा सकता है। कुछ सामान्य प्ररचना के नोजल्स एवं उनका आवश्यक विवरण निम्न प्रकार हैं—

(अ) होलोकोन (Hollowcone) नोजल :—इस प्रकार के नोजल द्वारा स्प्रे, एक गोलाकार रिंग के रूप मे जमा होता है। इस प्रकार के नोजल्स, हाथ द्वारा चलित स्प्रेयर्स द्वारा फसलों पर छिड़काव हेतु उपयुक्त रहते हैं।

(आ) सॉलिड कोन (Solidcone) नोजल :—इस प्रकार के नोजल द्वारा स्प्रे, डिस्क के रूप में जमा होता है। इस प्रकार की प्ररचना वाले नोजल्स द्वारा लक्ष्य के बिन्दुओं पर होलोकोन नोजल्स की अपेक्षा अधिक प्रभावकारी छिड़काव होता है। लेकिन छिड़काव बिन्दु की नोजल्स से दूरी 90 से मी. से अधिक होने की अवस्था में इस प्ररचना वाले नोजल्स द्वारा छिड़काव (spraying) के लिए उपयुक्त रहता है।

(इ) **फ्लेट फैन नोजल** :—इस प्रकार के नोजल्स में छिड़काव द्रव को महीन बून्दो मे परिवर्तित करने तथा अधिक दूरी तक ले जाने की शक्ति अपेक्षाकृत कम होती है। बूम स्प्रेयर्स तथा बड़े क्षेत्रो मे छिड़काव हेतु इनका उपयोग अधिक उपयुक्त रहता है।

(ई) **ट्रिपल एक्सन नोजल** :—इस प्रकार के नोजल्स से उचित समंजन (adjustment) द्वारा 'जेट टाईप स्प्रे' पेटर्न से लेकर 'कोन टाईप स्प्रे' पेटर्न तक प्राप्त किया जा सकता है। इसी कारण यह नोजल अन्य प्रकार के नोजल्स की अपेक्षा अधिक प्रचलित है, लेकिन रसायनिक घोल के छिड़काव की दर 135 लीटर एकड़ से कम होने की अवस्था मे छिड़काव के लिये यह नोजल उपयुक्त नही है। इन नोजल्स को एडजस्टिग नोजल्स (ajusting nozzles) के नाम से भी जाना जाता है।

वर्गीकरण :—सामान्यतया प्रयोग मे जाने वाले स्प्रेयर को निम्नानुसार वर्गीकृत किया जाता है :—

(अ) शक्ति इकाई के आधार पर :—

(1) **मानव चलित छिड़काव यन्त्र** :—ये छिड़काव यन्त्र मानव शक्ति द्वारा चलाए जाते हैं, जो कि छोटे एव मध्यम क्षेत्रो मे छिड़काव के लिये उपयुक्त रहते है। ये यन्त्र 1–7 कि. ग्रा. प्रति वर्ग से. मी. (14·7–103 पाउण्ड प्रति वर्ग इन्च) के दवाव पर कार्य करते हैं।

(2) **शक्ति द्वारा चलित छिड़काव यन्त्र** :—ये छिड़काव यन्त्र शक्ति इकाई द्वारा चलाए जाते है, तथा अपेक्षाकृत बड़े क्षेत्रो मे छिड़काव के लिये उपयुक्त रहते है। ये यन्त्र 25–55 कि. ग्रा. प्रति वर्ग से. मी. (367·5–808·5 पाउण्ड प्रति वर्ग इन्च) के दवाव पर कार्य करते हैं।

(3) **हवाई छिड़काव यन्त्र**—ये छिड़काव यन्त्र केवल बड़े क्षेत्रों मे कम से कम समय में छिड़काव के लिये अत्यन्त उपयोगी है।

(आ) छिड़काव यन्त्र के कार्य करने के सिद्धान्त के आधार पर छिड़काव यन्त्र द्वारा छिड़काव द्रव के महीन एव प्रभावी बून्दों के रूप में रूपान्तरण (ऐटोमाइजेशन) के आधार पर छिड़काव यन्त्रो को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है। प्रथम प्रकार के छिड़काव यन्त्रो मे छिड़काव द्रव का एटोमाइजेशन, छिड़काव द्रव पर उपस्थित हवा के दवाव एवं नोजल के कारण होता है, एव ऐसे छिड़काव यन्त्रो को कम्प्रेशन स्प्रेयर्स कहते हैं। जबकि दूसरे प्रकार के छिड़काव यन्त्रों मे छिड़काव द्रव के एटोमाइजेशन के लिए, द्रव को दबाव पर नोजल द्वारा निकाला जाता है। रॉकिंग स्प्रेयर, फुट स्प्रेयर एवं सामान्य पावर स्प्रेयर इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं।

सामान्यतया प्रयोग मे आने वाले छिड़काव यन्त्रो के बारे मे कुछ आवश्यक विवरण यहा पर दिया जा रहा है।

क्रमांक	छिड़काव यन्त्र का नाम	वर्गीकरण	चलाने के लिए आवश्यक व्यक्तियों की संख्या	कार्य के समय सामान्य दबाव (कि.ग्रा./वर्ग) (से.मी.)	टंकी का क्षमता (लीटर)	एक दिन (8 घन्टे में) छिड़का जाने वाला क्षेत्र (एकड़)	उपयोग	अनुमानित लागत (1979)
1	2	3	4	5	6	7	8	9
(1)	न्यूमेटिक हैण्ड स्प्रेयर	कम्प्रेशनस्प्रेयर	1	0·15–0·35	0·5–3·5	—	गृह कार्यों, गृह उद्यान कांच गृह- (ग्लास हाउस) आदि में छिड़काव हेतु।	75–125 रु,

विशेष विवरण :—उपरोक्त छिड़काव यन्त्र काफी सरल यन्त्र है। इनमें एक बार पूरी तरह हवा भर देने पर करीब 5 मिनट तक कार्य करते हैं। इनकी वितरण दर करीब 15–45 लीटर/एकड़ होती है। इन यन्त्रों द्वारा 60 से. मी. से कम ऊंचाई के पौधों पर छिड़काव में आसानी के लिए 30–75 से.मी. लम्बा छड़ (राड) का प्रयोग कर सकते हैं।

(2)	बकेट या स्टीरप पम्प स्प्रेयर	हाइड्रॉलिक स्प्रेयर	1	4 0	छिड़काव द्रव के लिये अलग से टंकी नहीं होती है। सरशा पाईप छिड़काव द्रव के बर्तन में ही रखा जाता है।	1·0–1·5	छोटे क्षेत्रों में छिड़काव के लिए।	सिंगल बेरल स्प्रेयर 175–200 रु डबल बेरल स्प्रेयर 240–250 रु.

1	2	3	4	5	6	7	8	9

विशेष विवरण :—यह एक अत्यंत सरल छिड़काव यन्त्र है जिसमे पीतल के एक या दो बेरल होते हैं। एक बेरल वाला यन्त्र लगातार छिड़काव न कर, केवल कम्प्रेशन स्ट्रोक पर छिड़काव करता है। दो बेरल वाले यन्त्र मे एक बेरल पम्प का तथा दूसरा बेरल एक समान दबाव बनाये रखने का कार्य करता है। जिसके फलस्वरूप पम्प के सेक्शन स्ट्रोक पर भी यन्त्र द्वारा एक समान छिड़काव होता रहता है। एक बेरल वाले यन्त्र द्वारा असमान छिड़काव के कारण समान्यतया इसका उपयोग फसलो पर छिड़काव के लिए नही करते है, फिर भी मलेरिया नियन्त्रण हेतु डी. डी. टी. के छिड़काव के लिये इसका काफी उपयोग होता।

(3)	हैन्ड कम्प्रेशन स्प्रेयर	कम्प्रेशन स्प्रेयर	1	2·0–3·5	6–18	1·0–1·5	नर्सरी, छोटे, उद्यानो, छोटे वृक्षों, झाडियों, सब्जी वाली फसलों एवं छोटे क्षेत्रो मे छिड़काव हेतु।	400–500 रु.

विशेष विवरण :—छिड़काव यन्त्र की टंकी, छिड़काव द्रव के साथ साथ हवा के भण्डारण का भी कार्य करती है, अतः टंकी में कभी भी तीन चौथाई से अधिक मात्रा में छिड़काव द्रव न भरें। इस यन्त्र को छिड़काव करते समय पीठ पर रखते हैं व छिड़काव के समय पम्प चलाने की आवश्यकता नही होती है। लेकिन कुछ समय तक छिड़काव कर लेने के पश्चात् यन्त्र में हवा का दबाव कम हो जाने के कारण छिड़काव [illegible] की बून्दों का आकार अपेक्षाकृत बड़ा हो जाता है। अतः पूर्ण क्षेत्र में एक समान रूप से छिड़काव के लिये थोड़े-थोड़े समय पश्चात् टंकी में पुनः हवा भरते रहना चाहिये।

1	2	3	4	5	6	7	8	9
(4)	नेप सैक स्प्रेयर	कम्प्रेशन स्प्रेयर	1	3·0–4·0	10–14	1·25–2·0	मुख्य रूप से धान, गेहूं, ज्वार, तथा अन्य छोटी फसलों, सब्जियों, नर्सरी झाड़ियों व 2·0–2·5 मीटर से कम ऊंचाई के वृक्षों पर छिड़काव हेतु	350–450 रु.

विशेष विवरण :—इस यन्त्र को भी छिड़काव के वक्त पीठ पर रखते हैं। लेकिन इस स्प्रेयर के पम्प एवं हैण्डल की संरचना इस प्रकार की होती है कि छिड़काव के समय एक हाथ में स्प्रे-लान्स को सम्भालने के साथ-साथ दूसरे हाथ से पम्प भी चलाया जा सके। इस सुविधा से छिड़काव कर्ता को टंकी में हवा का आवश्यक दबाव बनाये रखने के लिए बार-बार रुककर हवा भरने की आवश्यकता नहीं रहती है। लेकिन इस यन्त्र को चलाने में छिड़कावकर्ता के दोनों हाथ लगाकर कार्य करने से व्यक्ति पर अपेक्षाकृत अधिक भार पड़ने के कारण लम्बे समय तक कार्य करने पर व्यक्ति अधिक थक जाता है। धान एवं कम ऊंचाई की फसलों पर छिड़काव के लिए उपयुक्त बूम (तीन नोजल वाली) का प्रयोग कर अपेक्षाकृत अधिक क्षेत्र (2 एकड़/दिन) में छिड़काव किया जा सकता है।

(5)	रॉकिंग स्प्रेयर,	हाइड्रोलिक स्प्रेयर	3	14–15	स्प्रेयर के साथ छिड़काव द्रव भरने के लिये टंकी नहीं	3–4 (दो नोजल)	अधिक ऊंचाई वाली फसलों उद्यानी पौधों, झाड़ियों, पे	250–350 रु

1	2	3	4	5	6	7	8	9
					होती है। छिडकाव के समय यन्त्र के सेक्शन होज को छिडकाव द्रव से भरे बर्तन मे डाल दिया जाता है।		वृक्षों एवं अपेक्षाकृत वडे क्षेत्रो मे छिडकाव हेतु।	

विशेष विवरण :—इस प्रकार के छिड़काव के यन्त्र में पम्प एवं प्रेशर चेम्बर, लकडी के एक प्लेटफार्म पर लगे होते हैं, तथा पम्प एक हैण्डल द्वारा चलाया जाता है। हैण्डल को आगे पीछे चलाने पर छिड़काव द्रव स्वशन होज, जिसे कि छिड़काव द्रव मे डूबा रखते हैं, द्वारा होकर प्रेशर चैम्बर में एकत्रित हो जाता है। कुछ समय तक हैण्डल को चला लेने पर प्रेशर चैम्बर मे आवश्यक दवाव बन जाने के पश्चात्, स्प्रे लान्स से छिड़काव प्रारम्भ करना चाहिये। इस यन्त्र द्वारा प्रति घन्टे 70–90 लीटर, छिड़काव द्रव छिड़का जाता है। एक ही स्थान से अपेक्षाकृत अधिक क्षेत्र में छिड़काव के लिए इस यन्त्र की डिस्चार्ज नलियां काफी लम्बी (30 मीटर तक) होती है। यह यन्त्र को फसल के बीच रखकर चलाने मे थोडी कठिनाई रहती है।

1	2	3	4	5	6	7	8	9
(6)	फुट स्प्रेयर हाईड्रोलिक स्प्रेयर		3	17–21	छिड़काव द्रव भरने के लिए स्प्रेयर के साथ अलग से कोई टकी नही होती है। यन्त्र के सक्शन होज को छिडकाव द्रव से	3–4	अपेक्षाकृत बड़े क्षेत्रो, एव छोटे फल वृक्षों पर छिडकाव हेतु। स्प्रे लान्स के साथ बांस का प्रयोग कर 6 मीटर तक ऊचे	450–475 रु.

1	2	3	4	5	6	7	8	9
					भरे बर्तन में रखा जाता है।		वृक्षों पर भी छिड़काव किया जा सकता है।	

विशेष विवरण :—इस यन्त्र को पैरों द्वारा चलाया जाता है। इस यन्त्र द्वारा किया गया छिड़काव अन्य यन्त्रों द्वारा किये गये छिड़काव की अपेक्षाकृत अधिक प्रभावी एव एक समान होता है। लेकिन यह यन्त्र अपेक्षाकृत भारी होने के कारण, इसे लाने ले जाने में थोडी कठिनाई रहती है। इस यन्त्र के नोजल की डिस्चार्ज गति करीब 110–135 लीटर/घण्टा होती है।

1	2	3	4	5	6	7	8	9
(7)	नेप सेक पावर स्प्रेयर कम डस्टर	कम्प्रेशन स्प्रेयर		हवा की धारा की गति 175–320 कि मी. प्रति घण्टा	छिड़काव द्रव की स्प्रे टंकी 7–12 लीटर, फ्यूल टंकी 0·75–2 27 लीटर	7·5 (1 2 बी. एच. पी. एंजिन)	अधिक बड़े क्षेत्रों मे ऊंचे वृक्षों एव कृषि श्रमिकों की कमी वाले क्षेत्रों में छिड़काव हेतु।	रु. 1000-120)

विशेष विवरण :—इस प्रकार के छिड़काव यन्त्र में छिड़काव पम्प, शक्ति इकाई द्वारा चलाया जाता है। यह छिड़काव यन्त्र काफी हल्का (वजन करीब 7–15 किलो) होने के कारण, छिड़कावकर्त्ता इसे पीठ पर रखकर आसानी से लम्बे समय तक छिड़काव कर सकता है। कुछ आवश्यक अतिरिक्त सामग्री बदलने के साथ ही इसी यन्त्र का उपयोग छिड़काव के अलावा भुरकाव एव फ्लेम थ्रोअर के रूप मे भी किया जा सकता है। इसके द्वारा सभी प्रकार की फसलों मे सभी प्रकार के रसायनों के छिड़काव के अतिरिक्त कुछ उचित भागों के प्रयोग के द्वारा ऊंचे पेड़ों पर भी प्रभावकारी छिड़काव किया जा सकता है। एक समान एवं प्रभावकारी छिड़काव के लिए इसमें छिड़काव पर पूर्ण नियन्त्रण के लिए आवश्यक प्रबन्ध भी होता है।

स्वांकन (केलीब्रेशन)—पौध संरक्षण के लिए प्रयुक्त रसायनों के प्रभावकारी उपयोग के लिए आवश्यक है कि इन्हे प्रस्तावित दर पर छिड़का जाये। अतः प्रस्तावित दर पर दवा के छिड़काव के लिये आवश्यक है कि छिड़काव से पूर्व छिड़काव यन्त्र के डिस्चार्ज एवं इकाई समय में छिड़काव यन्त्र द्वारा छिड़के जाने वाले क्षेत्र के बारे में जानकारी हो। सामान्यतया छिड़काव यन्त्र का डिस्चार्ज, नोजल के कार्य करने के दाब, दो नोजल्स के बीच की दूरी, चालक की गति एवं नोजल ओपनिंग पर निर्भर करती है। अतः उपरोक्त विभिन्न कारणों से पारस्परिक सम्बन्ध की यदि कोई प्रमाणिक तालिका आपके पास उपलब्ध हो तो प्रारम्भ में नये स्प्रेयर्स का डिस्चार्ज जानने के लिए वे सबसे अधिक विश्वसनीय है। लेकिन स्प्रेयर को काफी समय तक प्रयोग में ले लेने पर इसके विभिन्न भाग घिस जाते हैं। ऐसी अवस्था में या प्रमाणिक तालिकाओं के अभाव में स्प्रेयर का सही डिस्चार्ज जानने के लिए स्वांकन या (केलीब्रेशन) आवश्यक हो जाता है। स्प्रेयर के स्वांकन की विधि का आवश्यक विवरण इस प्रकार है :—

(1) दो लकड़ी की खूंटियों या बांस, 200 मीटर की दूरी पर लगा दें।

(2) स्प्रेयर की टंकी को पानी या घोल से पूरी भर लें। ध्यान रहे कि टंकी को अन्तिम रूप से पूरा भरने से पूर्व, स्प्रेयर की सप्लाई लाइन से शट आफ वाल्व के बीच की हवा निकल जाये। इस अवस्था में टंकी में पानी या घोल के स्तर को चिन्हित (मार्क) कर लें।

(3) अब दोनों बांस के बीच की दूरी में स्प्रेयर से प्रस्तावित दबाव एवं चलने की सामान्यगति पर, नोजल की किसी एक सेटिंग (निश्चित) कर छिड़काव करें।

(4) इस प्रकार कुछ क्षेत्र में छिड़काव के पश्चात्, टंकी में पानी या घोल के स्तर को छिड़काव शुरू करने से पूर्व के स्तर तक लाने के लिए आवश्यक मात्रा का मान ज्ञात कर लीजिये।

(5) स्प्रेयर की डिस्चार्ज दर :—

$$(\text{लीटर/हैक्टर}) = \frac{\text{200 मीटर की लम्बाई में छिड़की गई द्रव की मात्रा (लीटर्स)}}{\text{छिड़की गई पट्टी की चौड़ाई (मीटर)}} \times 50$$

(6) स्प्रेयर की उपरोक्त डिस्चार्ज दर, यदि प्रस्तावित दर से कम या अधिक हो तो, नोजल सेटिंग, नोजल ओपनिंग, दबाव एवं चालक की गति में उपयुक्त समंजन (यदि दर कम हो तो चालक की गति कम करें, दबाव बढ़ावें व नोजल ओपनिंग बढ़ाये लेकिन दर अधिक हो तो इसके विपरीत समंजन करें) द्वारा, डिस्चार्ज दर को प्रस्तावित दर के अनुरूप करें।

फफूंदनाशक औषियों के प्रयोग में सावधानियां :—

पौध संरक्षण कार्यों मे प्रयोग मे ली जाने वाली औषधियां बहुधा जहरीली होती हैं, इनके प्रयोग में सावधानी नहीं बरतने पर ये मनुष्य एवं पशुओं दोनों के ही लिए नुकसानदायक एवं घातक सिद्ध हो सकती है। अतः इन औषधियों के प्रयोग करते समय निम्न बातों का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए :—

(1) औषधियों के प्रयोग से पूर्व उनके डिब्बे, शीशी या थैली पर लिखे निर्देशों को ध्यान से समझकर इनका पूर्ण पालन करें। डिब्बे, शीशी या थैली आदि पर निर्देश नहीं होने या इन निर्देशों को पढ़ नहीं सकने की अवस्था में आवश्यक निर्देशों को औषधि विक्रेता से ही समझ लें।

(2) फफूंदनाशक औषधियों को खाने-पीने की वस्तुओं, पशुओं के चारे एवं बच्चों की पहुंच से दूर सुरक्षित स्थान पर ताले में रखें। इन औषधियों के वास्तविक पात्र को न बदले व इनके लेबल को भी जहां तक सम्भव हो उसी पात्र पर सुरक्षित रखें, अन्यथा अज्ञानवश किसी अन्य व्यक्ति द्वारा इनके प्रयोग की सम्भावना रहती है।

(3) अधिक हानिकारक फफूंदनाशी दवाइयों का घोल अपेक्षाकृत गहरे बर्तन मे बनावें तथा घोल को मिलाने के लिए हाथों का प्रयोग न करें व हैन्डल या लकड़ी का प्रयोग करें। घोल जहां तक सम्भव हो खुले स्थान मे तैयार करें।

(4) दवाई का घोल तैयार करते, छिड़कते व भुरकते समय धूम्रपान, पान, तम्बाकू एवं सुपारी आदि वस्तुओं का प्रयोग न करें तथा न ही अन्य खाद्य वस्तु का सेवन करें।

(5) छिड़काव मशीन के नोजल मे कचरा आदि फंस जाने के कारण अवरुद्ध हो जाने पर उन्हे पानी या उपयुक्त तार द्वारा साफ करें। नोजल को फूंक मारकर कभी भी साफ न करें अन्यथा दवा के कण मुंह या आंखों में गिरकर हानि पहुंचा सकते हैं। शरीर के किसी भाग पर यदि रसायन गिर जावे तो उसे तुरन्त साबुन से धो लेना चाहिये।

(6) छिड़काव द्रव को कभी भी नली से मुंह द्वारा न खींचे। चूर्ण या छिड़के जाने वाले पदार्थ को कभी भी सूंघने का प्रयास न करें।

(7) छिड़काव के समय हवा की गति काफी मंद (8 कि. मी. घन्टा) होनी चाहिये। अतः दवाई छिड़कने या भुरकने का कार्य सुबह या दोपहर के बाद, करना चाहिये, जबकि वायुमण्डल का तापमान कम या आर्द्रता अधिक हो। अपेक्षाकृत तेज हवा चलने मौसम में ड्रिफ्ट (drift) को कम करने के लिए नोजल एवं छिड़काव बिन्दु के बीच की दूरी को कम रखें। इसके अलावा छिड़काव मशीन को सामान्य दबाव पर चलाकर छिड़काव बून्दों के आकार मे वृद्धि करके भी, ड्रिफ्ट को कम किया जा सकता है, लेकिन ऐसी अवस्था मे प्रस्तावित दर पर दबाव के छिड़काव के लिए अपेक्षाकृत कम सान्द्रता के अधिक घोल का प्रयोग करें।

(8) दवा का छिड़काव हवा की दिशा के विपरीत दिशा में नही करना चाहिये।

(9) सामान्यतया स्वस्थ व्यक्ति को ही छिड़काव करना चाहिये। जिन व्यक्तियों के हाथ मे चोट लगी हो या शरीर पर अन्यत्र कोई जख्म हो उन्हें छिड़काव नही करना चाहिए। एक व्यक्ति को सामान्यतया एक दिन में [illegible] घन्टे से अधिक समय तक छिड़काव नही चाहिए तथा भुरकाव के समय रबर के दस्तानो एवं गैस मुखावरण (mask) का प्रयोग करना चाहिये।

(10) अत्याधिक विषैली दवा का छिड़काव, अकेले व्यक्ति को नही करना चाहिये। छिड़काव के समय छिड़कावकर्त्ता यदि किसी प्रकार की बेचैनी महसूस करें तो उसे शीघ्र डाक्टर के पास ले जाना चाहिये।

(11) छिड़काव के समय पहने गये कपड़ो को छिड़काव के बाद स्नान कर लेने या मुह, हाथ, पांव आदि को साफ कर लेने के पश्चात् बदल लें, व इन कपड़ो को भी साबुन से धो लें। यदि सम्भव हो तो छिड़काव के समय रबर के जूते पहने, ताकि छिड़काव के बाद इनकी सफाई की जा सके।

(12) छिड़काव से पूर्व एवं छिड़काव के बाद, छिड़काव मशीन को पानी से अच्छी प्रकार साफ कर लें। लेकिन ध्यान रखें कि छिड़काव मशीन को तालाब, पोखर या कुण्डी, जिसमे कि जानवर पानी पीते हो न धोए। छिड़काव के बाद बचे अतिरिक्त घोल को सुरक्षित जगह (गन्दे पानी के नाले या पीने के पानी के स्रोत से दूर) पर डाले।

(13) फफूंदनाशी के खाली पात्रों को तोड़फोड़ कर गड्ढा बनाकर जमीन में 45–50 से. मी. नीचे गाड़ देना चाहिये। इन्हें कभी भी अन्य कार्यों जैसे फीड़ दूध या पानी की टंकी के लिये प्रयोग मे न लें। जिस पात्र मे घोल तैयार करे उसे भी घरेलू कार्य व जानवरो को पानी पिलाने के लिये प्रयोग में न लें।

(14) सब्जियो, फल, गेहू, चने, भुट्टे आदि खाद्य फसलों पर छिड़काव की अवस्था में लोगो को खेत में से कोई भी वस्तु नहीं खाने के लिए आगाह कर दें।

छिड़काव यन्त्रों की सामान्य देखरेख एवं प्रयोग में सावधानियां :—

पौध संरक्षण यन्त्रो को नियमित देखरेख एवं मरम्मत के द्वारा आप इनसे अधिक समय तक कार्य लेते के अलावा, इन यन्त्रों मे उत्पन्न होने वाली सामान्य खराबियां को भी काफी कम कर इनके कार्य खर्च में भी काफी कमी कर सकते हैं। इस हेतु आप समय-समय पर पौध संरक्षण यन्त्रो की निम्नानुसार देखभाल करें–

(1) स्प्रेयर द्वारा छिड़काव शुरू करने से पूर्व यह देख लें कि कहीं से किसी प्रकार का रिसाव तो नही है। यदि कही से रिसाव हो तो उसे ठीक करने के पश्चात् ही छिड़काव शुरू करें।

(2) प्रत्येक नये सीजन के प्रारम्भ से पूर्व ही स्प्रेयर के सभी आवश्यक भागों जैसे पिस्टन वाल्वज, गासकेट्स, नट्स आदि की जांच कर ले व जो पुर्जा आवश्यक हो उसे बदल दें। कुछ सामान्यतया खराब होने वाले आवश्यक भागों जैसे गासकेट्स, वाशर, नाली, नोजल, वाल्व, डिस्क पाईप कलेम्प आदि पहले से ही तैयार रखें।

(3) समय-समय पर स्प्रेयर के चलने या घूमने वाले सभी भागों में प्रस्तावित किस्म का तेल या ग्रीस दें। पिस्टन एवं बेरेल में समय पर (चमड़े का वाशर हो तो सप्ताह में एक बार अवश्य) तेल देने का विशेष ध्यान रखें। लेदर वाशर में, चिकनाई के लिए ग्रीस का प्रयोग न करें, अन्यथा वाशर के साथ लगा अतिरिक्त, ग्रीस, लाइन्स नोजल या वाल्व को अवरुद्ध कर सकता है।

(4) छिड़काव द्रव को हमेशा छानकर भरें। यदि छनने पर पहले से ही कचरा जमा हो तो उसे साफ कर लें। जहां तक सम्भव हो घोल बनाने के लिए साफ पानी काम में लें।

(5) फसलों पर छिड़काव शुरू करने से पूर्व स्प्रेयर को थोड़ा चलाकर, स्प्रे पेटर्न की जांच कर ले। यदि स्प्रे पेटर्न ठीक नहीं हो तो उसे आवश्यक समंजन द्वारा सही करें। पूर्ण छिड़काव के दौरान जहा तक सम्भव हो स्प्रे पेटर्न एक समान रखें।

(6) स्प्रेयर को प्रस्तावित दबाव से अधिक या घटन कम दबाव पर न चलावें।

(7) स्प्रेयर की नलियों को अनावश्यक रूप से न मोड़ें।

(8) स्प्रेयर को चलाने में सामान्य शक्ति से अधिक लगने की अवस्था में मशीन की सुरक्षा हेतु स्प्रेयर को उसी अवस्था में चलाने की अपेक्षा, उसका सही कारण ज्ञात कर उसे दूर करें।

(9) छिड़काव के पश्चात् टंकी मे बचे शेष घोल को उसी समय टंकी से निकालकर सुरक्षित अवस्था स्थान पर डाले।

('0) सीजन के अन्त में स्प्रेयर की पूर्ण सफाई हेतु 50 लीटर पानी में 500 ग्राम सोडा मिले घोल का प्रयोग कर सकते हैं।

(11) सीजन के अन्त से स्प्रेयर के भण्डारण से पूर्व भी एक बार सभी आवश्यक पुर्जों (पम्प नोजल, वाल्वज, नट्स, होज वाशर, बेयरिंग्स, क्लेम्पस गासकेट्स आदि) की जांच करें। कम्पनी द्वारा निर्देशित सभी आवश्यक भागो वाशर, नट बेयरिंग प्लन्जर, ऐजीटेटर, वाल्वज, पेकिंग आदि मे तेल दें व खराब भागों को सही कर लें जिससे अगले सीजन के प्रारम्भ मे आपको किसी प्रकार की परेशानी न हो।

(12) रबर की नलियों के भण्डारण से पूर्व इसमें जमा घोल को निकाल

कर सिमटने के पश्चात् चूहों आदि से दूर सुरक्षित स्थान पर खूंटी पर रखें। नोजल को कपड़े में लपेटकर रखें, जिससे इसमें धूल आदि न जमें।

(13) स्प्रेयर द्वारा प्रस्तावित दर छिड़काव हेतु, छिड़काव से पूर्व स्प्रेयर का एक बार केलीबरेशन कर लेना चाहिये।

(14) घुलनशील पाउडर का पानी में घोल तैयार करने के लिए, पहले पानी की थोड़ी मात्रा में पाउडर को अच्छी तरह से मिलाने के पश्चात् ही पानी की शेष मात्रा मिलावें। बीच में ऐजीटेटर द्वारा घोल को हिलाते भी रहें ताकि घोल की सान्द्रता एक सी बनी रहें।

(15) प्लास्टिक होज या अन्य भागो को फिट करने मे कठिनाई हो तो, इन्हें फिट करने से पूर्व कुछ समय तक गरम पानी में डूबा रखें।

(16) पिछले वर्षों के अनुभवों के आधार पर जहां तक सम्भव हो बीमारी की प्रारम्भिक अवस्था में ही छिड़काव करें, अन्यथा बाद में बीमारी के बढ़ जाने पर इसके नियन्त्रण में अधिक कठिनाई होगी। इस हेतु यदि हो सके तो अपेक्षित बीमारी के नियन्त्रण के लिए आवश्यक दवाईं की बाजार मे उपलब्धता की पहले से ही जाच कर लें व यदि वह दवा बाजार में उपलब्ध न हो तो उसके मंगवाने की व्यवस्था करावें या फिर इसके स्थान पर दूसरी प्रभावकारी दवाई की जानकारी प्राप्त करे, जो कि बाजार मे आसानी से उपलब्ध हो।

(17) रोग की जानि के अनुसार, उनके पौधे के जिस स्थान पर मिलने की सम्भावना हो उसी ओर छिड़काव द्रव की दिशा निर्देशित करें। पत्तियो के नीचे छिड़काव हेतु नोजल को उल्टा रखें।

(18) यदि सम्भव हो तो छिड़काव के पश्चात् कुछ आवश्यक विवरणों जैसे छिड़काव की तिथि, मौसम, फसल, फसल की अवस्था, कीट का प्रकार दवा का नाम, घोल की सान्द्रता तथा अन्य आवश्यक जानकारी अवश्य नोट करें। इससे आपको प्रयुक्त रसायन की नियन्त्रण दक्षता के विश्लेपण में सहायता मिलेगी, जो कि आपके भविष्य के छिड़कावो के लिए एक मार्गदर्शक का कार्य करेगी।

(19) स्प्रेयर के साथ जो निर्देश पुस्तिका मिलती है, उसे सम्भालकर रखें व उसमें लिखे निर्देशों का पूरी तरह पालन करें। इसके अन्दर दिये गये विभिन्न चित्रों से आपको स्प्रेयर की मरम्मत के समय स्प्रेयर को खोलने व पुनः फिट करने में आसानी रहेगी।

(20) जहां तो हो सके स्प्रेयर में उसी कम्पनी के अतिरिक्त पुर्जों का प्रयोग करें। सही प्रकार के पुर्जे मंगवाने के लिए पुर्जे खरीदते समय डीलर को स्प्रेयर की कम्पनी, माडल का नाम एवं आवश्यक कोड नम्बर (पुस्तिका में देखकर) भी बतावें।

पौध संरक्षण यन्त्रों की सामान्य खराबियां, संभावित कारण एवं उन्हें दूर करने के उपाय :—

पौध संरक्षण यंत्रों के उपयुक्त चुनाव एवं नियमित देखरेख के बाद भी इन यन्त्रों में आये दिन कुछ न कुछ सामान्य खराबियां होती रहती है, जिनके सम्भावित कारण एवं उन्हें दूर करने के उपायों के बारे में आवश्यक जानकारी नहीं होने की अवस्था में बहुमूल्य समय, श्रम एवं धन की हानि होती है। साथ ही छोटी छोटी खराबियों को ठीक कराने के लिए, प्रत्येक बार जानकार व्यक्ति को बुलाना भी कई बार बड़ा कठिन कार्य होता है। किसानों को इन सामान्य खराबियों के लक्षण एवं उन्हें ठीक करने के उपायों के बारे में यदि कुछ प्रारम्भिक जानकारी दे दी जाए तो किसान उपरोक्त परेशानियों से काफी हद तक बच सकते हैं। इस हेतु कुछ आवश्यक जानकारी यहां पर दी जा रही है।

मानव शक्ति द्वारा चलाये जाने वाले यन्त्र

(घ) कुछ सामान्य खराबियां :—

खराबी	दूर करने के उपाय
(क) स्प्रेयर में प्रेशर कम हो जाता है।	
(1) सक्शन स्ट्रेनर की जाली में कचरा फंस गया है।	(1) स्ट्रेनर को साफ करें।
(2) सक्शन होज टूटा हुआ है, या लीक करता है।	(2) सक्शन होज की जांच करें व आवश्यक हो तो बदल दें।
(3) सक्शन लाईन के कनेक्शन्स ढीले हैं।	(3) सक्शन लाईन के क्लेम्पस को कस दें।
(4) कोई गासकेट खराब हो गई है या है ही नहीं।	(4) गासकेट नई डालें।
(5) सक्शन वाल्व घूर्ड घूमा है या सीट पर चिपक गया है।	(5) सक्शन वाल्व को खोलकर उसे सही प्रकार से बिठायें।
(6) वाल्व सीट घिस गई या वाल्व की सतह खराब हो गई है।	(6) दोनों की जांच करें व आवश्यक हो तो बदल दें।
(7) प्रेशर चेम्बर (यदि हो तो) लीक करता है।	(7) यदि गासकेट खराब होने के कारण लीकेज हो तो उसे बदल दें। चेम्बर की बाडी में रिसाव हो तो उस स्थान को वेल्ड करावें फिर भी यदि लीकेज हो तो नया चेम्बर डालें।

(8) नोजल की डिस्क घिस गई है।	(8) नोजल डिस्क की जाच करें व घिस गई हो तो बदल दें।
(9) पम्प को चलाने की गति कम है।	(9) पम्प चलाने की गति सही करें।
(ख) स्प्रेयर में प्रेशर नहीं बनता है :—	
(1) वाशर सूख गया या घिस गया है।	(1) पम्प बेरल मे पानी या थोड़ा सा तेल डालकर, पम्प को चलाए यदि फिर भी पम्प कार्य नही करता है तो वाशर को निकाल कर उसकी जांच करें। यदि वाशर फटा हुआ या गला हुआ है, तो उसे बदल दें।
(ग) कहीं से छिड़काव द्रव रिसता है :—	
(1) नट, क्लेम्प्स या अन्य कोई कनेक्शन्स ढीले हैं।	(1) इनका कसाव सही करें।
(2) कोई गासकेट खराब हो गई है या है ही नही।	(2) सम्बन्धित गासकेट की जांच करें व घिस गई या कट गई हो तो बदल दें।
(3) ग्लेण्ड पैकिंग घिस गया है या है ही नही।	(3) लान्स के सिरे पर जहां कि सामान्यत: पैकिंग लगा होता है, के घिस जाने पर लान्स से रिसाव हो सकता है। ग्लेण्ड नट को कसें। यदि फिर भी रिसाव नहीं रुकता हो तो ऐसी अवस्था मे ग्लेण्ड पैकिंग की जाच करें। यदि घिस गया हो तो उसे बदल दें।
(घ) स्प्रेयर में प्रेशर तो बनता है, फिर भी नोजल द्वारा छिड़काव द्रव नहीं आता है या रुक-रुक कर आता है :—	
(1) नोजल या लान्स मे कचरा फंस गया है।	(1) (क) नोजल को खोलकर उसकी सफाई करें फिर भी नोजल कार्य नही करता है तो लान्स की भी सफाई करें। (ख) यदि नोजल मे बार-बार कचरा फंस जाता है तो उपरोक्त

	परेशानी से बचने के लिये छिड़काव हेतु घोल तैयार करने के लिए साफ पानी का प्रयोग करें। यदि सक्शन स्ट्रेनर की जाली अच्छी अवस्था मे न हो तो उसे बदल दें।
(2) नोजल का वाल्व, वाल्व सीट पर चिपक गया है (ड्यूरो नोजल में)	(2) (क) नोजल को खोलकर देखें। वाल्व सीट पर कचरा जमा हो, तो उनकी सफाई करें। यदि वाल्व इतना जोर से चिपक गया कि बाहर ही न निकले तो नया नोजल लगायें। (ख) उपरोक्त परेशानी से बचने के लिए हमेशा छिड़काव के बाद स्प्रेयर मे साफ पानी भरकर इसको कम से कम 4–5 मिनट तक चलायें।
(3) नोजल की डिस्क प्लेट, व्हिर्ल प्लेट (Whirl plate) या वाशर खराब हो जाने या घूम जाने की अवस्था मे भी नोजल सही प्रकार का स्प्रे नही देता है या इसके सिरे से रिसाव होता है।	(3) सामान्यता ऐसी अवस्था में पूरे नोजल को बदल दिया जाता है, जो कि आवश्यक नहीं है। ऐसा करने से पूर्व आप नोजल को खोलकर उसके सभी आवश्यक भागो की जाँच कर लें व जो भाग नहीं है या खराब है केवल उसे बदल दें। सामान्यतया नोजल के सभी अतिरिक्त पुर्जे बाजार मे मिलते हैं।

(ङ) सक्शन वाल्व कुछ अटक जाता है :—

	(1) घोल चूसने की नली (Suction hose) के छनने द्वारा पानी भरें ताकि वाल्व पानी के प्रेशर के कारण छूट जाये। यदि फिर भी वाल्व सही प्रकार से कार्य न करे तो वाल्व को खोलकर व आवश्यक हो तो वाल्व सीट, वाल्व या दोनों को बदल दें।

(आ) विशेष यन्त्रों से सम्बन्धित खराबियां :—

(क) सिंगल बेरल पम्प एवं सिंगल बैरल नेपसेक स्प्रेयर :—

(1) प्लंजर राड के बाजु मे छिड़काव राड के बाजु से छिड़काव द्रव रिसता है।	(1) बैरल के ढक्कन के नीचे लगा पैकिंग घिस गया है, उसे बदल दें।

(ख) डबल बैरल एवं डबल बैरल नेप सैक स्प्रेयर :—

(1) पम्प के नीचे वाले स्ट्रोक के बाद प्लंजर राड अपने आप ऊपर उठ जाती है।	(1) डिलीवरी वाल्व द्वारा रिसाव है। वाल्व एवं वाल्व की टंकी की सफाई करें तथा यदि घिस गये हो तो बदल दें।
(2) केवल डिस्चार्ज स्ट्रोक पर ही स्प्रे ठीक प्रकार से होता है।	(2) डिलीवरी ट्यूब कही से मुड़ी हुई या दबी हुई है। अतः उसे सही करें व आवश्यक हो तो उसे बदल दें।

(ग) रॉकिंग स्प्रेयर :—

(1) प्लंजर की बाजु से घोल रिसता है।	(1) पिस्टन की लाक नट को अच्छी प्रकार से कस दें।
(2) रबर (Rubber) का पिस्टन, पम्प बेरल मे आसानी से नही जाता है।	(2) लाक नट को ढीला कर दीजिए।
(3) प्रेशर चेम्बर मे आवश्यक प्रेशर नही रहता है।	(3) प्रेशर चेम्बर के नीचे लगे रबर वाशर को बदल दें।

(घ) पैडल पम्प :—

(1) प्लंजर राड के बाजु से घोल रिसता है।	(1) ग्लैंड नट को कस दें व आवश्यक हो तो पैकिंग को भी बदल दें।
(2) नीचे वाले स्ट्रोक के बाद, पैडल अपने आप ऊपर नही जाता है।	(2) पैडल रिटर्न स्प्रिंग को बदलें।

(ङ) कम्प्रेस्ड एयर स्प्रेयर :—

(1) नीचे वाले स्ट्रोक के बाद प्लंजर राड, अपने आप ऊपर उठ जाती है।	(1) एयर वाल्व लीक करता है। इसकी व सीट की सफाई करें व आवश्यक हो तो बदल दें।

(च) प्रेशर रिटेनिंग नेपसेक स्प्रेयर :—

(1) स्प्रेयर, हवा द्वारा चार्ज नहीं होता है।	(1) फ्लोट वाल्व सीट पर चिपक गया है। ऐसी अवस्था में स्प्रेयर को पहले कुछ स्ट्रोक छिड़काव द्रव से चार्ज करने के पश्चात् हवा से चार्ज करें।
(2) स्प्रेयर, घोल द्वारा चार्ज नहीं होता है।	(2) फ्लोट वाल्व लीक करने के कारण उसमें घोल भर गया है। अतः फ्लोट वाल्व को बदल दें।
(3) स्प्रेयर से हवा रिस जाती है।	(1) (क) गासकेट घिस गई या कट गई हो तो उसे बदल दें। (ख) फ्लोट वाल्व सीट पर सही प्रकार से नहीं बैठ रहा हो तो उसे सही करें।

पावर स्प्रेयर :—पावर स्प्रेयर में छिड़काव पम्प, शक्ति इकाई द्वारा चलाया जाता है। शक्ति इकाई के लिए सामान्यतया एंजिन का प्रयोग किया जाता है, लेकिन इसके अतिरिक्त ट्रैक्टर पी. टी. ओ. का भी शक्ति इकाई के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। हमारे यहाँ सामान्यतया एंजिन से चलने वाले कम अश्वशक्ति (3 या 5 अश्वशक्ति से कम) वाले पावर स्प्रेयर्स अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित हैं। इस प्रकार के स्प्रेयर्स से भी पट्रोल-एंजिन द्वारा चलने वाले 1·2–3·0 अश्वशक्ति वाले "मोटराईज्ड नेपसेक स्प्रेयर्स कम डाइटरस" अधिक प्रचलित है क्योंकि :—

(1) यह यन्त्र अपेक्षाकृत हल्का सामान्यत: खाली अवस्था में भार 7–15 किलो ग्राम होने के कारण, छिड़काव करने वाला व्यक्ति इसे पीठ पर रखकर आसानी से लम्बे समय तक छिड़काव कर सकता है।

(2) इस यन्त्र में कुछ आवश्यक अतिरिक्त सामग्री को लगाकर, इसी यन्त्र का उपयोग छिड़काव के अलावा भुरकाव एवं ज्वाला विस्तार (flame burning) के लिये भी किया जा सकता है।

(3) इस यन्त्र द्वारा कम समय में अपेक्षाकृत अधिक बड़े क्षेत्र में छिड़काव किया जा सकता है। एक दिन (8 घन्टे) में एक व्यक्ति करीब 3 हैक्टेयर क्षेत्रों में छिड़काव कर सकता है।

(4) सभी प्रकार की फसलों पर छिड़काव के अतिरिक्त, उचित समजन द्वारा ऊँची झाड़ियों एवं वृक्षों पर प्रभावकारी छिड़काव किया जा सकता है।

(5) समान एवं प्रभावी छिड़काव के लिये पूर्ण नियन्त्रण।

(6) छिड़काव हेतु अपेक्षाकृत कम पानी की आवश्यकता।

(7) उपरोक्त विभिन्न लाभों के बावजूद इस यन्त्र को अधिक प्रारम्भिक लागत के कारण सस्ती दर पर मानव श्रम की बाहुलता में उपलब्धि वाले तथा छोटी छोटी जोतों (small holding) वाले क्षेत्रों में यह यन्त्र किसानो में बड़े पैमाने पर प्रचलित नही हो पाया है। फिर भी अपेक्षाकृत बड़े क्षेत्रों एवं कृषि श्रमिको की कमी वाले क्षेत्रो में कम से कम समय मे किसी कीट या बीमारी से फसल को बचाने के लिये छिड़काव हेतु उपरोक्त पावर स्प्रेयर काफी उपयोगी है, अतः उपरोक्त स्प्रेयर की कार्य प्रणाली तथा सामान्य देख-रेख के बारे में, आवश्यक जानकारी हेतु कुछ विवरण नीचे दिया जा रहा है:—

सावधानियां—एन्जिन के प्रयोग में निम्न कुछ बातो को ध्यान में रखकर आप एंजिन द्वारा अधिक समय तक सन्तोषपूर्ण कार्य ले सकते हैं।

(1) ईंधन टकी में पेट्रोल एवं रसायन टंकी में छिड़काव द्रव भरने से पूर्व इस बात की जाच करले कि सम्बन्धित टकी के नीचे लगी कार्क बन्द अवस्था में हो। रसायन टकी में छिड़काव द्रव भरने से पूर्व, इसे एक दफा बाहर ही छान ले, जिससे कि छनने पर अधिक कचरा जमा नही हो।

(2) पेट्रोल मे मायल मिलाते समय ध्यान रखें कि मायल एवं पेट्रोल का अनुपात कम्पनी द्वारा प्रस्तावित अनुपात से अधिक या कम नहीं हो क्योंकि आयल का अनुपात अधिक होने की अवस्था में रिंग चिपकने लगेगी, स्पार्क प्लग पर चिकनाई जमा हो जायेगी व कार्बन अधिक बनने लगेगा, जिससे कि पिस्टन, रिंगे, सिलेन्डर आदि अधिक गरम होंगे, जिसके फलस्वरूप इन भागों का घर्षण के कारण अधिक घिसाव होगा।

(3) जब एन्जिन चालू अवस्था में न हो, फ्यूल सप्लाई कार्क को बन्द रखें, ताकि फ्लोट चेम्बर में अधिक पेट्रोल एकत्रित होकर, जेट को अवरूद्ध न करें। यदि एन्जिन को काफी लम्बे समय पश्चात् चलाया जा रहा हो तो, फ्यूल कार्क को खोलने से पूर्व टंकी के ईंधन को अच्छी प्रकार से हिला लें।

(4) स्प्रेयर के भण्डारण के समय ब्लोयर के निकास को गलाफ से ढ़ककर रखें, ताकि ब्लोयर में कोई कचरा जमा न होने पावे।

(5) द्रव पर हवा के दबाव के लिये प्लास्टिक नली को जोड़ते समय ध्यान

रखें कि कहीं से छिड़काव द्रव, रिसकर रोटर पर न गिरे, अन्यथा इसके फलस्वरूप रोटर के असन्तुलन के कारण, रोटर टूट सकता है।

(6) एन्जिन की गति, कम्पनी द्वारा प्रस्तावित गति से बहुत अधिक नहीं होनी चाहिये, अन्यथा इसके कारण एन्जिन जल्दी खराब हो सकता है। अतः इसकी जांच हेतु वर्ष में एक दो बार या जब भी एन्जिन को मरम्मत हेतु वर्कशाप ले जाये, टेकोमीटर द्वारा एन्जिन की गति की जांच करा लें व आवश्यक हो तो उसे सही करावें।

डस्टर :—पौध संरक्षण के ऐसे रसायनों, जो कि पाउडर के रूप में होते हैं, को फसलों पर एक समान रूप से भुरकाव के लिये जिन उपकरणों का प्रयोग करते हैं, उन्हें डस्टर कहते हैं। भुरकाव के लिये आजकल साधारण "हैंड पैकेट" टाइप डस्टर से लेकर ट्रैक्टर एवं पावर डस्टर तक उपलब्ध हैं। लेकिन उपरोक्त विभिन्न प्रकार के डस्टर में से छोटे एवं मध्यम जोत वाले किसानों में क्षेत्रीय फसलों सब्जियों, झाड़ियों एवं छोटे वृक्षों पर भुरकाव के लिये 'नेप सैक हैण्ड रोटरी डस्टर' काफी प्रचलित हैं। इसके अतिरिक्त पानी से भरे धान के खेतों में भुरकाव के लिये ऐसे डस्टर भी उपयोगी है। भुरकाव के समय इस डस्टर को भुरकावकर्ता अपने कंधों पर, पट्टियों (straps) से बांधकर, एक हाथ से कैंक को चलाता है, तथा दूसरे हाथ से डिस्चार्ज नली को सम्भालता है।

डस्टर का विवरण :- नेप सैक हैण्ड रोटरी डस्टर में मुख्य रूप से एक ब्लोअर होता है, जो कि होपर में उपस्थित पाउडर को धुएं के रूप में परिवर्तित करने (atomization) के लिये आवश्यक हवा की धारा (air stream) प्रदान करने का कार्य करता है। होपर तथा ब्लोअर इकाई इस प्रकार सन्तुलित की जाती है कि डस्टर को लाने ले जाने तथा काम में लेने में कम से कम असुविधा हो। ब्लोअर फैन सामान्यतया 1.0 – 1.5 घन मीटर हवा प्रति मिनट (80 चक्कर प्रति मिनट की गति पर) फेंक सकता है। सक्शन पाईप के साथ होपर भी जुड़ा होता है, जिसमें कि भुरकाव हेतु पाउडर भरा जाता है। होपर सामान्यतया करीब 5 किलोग्राम पाउडर भरा जा सकता है। होपर में भरे पाउडर को होपर के नीचे बने स्थान द्वारा डिस्चार्ज करने तथा पाउडर के ढेलों (Clumps) को तोड़ने के लिये, होपर के साथ एक ऐजीटेटर (agitator) लगा होता है। पाउडर के एक समान एवं प्रभावशाली भुरकाव के लिये, नाल के सिरे पर एक नोजल लगा होता है।

ब्लोअर की गति के समंजन हेतु क्रैंक के साथ गियर बॉक्स लगा होता है। क्रैंक एवं गियर द्वारा ब्लोअर को घुमाने के लिये कुछ सिंगल तथा डबल गियरिंग दोनों ही प्रकार के प्रावधान वाले डस्टर बाजार में मिलते हैं। बेल्ट व गियरिंग वाले डस्टर चलाने में आसान हैं, लेकिन आवश्यकता के समय कुछ [illegible]

मे आसानी तथा इनकी कम लागत के कारण साधारणतया 'बुश बेयरिंग' वाले डस्टर अधिक उपयोग मे आ रहे हैं। खाली अवस्था में डस्टर का कुलभार 6–7 किलोग्राम के करीब होता है, तथा भुरकावकर्ता इसे कधे पर रखकर आसानी से काफी समय तक भुरकाव कर सकता है। इस यन्त्र को चलाने के लिये एक व्यक्ति की आवश्यकता होती है, तथा एक दिन मे करीब 0·8–1·2 हेक्टर क्षेत्र मे भुरकाव किया जा सकता है। यह डस्टर कतार वाली फसलो, फल वृक्षों, सब्जियो तथा 3 मीटर से कम ऊंचाई पर भुरकाव के लिये उपयुक्त रहता है, तथा इसकी लागत 300 रु, के करीब है।

अधिक बड़े क्षेत्रो मे कम समय एवं श्रम मे भुरकाव के लिये पीछे वर्णित "मोटराइज्ड नेप सेक पावर स्प्रेयर कम डस्टर" काफी उपयुक्त रहता है।

सामान्य देखरेख एवं सावधानियां :—

हैन्ड रोटरी डस्टर द्वारा अधिक समय तक दोष रहित कार्य के लिये समय समय पर इसकी निम्न देख-रेख करते रहना चाहिये :—

(1) ऐजीटेटर शाफ्ट मे 15 दिन मे एक बार तथा भण्डारण से पूर्व 'हल्का मशीन का तेल' दें। तेल के समान वितरण हेतु तेल देते समय क्रेंक को घुमाते रहे।

(2) ऐसे डस्टर जिनमे कि ऐजीटेटर शाफ्ट पर बुश लगा होता है, बुश की नोके घिस जाने पर बुश को बदल देना चाहिये। सामान्यतया डस्टर द्वारा 500 घण्टे कार्य कर लेने या आवश्यकता हो तो इससे भी पूर्व बुश को बदल देना चाहिये, अन्यथा बुश की घिसी हुई नोकों के कारण सक्शन पाईप में अपेक्षाकृत मोटा पाउडर जाने से डस्टर की कार्य क्षमता कम हो जायेगी। दूसरे प्रकार के डस्टर मे ब्लोअर शाफ्ट पर बनी "अगर व्यवस्था" (augar arrangment) एजीटेटर का कार्य करती है।

(3) क्रेंक को घुमाने की गति को एक समान रखकर "एक समान" भुरकाव किया जा सकता है। "फीड कन्ट्रोल लीवर" की सहायता से भुरकाव की मात्रा को आवश्यकतानुसार कम या अधिक (35 चक्कर प्रति मिनट पर 150 ग्राम प्रति मिनट तक) किया जा सकता है, लेकिन सामान्य भुरकाव के लिये "फीड कन्ट्रोल लीवर" को आधी खुली अवस्था मे रखना चाहिये।

(4) क्रेंक गियर्स पर महिने मे एक बार ग्रीस की हल्की सी परत चढ़ा दें। ग्रीस चढाते समय बीच वाले गीयर का विशेष ध्यान रखें।

(5) भुरकाव पाउडर को स्थान (साईट) पर भुरकाव के समय ही भरना चाहिये। डस्टर द्वारा भुरकाव के अन्त मे, होपर मे बचे शेष पाउडर को निकाल लें व सक्शन पाईप, बुश, ब्लोअर आदि में जमा, पाउडर को कपड़े द्वारा साफ कर लें।

(6) डस्टर के 'फीड कन्ट्रोल लीवर' ब्लोअर को चलाना प्रारम्भ करने के पश्चात् ही खोलें जिससे कि डिस्चार्ज नली में पाउडर अवरुद्ध न हो।

(7) जब भी आप एक प्रकार के पाउडर के स्थान पर दूसरी प्रकार के पाउडर का प्रयोग करें, डस्टर का पुनः केलीबरेशन कर, उसकी सैटिंग सही करें।

(8) डस्टर में जहां तक सम्भव हो हमेशा सूखे एवं ढेले रहित पाउडर का प्रयोग करें।

सामान्य खराबिया एवं उनका निवारण :—हैन्ड रोटरी डस्टर काफी सरल यंत्र है। यह काफी समय तक कार्य ले लेने पर, यन्त्र के विभिन्न भागों के घिस जाने या कही पर कचरा आदि फंस जाने पर इस यन्त्र में कुछ सामान्य दोष जैसे डस्टर को चलाने पर, पाउडर का नही निकलना या ब्लोअर का, कैंसिग को छूने लग जाना आदि उत्पन्न हो सकते हैं। डस्टर को चलाने पर पाउडर नही निकलने की अवस्था में सक्शन पाइप एवं फीडिंग बुश की जांच करें। यदि सक्शन पाइप में कचरा फंसा हो तो उसे साफ करें तथा फीडिंग बुश यदि नही घूम रहा हो तो बुश को स्क्रू की सहायता से शाफ्ट पर अच्छी प्रकार से कस दें। ब्लोअर के कैंसिग को छूने लग जाने की अवस्था में फाईनर बुश एव बियरिंग की जाच करें, यदि ये घिस गये हो इन्हें बदल दें।

References

Anderson, H. W. and D. Gottlieb (1952). Plant disease control with anitibotics. Econ Bot 6. 294.

Arny, D. C. and C. Leben (1954). Vapor action of certain mecury seed treatment materials. Phytopathology 44 : 380.

Bewley, W. F. (1921). J. Minist Agric 28: 653, Cited by Martin, 1959.

Biffen, R. J. (1905). Mendal's laws of inheritance and wheat breeding J. Argic Sci. Camb, 1. 4–48.

Browing, J. A. and K. J. Frey (1969) Multiline cultivars as a means of disease control Ann. Rev. Phytopathology 7: 355–383.

Cimanowski, Jan, Anna Masternak and D. E. Millicon (1970). Effectiveness of Benomyl for controlling apple powdery

mildew and Cherry leaf spot in Poland. Pl. Dis Reptr 54: 232–234.

Dekker J (1965) Internal seed infection by an antibiotic from Streptomyces rimosus. Nature, Lond, 175, 689.

Dessenoy, B. and J. A. Meyer (1973). Mutagenic effects of benomyl on Fusarium oxysporum. Mutation Research 21(2) 119–120

Diamond, A. E and J. G Horsefall (1959). Plant Chemotherapy. Ann Rev Plant Physiol 10: 257–276.

Edginton L V and G L. Barron (1967). Fungitoxic spectrum of oxathiin compounds Phytopathology 57: 12 56.

Edney, K L. (1970) Some experiments with thiabendazole and benomyl as postharvest treatment for the control of storage rots of apples. Pl Path. 19: 189.

Erwin, D. C , J. J and Patridge (1968b). Evidence for the systemic fungitoxic activity of 2–(4' thiazol) benzimidazole in the control of Verticillium wilt of cotton. Phytopathol gy 58, 860.

Erwin D. C. Hee and J. J. Sims, (1968a) The systemic effect of 2 benzimidazol carbamic acid, Methyl en Verticillium wilt of Cotton. Phytopathology 58, 528.

Erwin, D. C., M. C. Wang and J. J. Sims, (1970). Translocation of 2–(4 thiazolyl) benzimidazole in cotton. Phytopathology 60, 1291.

Goksyr, J. (1955) The effect of some Dithio Carbamyl Compounds on the metabolism of fungi, Physiol Plan tarim, 8: 719–835.

Hiltner, L., (1915) Prat, Bl. Pfl Ban, 18: 65 cited by Martin, in the scientific principles of crop protection Edward Arnold Ltd., London, 1959.

Hochstein P. E. and C. E. Cox (1956). Studies on the fungicidal action of captan Ann. J. Botany, 43: 437–441.

Horsfall J. G. (1956) Fungicides and their Action. Waltham, Mass Chronica Botanica.

Horsfall, J. G. (1957) Principles of fungicidal action Chronica Botanica, Waltham, Mass, USA., 274p.

Horsfall, J. G. (1957) Mechanism of fungitoxicity. Advances in Pest control research. Vol 1: 193-218. Inter Science Publ, Inc, New York.

Horsfall J. G. and Dimond A. E. (1951b) Plant Chemotherapy. Ann. Rev. Microbiol. 5, 209.

Kaars Sigpestei In, A and G. J. M. Vander Kerk. (1954) Investigations on organic fungicides VIII The biochemical mode of action of bisdithio carbamates and dithiocyamates. Biochem. Biophys Acta 13: 545-552.

Horward, F. L. (1941) Antidoting of toxins of Phytophthora cactorum as a means of plant disease control. Science, N. Y. 94, 345.

Lukens, R. J. (1971) Chemistry of Fungicidal actiou,' Chapman of Hall Ltd., London, 136 p

Mac Callen, S. E. A. (1969). A prespective on Plant Pathology Ann. Rev. Phytopathol 6: 1-12.

Marsh, R. W. (1929). Investigations on the fungicidal action of sulphur III Studies on the toxicity of sulphuritted hydrogen and on the interaction of sulphur with fungi. J Pomol.

Mc Callen, S. E. A. and F. Wilcoxon (1936) The action of fungous spores on Boredeux Mixture". Contribs Bouce Thompson Inst., 8: 151-165.

Mc Callen, S. E. A. and L. P. Miller (1957) Equimolar formation of CO_2 and H_2S when fungus tissue reduces sulphur contribs : Boyce Thompson Inst. 18: 497-506.

Mehta, K. C. and B. P. Pal (1940). Rust resistant wheat for India. Nature 146: 98.

Meyer, W. A, J. F. Nicholson and J. B. Sinclair (1972).

Translocation of benomyl in creeping bent grass Phytopathology 61: 1198–1200

Millardet, P. M. A, and U. Gayon (1887) Recherches nouvelles Sur leaction quelqes prepartions cuivrenses exercent Sur le Perononospora de la vigne. J. Agric Prat, 51: 123–139, 151–161.

Morechart, A. L. and D. F. Crossan (1965) Studies on the ethylene bis dithio–carbamate fungicides. Delaware Univ. Agric Exp. Stat. Bull, 357: 26

Nene, Y. L. (1971) Fungicides in Plant Disease Control. Oxford and I. B. H. Publ Co, Delhi 385 p.

Orton, W. A. (1900) The wilt disease of Cotton and its control. Bull Div Veg. Physiol Pathol., U. S. D. A. 27: 26.

Owens, R. G.(1960)Effect of elemental sulphur, Dithio Cabamate and related fungicides on organic acid metabolism of fungal spores. Developments Industr Microbiol. 1: 187–205.

Owens, R. G. and A. D. Hayes (1964) Biochemical action of thiram and some dialkyl dithio– carbamates, contribs Boyce Thompson. Inst. 22. 227–240.

Peterson, R. F. A. B. Campbell and A. E. Hannah (1948) A diagramatic scale for estimating rust intensity on leaves and stems of cereals, Can Jour Resi C. 26: 496–500.

Pommer E. H and J. Kradel, (1967) Substitutirtie dimethylmorpholin derivate als neue fungizide zur bekampfung echter mehltaupilze. Meded. Rijksfacultieit Landbow. Wetenschappen. Gent 32, 735.

Prevost, B. (1807) Memoir on the immedate cause of bunt or smut of wheat and of several other diseases of Plants, and on preventives of bunt, Translated from the French by G. W. Keitt, Publ Amer Phytapath, Soc. 95 p.

Rich S and J. G. Horsfall (1961) Fungitoxicity of carbamic and Thiocarbamic acid esters, Conn, Agric Exp. Sta.

(New Haven) Bull 638.

Sharvelle, E. G. (1960). The nature and uses of modern fungicides. Burgess Publ. Co., Minneapolis, Minn U S. A. pp. 308.

Sommers, E. (1963) The up take of Copper by fungal cells. Ann. Appl. Biol 51: 425–37.

Sommers E. (1965) Solubilization of copper and the mode of action of Bordeaux mixture. Nature 206: 216–217.

Stakman, E. C. D. M. Steward and W. O. Loegering (1962) Identification of physiologic race of Puccinia graminis var tritice paper No. 4691, Sci Res. Minn. Exp. Sta. 1–53.

Stakman, E. C., and J. G. Harrar, (1957) Principles of Plant Pathology. Ronald Press Co, New York.

Stakman, E. C. and M. N. Levine (1922) The determination of biologic forms of Puccinia graminis on Triticum spp. Minn. Agr. Expt. Sta. Tech. Bull. 10.

Thorn, G. D and L. T. Richardson (1964). Decomposition of Ferbam Phytopathology, 54: 910.

Thorne, G. D. and R. A. Ludwig (1962). The dithio–carbomates and related compounds. Elseviers New York, 298p.

Tisdale, W. H. and A. L. Flenner (1942) Derivatives of dithiocarbamic acid as Pesticide. Indust and Engg. Chem, 34 : 501–502.

Tweedy, B G. (1964). A Possible mechanism for reduction of elemental sulphur by Monilia fructicola Phytopathology. 55: 910–911.

Tyner, L. F. (1953). The control of loose smut of wheat and barley by spergon and by soaking in water at room temperature. Phytopathology 43: 313–316.

Vanden Bos, B. G., M. J Koo lamanse and H. O. Hirmas (1960). Investigation on pesticidal phosphorus com-

pound fungicides, insecticides and acaricides derivatives from 3–amino–1,2 Tria zole, Rec. Trav Chim Pays. Bas 79–807.

Van Der Plank, J. E. (1963) Plant Diseases, Epidemics and Control, Acad Press New York.

Von Schmeling, B. and M Kulka (1966) systemic fungicidal activity of 1,4 oxathiin derivatives, Science 152: 659–660.

Walker, J. C. (1957) Plant Pathology. Mc Graw Hill book Co, Inc. New York.

Wilcoxon, F. and S. E. A. Mc Callen (1930) The fungicidal action of Sulphur I, The alleged role of Pentothionic acid. Phytopathology, 20; 391-417.

Young, H. C. (1956) The toxic property of Sulphur. Ann Missouri Bot Gard. 9: 425–433.



शब्दावली

(GLOSSARY)

अंकुरण	Germination
अखण्ड कोशिका	Coenocytic
अग्निपुरी या स्ट्रिगा	Striga
अंगमारी	Blight
अग्रीय	Terminal
अगुणित	Haploid
अगेती अंगमारी	Early blight
अंडकोषा या अंडधानी	Oogonium
अंडगोल या शुक्तिताण्ड	Oospore
अण्डाकार	Oval
अण्डाशय	Ovary
अधिकतम	Maximum
अधिमिश्रण	Admixture
अधिशोषण	Absorption
अधिवृद्धि (अतिवर्धन)	Hyperplasia
अधिविस्तृति (अतिवृद्धि)	Hypertrophy
अधिस्तर	Hymenium
अधोकुंचन	Epinasty
अधोबीजपत्र बीजोपर	Hypocotyl
अधोरोही	Hypophyllous
अधोस्तर	Epidermis
अति सूक्ष्म दर्शीय	Ultramicroscopic
अंतः क्षेपण या संचारण	Inoculation
अन्तः कोशिक या अन्तर कोशीय	Intercellular
अन्तः प्राम	Source of Inoculation

अन्त. ग्रहण	Ingestion
अन्तः चौलि	Endospore
अन्तर्जवित	Endogenic
अन्तर्विष्ट	Inclusion
अंतराकोशिकी या अंतर कोषीय	Intercellular
अन्तिम	Terminal
अंश शोधन	Calibration
अनावृत, छिदरा, खुला,	Naked loose
अनिवार्य, अविकल्पी	Obligate
अनुकूलन	Weathering
अनुदैर्ध्य	Longitudinal
अनुपत्र	Stipule
अनुप्रस्थ	Transverse
अनुलम्ब	Longitudinal
शूकनुकी	Spikelet
अति सूक्ष्म दर्शीय	Ultramiscroscopic, submicroscopic
अपचयन	Degradation
अपट	Aseptate
अपघल	Decomposition
अपस्थानिक जड़ें	Adventitious roots
अप सामान्य	Abnormal
अपक्षालन	Leaching
अप्रत्यक्ष	Indirect
अपमार्जक	Detergent
अपवर्णता	Discoloutation
अपक्षय	Die-back
अपारगम्यता	Impermeable
अपाक्ष स्तर	Abaxial surface
अभ्यक्ष पर्णक	Adaxial leaflet
अभिजनन	Hybridization
अभिमुग्दराकार	Obclavate
अपूर्ण संश्लिष्ट	Semi-synthetic
अभिरंजन	Staining
अभि लक्षणिक	Characteristic

अम्ल	Acid
अम्लायता	Acidity
अमरबेल	Cuscuta
अर्धक या अर्धगुणित	Haploid
अर्धसूत्रण	Meiosis
अर्ध चक्र	Hemicyclic
अरण्डी	Castor
अलैंगिक	Asexual
अव्यवस्था	Disorder
अवरोध	Inhibit
अव वृद्धि	Hypoplasia
अवशोषक	Absorbent
अवक्षेपण	Precipitation
अविकल्पि	Obligate
अविलेय	Insoluble
असंतुलित	Unbalanced
असुग्राही	Non-susceptible
अक्ष	Axis
आगंतुक जड़ या अस्थानिक मूल	Adventitious Root
—आग्रही	Persistant
आण्विक	Molecular
आन्तरिक	Internal
आंशिक	Partial
आनुवंशिक स्कंध	Genetic Stock
आधार	Base
आकारिकीय	Morphological
आन्तरपादप	Endophytic
आनुवंशिकी	Genetics
आर्द्रपतन, आर्द्रमारी	Damping off
आवर्धक	Magnifying
आवर्धन क्षमता	Magnifying power
आसंजांग	Appressorium
आविकल्पी	Obligate
आविष	Toxin

इकाई	Unit
ईसीडियोस्पोर, ईशियमी बीजाणु	Aeciospore
उग्र	Virulent
उग्रता	Virulence
उन्मूलक	Eradicant
उन्मूलन	Eradication
उत्पादन	Production
उत्परिवर्तन	Mutation
उत्तक	Cell
उतिक्षयी	Necrotic
उथली	Shallow
उद्गम	Source
उदग्रहण	Uptake
उद्भवन	Incubation
उद्भवन अवधि	Incubation period
उद्वर्ध	Outgrowth
उद्दीपन	Stimulation
उपतीक्ष्ण	Sub acute
उपसंकोचन	Constriction
उपज	Yield
उपांग	Appendages
उभारयुक्त	Papillate
ऊर्ध्वाधर	Verticle
उर्वरता	Fertility
एकान्तर	Alternate
एकाश्रयी	Autoecious
एस्कोकार्प	Ascocarp
एसरवुलस	Acervulus
एपोथीसियम	Apothecium
औसत	Average
कर्बुरण	Mottling
कज्जली फफूंद	Sooty mould
कंटिकायुक्त	Echinulated
कठकवक	Sclerotia

कठोरता	Hardness
कंड	Smut
कत्थई रंग	Tan
कपास	Cotton
कवकजाल	Mycelium
कवकरोधी	Fungistatic
कवकविज्ञान	Mycology
कलिका	Bud
कवच	Integuments
कशाभ, कशाभिका	Flagella
कक्षस्थ कलिका	Auxillary bud
कृत	Functional
कृत्रिम	Artificial, synthetic
क्रान्तिक	Critical
कार्बनिक	Organic
कायिक	Vegetative
कालव्रण	Anthracnose
किट्ट	Rust
क्रियात्मक प्रभेद	Physiologic race
कीलक	Peg
केन्द्रक	Nucleous
केन्द्रिक वलय	Concentric rings
कैप्सूल	Capsule
कोणीय	Angular
कोशिका	Cell
कोशिका भित्ती	Cell wall
कोशिका द्रव्य	Cytoplasmic
खाद	Manure
खूंटी	Peg
गम्भीरस्थ	Deep seated
गलन	Rot
गहन	Intensive
ग्रामीण	Rural
ग्रीवा विगलन	Neck Rot

ग्रिष्मातिचार	Over summering
गुट्टी	Graft
गुणित	Multiple
गुहिका	Cavity
गोलाकार	Globular
घाव	Wound
चक्की	Verticilliate
चकते या धब्बे	Spot
चना	Gram
चपटा	Flattened
चर्मीय	Leathery
चल बीजाणु	Zoospore
चंवला	Cowpea
चाय	Tea
चिक्कण या चिकनी	Smooth
चिरजीवन	Perpetuation
चूर्णिल आसिता	Powdery mildew
चूना	Lime
छाया	Shade
छिड़काव	Spraying
छिदरा	Loose
छिन्नाभ	Truncate
जई	Oat
जनन	Reproduction
जनित छिद्र	Germpore
जल अपघटन	Hydrolysis
जलमग्न	Water logged
जला दाग	Net blotch
जला सिक्त	Water soaked
ज्वार	Sorghum
जालिका रूपी	Reticulate
जीव	Organism
जीवन चक्र	Life cycle
जीव विष	Toxin

जीव द्रव्य मूलक	Protoplasmic
जीव प्रारूप	Biotype
जीरा	Cumin
जूट	Jute
जोतना	Ploughing
जौ	Barley
झुलसा	Blight
झुर्रीदार	Wrinkled
तना अंगमारी	Stem blight
तन्तुवाही पूलो	Fibrous vascular bundle
तरल	Fluid
तन्तुमय	Filamentous
तलाभिसारी	Base petal
तरुण	Young
तर्कु आकार	Spindle shaped
तर्कु रूपी	Fusiform
तिल	Sesamum
तिलहन	Oil seed
दण्डाकार	Rod shaped
दाता	Doner
दाब	Pressure
दारु वाहिनियां	Xylem vessels
द्वितीयक	Secondary
द्वितीयक निवेश द्रव्य	Inoculum
द्वितीयक संक्रमण	Secondary infectien
द्विध्रुवी	Bipolar
द्विपंक्तिक	Biseriate
दीर्घवृत्त	Oblong
दीर्घवृत्तीय	Elliptical
दुग्धावस्था	Milk Stage
दुर्गंध	Rancid
दुधिया	Milky
दैनिक मद	Diurnal

दैहिक	Systemic
धनिया	Coriander
धब्बे	Spot
ध्वज	Flag
धात्विक	Metallic
धान्य	Cereal
धानिकाय	Ascus
धारी	Stripe
ध्रुवीय	Polar
धूमक	Fumigant
नम (आर्द्र)	Demp
नव	New
नाभिक	Nuclear
निपत्र	Glumes
निमज्जित	Immersed
निरोधक	Inhibitory
निम्न	Low
निस्पंद	Nodal
निवेश द्रव्य	Inoculum
निवेशन (अन्तः क्रमण)	Inoculation
निषेचन	Fertilization
निषिक्ताड	Oospore
निःस्राव रिसाव	Exudate
निष्कासन	Clean up
नींबू	Lemon
नील हरित	Blue Green
पट्युक्त	Septate
पटलिक (पटल)	Lamella
पराग	Anther
पलायन	Escape
प्रकंद	Rhizome
प्रकृति	Habit
प्रकिण्व	Enzyme

प्रगुणन	Proliferation
प्रगुच्छक	Acervulus
प्रचूषांग	Haustoria
पृथक्करण	Isolation
प्ररोह	Shoot
परिक्षेपण	Dispersion
प्रतिजैविक	Antibiotics
परिपुटन	Encystment
प्रवल्गन	Saltation
पर्णच्छद	Leaf Sheath
प्रभेद	Strain
पत्ररोही	Epiphyllous
परिरोही	Amphigynous
परिछद	Pericarp
प्रस्फोटी	Erumpent
प्रतिरक्षक	Immune
प्रतान	Tendril
प्रजनन	Breeding
पाण्डुरता	Etiolation
पात्रे	In Vitro
पादप विषाक्त (पादप विषालु)	Phytotoxic
पार्श्व	Lateral
पादप परजीवी	Plant parasite
पादप व्यापी	Epiphytotic
पारावर्णी	Mercuric
पालियुक्त	Lobed
पिटिका	Gall
पीला पड़ना	Yellowing
पूर्वानुमान	Forecast
पुष्प गुच्छ	Panicle
पुष्प निपत्र	Floral bracts
पुंधानी	Anthredium

पीतिमा	Cholorosis
प्रौढ़	Mature
पोषणिक	Nutritional
पोषक	Host
फफूंद	Fungus
फफूंदनाशी	Fungicide
फलन	Fructification
फसलचक्र	Rotation
फुल्लन	Swelling
फीका भूरा	Pale Brown
बंध्यता	Sterility
बंधित भूमि	Infested soil
बलुई	Sandy
बहु केन्द्रिक	Multi nucleate
बहुरूपी	Polymorphic
बाजरा	Bajra
बाली	Ear
बिसराव	Shredding
बीजपत्र	Cotyledon
बीजांकुर	Seedling
बीजाण्वी	Sporidia
बीजाणुधानी	Sporangium
बीजाणुकरण	Sporulation
बीजाणुधानीधर	Sporangiophore
बीजाणु गेंद	Spore ball
बीजोधर	Hypocotyl
बेलनाकार	Cylindrical
बैंगनी	Purple
बेसिडियोबीजाणु	Besidiospore
भंगुर	Fragile
भ्रूणाग्रचोल	Coleoptile
भूरा धब्बा	Brown Spot

भिन्नाश्रयी	Heteroecious
मक्का	Maize
मटर	Pea
मंद	Dull
मलबा	Debris
महामारी	Epidemic
मृतजीवी	Saprophyte
मृदुरोमिल ग्रासिता (मृदुरोमिल)	Downy mildew
मृदूढ़	Soil borne
मुग्दराकार	Clavate
मुग्न	Geniculate
मुरझान (म्लानि)	Wilt
मूंगफली	Groundnut
मूंडी	Ratoon
मूलांकुर	Radicle
यदा-कदा	Sporadically
युग्माप्टिकरण	Diplodization
यूरिडोपुंज	Uredospore
रंग द्रव्य	Pigment
रंगहीन (काचाभ)	Hyaline
रंजक	Dye
रवेदार	Crystalline
रक्षक	Protective
रासायनिक	Chemical
रेखाकार	Linear
रोग	Disease
रोग कारक	Causal Agent
रोग जनकता	Pathogenicity
रोग प्रतिरोधी	Disease resistant
रोमिलता	Hairiness
रोमी	Hairy
रोग विज्ञान	Pathology
रोगहर	Curative

रोग निरोध	Prophylactic
लक्षण	Symptom
लाल सड़न	Red rot
लगिष्णुता	Tenacity
लैंगिक	Sexual
वर्तिकाग्र	Stigma
वर्धी	Vegetative
वंश	Genus
वृक्काकार	Reniform
वलय धब्बे	Ringspot
वृन्त	Stalk
वयस्क पौधे	Adult plant
वाष्पन	Evaporation
वाष्पीकृत	Volatile
वात्तोढ़	Air borne
वेधन	Peneteration
विकीरण	Dissemination
विगलन	Rot
विच्छिन्न	Isolated
विशुद्ध	Pure
विस्तारक	Spreader
विषाणु	Virus
विभिन्नता	Variation
विवर्णन	Discolouration
विकल्पी	Facultative
विषमयुग्मन	Heterogamy
विसर्पण	Dispersion
विघटन	Disintegration
विलम्बित अंगमारी	Late blight
शल्क	Scales
शूक	Awn
शीर्ष	Apical
शैवाल	Algae

श्यामव्रण	Anthracnose
क्षत स्थल	Lesion
क्षय	Decay
क्षारिय	Alkaline
क्षेत्र	Area
क्षैतिज	Horizontal
सहजीविता	Symbiosis
सलक्षण	Syndrome
स्थानिकमारी	Endemic
स्थूल	Plump
शषि स्तम्भ	Culm
सहनशील	Tolerant
संकर	Hybrid
संकेन्द्री	Concentric
संक्रमण	Infection
संक्रामक	Infectious
संक्रामकता	Infectivity
समयुग्मन	Isogamy
संगरोध	Quarantine
संचारण	Traasmission
स्फुटन	Dehiscence
सगुप्त	Concealed
स्फोट	Pustule
स्थानीय	Local
श्लथ कंड	Loose Smut
संवहन म्लानि	Vascular Wilt
संश्लेषण	Synthesis
साहचर्य	Association
स्रावी	Secretory
सुग्राही	Susceptible
सींग जैसी बाह्य वृद्धि	Horn like growth
सूक्ष्मदर्शी	Microscope
सूचक	Index

हल्दा	Termeric
हरित	Green
हरिमा हीनता	Chlorosis
हानि	Loss
हिमीकरण	Freezing
हीनापनयन	Roguing
हेतुकी	Etiology



ERRATA

पृष्ठ संख्या	पैरा	लाइन	मुद्रित	के स्थान पर पढ़ा जावे
1	2	4	पाथा	पौधा
1	3	6	अपसमान्य	असामान्य
2	6	1	का विलंभित अंगमारी	की पिछेती अंगमारी या की विलंबित अंगमारी
2	6	2	बलास्ट	ब्लास्ट
2	6	3	विलंभित अंगभारी	पिछेती अंगमारी या विलंबित
2	6	9	हेल्मिंथोस्पोरियम	हेल्मिंथोस्पोरियम
2	6	10	अंगमारी	अंगमारी
4	1,2	2,1	बिलंभित अंगमारी	विलंबित अंगमारी
4	2	11	की उत्तियों	के उत्तकों
4	3	2	लिचेन	लाइकेन, लाइचेन
6	1	5	घातिएव	घातक
6	1	9	Trichoderma Viride	Trichoderma viride
6	2	2	मसरूम	मशरूम
7	2	1	अंगमारो	अंगमारी
7	2	1	श्यामव्रण	श्यामवर्ण
7	5	7	अंगमारो	अंगमारी
8	1	14	केंकर	कैंकर
14	1	2	Helminthosporiosa	Helminthosporiose
15	2	7	वोल्यूटम	वोल्यूटम
15	2	7	P. Volutum	P. volutum
16	5	6	बिचकरए	बिकनी
20	2	5	धीमायन	धेमायन
20	5	1	Farmal	Farma

20	7	2	Axministes	Axminister
21	2	20	ethirimat	Ethirimal
21	3	2	Moderately resitant	Moderately resistant
23			P. rusigo vere	P. rusigo vera
			P. streiforamism west	P. striformis West
24	1	6	ढिखाई	दिखाई
25	1	4	यूरिडी	यूरोडो
25	1	9	मंगूर	अंगूर
25	2	3	Photo synthesis	Photosynthesis
25	4	4	रग	रंग
25	5	1	grominis	grominis
26	1	5	हेल्यूटो	टेल्यूटो
26	1	6	heteroecious	heteroceious
27	1	6	hetero thalism	heterothalism
27	1	8	झाडू	झाड़ी
			Verdo	Uredo
			. V	U.
28	2	1	Verticle	Vertical
28	2	7	hyphal	hyphae
28	2	8	"	hyphae
28	2	11	"	hyphae
28	2	15	"	"
28	3	9	api cal	apical
29	1	5	Smootn	Smooth
29	1	10	Vredio	Uredio
30	1	1	बीजए	बीजाणु
30	1	8	जनित्र	जनित
30			relation ship	relationsh p
30	4	3	अकुरए	अंकुरण
30	4	5	जनित्र	जनित
30	4	6	Appressolium	Appressorium
30	4	10	जनित्र	जनित

31	1	1	,,	जनित
31	1	5	,,	,,
32	8	1	Suscaptasle	susceptible
33	1	1	,,	susceptible
34	3	2	P. Strii farmis West	P. striformis West
34	4	5	जनित्र	जनित
34	5	2	हो ते	होते
36	5	1	P. rocondita	P. recondita
36	5	6	carleton	Carleton
36	7	2	Thaeictrum	Thalictrum
37	3	1	recerrene	recurrence
37	3	6	suscaptable	susceptible
37	4	5	Coriaria	coriaria
37	4	7	Javamicum	gavamicum
38	8	4	बीजाण	बीजाणु
39	2	2	वार्पिक	वार्षिक
40	2	9	Erik son	Erikson
40	4		T. Compectum	T. compectum
			Triticum Vulgare	Triticum vulgare
41	1		,, ,,	,, ,,
		11	T. Dicoccum	T. dicoccum
		12	,,	,,
42			Sus captable	Susceptible
42	1	3	Hewton	Newton
42	1	5	Bio tipe	Biotype
43		हैडिंग	गहूं	गेहूं
43	1	8	Bridg cn	Brigdmen
43	6	4	(हट के पढ़े	जो शब्द पढ़ें)
44	2	2	P. striiforms	P. striformis
45	1	13	—	(हटा दें)
48	1	5	F. kashmiri ana	F. kashmiriana
49	2	7	Selerea chymatous cells	Selerechymatous cells

51	4	4	sus captability	susceptability
52	1	1	suscaptable	susceptible
52	2	4	चूर्ण	चूर्ण
52	2	6	क लो	कोलो
53	3	1	एव	एवं
56	1	9	श्लेय '	श्लथ
56	3	7	Purplishtint	Purplish tint
57	2	2	int'ne	intine
58	2	4	अण्डास्य	अण्डाशय
58	4	3	Picken brack	Pickenbrack
59	6	3	मे	से
61	2	1	Tiletia Caries	Tiletia caries
61	3	4	कड	कंड
61	5	1	aegilops	Aegilops
61	5	1	lolium	Lolium
62	1	6	dwarb	dwarf
62	4	1	Tilletia Caries	Tilletia caries
62	4		T. Secalis	T. secalis
63	1	5	sterib	sterile
63	2	2	prowy celium	promycelium
63	2	3	fili farm	filiform
63	4	5	क्यूटिक्ल	क्यूटिकल
63	5	1	Pre disposing	Pre-disposing
64	1	1	Pathogeni city	Pathogenicity
64	2	5	Roden hiser	Rodenhiser
64	3	8	मृदूव	मृदुव
64	4	3	Sharme	Sharma
65	5	3	Sporidie	Sporidia
65	6	2	मृदोव	मृदुव
66			मृदोव	मृदुव
66	3	6	sporidie	Sporidia
68	3	6	जनित्त	जनित

ERRATA

68	4	1	मृदोड़	मृदुड़
70	1	8	सकेत	संकेत
70	1	14	का	('का' हटा दें)
70	2	3	'and'	('and' शब्द हटा दें)
71	2	2	पर्णछद	पर्णछंद
72	3	1	68	6.8
72	3	3	meduim	medium
72	6	2	Patter Son	Patterson
72	7	3	मा॰	मा.
72	8	3	जजीर	जर्जीर
73	1	3	longi cotenate	longicotenate
73	2	1	A. triticolo	A. triticola
73	2	3	मा॰	मा.
73	4	5	मन्त: क्रमण	मन्त:क्रमण
73	6	3	मृदुड़	मृदुड़
74	6	4	जेह॰	जेह.
75	1	3	2	Z
75	1	5	तपा	तपा
75	3	3	Vulgaris	vulgaris
75		(ii)	Drschs	Drechs
77	1	8	Drech sler	Drechsler
77	3	1	मृदुड़	मृदुड़
77	4	1	Pre disposing	Pre-disposing
79	7	(2)	जे.	जेह
80	6	2	Sus merged	Submerged
81	3	2	बीजाणपानी	बीजाणुधानी
81	3	7	पिकिनिधोबीजाणु	पिक्निधोबीजाणु
81	3	7	दीर्घवृीय	दीर्घवृतीय
81	4	1	परांछद	पर्णछंद
81	4	5	एकसोबीजाए	एक्सोबीजाणु
81	6	2	Solani	solani
82	1	8	inten sive	intensive

82	3	2	Rhizctoniasolani	Rhizoctonia solani
82	3	3	Pelli cularia	Pellicularia
82	4	3	मृद्रढ़	मृदुढ़
83		8	Poytopalhology	Phytopathology
83		11	Common wealth	Commonwealth
83		13	in hibitors	inhibitors
83		17	inheterothallism	in heterothallism
83	11	3	Indlan	Indian
8ε		31	Chemawat	Ghemawat
84		8	GG	G. G.
84		9	Evalu-ation	Evaluation
84		19	Neo-vossia (Indica)	Neovossia Indica
85		Heading	गहूं	गेहू
85		11	Erysipha	Erysiphe
85		16	Chronica	हटा दिया जाय
85		20	karathone	karathane
85		28	Pythopathology	Phytopathology
86		29	Zinco	Zinc
86		36	Absyart	Abstrat
87		9	Phytopatho	Phytopathology
87		31	phytopatho	Phytopathology
87		36	Helmintho sporium	Helminthosporium
88		17	groug	group
88		19	L. m	L. M.
88		31	Saeri	Saari
89		5	temprature	temperature
89		18	Chlamydo spore	Chlamydospores
89		21	Inding	Indian
89		26	Reseascu	Research
90		17	gramini Colous	graminicolous
90		22	sabous	sabour
90		23	Disicase	Disease

90		24/25	gramenia	graminis
90		31	Pstrifarmis	P. strifarmis
90		37	Helmintho spolium	Helminthosporium
90		9	bant	bent
91		12	Common wealth	Commonwealth
91		15	Het erokaryosis	Heterokaryosis
91		18	hostage	host age
91		31	seed	Seed
92		6	Sulaimau	Sulaiman
92		21	iu	in
92		24	an	and
93		3	Phytopalho-logy	Phytopathology
93		23	Alternpria	Alternaria
93		24	Summes	Summer
93		34	Physopathology	Phytopathology
94		5	bjotype	biotype
94		9	E. B.	L. B.
94		17	Roden hiser	Rodenhiser
94		18	Caries	caries
95		31	Intercal	Intervel
96		9	Sindha	Sinha
96		22	P. H. D.	Ph. D.
96		24	Physiology	Physiologic
97		"	Suscaptability	Susceptability
97		27	Oxathi in	Oxathin
97		29	M. C. graw	McGraw
98		7	Splerary	spray
98		9	Suscaptability	Susceptability
99	1	5	?	!
99	1	(7)	स्पोट	स्पोट
102	3	3	एव	एव
102	4	1	मारकोन	माइक्रोन

104	2	(2)	Z–78	Z–78
104	2	(2)	14–45	M–45
105	3	1	(दीर्घवतीय)	दीर्घवर्तीय
105	3	6	वनात	बनाते
108	2	3	म०	म.
110	4	3	(Spotblotch)	(Spot blotch)
110	4	(4)	Het blotch	Net blotch
11ı	1	3	(Drechsles)	(Drechsler)
111	4	1	intar	inter
112	1	2	gromenea	graminea
112	1	3	पीट्राइकोस्टोमा	पी. ट्राइकोस्टोमा
112	2	1	उतियों	उत्तकों
112	4	4	माइकोन	माइक्रोन
113	3	3	Christeusen	Christencen
115	4	4	उस गहरे	उस पर गहरे
115	7	1	दीर्घवतीय	दीर्घवर्तीय
116	2	(2)	H. acrothe ciodes	H. acrotheciodes
116	2	(3)	H. inconspi cuum	H. inconspicuum
117	2	3	अनित्र	अनित
117	6	1/2	(Cultil) vated	(Cultivated)
118	5	2	Teres	teres
118	5	3	te es	teres
119	3	8/9	1 Drechsler) 1923)	(Drechsler, 1923)
119	5	4	मरी	मरी
120	2	4	(moi)	(moist)
120	8		(चौथी लाइन का मतलब स्पष्ट नहीं है)	
120	7	6	से	(सीधा पढ़ें)
120	7	10	Drechso	Drechsl.
121	4	3	Zeal	Zea
121	4	5	B	&
122		28	what	wheat
122		34	smuth	smut

123		6	Puccenia	Puccinia
123		8	)	(
123		8	glaminicolous	graminicolous
123		10	Helminlho sparium	Helminthosporium
123		10/11	Cochliobolus	Cochiobolus
124		13	screeing	screening
124		14	Phytopathy	Phytopatho
124		19	b?rley	barley
124		34	berley	barley
125		21	Puccini	Puccinia
125		29	incit ant	incitant
125		32	wiih	with
126		13	inculating	inoculating
126		25/26	ustilago	Ustilago
126		26	ustilago	Ustilago
128		27	sasonal	Seasonal
128		29	seeding	seedling
129		9	Phsyical	Physical
129		25	Pucciaia	Puccinia
129		27	Supertibility	Susceptibility
130		2	resperation	respiration
132	2	3	पर्णाद्दिद	पर्णच्छद
133	5	2	puicularia	Piricularia
134	2	1	कलकरती	कुसकरती
135	1	13	(rapped)	(trapped)
136	1	3	(secondaly crop)	(secondary crop)
136	3	1	Suayrnarayna, 1967	Suryanarayan, 1967
137	2	1	Physi ologic	Physiologic
137	2	1	इसफ फूंद	इस फफूंद
138		4	Chakravarti	Chakrabarti
143	1	3	बीत	बीज
143	2	2	Oryzae	oryzae

143	2	4	मियाविंयानव	मियाविंयानस
143	2	5	कुरियावास	कुरियालासो
143	3	(3)	orvzae	Oryzae
144	2	3	पेरीथिसियायां	पेरीथिसिया
145	1	8	पनमनाभन्	पदमनाभन्
145	1	15	(of season)	(off season)
145	1	18	(Leera ciahexandra)	(Leeracia hexenandra)
145	1	18	(Setarea itatica)	(Setaria italica)
145	2	8	कानिडिया	कोनिडिया
147	1	9	येलाक्यूप्रोक्साइड	येलोक्यूप्रोक्साइड
148	2	2	माइक्रो ग्रा	माइक्रोग्राम
150	3	5	uar microsphae roides	var microspaeroides
150	3	6	uar sirregularae	var irregulare
150	4	1	जैं तुनी	जैंतुनी
151	3	1		'मे' शब्द को हटा दें
151	4	4	को	का
151	5	4	$HgcP_2$	$HgCl_2$
152	7	7	;	(हटा दें)
153		8	G. Moneliforma	G. monilliforme
160	3	1	$HgCl_2$	$HgCl_2$
160	4	4	पराफिद	पराघिद
161		13	sasakii	saskii
162	2	3	Sparadic	sporodic
163	3	7	A iflavus aryzae	A flavus oryzae
164		10	at mospheric	atmospheric
164		16	oryzea	oryzae
164		29	Poytopalhology	Phytopathology
165		17	fector	factor
166		21	res istance	resistance
166		21	suscaptibility	susceptability
167		15	aud	and
167		26	resisitant	resistant

168	2	pethgenicity	pathogenicity
168	2	A nn.	Ann
168	16	Studis	Studies
168	20	asciegerons	aseigerous
168	25/26	duing	during
168	32	rlie	rice
168	37	fuugus	fungus
169	6	krishnaswamin	Krishnaswami
169	16	Pathogen city	Pathogenicity
169	21/22	phytophatology	Phytopathology
169	30	bifferent	different
170	10	pedmanasban	Padmanabhan
170	33	kerenel	Kernel
171	12	theraleputie	theraupeutic
171	29	Symosia	symposia
172	13	Phytobology	Phytopathology
172	22	Veeragh avan	Veeraraghavan
172	22	plospect	prospect
172	23	Helmintho sporium	Helminthosporium
173	11	pets	pests
173	24	oryzae Sativa	Oryzae sativa
174	19	Mycoal	Mycol
174	25	India	Indian
874	36	sustemic	systemic
175	9	Subramanion	Subramanium
175	9	Nycotemprative	night temperature
175	13	(Oryzaliva L.)	(Oryzae sativa L)
175	26	India	Indian
175	30	specialzatian	specialization
176	26	accepte	accepted
176	27	Microsido gist	Microbiogist

177		1	tudies	studies
178	2	(ख)	Renpro	Renfro
178	2	(ग)	मृदुरोमिल downey mildew	स्केलेरोस्पोरा ग्रेमिनिकोला Sclerospora graminicola (sacc) Schroet
179	2	(ख)	italk	stalk
179	2	(ग)	phaseale	phaseoli
179	5	(घ)	Pylhium	Pythium
179	2	(ङ)	Cephalospariune	Cephalosporium
179	2	(च)	grominicol	graminicola
179		3	Secdling	seedling
180	4	(घ)	Hemplriatosporium	Helminthosporium
180	4	(ङ)	haecospairum	Phaeosporium
180	6	(क)	Stiego	Ustilago
180	7	(क)	Diplodia	Diplodia
180	7	(ख)	Car rot	Ear rot
185	3	8	(Protifeation)	(Proliferation)
182	4	(5)	mecrospora	(macrospora)
183	3	2	(Thrimula Cher)	Thrimulachar
183	4	1	Ocgamous	Oogamous
185	5	2	दटिगोचर	दृष्टिगोचर
185	5	4	(chlorohc)	(chlorotic)
185	5	5	से शब्द हटा दें	
185	5	5	बढता	बदली
186	1	1	चत्र	चित्र
186	2	2	Variae	Var.
187	1	4	पर्णमुत्तीय	पर्णपुत्तीय
187	2	11	Phyto taxic	Phytotoxic
188	3	3	(ZnSoy 0 5)	($ZnSO_4$ 0·5)
188	3	5	मोलो बोडनेम	मोलिबिडनम
188	3	8	एम 45	एम–45

188	4	2	Sulfo namide	Sulfonamide
189	6	2	son gunalis	songunalis
189	7	8	है	हो
190	2	1/2	Phillippinensis weston	phillippinensis Weston
190	2	3	रंगहीनहोन	रंगहीन
190	4	5	Ex Conde	Exconde
191	4	2	योर्ने	बोरों
191	5	2	S. sponteneum	S. sponteneum
191	Heading		(Sguarcane Downy mildew)	(Sugarcane Downy mildew)
192	1	1	न्यूयाना	न्यूग्याना
192	1	2	Subramaniom	Subramanium
192	1	4	anb	and
192	2	14	मुट्टे	भुट्टे
192	3	5	माइकोए	माइकोन
162	4	2	Sum	Sun
193	2	2	13.	13°
193	2	4	130	13°
193	2	4	160	16°
198	2	1/2	फाइसोडर्मो	फाइसोडरमा
198	2	2	Physodermo	Physoderma
198	2	2	Zeamaydis	zea maydis
198		8	clado chydrium	Cladochydrium
198	चित्र का वर्णन		फाइसोजर्मा	फाइसोडरमा
199	1	3	का	व
199	5	1	मुट्टर	भुट्टा
200		12	vualgare	vulgare
200		19	sached	soaked
200		21	Ulls trup	Ullstrup
202			Sympotoms	Symptoms

203	4	(2)2	जीवों	जीनो
204	1	3	ग्रासमान	ग्रसमान
204	3	1	रग	रंग
205		3	rccunience	recurrence
205	6	1	Helmiinthosparium	Helminthosporium
206	2	1	दोर्घवतीय	दीर्घवृत्तीय
206	4	1	Helminthosporiem tetrameua	Helminthosporium tetramera
207	2	1	Puccinia (Schw) Sorghi	Puccinia sorghi (Schw)
207	2	3	maydis B es	maydis Bes
207	3	3	ग्रावजेलिस	ग्राक्जेलिस
207	3	9	दीर्घवतीय	दीर्घवृतीय
298	1	1	गहर	गहरे
208	3	10	ग्रघ्य	ग्रघ्ययन
208			Soutoern Rust	Southern Rust
299	2	1	पक्सोनिया	पक्सीनिया
209	2	5	दीर्घवतीय	दीर्घवृत्तीय
209	6	4	ग्रोर	ग्रोर
210	1	1	पीटीका	पिटीका
210	1	5	पिटिका	पिटीका
210	3	1	Maydis Dc cda	maydis Dc.Cda
210	3	4	Urede	Uredo
211	3	2	Almmentary	Alimentary
212	3	2	Chistensen and stakman	Christensen and Stakman
212	6	(3)2	पा यो	पायी
214			Synonugms	Synonyms
214		(3)	ग्रस्टीलागो फुलवेरासी U. Pulveracea	ग्रस्टीलागो पुलवेरेसी U. pulveraceae
214		(4)	V. teilona f zee	V. reilana f zea
214	2	2	Echinulat	Echinulate

214	2	4	मिति	भिति
214	3	1	बीजोद	बीजोद
214	5	1	मृद्रद	मृदुरु
214	7	1	Specialigation	Specialisatian
215	2	(1)2	सेरेम्न	सेरेमन
216	4	2	Sphaeria straieformis	Sphaeria strifor-mis
216	5	1	दीर्घवतीय	दीर्घवृत्तीय
217	1	2	,,	,,
218	1	3	moniliforme Var.	moniliforme var.
218	2	3	Caot	Coat
218	2	9	हिपलोडिया	डिप्लोडिया
218	2	11	diseolotration	discoloration
219	1	3	monitefarmlic	moniliforme
219	3	2	दीर्घवतीय	दीर्घवृत्तीय
219	8	1	मृद्रक	मृदुक
220	5	1/2	Cethalospatium	Cephalosporium
220	6	3	मृद्रद	मृदूद
221	1	1	संकुल	गंकर
221	4	3	P. Inegloric	P irregularie
221	4	3	P. Deesarynuum	P. debarynum
224		8	zeal	zeae
226		1	Elensing	Elensine
226		27	diceeaer	diseases
266		36	Scleropsphara	Phytopathalogy
226		36/37	phytopamtholosy	Phytopathology
227		1	Avirulence	A virulence
227		25	Phythopathology	Phytopathology
228		8	sangam lal	Sangam Lal
228		8	frangicides	fungicides
228		9	cephalosparium	Cephalosporium
228		10	Fusariummonil for me	Fusarium monili-forme

228		29	Bhargave	Bhargava
228		30	andsugarc and beown	sugarcane and brown
230		7	Spraguc	Sprague
233			Diseases of Dat Crops	Diseases of Oat Crop
233	1	3	हैकई	है। कई
233	1	(3)	Stiripe and seediling	stripe and seedling
233	1	(6)	Anthaa crose	Anthracnose
233	1	(9)	चूर्णिल	चूर्णिल
234	3	7	hyphal	hyphae
254	3	12	Pericerd	Pericard
235	3	1	Predis po sive	Predisposive
235	3	2	Bartholo mew at Jones	Bartholomew and Jones
235	5	3	Roden hiser	Rodenhiser
235	6	1	बीजो	बीजो
237	1	1	Singh and Patheak	Singh and Pathak
237	2	1	बाहर के बाद 'ही' शब्द को न पढ़ें	
237	2	3	पुष्पनिपमत्र	पुष्पनिपत्र
237	3	1	Etiloogy	Etiology
237	3	1	भस्टीलागों	भस्टीलागो
237	3	3	भस्टीलागों	"
237	3	4	मस्टीलगों	"
237	3	6	भस्टीलागों	"
237	4	1	दीर्घंवतीय	दीर्घवृतीय
237	4	2	पतियों	पत्तियों
237	4	6	भगलीफ सल	भगली फसल
237	5	1	भयय	श्लय
237	6	1	यदि	यह
238	2	3	Roden hi ser	Rodenhiser
238	4	4	फर्मलीनि	फॉर्मलीन

238	6	(4)	प्रतिरो धीकिस्में	प्रतिरोधी किस्में
239	2	5	Pratensis	pratensis
239	2	5	'लक्षण से नया पैरा मानें'	
239	5	2	P. coronata var avena	P. coronata var avenae
239	6	2	P. Lolii	P. lolii
239	6	3	P. Coronata	P. coronata
239	6	4	P. Colonifese	P. cornifera
239/240	7	2/1	R. Cathartica	R. cathartica
240	1	1	R. Dahurica	R. dahurica
230	1	1	R. Lanceolata	R. lanceolata
240	3	4	बोसीडियोबीजाणु	बेसीडियोबिजाणु
241	2	3	बाढावार	बढावार
241	3	1	रोकग्रसित	रोगग्रसित
243	7	(1)	avenae–sativee	avenae sativae
243	7	(2)	avenae sateive	avenae satvae
245	3	2	(Drechsltra Victoriae Mechan and Murphhy)	(=Drechslera victoriae Mechan and Murphy)
246	3	4	सगमक	त्तयमय
247			मृदुरोमिम	मृदुरोमिल
247	2	1	"	"
247	3	5	"	"
248	1	2	हेल्मीपस्पेरियम	हेल्मियोस्पोरियम
249		1	Plant patthology	Plant Pathology
249		11/12	Puccinia qraminis	PucciDnia graminis
249		13	Roden hiser	Rodenhiser
249		14	spercialization	specialization
249		17	Corsses	Crosses
249		20	Discearcs	Diseases
249		33	funyeide	fungicide
249		34	eracad	head

250	3	rasistance	resistance
250	9	Helmalinthos pariuum	Helminthosporium
250	9	Myes & M	Myco & Pl.
250	30	Culmorum	culmorum
251	15	Hotes	Notes
251	22	Helmin thosporium	Helminthosporium
251	31	rnst	rust
251	33/34	PenSylvania	Pensylvania
251	35	th eNorth	the North
252	1	qraminis	graminis
252	5	Sum	Smut
252	11	Control	Control of
252	12	Phytopathlosy	Phytopathology
252	14	with al fungi ads for the control of wheat, oats	with old fungicides for the control of wheat, oats
	16	Preant Diseare	Plant Disease
252	17-18-19	offeoting the Sus Vevalility of C ertain Physiologie races of Phicciniau grominsis avenae Phytopalthlogy	effecting the survi-ability of certain Physiologic races of Puccinia graminis avenae Phytopatho-logy
252	20	Haltion	Holton
252	32	specieses	species
252	34/35	avirulence	a virulenc
252	35	virulenca	virulence
252	36	ustlla go	ustilago
252	9	seed dis infectionee	seed disinfectence
253	22/23	othe rc haraters	other characters
253	4	Murphy	Murphy
254	7	speciao,ization	specialization

654

254		12	oat suns	Oat smuts
		14	studies in India	Studies in Indian
Page	Para	line	के स्थान	पढ़िये
258	2	4	asl	al
260	2	7	fibrio	fibro
251	2	11	Covites	cavities
265	4	3	Hypo creales	Hypocreales
266	1	8	embroys	Embryo
268	1	5	P. polyste chyon	P. polystchyon
272	2	1	Eliology	Etiology
272	2	2	pennisetizimm	penniseti Zimm
272	2	12	Varinsenum	var insenum
281		16	Pennisetunt	Pennisetum
281		33	Siler spora	Sclerospora
283		(2)3	Sorgi	Sorghi
285		(2)2	Drechslera	Drechlera
292	4	2	Vahcedudein	Vaheedudin
294	4	2	C uenta	Cruenta
296	4	2	क्योंकि	क्योंकि
298	2	2	क्लोमाइगेड्रो	क्लेमाइड्रो
300	1	3	यूरिटो	यूरिडो
308	6	(1)	मयनेपों	मयनेपो
311	7	(4)	Bipotaris	Bipolaris
312	5	2	phesedi	phaseoli
314	5	2	मकुरण	अंकुरण
319	6	3	Propspectso	Prospects
320	1	1	Larlconate	Carbonate
325	4	2	(Pan cum mili ceum)	(Panicum miliaceum)
326	6	1	Vstilago	Ustilago
330	3	2	पोष व्यदि कित	पोष व्याधि कि
331		23	ou	on

331		24	Gramineae	Gramineae
336	2	4	प्रकोप	प्रयोग
338	6	1	मृदड	मृदुढ
339	1	1	प्रतिहोदी	प्रतिरोधी
340	6	3	वर	पर
341	2	5	घब्बे	घब्बे
342	2	1	वार्षिक आवतन	वार्षिक आवर्तन
359	2	3	ब्यास के तथा क	व्यास के तथा एक
360	6	2	प्रचर्पांग	प्रचूर्पांग
363	2	3	सम्बन्धिन	सम्बन्धित
364	4	1	जिनेवा	जिनेव
468	5	3	डायथेन एम-22	डायथेन एम-45, 22
369	1	6	ए	से
369	2	1	एन्थ्रेकनोज	एन्थ्रेकनोज
371	6	7	damge)	damage)
376	4	2	तूनेजी	जैतूनी
382	1	2	गुजराज	गुजरात
383	5	1	कवकजात	कवकजाल
388	3	1	पीलर	पर्ल
989	3	4	चूर्णिल मोसिता	चूर्णिल आसिता
390		(3)1	Cladosporinm	cladosporium
398	1	2	प्रयूर्पांग	प्रचूर्पांग
406	2	1	रोक	रोग
412	1	2	डंटले	डंठलो
429		2	snnflower	sunflower
430		4-5	saftlower	safflower
434		12	sallowe	safflower
442	3	6	C. o 392	Co. 392
448	5	2	पी. भा. जे.	पी. ओ. जे.
457	2	1	सण्डों	सण्डों
462	2	(1)3	Saydur	Snyder
463		22	Phytoptithore	Phytophthora
463		23	Phyopath	Phytopath

464	2	6	प्रचूर्याग	प्रसूसांग
470	2	1(2)	Ustulina	Ustilina
470	2	(1)(2)1	)	(हटा कर पढ़े)
480	2	1	सिसोरिस	सिसेरिम
481	2	4	सत्रोज	सुत्रोज
484	1	1	Casan	Cajan
488	1	2	फर	कर
489	3	4	सघी	संघी
490	2	1	Singn	Singh
496	4	2	ईहु	हुई
497	1	4	माइक्रोत	माइक्रोन
497	3	8	किलाग्राम	किलोग्राम
497	5	4	सयुक्त	संयुक्त
502	2	2	सोता	होता
50z	2	2	सतृप्त	संतप्त
505	1	3	से से	(एक से हटा दे)
505	2	(4)	प्रगति	प्रबाति
505	2	(7)	,,	,,
506	3	4	प्रकिप्व	प्रक्षिप्त
506	5	1	निपितोड	निपिसाइड
511	2	5	प्र सुत	प्रसित
524	2	13	टंडी	ठंडी
526	3	6	गुस्ता	गुप्ता
542	4	4	सम्माह	सप्ताह
544	1	4	प्रसस	प्रस्त
554	1	9	मंत्रालय	मंत्रालय
555	3	1	विपवंसकारी	विध्वंसकारी